ग॰ बोंगार्द-लेविन
अ॰ विगासिन

भारत की छवि

सोवियत संघ में प्राचीन भारतीय सभ्यता का अध्ययन

ग० बोंगार्द-लेविन
अ० विगासिन

भारत की छवि

सोवियत संघ में प्राचीन भारतीय सभ्यता का अध्ययन

प्रगति प्रकाशन

मास्को

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

विषय-सूची

अध्याय ६

यह किताब रोहतक निवासी श्री लाभ सिंह हुड्डा जी ने उपलब्ध करवाई ताकि सत्यनारायण हुड्डा जिन्दराण निवासी इसकी पी डी एफ बना कर मुफ्त में इच्छुक सज्जनो को इपलब्ध हो सके।

प्रस्तावना

सोवियत संघ की जातियों के साथ भारत के सम्पर्कों का इतिहास सुदूर अतीत की गहराइयों में निहित है। सोवियत पुराविदों के नवीनतम अनुसंधानों से यह सिद्ध हो गया है कि हड़प्पा सभ्यता के युग में ही मध्य एशिया और भारत के जनगण के बीच घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्पर्क थे, जो बाद के युगों में भी बने रहे और विकसित होते रहे। प्राचीन रूस के साहित्य में भारत का, उसके जनगण के रीति-रिवाजों और संस्कृति का उल्लेख मिलता है। शनैः-शनैः यहां भारत की एक निश्चित छवि बनती जा रही थी और यह समृद्धि, विवेक और चमत्कारों के देश की छवि थी।

पश्चिमी और पूर्वी यूरोप, पश्चिमी और मध्य एशिया के भी प्रायः सभी साहित्यों में भारत की ऐसी ही छवि पाई जाती है, तथापि प्राचीन रूस के लिखित साहित्य में और विशेषतः लोक साहित्य में इस छवि में कुछ विशिष्ट, मौलिक लक्षण समाविष्ट हुए।

प्राचीन रूसी साहित्य में भारत के वर्णन दोनों देशों के बीच सीधे सम्पर्कों को ही प्रतिबिम्बित करते हो, ऐसी बात नहीं है। बहुधा यह लिखित साहित्य की पुरातन काल से चली आ रही परम्परा ही है।

१४७१-१४७४ में अफ़ानासी निकीतिन की प्रसिद्ध भारत यात्रा ने रूस और भारत के बीच सीधे सम्पर्क स्थापित करने में महती भूमिका अदा की। शनैः-शनैः भारत के बारे में जानकारी इस देश से और उसके जनगण की संस्कृति से सीधे परिचय पर आधारित होने लगी। उल्लेखनीय है कि अफ़ानासी निकीतिन ने अपनी भारत यात्रा का जो विवरण लिखा, उसे नोवगोरोद के सोफ़िया मठ में रचित इतिवृत्त मे शामिल किया गया। इससे यह पता चलता है कि रूस में भारत के प्रति तीव्र रुचि थी और यहां एक रूसी व्यक्ति के भारत हो आने के तथ्य को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया था। न केवल रूसी लोगों, बल्कि बहुजातीय सोवियत राज्य के कई दूसरे जनगण के भी भारत के साथ सांस्कृतिक संबंधों का पुराना इतिहास है।

भारत और ट्रांसकाकेशिया के जनगण के बीच संबंध बहुत पुराने हैं। सुविदित है कि आर्मीनियाई व्यापारी भारत मे व्यवसाय करते थे। प्राचीन जार्जिया में 'पंच-तंत्र' बहुत लोकप्रिय था, यहां तक कि वधू के दहेज़ में यह पुस्तक दी जाती थी।

जार्जियावासी रफ़ईल दनिबेगश्वीली ने कई बार भारत की यात्रा की।

बाकू में, जो अब आज़रबैजान की राजधानी है, एक हिंदू मंदिर बनाया गया था, जहां यहां आने वाले भारतीय पूजा करते थे। काकेशिया (कोहकाफ़) में बसने वाली ओसेतिन जाति का वेदों के रचयिता आर्यों से निकट का रिश्ता है।

मध्य एशिया के सभी जनगण के भारत के साथ संबंधों के तो सभी प्रमुख पहलुओं की गिनती तक कराना कठिन है। ये संबंध कितने गहरे थे इसका ज्वलंत प्रमाण है महान विद्वान बरूनी का कृतित्व। वे संस्कृत के ज्ञाता थे और प्राचीन और आदि मध्ययुगीन भारत की संस्कृति पर उन्होंने एक अमूल्य ग्रंथ की रचना की। पूर्वी साइबेरिया के दक्षिण में, मंगोलिया की सीमा पर स्थित बुर्यातिया बौद्ध धर्म के माध्यम से भारत से जुड़ा हुआ है। भारतीय धरोहर के बिना बुर्यात संस्कृति को समझना असम्भव है। साथ ही बुर्यातिया के बौद्ध मठों में संरक्षित तिब्बती और मंगोल ग्रंथ भारतविद्या के लिए अपार महत्त्व रखते हैं। कास्पियन सागर के उत्तर-पश्चिमी तट पर स्थित कल्मीकिया भी भारतीय संस्कृति से जुड़ा हुआ है। यहां १७वीं शताब्दी में बौद्ध धर्म का प्रचलन हुआ।

वोल्गा के तट पर बसी जातियां प्राचीन समय से ही रूस और भारत के बीच की कड़ी रही हैं। १७-१९वीं सदियों में अस्त्राखान में भारतीय व्यापारियों की खासी बड़ी बस्ती थी। काला सागर के तटवर्ती उत्तरी इलाक़े (आधुनिक उक्राइना) में अनेक पुराविदों और भाषाविदों ने आर्य क़बीलों के अवशेष पाये हैं, जिनमें ऐसे आर्य क़बीले भी हैं, जिन्हें भारतीय आर्यों का पूर्वज कहा जा सकता है। कालांतर में रूस में बैज़ंतियाई-बुल्गारियाई प्रभाव भी उक्राइना के रास्ते ही फैला। इस प्रभाव के साथ रूस में भारतीय मूल की पुस्तकों और कथानकों का भी आविर्भाव हुआ। बाल्टिक-तटीय क्षेत्र के कुछ जनगण (लिथुआनियाई और लाटवियाई) अपने मूल की दृष्टि से भारतीयों से संबधित हैं। एस्तोनियाई नगर तार्तू (पुराना नाम देर्प्त) में पिछली सदी में संस्कृत अनुसंधान का बहुत बड़ा केंद्र था, इत्यादि, इत्यादि।

१८वीं सदी में रूस में विश्व संबधी मध्ययुगीन अवधारणाएं बदल रही थीं, भारत का भी एक नया, यथार्थ के अधिक सन्निकट बिम्ब बन रहा था। महान रूसी वैज्ञानिक मिखाईल लोमोनोसोव ने रूस से भारत तक उत्तरी समुद्री मार्ग खोलने का प्रस्ताव रखा था। १८वीं सदी के अंत में रूसी पत्रिकाओं में भारत के बारे में अनेक लेख छपे जिनमें भारत में ब्रिटिश नीति की भर्त्सना की गई। विलक्षण रूसी क्रांतिकारी अलेक्सान्द्र रदीश्चेव ने ईस्ट इंडिया कंपनी के अत्याचारों पर आक्रोशमय विरोध प्रकट किया। उन दिनों के अग्रणी रूसी पत्र-पत्रिकाओं में उपनिवेशवादविरोधी विचार व्यक्त किये जाते थे और भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति दर्शाई जाती थी। भारत में गहरी रुचि, उसकी प्राचीन सभ्यता के प्रति आदर और जनता के प्रति सद्भावना ही रूस में भारतविद्या के एक प्रवर्तक गेरासिम लेबेदेव के लिए लाक्षणिक थे।

१७८८ में रूस में भगवद्गीता का रूसी भाषा में अनुवाद छपा। यह अनुवाद यद्यपि अंग्रेज़ी से किया गया था, तथापि इस प्रकाशन के साथ प्राचीन भारतीय साहित्य से रूसी लोगों का सीधा परिचय आरंभ हुआ। १७९२ में विख्यात रूसी लेखक और इतिहासकार निकोलाई करमज़िन ने कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' का जर्मन से अनुवाद किया। उन्होंने लिखा: "कालिदास मेरे लिए उतने ही महान हैं जितने होमर।" इसके बाद के वर्षों में भी रूसी लेखकों का भारतीय संस्कृति के प्रति रुख इतना ही प्रशंसामय रहा। १८वीं सदी में ही रूस में संस्कृत, या सुविख्यात प्राच्य-विद थेओफ़िल बायर के शब्दों में "ब्राह्मणों की भाषा" का अध्ययन होने लग गया। १९वीं सदी के मध्य तक रूस में प्राच्यविद्या की एक स्वतंत्र शाखा – संस्कृतविद्या – गठित होने लगी। फ़्रीडरिख़ आडेलुंग, पावेल पेत्रोव और काएतान कोसोविच के कार्य विशेषत: महत्त्वपूर्ण थे। इनके साथ भारत की प्राचीन संस्कृति, साहित्य, भाषाओं और धर्मों के अध्ययन के विकास की सुदृढ़ नींव पड़ी।

रूस में भारतविद्या का विकास प्राचीन रूसी साहित्य के "सोने की चिड़िया भारत" विषयक वर्णनों से तो नहीं हुआ, तो भी आधुनिक युग के वैज्ञानिक इतिहास लेखन में उस परम्परागत बिंब की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है, जो "प्राक्वैज्ञानिक काल" में बना था।

विलक्षण भारतविद और बौद्ध धर्म के अध्येता, रूस में भारतविद्या की एक पूरी धारा के प्रवर्तक इवान मिनायेव को उचित ही हमारे यहां वैज्ञानिक भारतविद्या का संस्थापक माना जाता है।

१९वीं सदी में रूस के सभी प्रमुख लेखकों और अग्रणी सामाजिक कार्यकर्त्ताओं – अलेक्सान्द्र पुश्किन, विसरिओन बेलीन्स्की, अलेक्सान्द्र हर्ज़ेन, निकोलाई दोब्रोल्यूबोव, मिखाईल सल्तिकोव-श्चेद्रिन, आदि ने भारत और उसकी संस्कृति में रुचि दिखाई। उदाहरणत:, बेलीन्स्की ने लिखा: "एशिया मानवजाति की जन्म-स्थली है, यहीं पर सभी धर्मों, सभी मानव समाजों का उद्‌गम हुआ।"

इस प्रसंग में लेव तोलस्तोय का उल्लेख अलग से किया जाना चाहिए। वे तो जीवन भर भारतीय संस्कृति में रुचि लेते रहे, 'ललितविस्तर', गीता और शंकराचार्य की दार्शनिक रचनाओं का उन्होंने अध्ययन किया। ऋग्वेद पढ़ने पर उन्होंने लिखा: "वेदों में उदात्त भावनाएं निहित हैं।" सुविदित है कि लेव तोलस्तोय इवान मिनायेव से मिले थे और उनके प्रमुख ग्रंथ 'बौद्ध धर्म' से परिचित थे। तोलस्तोय और महात्मा गांधी के दिल में एक दूसरे के लिए गहरा आदर और रुचि थी। महात्मा गांधी तोलस्तोय को अपना गुरु मानते थे। तोलस्तोय की रचनाए सदा भारत में बहुत लोकप्रिय रही हैं और अब भी है, भारत के अनेक लेखकों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है: "तोलस्तोय उन यूरोपीय लेखकों में हैं, जिनका नाम और रचनाएं भारत में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।" भारतीय साहित्य और पूरी संस्कृति से ही रूसी लोगों को परिचित कराने में महान

सर्वहारा लेखक मक्सिम गोर्की ने बड़ा योगदान किया। १९१२ में ही उन्होंने लिखा था : "हमें अपने जनगण को एक दूसरे से परिचित कराना चाहिए, ताकि वे सब लोग, जो न्याय चाहते हैं, विवेकसम्मत जीवन जीना चाहते हैं, आपस में एकता बना सकें, अपने ध्येयों और भावों में समानता ला सकें और संयुक्त प्रयासों से संसार में बुराई पर विजय पा सकें।"

महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद, जिसका भारत पर गहरा प्रभाव पड़ा, रूस-भारत संबंधों के विकास में नया चरण आरंभ हुआ। प्राच्यविद्या में आमूल परिवर्तन आया, भारतविद्या के विकास को नई प्रेरणा मिली। सोवियत भारतविद्या के गठन में व्लादीमिर इल्यीच लेनिन ने बहुत बड़ी भूमिका अदा की। उन दिनों के दस्तावेजों में हम बहुत सी ऐसी सामग्री पाते हैं, जो इस बात की साक्षी है कि सोवियत राज्य ने और स्वयं लेनिन ने भारत तथा पूरब के अन्य देशों के अध्ययन का व्यापक कार्यक्रम शुरू करने में कितनी मदद की। तीसरे-चौथे दशकों में भारत-विद्या पर कई प्रमुख ग्रंथ प्रकाशित हुए, जिनमें प्राचीन भारत के साहित्य, दर्शन और धर्मों के लब्धप्रतिष्ठ अध्येताओं सेर्गेई ओल्देनबुर्ग और फ्योदोर श्चेर्बात्स्की की रचनाएं उल्लेखनीय हैं। इन दिनों सोवियत विज्ञान अकादमी भारतविद्या संबंधी अनुसंधानों का प्रमुख केंद्र थी। सोवियत विद्वानों के प्रकाशनों का भारत में उच्च मूल्यांकन हुआ। भारतीय संस्कृति के स्मारकों के संरक्षणार्थ सोवियत विज्ञान अकादमी द्वारा किये जा रहे कार्य के बारे में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने साभार लिखा : "अकादमी की भूमिका भारत के लिए अपार है।"

सोवियत भारतविद प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन की अपने देश की परम्पराओं को संजोये हुए हैं और उनका विकास कर रहे हैं। पिछले तीन दशकों में प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति पर अनेक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, प्राचीन भारतीय वाङमय के प्रमुख ग्रंथों का रूसी भाषा में अनुवाद हुआ है। भारतविद्या संबंधी अध्ययन न केवल गहन हो रहे हैं, बल्कि संस्कृत और बौद्ध धर्म के अध्ययन के नये केंद्र भी बन रहे हैं। भारतीय वैज्ञानिकों के साथ संबंध सुदृढ़ हो रहे हैं। भारतविद्या संबंधी अध्ययनों का विस्तार न केवल सोवियत-भारत मैत्री और सहयोग के निरंतर सुदृढ़ीकरण द्वारा सुनिश्चित हो रहा है, बल्कि सोवियत संघ में भारत के प्रति, उसकी प्राचीन और मौलिक संस्कृति में बढ़ती रुचि द्वारा भी।

सोवियत भारतविदों के कार्य में भारतीय वैज्ञानिक तथा व्यापक भारतीय जनमत भी गहरी रुचि लेता है। सोवियत भारतविदों की पुस्तकें और लेख भारत में प्रकाशित होते हैं और उनका उच्च मूल्यांकन किया जाता है। इन सब बातों से ही हमें यह पुस्तक लिखने की प्रेरणा मिली, जिसमें रूस और सोवियत संघ में प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन का सिंहावलोकन किया गया है। रूसी और सोवियत भारतविद्या का विषय अत्यंत व्यापक और बहुस्तरीय है, यह इस पुस्तक की सीमाओं से कहीं अधिक व्यापक है।

पुस्तक में मध्ययुगीन रूसी साहित्य में तथा सोवियत संघ के दूसरे जनगण के साहित्य में प्राप्त भारत संबंधी जानकारी का वर्णन किया गया है, भारतविद्या के स्रोत इंगित किये गये हैं और यह दिखाया गया है कि किस प्रकार रूस में भारत की छवि बनी। संसार भर में भारतविद्या के विकास में मिनायेव, ओल्देनबुर्ग और श्चेर्बात्स्की के कार्यों के महत्त्व को देखते हुए इनके वैज्ञानिक कार्यकलापों पर विशेष अध्याय लिखे गये हैं। सोवियत भारतविद्या के गठन और विकास के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है, प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन में सोवियत भारतविदों की प्रमुख उपलब्धियों के बारे में बताया गया है।

पुस्तक में समसामयिक सोवियत भारतविद्या के बारे में, इसकी अवधारणाओं, उपलब्धियों और विचाराधीन प्रश्नों के बारे में तथा भारतीय वैज्ञानिकों के साथ सोवियत विशेषज्ञों के संबंधों के बारे में विस्तृत जानकारी दी गई है। उन सोवियत अनुसंधानों की ओर विशेष ध्यान दिया गया है, जिनसे इस विज्ञान में नई सामग्री का समावेश हुआ है। यह बात सर्वप्रथम मध्य एशिया के पुरातत्वीय स्मारकों के अध्ययन तथा सोवियत संघ के पांडुलिपि संग्रहों में विद्यमान भारतीय पांडुलिपियों के प्रकाशन पर लागू होती है।

आजकल इतिहासशास्त्रीय सिंहावलोकनों की आवश्यकता अधिकाधिक तीव्रता से अनुभव हो रही है। बात केवल यही नहीं कि अनुसंधानकर्त्ताओं, अनुसंधान केंद्रों और प्रकाशनों की संख्या तेज़ी से बढ़ रही है और इसलिए सुसामयिक सूचना प्रदान करना और अनुसंधानों में समन्वय करना आवश्यक है। विज्ञान द्वारा तय किये जा चुके मार्ग का सिंहावलोकन करने वाले ग्रंथ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, ताकि परिप्रेक्ष्य अधिक स्पष्ट हो सके। इतिहासशास्त्र से अनुसंधानों की एक ऐसी सामान्य तस्वीर पेश करने में मदद मिलती है, जिसमें विशिष्ट प्रश्नों पर अनुसंधानों का अपना स्थान होना चाहिए। भारतविदों ने इतिहासशास्त्रीय सिंहावलोकनों की इस आवश्यकता को समझा है। यह अकारण नहीं है कि पिछले दशक में अंग्रेज़ भारतविद फिलिप्स द्वारा सम्पादित 'भारत, पाकिस्तान और श्रीलंका के इतिहासकार' ग्रंथ तथा इसी विषय पर भारतीय विद्वानों की भी अनेक पुस्तकें और लेख छपे हैं। सुविख्यात भारतीय विद्वान वी० राघवन ने संसार के विभिन्न देशों में संस्कृतविद्या के विकास पर एक पुस्तक तथा आर० एन० दंडेकर ने 'वैदिक संदर्भग्रंथ' नामक पुस्तक छापी है, जिनमें सोवियत भारतविदों के शोधकार्यों का भी उल्लेख किया गया है। भारतीय स्रोतों की विशिष्टता को देखते हुए इतिहासशास्त्र भारतविद्या के लिए विशेषतः महत्त्वपूर्ण है। भारतविद्या में अभी तक बहुत कुछ अनुमानों और प्राक्कल्पनाओं पर ही आधारित है। कुछ कथनों को तथ्यों की भांति दोहराया जाता है और वे हर नई पुस्तक में स्थान पा जाते हैं, हालांकि उन प्राक्कल्पनाओं या सामान्य अवधारणाओं का, जिन पर वे आधारित थे, कब का खंडन किया जा चुका है। विज्ञान को "मिथकों" से अलग करने के लिए निरंतर मूल स्रोतों की ओर उन्मुख

होने तथा इतिहासशास्त्र के विकास की स्पष्टत: कल्पना करने की आवश्यकता है।

इतिहासविज्ञान का कोई अलग अस्तित्व नहीं है। यह ज्ञान संचय की प्रक्रिया मात्र ही नही है, बल्कि विचारो का सघर्ष भी है। यह देश के सांस्कृतिक जीवन का अंश है। इतिहासशास्त्र पर भाति-भांति के प्रभाव पड़ते हैं – दर्शन और राजनीति का भी, साहित्य और कला का भी, तत्संबंधी युग के सामान्य आत्मिक वातावरण और "जनता की चेतना" का भी। विभिन्न देशों मे इतिहासशास्त्र संबंधी धाराओ की इस विज्ञान के अलग-अलग क्षेत्रों में रुचि, शोध की समस्याओ की प्रस्तुति और कभी-कभी इन समस्याओ के हल के मार्ग भी विभिन्न होते हैं। इन धाराओं की परम्पराएं बहुत हद तक चिरस्थायी होती हैं। कभी-कभी इतिहासशास्त्र के विकास में अनुक्रमिकता भग हो जाती है, लेकिन परम्पराएं बनी रहती हैं और उनमें किन्ही समान आधारों पर पुनरुज्जीवित होने की प्रवृत्ति होती है। इस दृष्टि से इतिहासशास्त्र की विभिन्न राष्ट्रीय धाराओं का अध्ययन न केवल रोचक अपितु लाभप्रद भी है।

खेदवश यह कहना पडता है कि रूस में भारतविद्या के इतिहास के बारे मे भारत मे अभी पर्याप्त जानकारी नहीं है। रूसी भारतविदों के अनेक मूल्यवान ग्रंथ भाषा-बाधा के कारण यूरोप और भारत के विद्वानो को उपलब्ध नहीं हैं, हालांकि इवान मिनायेव की कुछ रचनाएं फ्रांसीसी में, फ्योदोर श्चेर्बात्स्की और उनके शिष्यों की कुछ रचनाएं अंग्रेज़ी में छपी तथा १९वी सदी के कतिपय रूसी भारतविद जर्मन में लिखते थे। इसके बावजूद ए० विंडिश द्वारा लिखित 'प्राचीन भारत के अध्ययन और संस्कृतविद्या का इतिहास' नामक सुप्रसिद्ध ग्रथ में, जो अनेक देशों में भारतविद्या के विकास के बारे मे बताता है, रूसी भारतविदो के कार्यों पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला गया। साथ ही यह पुस्तक काफ़ी पुरानी पड़ गई है, इसमे भारतविद्या के आरभिक चरण ही प्रतिबिम्बित हुए हैं। इसमें कोई संदेह नही कि रूसी और सोवियत भारतविद्या पर विस्तार से प्रकाश डालना आवश्यक है। विश्वविज्ञान में रूसी भारत-विद्या का योगदान काफ़ी महत्त्वपूर्ण रहा है। रूसी भारतविद्या का अपना मौलिक स्वरूप है, भारत के प्रति उसका सामान्य दृष्टिकोण पश्चिमी यूरोपीय दृष्टिकोण से कई मामलो में भिन्न है। इसका कारण है रूस के सामाजिक चिंतन के विकास की विशिष्टता। १८वीं सदी के रूसी ज्ञानप्रसारको के दिनों से ही सभी प्रमुख रूसी संस्कृतिकर्मी देश की सरकारी नीति और विचारधारा के विरोधी रहे थे। १९वीं सदी में रूस मे विज्ञान का विकास उदारतावादी और जनवादी विचारो के अंतर्गत हुआ। सामान्यत: रूसी प्राच्यविद्या के लिए औपनिवेशिक विचारो की अभिव्यक्ति लाक्षणिक नही है, नस्लवादी और पुरोहितवादी अवधारणाएं तो इसमें प्राय: पाई ही नही जाती। भारतविद्या के अन्य कई विदेशी केंद्रो में जहां यूरोप-केंद्रीयतावाद के विचार प्रबल थे और भारतीय संस्कृति को इस देश के ऐतिहासिक विकास के सामान्य क्रम से अलग करके उसका अध्ययन किया जाता था, उसे यूरोपीय शिक्षा एवं संस्कृति के नज़रिये से ही देखा जाता था, वहीं रूसी भारतविद्या के लिए सच्चा

मानवतावाद, प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन में ऐतिहासिक दृष्टिकोण, भारत के जनगण के प्रति गहरा आदर, उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारतीय लोगों के स्वतत्रता सग्राम से सहानुभूति लाक्षणिक थे। इस बात पर खास तौर से ज़ोर दिया जाता था कि भारत का ऐसे देश के नाते अध्ययन किया जाये, जहां भाषा की दृष्टि से और कुछ हद तक संस्कृति के क्षेत्र में भी रूसियों से निकट संबंध रखने वाले लोग रहते हैं। क्लासिकीय रूसी भारतविद्या की श्रेष्ठ परम्पराओं को सोवियत वैज्ञानिको ने अपनाया और विकसित किया है। ये वैज्ञानिक ऐतिहासिक प्रक्रिया के मार्क्सवादी सिद्धात को मानकर चलते हैं।

आजकल अच्छे पड़ोसीपन और सहयोग के सिद्धांतों पर आधारित सोवियत संघ और भारत के संबध बहुत से मामलों में आदर्श हैं तथा एशिया व समस्त विश्व मे शाति व स्थिरता बनाये रखने में सहायक हैं। सोवियत भारतविद मित्र देश की महान सभ्यता के गहन एवं वस्तुगत अध्ययन का उदात्त कार्यभार निभा रहे हैं। दोनों देशो के बीच घनिष्ठ संबधो को देखते हुए वैज्ञानिक जानकारी का जिसमें इतिहास एव संस्कृति से सबधित ज्ञान भी आता है आदान-प्रदान होना स्वाभाविक ही है।

भारतीय पाठको के लिए लिखी गई इस पुस्तक का ध्येय है प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन में रूसी और सोवियत भारतविद्या द्वारा तय किये गये मार्ग का अवलोकन करना। इसमें हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन भारत के इतिहास एव संस्कृति के अध्ययन के लिए रूस में क्या किया गया तथा सोवियत संघ में क्या किया जा रहा है। हमें आशा है कि सोवियत-भारत सांस्कृतिक एव वैज्ञानिक संबंधो के सुदृढ़ीकरण में यह पुस्तक विनम्र योगदान सिद्ध होगी।

भारतीय पाठकों के व्यापक दायरे को ध्यान में रखते हुए हमने पुस्तक में अत्यधिक विशेष ब्योरे न भरने और उसे सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है। पुस्तक मे चर्चित विभिन्न प्रश्नों पर अतिरिक्त सूचना या तर्क पाने के इच्छुक पाठकों के लिए रूसी तथा पश्चिमी यूरोपीय भाषाओं की तत्संबंधी पुस्तकों की संदर्भ-सूची पुस्तक के अंत में दे दी गई है।

* * *

यह पुस्तक लिखते हुए हमने भारतविदों के वैज्ञानिक ग्रथों के अलावा पत्रिकाओ मे छपे लेखो, विश्वविद्यालयों, वैज्ञानिक प्रतिष्ठानों और अभियानों की अधिकृत रिपोर्टों तथा भारतविद्या संबधी शोधकार्यों के सिंहावलोकनो का व्यापक उपयोग किया है; अभिलेखागारो में प्राप्त सामग्री का भी उपयोग किया गया है। हम अपने देश में भारतविद्या के इतिहास में पहले भी रुचि लेते रहे हैं और इस विषय पर कुछ सामग्री प्रकाशित कर चुके हैं, जिसका उपयोग प्रस्तुत पुस्तक में भी किया गया है।

१८वीं सदी के अंत तक सोवियत संघ के जनगण के मानस में भारत की छवि

सोवियत संघ और भारत के बीच बहुविध सम्पर्कों की परम्परा बहुत पुरानी है। महान देश भारत के बारे मे धारणाएं और छवि सोवियत संघ के जनगण की आत्मिक धरोहर का अभिन्न अंग बन गई हैं। आइये, अतीत की गहराइयों में झांककर देखें।...

अनेक वैज्ञानिकों का, जिनमें सोवियत वैज्ञानिक भी हैं, यह मत है कि भारोपीय लोगों के आरंभिक निवास-स्थलों में वर्तमान सोवियत संघ के कुछ इलाके भी थे। आर्य (भारतीय-ईरानी) समष्टि के निरूपित हो जाने के बाद भी आर्य कबीले उन इलाकों में बसे हुए थे, जो आज सोवियत संघ में शामिल हैं। सोवियत पुराविदों के शोधकार्यों से जनगण के स्थानांतरण की तथा विशेषत: वैदिक आर्यों के उत्तर-पश्चिमी भारत मे बसने की समस्याओं पर नया प्रकाश डालने में मदद मिलती है। आजकल वेदों की भाषा तथा स्लाव, बाल्टिक और ईरानी जनगण की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन बहुत फलप्रद सिद्ध हो रहा है। भारतीय और स्लाव मिथकों में निश्चित सादृश्य का कारण भी उनका समान मूल तथा दीर्घकालीन सहवास बताया जाता है। सोवियत संघ में बसे ईरानी-भाषी जनगण, उदाहरणत: प्राचीन सार्मेशियाइयों के वंशज ओसेतिन लोगों की संस्कृति के अध्ययन से भारतविद को विस्तृत तुलना-सामग्री मिलती है। आधुनिक वैज्ञानिक साहित्य में इस दृष्टिकोण के समर्थन में तर्क पेश किये जा रहे हैं कि काला सागर के उत्तरी तटवर्ती मैदानों में प्राचीन युग में न केवल ईरानीभाषी कबीले, बल्कि वे क़बीले भी रहते थे, जो बाद में भारतीय आर्य कहलाये (इसका उदाहरण भाषाविद प्रो० ओलेग त्रुबाच्योव

की रचनाएं हैं)। प्रो० त्रुबाच्योव का कहना है कि काला सागर के उत्तरी अंचल में प्राचीन काल में प्रचलित नाम भारतीय नामों से काफ़ी मिलते-जुलते हैं (उदाहरणत:, क्रीमिया में ख़ेर्सोनेस नगर के पास स्थित स्थान "ददके" और भारतीय "दंडक", शक जाति के लोगों के नाम "बूतो-नातोस" और "महादावा" तथा भारतीय नाम "भूतनाथ" और "महादेव", इत्यादि)। कुछ लेखक तो यह भी मानते हैं कि "हिंदू धर्म की आस्थाओं" का स्रोत "काला सागर अंचल में भारतीय आर्यों के वास-काल" में ढूंढा जा सकता है। ये इतिहासकार अति प्राचीन युग में काला सागर अंचल और भारत के बीच "घनिष्ठ सांस्कृतिक-नृजातीय संबंधों" तथा "दोतरफ़े सम्पर्क" की चर्चा भी करते हैं। जो भी हो, भारतीय आर्यों का मूल लिखित इतिहास के पूर्व के युग में सोवियत संघ के पूर्वी यूरोपीय भाग से तथा मध्य एशिया से जुड़ा हुआ है। मध्य एशिया के तो आर्य-पूर्व काल में, यानी हड़प्पा सभ्यता के समय में भी, भारत के साथ संबंध थे। इसका प्रमाण दक्षिणी तुर्कमानिस्तान में हुई खुदाइयों से मिला है।

क्लासिकीय पुरायुग में दूसरे देशों के साथ भारत के संबंधों के बारे में अपेक्षाकृत कम जानकारी उपलब्ध है, तथापि मध्य एशिया के साथ इस देश के घनिष्ठ सम्पर्कों के बारे में कोई संदेह नहीं है। उस युग के प्रमुख व्यापार मार्ग यहां से गुज़रते थे, कई ऐसे राज्य स्थापित हुए जिनमें भारत और मध्य एशिया दोनों के इलाक़े शामिल थे। ईसवी संवत की पहली सदियों में कुषाण राज्य इनमें सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण था।

उल्लेखनीय है कि इस्लाम विजय के पूर्ववर्ती युग में मध्य एशिया की भौतिक एवं आत्मिक संस्कृति पर भारत का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। दूसरी ओर, प्राचीन यूनानी एवं रोमन संस्कृति के माध्यम से ईसाई देशों–आर्मीनिया, जार्जिया और रूस–में भारत का एक स्थायी बिम्ब बना, जो इनमें से प्रत्येक जनगण की अनेक मौखिक और लिखित रचनाओं में प्रतिबिम्बित हुआ। निकट पूर्व के यूनानी और अरब साहित्य के माध्यम से भारतीय कथानक और बिम्ब पूर्वी यूरोप तक पहुंचे।

मध्ययुग में मध्य एशिया और अंशत: ट्रांसकाकेशिया के साथ भारत के घनिष्ठ व्यापारिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संबंध थे। इस युग के उत्तर काल में प्राचीन रूस के साथ भी भारत के संबंध स्थापित हुए, यहां कुछ भारतीय बस्तियां बनीं। ग्यारहवीं सदी से भारत और मध्य एशिया के कुछ इलाक़े एक ही राज्य के अंश रहे, इसलिए इन देशों की संस्कृतियों का एक दूसरी पर प्रबल प्रभाव पड़ा। आर्मीनियाई सौदागर काफ़ी पहले ही भारत पहुंच गये थे, उत्तर मध्ययुग में तो वे न केवल इस देश के आर्थिक जीवन में, अपितु कभी-कभी राजनीतिक जीवन में भी उल्लेखनीय भूमिका अदा करते थे। मध्ययुग से ही रूस के विभिन्न जनगण की भाषाओं में, जिनमें रूसी भी थी, भारत के वर्णन रचे जाने लगे, आरम्भ में यात्रियों द्वारा और फिर शोधकर्त्ताओं द्वारा। शनै:-शनै: भारत की एक छवि बन रही थी, इस देश के जनगण के प्रति रुचि और गहरी सद्भावना बढ़ रही थी।

१. प्राचीन रूस में भारत की छवि

रूस में भारत के बारे में जानकारी दो रास्तों से पहुंचती थी – पुस्तकों के माध्यम से तथा पूरब के साथ सीधे सम्पर्कों से। इन संबंधों के अस्तित्व की पुष्टि करना कठिन है और केवल परोक्ष और असंबद्ध तथ्यों से इन संबंधों के होने का अनुमान लगाया जा सकता है। किंतु लिखित स्रोतों से पहुंचने वाली जानकारी कहीं अधिक विपुल थी।

प्राचीन रूसी साहित्य के पहले ग्रंथों में ही भारत का उल्लेख आता है। ईसाई धर्म ग्रहण करने (ई० ९८८) के पश्चात रूस में यूनानी और बुल्गारियाई पुस्तकों की मानो बाढ़ सी आ गई। अनूदित ईसाई साहित्य की बदौलत रूस में भारतीय नामों, कथानकों और साहित्यिक तत्वों का आविर्भाव हुआ और कुछ सदी पूर्व बैज़ंतिया में बनी भारत संबंधी अवधारणाओं से रूसी लोग परिचित हुए। स्वयं बैज़ंतिया में भारत के बारे में जानकारी ईसाई धर्म के पहले लेखकों की तथा चौथी-पांचवीं सदी के उत्तर रोम साम्राज्य के लेखकों की रचनाओं से पाई गई थी। इन रचनाओं में प्राचीन यूनानी साहित्य में प्रचलित भारत संबंधी किंवदंतियों, सिकंदर महान के साथियों के यात्रा-वृत्तांतों तथा रोमन-यूनानी इतिहास के उत्तर पुरायुग के यात्रियों की सूचनाएं अंतर्गुंफित थीं। उस युग के ईसाई लेखकों को भारत के चमत्कार और उसका धर्म ही आकर्षित नहीं करते थे, भारतीय ब्राह्मणों और श्रमणों के जीवन में तथा ईसा के पट्टशिष्य संत थॉमस द्वारा भारत में ईसाई धर्म के प्रचार की कथाओं में भी उनकी विशेष रुचि थी। प्राचीन यूनान और रोम के साथ भारत के सम्पर्कों के समय में, सिकंदर महान के दिनों में, कुषाण साम्राज्य के स्वर्णिम दिनों में तथा अरब सागर और लाल सागर के रास्ते समुद्री व्यापार के दिनों में भारत के बारे में जो जानकारी यूनान और रोम तक पहुंची थी, वह अत्यधिक विकृत होकर बैज़ंतिया तक और फिर रूस तक पहुंची।

सुविदित है कि मौलिक प्राचीन रूसी साहित्य भी बैज़ंतिया के निश्चित प्रभाव में गठित हुआ था। इसकी एक सबसे पुरानी रचना 'स्लोवो ओ ज़ाकोने ई ब्लागोदाती' (विधान एवं कल्याण कथा) ११वीं सदी में कीयेव रूस के धर्माध्यक्ष (मेट्रोपोलिटन) इलारियोन ने लिखी थी, जिन्हें "लेतोपिस" (प्राचीन रूसी इतिवृत्त) में "अध्येता एवं व्रतधारी सत्पुरुष" कहा गया। इस रचना में ईसा के पट्टशिष्य संत थॉमस द्वारा भारत में ईसाई धर्म के प्रचार का उल्लेख है। "संत थॉमस के कृत्य", संत थॉमस द्वारा भारतीय राजा गोंदोफ़रस के लिए महल बनाया जाना और उसे ईसाई धर्म में दीक्षित करना – यह सब मंगोल-पूर्व काल के रूस में सुविदित था।

प्राचीनतम रूसी इतिवृत्त 'पोवेस्त् व्रेमेन्नीख लेत' (काल क्रमिक गाथा) के लेखक ने पृथ्वी पर विभिन्न जातियों के वितरण का उल्लेख करते हुए बाइबल की उस

कथा का हवाला दिया है, जिसके अनुसार नूह के बेटे शेम के वंशजों के हिस्से में पेर्सीदा (फ़ारस) से इंदीकी (भारत) तक का राज्य आया। "बाख्त्रीय लोगों, जिन्हें राह्मन या द्वीपवासी भी कहा जाता है" के रीति-रिवाजों का वर्णन करते हुए इतिवृत्तकार बताता है कि वे अपनी धर्मपरायणता के कारण "मांस नहीं खाते, मदिरापान नहीं करते, व्यभिचार नहीं करते और किसी को दुख नहीं पहुंचाते"। "राह्मनों" की तुलना वह उन भारतीयों से करता है, जिनमें ये सब गुण नहीं हैं। ये दोनों अंश प्रत्यक्षत: बैज़ंतियाई मठवासी गेओर्गी अमार्तोल रचित इतिवृत्त से लिये गये हैं। गेओर्गी अमार्तोल के इतिवृत्त का रूस में अनुवाद ११वीं सदी के मध्य में हुआ था। इसमें भारत और ब्राह्मणों के बारे में जो जानकारी है, उसका स्रोत उत्तर पुरायुग में है, जब पल्लाडियस और मीडियोलेनम (मिलान) के संत अम्ब्रोस ने 'भारत की नस्लें और ब्राह्मण' शीर्षक ग्रंथ लिखा था। रूस में उन दिनों सुपरिचित एक दूसरी रचना युहन्ना मलादास रचित 'क्रोनोग्राफ़ी' (इतिवृत्त) में भी ऐसी ही जानकारी थी।

प्रकृति में जो कुछ भी आश्चर्यजनक है – विचित्र जीव-जंतु, पेड़-पौधे और पत्थर – उस सबमें गहरी रुचि बैज़ंतियाई साहित्य के लिए लाक्षणिक थी। चमत्कारों को ऐसा प्रतीक माना जाता था, जिनसे 'पुराने' और 'नये नियम' की पावन पुस्तकों (बाइबल) की टीका करने में सहायता मिलती है, जबकि पशुओं का जीवन "मनुष्य के आत्मिक जगत का प्रतीकात्मक दर्पण" माना जाता था। भारत के चमत्कारों के बारे में पुरायुग के लेखकों की कहानियां, और कभी-कभी अरबी साहित्य की किंवदंतियां भी, मध्ययुग में यूरोप में प्रचलित 'फ़िज़ियोलोगस' (पशु-पक्षी कथासंग्रह) का प्रमुख स्रोत बन गईं। इस प्राचीन संग्रह के कई रूपांतर उन दिनों प्रचलित थे – यूनानी, सीरियाई, कोप्टिक, इथियोपियाई, आर्मीनियाई, इत्यादि। द्वितीय-तृतीय शती ई० के लेखक क्लीमेंट रोमन की रचनाओं में भी भारत के पशु-पक्षियों के बारे में कपोलकल्पित कहानियों की प्रतीकात्मक व्याख्या पाई जाती है (फ़ीनिक्स पक्षी की कहानी)। बैज़ंतिया में रची गई 'पुराने नियम' की टीकाओं में तथा बाइबल में दी गई विश्वोत्पत्ति के अनुसार ब्रह्मांड के वर्णन पर लिखी गई पुस्तकों में भारत के विचित्र पशुओं का उल्लेख प्राय: मिलता है। इस तरह की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें, जो एक तरह से ईसाइयों के लिए विश्वकोश रहीं, थीं – बज़ील महान का 'शेस्तोद्नेव' (छह दिन) तथा युहन्ना ऐक्ज़ार्ख बुल्गारियाई का 'शेस्तोद्नेव'। यह रूस में आई ईसाई धर्म की पहली पुस्तकों में थी। 'फ़िज़ियो-लोगस' तथा उसके जैसी अन्य रचनाओं का भारत तथा अन्य दूरवर्ती देशों के बारे में १७वीं सदी तक रूस में प्रचलित विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ा। ये विचार सर्वप्रथम ललित साहित्य में पाये जाते हैं, और कलाकृतियों तथा मौखिक लोक साहित्य में भी।

भारत के आश्चर्यजनक पक्षी फ़ीनिक्स गरुड की कहानियां रूस में बहुत लोक-प्रिय थीं। इन कहानियों में कहा जाता था कि फ़ीनिक्स पक्षी "सौर नगर" (हेलियो-

पोलिस) के पास रहता है, कि फ़ीनिक्स "पांच सौ वर्ष तक कुछ भी खाये-पिये बिना लेबनानी देवदारु वृक्ष पर पड़ा रहता है" और फिर "हेलियोपोलिस के पुरोहितों" द्वारा जगाये जाने पर जलकर भस्म हो जाता है। 'फ़िज़ियोलोगस' में फ़ीनिक्स को आत्म-बलिदान करते मुक्तिदाता ईसा मसीह का प्रतीक माना गया है। 'फ़िज़ियोलोगस' में भारतीय "चींटी-सिंह" की (सिर सिंह का और धड़ चींटी का), भारत में "द्रुतप्रसव रत्न" (प्रसव में सहायक रत्न) ढूंढने वाली चील की तथा भारत में पाये जाने वाले रोगहर पत्थर की, जिसकी सहायता से "चतुर चिकित्सक" "अपद्रव निकालते हैं", कहानियां भी हैं। मध्ययुगीन साहित्य में भारत का उल्लेख प्रायः आता है, यद्यपि इसके बारे में जो कुछ बताया जाता है, वह वास्तविकता से काफ़ी दूर है। वैसे कल्पनातीत विचित्रता के आवरण के तले भारत के पशुजगत तथा जड़ी-बूटियों के बारे में सच्ची जानकारी की भी झलक कभी-कभी मिल जाती है।

पाठक के सम्मुख भारत के आश्चर्यजनक पशुजगत का, जिसमें न केवल सचमुच के हाथी और गेंडे बड़ी संख्या में हैं, बल्कि "वराह-हाथी" और "चींटी-सिंह" आदि अजूबे भी हैं – ऐसा दृश्य प्रस्तुत करने में कोस्मस इंदिकोप्लेउस्तस द्वारा छठी शताब्दी ईसवी में रचित 'ख्रीस्तीय देशवर्णन' ने भी निश्चित भूमिका अदा की। इस पुस्तक का भी कीयेव काल में ही रूस में अनुवाद हो गया था और आगे चलकर यह बहुत लोकप्रिय हुई। ब्रह्मांड के बारे में प्राचीन विचारों के साथ तर्क-वितर्क के रूप में लिखित कोस्मस की इस पुस्तक में विश्वसृष्टि के बारे में ईसाई धर्म के विचारों का विवरण दिया गया था। विभिन्न देशों का इसमें जो वर्णन किया गया है, उसमें कभी-कभी भारत आदि देशों में हो आये यात्रियों की कहानियों का प्रतिबिम्ब भी देखा जा सकता है। 'ख्रीस्तीय देशवर्णन' की कई पांडुलिपियां मिली हैं, जिनमें से कुछ सचित्र भी हैं।

१२वीं सदी में रूस में 'बर्लाम और जोआसफ़ की कथा' बहुत लोकप्रिय थी। सुविदित है कि यह कहानी बुद्ध की जीवनी का रूपांतरण है और जोआसफ़ नाम भारतीय शब्द बोधिसत्व से (बुदास्फ़ रूप के माध्यम से) बना है। ईसवी संवत के आरंभ में बोधिसत्व की कथा मध्य एशिया में बहुत लोकप्रिय थी। प्रथम सहस्राब्दी के मध्य में यह कथा मानीवाद के अनुयायियों में भी बहुत प्रचलित हुई। कथा का पहला उल्लेख छठी-सातवीं शताब्दी में मिलता है, जब ससानिद वंश के विख्यात सम्राट नौशेरवां के आदेश पर इसका पहलवी भाषा में अनुवाद हुआ (सम्राट नौशेरवां भारतीय संस्कृति में गहरी रुचि रखते थे और कहा जाता है कि उन्होंने 'पंचतंत्र' का अनुवाद कराया और उनके राज में ही ईरान में भारतीय शतरंज का प्रचलन हुआ)। 'बर्लाम और जोआसफ़ की कथा' का पहलवी रूपांतरण कालांतर में खो गया, परंतु इसका अरबी रूपांतरण उपलब्ध है, जो ८वीं सदी में हुआ था। इसके कुछ समय बाद यूनानी भाषा में इसका रूपांतरण हुआ, जो ७वीं-८वीं सदी के प्रसिद्ध बैज़ंतियाई धर्ममीमांसक युहन्ना दमिश्की द्वारा किया गया बताया जाता है।

इस कथा का अनुवाद लातिनी, इथियोपियाई, स्लाव तथा अनेक पश्चिमी-यूरोपीय भाषाओं में हुआ। कथा में बताया गया है कि भारतीय राजकुमार ने सांसारिक सुखों और प्रलोभनों को त्याग कर अपना ध्यान दूसरे, अधिक श्रेष्ठ लोक की ओर लगाया तथा मरुभूमि में चला गया। संन्यासी बर्लाम तथा भारतीय राजकुमार जोआसफ़ को ईसाई धर्म के पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही चर्चों ने संत स्वीकार किया।

कालांतर में रूस में जोआसफ़ के बारे में एक सर्वाधिक लोकप्रिय भजन रचा गया। इस भजन के कुछ रूपांतरों में पूरी 'कथा' ही दी गई है, यह बताया गया है कि कैसे भारतीय राजा अवेनीर के पुत्र ने "अंधा, कोढ़ी, दंतहीन बूढ़ा" देखा। "लोगों का दुख सुनकर" स्वयं भी विलाप करने लगा, "लोगों के अभागे जीवन की बातें करने लगा" और फिर वह "स्वयं भिक्षु बन गया ... स्वेच्छा से स्वयं भी एक श्रमण हो गया।" कुछ दूसरे भजनों में जोआसफ़ का एकांत से वार्तालाप, अर्थात एकांत के लिए विलाप, प्रार्थना या उसकी प्रशंसा ही है। इस प्रश्न का कि "हे, यशस्वी, अपना राज-पाट किसके लिए छोड़ रहे हो?" राजकुमार उत्तर देता है: "हे माता, यह मेरा राज तो क्षणिक है, स्वर्ग का राज शाश्वत है।" इस प्रकार रूसी लोक साहित्य का यह एक सर्वश्रेष्ठ भजन 'बर्लाम और जोआसफ़ की कथा' पर आधारित है और अंततः बुद्ध की भारतीय कथा को प्रतिबिम्बित करता है। १६८१ में छपे इस 'कथा' के संस्करण के लिए १७वीं सदी के विलक्षण रूसी चित्रकार सीमोन उशाकोव ने उत्कीर्णन चित्र बनाये थे। रूस के शाही थियेटर में सबसे पहले मंचित किये गये नाटकों में से एक इस 'कथा' पर ही आधारित था। इस मूलतः भारतीय कथानक ने वसीली झुकोव्स्की और अपोलोन मायकोव जैसे १९वीं सदी के कवियों को प्रेरित किया।

लोक साहित्य की कतिपय अन्य रचनाओं, विशेषतः 'गोलुबीनया क्नीगा' (मर्म ग्रंथ) नामक भजन पर भारतीय साहित्य का निश्चित प्रभाव महसूस होता है। इसमें विश्वोत्पत्ति के प्रश्न उठाये गये हैं: पृथ्वी कहां से प्रकट हुई, आदम की रचना कितने अंशों से हुई, इत्यादि। इन प्रश्नों के उत्तरों में 'फ़िज़ियोलोगस' और 'स्काज़ानिये ओब इन्दीस्कोम त्सार्स्त्वे' (कथा भारतीय राज की) जैसी रचनाओं का प्रभाव दिखाई देता है। परंतु इस भजन के कुछ रूपांतरों की वे पंक्तियां विशेषतः रोचक हैं, जिनमें लोगों की उत्पत्ति का उल्लेख है: "हमारी पृथ्वी पर राजाओं का जन्म आदम के पावन सिर से हुआ; ... मंत्रियों-बोयारों का जन्म आदम के पवित्र धड़ से हुआ, ईसाई किसानों का आदम के पवित्र चरणों से"। 'गोलुबीनया क्नीगा' की इन पंक्तियों की ओर, जो वर्णों की उत्पत्ति के बारे में ऋग्वेद के पुरुषसूक्त की याद दिलाती हैं, शोधकर्त्ताओं का ध्यान अनेक बार गया है। आरम्भ में यही माना जाता था कि रूसी भजन में सामान्य भारोपीय या सामान्य आर्य मिथक परम्परा सुरक्षित रही है। लेकिन इन भजनों के साहित्यिक मूल को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतीय मिथक अनेक साहित्यिक रूपांतरणों के बाद पश्चिम

से रूस तक पहुंचा। पिछली सदी के रूसी विद्वान अलेक्सान्द्र वेसेलोव्स्की और उनके शिष्यों ने भारतीय साहित्यिक कथानकों की यात्राओं और रूस तक उनके पहुंचने के मार्गों का विस्तार से अध्ययन किया है। 'गोलुबीनया क्नीगा' के स्रोत प्रत्यक्षत: बुल्गारियाई एपोक्रिफ़ (अप्रामाणिक) साहित्य में ढूंढे जाने चाहिए। यह साहित्य दसवीं सदी के आस-पास रूस में पहुंचा था। इस साहित्य की कुछ रचनाओं में बोगोमील (शब्दश: प्रभुप्रिय) पंथ के, जो बुल्गारिया में तब प्रचलित था, विचार व्यक्त हुए थे। रूस में इस साहित्य की रचनाएं 'तीन धर्माधिकारियों की वार्ता', 'थबोर पर्वत पर धर्मतत्वज्ञ युहन्ना द्वारा प्रभु से पूछे गये प्रश्न' और 'यरूशलम वार्ता' आदि सुज्ञात थी और इनका मुख्य विषय भी विश्वसृष्टि ही था। इनके कुछ विचार 'संत युहन्ना की प्रकाशना' नामक एपोक्रिफ़ रचना तथा ईसाई धर्म के प्रचार की पहली सदियों की अन्य रचनाओ से आये कहे जा सकते हैं, और ये विचार प्रज्ञान-वाद तथा मानीवाद के प्रबल प्रभाव में बने थे। नौवी-दसवी सदियों मे ये विचार बोगोमील पंथ में बहुत फैले।

वर्णों की उत्पत्ति की भारतीय कथा, संभवत:, आरंभ में ईरानी मानीवादियो तथा ईसवी संवत के आरंभ के ईसाई अपधर्मियों के माध्यम से और फिर बैज़ंतियाई साहित्य व बुल्गारियाई बोगोमील पंथियों के माध्यम से रूस तक पहुंची। इस प्रकार भारतीय साहित्यिक विचार दो रास्तों से रूस तक पहुंचते थे: पश्चिम से और ईरान से। यह कोई अतिशयोक्ति न होगी कि संसार के बारे में भारतीय लोगों के विचार जिस सहजता से रूस में स्वीकार कर लिये जाते थे, उसके कारण पूर्वी यूरोप की स्लाव-रूसी आबादी तथा आर्य (भारतीय और ईरानी) जनगण के बीच नृवशीय, भाषायी और सांस्कृतिक समीपता तथा पुराने संबंध भी रहे होंगे।

चर्च-स्लावोनिक साहित्य में प्राय: भारत का उल्लेख मिलता है। ११-१३वी सदियों की बैज़ंतियाई और पुरा बुल्गारियाई कृतियों में ब्राह्मणो का जीवन वर्णन बहुत लोक-प्रिय था। इन्हें संसार से निर्लिप्त, आराधनामग्न लोगों के रूप में चित्रित किया जाता था। उदाहरणत:, 'रोम के मकारिउस का वृत्तात' में तीन युवकों की भारत यात्रा के बारे में बताया गया है। इसके अनुसार ये युवक उन "निर्लिप्त" लोगो—ब्राह्मणों—के देश में गये, जो स्वर्ग के पास ही गुफा में रहते हैं, "नग्न" रहते हैं और "जटाए" धारण करते हैं। इन "निर्लिप्त" लोगों और उनके पड़ोसी देशो (एक ओर श्वान-शिरी लोगो का देश और दूसरी ओर लौह नगरी जिसके एकदम बाद स्वर्ग स्थित है) का वर्णन उत्तर पुरायुग के साहित्य में ब्राह्मणों के जीवन वृत्तांत की याद दिलाता है। यह साहित्य ही उपरोक्त 'वृत्तांत' का स्रोत था।

इस तरह की एक और रचना—'ज़ोसिम द्वारा राह्मनों के देश की यात्रा'—भी रूस में अच्छी तरह ज्ञात थी। पुरायुगीन लेखकों से नंगे रहने वाले ब्राह्मणों के बारे में प्राप्त जानकारी इस रचना में बड़े विचित्र ढंग से यहूदी दरवेशो—रेकाबियो—के बारे में जानकारी से अंतर्गुंथित हुई है। यहां बहुत कुछ इस बात से भी निर्धारित

हुआ कि राह्मनों को पृथ्वी के सिरे पर, पृथ्वी के स्वर्ग के पास बसा माना जाता था, इसलिए उन्हें आदर्श पुरुष माना जाता था। 'स्लोवो मेफ़ोदिया पतार्स्कवा' (पतार्स्क के मेफ़ोदी का वृत्तांत) नामक रचना पर भी सिकंदर महान और "निर्लिप्त" ब्राह्मणों के बारे में साहित्य का प्रभाव पड़ा। इसमें ब्राह्मणों के देश का स्थान निर्धारण प्रायः बिल्कुल विचित्र हुआ है—पृथ्वी के सिरे पर, जहां यरूशलम नगर है—परंतु साथ ही भारतीय पशु-पक्षियों के नाम भी दिये गये हैं। पश्चिमी यूरोप में भी ऐसा साहित्य उन दिनों प्रचलित था।

भारतीय नागा संतों (राह्मनों) के जीवन संबंधी ग्रंथों का प्रचार मध्ययुगीन रूस में धर्मतत्वीय विवाद तथा विचारों के संघर्ष से जुड़ा हुआ था। नोवगोरोद के आर्कबिशप वसीली कलीका ने बिशप फ़्योदोर के नाम अपने पत्र में ब्राह्मणों के बारे में कथाओं का हवाला देते हुए पृथ्वी पर स्वर्ग का अस्तित्व प्रमाणित करना चाहा था। १५वीं सदी के रूसी लेखक येफ़्रोसिन ने गेओर्गी अमार्तोल के इतिवृत्त तथा अन्य स्रोतों के आधार पर 'राह्मनों और उनके आश्चर्यजनक जीवन का वृत्तांत' लिखा। अपनी इस रचना में उसने "राह्मनों" की धर्मपरायणता पर ज़ोर दिया और कहा कि वे लोभ से मुक्त हैं। रूस में सामाजिक विषयों पर लिखने वालों के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी, क्योंकि पंद्रहवीं सदी के अंत और सोलहवीं सदी के आरंभ में रूस में मठों की सम्पत्ति और मठवासियों की "लोलुपता" को लेकर उग्र विवाद चल रहा था। येफ़्रोसिन ने राह्मनों के बारे में लिखा कि उनके पास "न लोहा है, न सोना, न मंदिर, न मदिरा, वे मांस नहीं खाते, क्रय-विक्रय नहीं करते, उनका कोई राजा नहीं, थोड़ी सी सब्ज़ी खाकर और मीठा पानी पीकर रहते हैं, सच्चे मन से ईश्वर में विश्वास करते हैं और निरंतर आराधना करते हैं।" १६वीं सदी के विलक्षण धार्मिक लेखक मक्सिम ग्रेक ने इसके विपरीत "राह्मनों" के मिथ्या विवेक के बारे में लिखा था।

ईसाई लेखकों के प्रभाव में ब्राह्मणों, या जैसा कि प्राचीन रूसी साहित्यिक कृतियों में उन्हें कहा जाता था, "राह्मनों" के बारे में कहानियां बहुत प्रचलित हो गईं। रूस के दक्षिण में और उक्राइना में अरसे तक ईसाई राह्मनों की कहानियां प्रचलित रहीं, जो सात समुद्र पार और ज़मीन के नीचे भी रहते हैं। इन कहानियों के अनुसार राह्मनों को तिथियों का ज्ञान नहीं था और वे ईस्टर तभी मनाते थे, जब आर्थोडोक्स ईसाइयों द्वारा नदियों में फेंके गये ईस्टर के अंडों के छिलके उन तक पहुंचते थे। उक्राइनी भाषा में "रख्मान", "रख्मानिन" (राह्मन) शब्द "सच्चा ईसाई" के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे, जबकि रूस के कलूगा और स्मोलेंस्क इलाक़ों में इस शब्द से "सीधा-सादा, भोला" अर्थ का विशेषण "रख्मान्नी" भी बना। रूसी के जादूई क़िस्सों 'ओ बोवे' (बोवा के बारे में) तथा 'ओ येगोरी ख्राब्रोम' (येगोर बहादुर के बारे में) में सल्तान के जिस "रख्लेइस्कोये" राज्य का ज़िक्र आता है, वह कुछ विद्वानों के मत में आरंभ में "रख्मान्स्कोये" पढ़ा जाता था।

मध्ययुग में भारत के बारे में सही-सही ज्ञान तो नहीं था, किंतु पुरायुगीन साहित्य के आधार पर मध्ययुगीन लेखकों ने भारत की अपनी छवि बनाई। वे एक ऐसे अजीबोग़रीब देश के रूप में इसकी कल्पना करते थे, जहां साधु-संन्यासी बसते हैं। एक दिलचस्प बात यह है कि वे भारत के वर्णन में उन लक्षणों को भी शामिल कर लेते थे, जिन्हें वे दूसरे देशों के चमत्कारों और साधु-संन्यासियों के बारे में जानकारी में पाते थे। भारत के बारे में सभी सूचनाओं को वे बाइबल के 'पुराने नियम' के निकट लाते थे और उन्हें ईसाइयत के रंग में रंगते थे। भारत की ऐसी "ईसाइयत के रंग में रंगी" छवि मध्ययुग में बहुत प्रचलित और स्थायी थी। नवीन युग के साहित्य पर भी इसका आंशिक प्रभाव पड़ा।

'कथा भारतीय राज की' पुस्तक का रूस में भारत की छवि के निर्माण पर बहुत प्रभाव पड़ा। यह पुस्तक उस पत्र की कहानी पर आधारित थी, जो भारत के पादरी-राजा (प्रेज़्बिटर) युहन्ना द्वारा यूनान के शासक मनुएल कोम्नेउस को लिखा बताया जाता था। यह "पत्र" १२वीं सदी के मध्य में यूनानी भाषा में प्रकट हुआ और तभी इसका लातिनी भाषा में अनुवाद हुआ। १२वीं सदी में धर्मयुद्धों (क्रूसेडों) के दिनों में ही इस पत्र का प्रकट होना आकस्मिक नहीं था। यूरोप में तब पूरब की सम्पदाओं में गहरी रुचि थी और ऐसी उम्मीदें बहुत फैली हुई थी कि उन दूर-दराज़ के देशों में "काफ़िरों" के बीच एक शक्तिशाली ईसाई राज भी है। इस बात के बावजूद कि मध्ययुगीन इतिवृत्तकारों ने ही (उदाहरणतः, ११६५ ई० के अल्बेरिक रचित इतिवृत्त में) इस "पत्र" में कुछ विचित्र असंगतियां इंगित की थीं, यूरोपवासी इस "पत्र" को गंभीरता से लेते थे। ११७७ में पोप अलेक्सान्द्र तृतीय ने प्रेज़्बिटर युहन्ना के पास अपने दूत भी भेजे। प्रेज़्बिटर युहन्ना के पत्र का रूसी में रूपांतर १३वीं सदी में हुआ। रूस में इस "पत्र" का नाम यह था: 'कथा भारतीय राज की, महान विख्यात देश और उसके सभी चमत्कारों की: कितना विशाल इसका क्षेत्र है, कितने यहां चमत्कार और सम्पदाएं हैं और कैसे यहां लोग, पक्षी, पशु और भांति-भांति के रत्न हैं'। इस 'कथा' में विपुल सम्पदा वाले सुदूर देश भारत के बारे में सभी दंतकथाएं समाविष्ट हुईं। इसमें भारत को ऐसा देश बताया गया जहां "पंद्रह बलूत वृक्षों पर घोंसला बुनने वाला पक्षी, हाथी नामक जानवर, एकश्रृंगी जानवर, स्वर्ण श्रृंग वाले पर्वतीय बकरे, ऊंट तथा भांति-भांति के भयानक जानवर रहते हैं।" इस देश में ऐसे लोग रहते हैं, जिनकी आंखें छाती पर होती हैं, पंख होते हैं और छह भुजाएं होती हैं (प्रत्यक्षतः, भारतीय मूर्तियों के आधार पर ऐसी बातें गढ़ी गईं), वहां सीधे स्वर्ग से उतरी नदियां बहती हैं और "मिर्च उगती है तथा वहां ज़मुर्रद नाम का रत्न होता है" और "हर वस्तु की प्रचुरता है", लेकिन कोई "चोर नहीं, लुटेरा नहीं और ईर्ष्यालु व्यक्ति नहीं।" और उस सुदूर देश में एक महल है, जो संत थॉमस द्वारा गोंदोफ़रस के लिए निर्मित महल के नमूने पर बनाया गया है। इस 'कथा' में भारत के विचित्र जीवों के बारे में जो सामग्री है, उसका संबंध सहज

ही 'फ़िज़ियोलोगस' जैसी पुस्तकों से तथा भारत व अन्य पूर्वी देशों के चमत्कारो का वर्णन करने वाले पुरायुगीन साहित्य से जोड़ा जा सकता है। भारत की एक समृद्ध देश के रूप में प्राचीन काल में जो कल्पना की जाती थी, उसमें इस पुस्तक में कुछ और अतिकाल्पनिक ब्योरे जुड़ गये तथा भारतीय लोगों की न्यायशीलता संबंधी अतीत के लेखकों के विचार धर्मपरायण सच्चे लोगों की कहानियों से और अधिक फैले। इस अतिकाल्पनिक वृत्तांत में सांसारिक सुख-सम्पदा की क्षणभंगुरता और निरर्थकता पर धार्मिक उपदेश भी जुडा हुआ है। यह 'कथा' सुदूर और रहस्यमय भारत को रूसी पाठक के समीप लाती है, क्योंकि इसका शासक इवान (जॉन, युहन्ना) ईसाई निकलता है, और न केवल ईसाई, बल्कि रूसियों जैसा ही आर्थोडोक्स ईसाई।

प्राचीन रूसी साहित्य में **'अलेक्सान्द्रिया'** नामक कहानी का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस कहानी का स्रोत अरस्तू के भतीजे कैलीस्थेनीज़ के नाम से लिखी गई 'सिकंदर की गाथा' है, जो सिकंदर महान के समसामयिकों के वृत्तांतों तथा दंतकथाओं के आधार पर ईसवी संवत् की पहली शताब्दियों में प्रकट हुई। पश्चिमी यूरोप के भी और पूर्वी यूरोप के भी मध्ययुगीन साहित्य की यह एक सर्वाधिक लोक-प्रिय रचना थी। हर देश में 'सिकंदर की गाथा' उस देश के जनगण के साहित्य का अभिन्न अंग बन गई थी और इस प्रक्रिया में इसका कथानक, इसके बिम्ब और मूलभूत विचार भी बदलते गये थे। इस गाथा में सिकंदर महान के भारत-अभियान का विशेष स्थान था। राजा पुरु के साथ सिकदर का युद्ध, भारतीय ब्राह्मणों और ऋषि-मुनियों से सिकंदर की वार्ता – इस सबका विस्तार से वर्णन किया जाता था। इस गाथा में भारत की जो छवि पेश की जाती थी वह उस देश के लोगो के लिए सारे संसार के बारे में उनकी अवधारणा का अभिन्न अंग होती थी। 'अलेक्सा-न्द्रिया' के विचित्रतापूर्ण कथानकों के आधार में मूलतः सच्ची घटनाएं तथा सिकंदर महान के साथियों ने भारत में जो कुछ देखा-सुना, उसकी जानकारी निहित थी। रूस में 'अलेक्सान्द्रिया' के कई रूपांतर थे। सबसे पुराना रूपांतर ११वीं-१२वीं सदी का माना जाता है। १३वी सदी में इसे इतिवृत्त संग्रहों में शामिल किया गया। कालांतर में 'कथा भारतीय राज की' तथा अन्य रचनाओं के अंशों को इसमें शामिल किये जाने के फलस्वरूप 'अलेक्सान्द्रिया' का कलेवर काफ़ी बढ़ गया। इस विस्तृत रूप में 'अलेक्सान्द्रिया' को 'येल्लीन्स्की ई रीम्स्की लेतोपिसेत्स' (यूनानी और रोमन इतिवृत्तकार) नामक इतिवृत्त संग्रह में शामिल किया गया। १५वीं सदी में तथा-कथित "द्वितीय दक्षिणी-स्लाव प्रभाव" के अंतर्गत रूस में 'अलेक्सान्द्रिया' का दूसरा, "सर्ब" संस्करण प्रकट हुआ, जो १४वी सदी मे यूरोप के दक्षिण में बना था। इसमें भारत का विस्तृत विवरण था, और इसके चमत्कारो की अनेक कहानियां – पक्षी-लोगो की, चीटियो की, जो घोड़े को खींच ले जा सकती हैं, छह बांहो, छह टांगो वाले लोगो की कहानियां, भारत की यात्रा करके आये राजा हर्क्युलिस और रानी सेमिरामिस की कहानियां। मध्ययुगीन 'अलेक्सान्द्रिया' में राह्मनों (ब्राह्मणों)

के जीवन वृत्तांत को विशेष महत्त्व दिया गया है, इसमें कहा गया है कि वे "किन्हीं पापों का बोझा नहीं ढोते, शांतिपूर्वक देवदूतों के समीप रहते हैं और उन्हें प्रभु से स्वर्गसुख का आशीर्वाद प्राप्त है।" राह्मन महासागर के बीच संतों के द्वीप पर रहते हैं और "नागा संन्यासी कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी सभी इच्छाओं से मुक्ति पा ली है।" इन वर्णनों और "राह्मनों के देश" की यात्राओं संबंधी ईसाई रचनाओं के बीच, जिन पर हमने ऊपर ग़ौर किया है, घनिष्ठ संबंध देख पाना कठिन नही है। सिकंदर से लड़े भारतीय राजा पुरु की सम्पदा के वर्णन में भी 'अलेक्सान्द्रिया' और 'कथा भारतीय राज की' के बीच सामीप्य स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। विपुल सम्पदा, चमत्कारों और धर्मात्मा संतों, नागा संन्यासियों के देश के बारे में 'अलेक्सान्द्रिया' की सूचनाओं का रूसी लिखित साहित्य में भारत के बिम्ब के निर्माण पर निश्चित प्रभाव पड़ा।

'कथा' और 'अलेक्सान्द्रिया' रचनाएं मौखिक साहित्य में भी प्रतिबिम्बित हुई हैं। "समृद्ध भारत" की छवि रूसी लोक साहित्य के वीर काव्यों – बिलीना – का अभिन्न तत्व बन गई। इस प्रसग में सबसे प्रसिद्ध बिलीना वीर ड्यूक स्तेपानोविच के बारे में है, जो कीयेव के प्रिस व्लादीमिर और उसके दरबारियों को अपने देश – भारत – की सम्पदा से वैसे ही आश्चर्यचकित करता है, जैसे भारतीय राजा इवान (युहन्ना) यूनान के शासक मनुएल को अपने 'पत्र' में करता है। वोल्ख व्सेस्लाव्येविच के बारे में पुरातन बिलीना में भी, जो प्रत्यक्षतः मगोलपूर्व काल में (१३वी सदी से पहले) गढ़ा गया, भारत की चर्चा है। नोवगोरोद के बिलीना काव्यो का विख्यात नायक सौदागर सद्‌को व्यापार करने भारत जाता है। १७वीं-१८वी सदी के बिलीना काव्यों मे वीर मिखाइलो पोतीक भारत जाता है, जबकि एक ऐतिहासिक गीत मे लिथुआनिया के राजा को यह परामर्श दिया जाता है कि वह मास्को नहीं, "समृद्ध भारत" के अभियान पर जाये। भारत और भारतीय "सौर नगर" (हेलियोपोलिस) का उल्लेख रूसी लोक कथाओ में, उदाहरणतः, येरुस्लान लाज़रेविच की कहानी में भी आता है। भारत के बारे में क़िस्से-कहानियां जन साधारण में अधिकाधिक फैलने लगे। जैसा कि लोक साहित्य की रचनाओं के साथ प्रायः होता है, इनमें कथन का ऐतिहासिक और भौगोलिक आधार अनिश्चित और अस्पष्ट है। बिलीना काव्यों में भारत को प्रायः करेलिया और वोलीनिया (रूस के उत्तर-पश्चिम और पश्चिम में स्थित इलाक़ो) के पास बताया जाता है, कभी-कभी तो इसे एक देश के रूप में नहीं, बल्कि एक नगर के रूप में चित्रित किया जाता है, जबकि बिलीना के नायकों के नाम प्रायः रूसी ही होते हैं। उदाहरणतः, भारत से आये ड्यूक स्तेपानोविच को "रूसी वीर" कहा गया है। इस प्रकार लोक साहित्य में भारत की छवि रूसी व्यक्ति के लिए क़रीबी और जानी-पहचानी ही बनती है।

१५वी सदी मे रूस में भारतीय मूल की एक और कथा प्रकट हुई – **'स्तेफ़ानीत और इख्निलात'**। सुविदित है कि यह कथा 'पचतत्र' से आई है। ससादिन वंश के

ईरान के सम्राट खुसरो नौशेरवां के समय 'पंचतंत्र' का संस्कृत से पहलवी में अनुवाद हुआ था और फिर पहलवी से अरबी में। अरबी में इसका नाम 'कलीला-ओ-दमना' पड़ा तथा इसमें कुरान के अंश शामिल किये गये। ११वीं सदी में बैज़ंतिया के सम्राट अलेक्सेई प्रथम कोम्नेउस के आदेश पर उसके दरबारी चिकित्सक सिमेओन साइथोस ने (सभवत: वह सीरियाई मूल का था) इस पुस्तक का यूनानी भाषा में अनुवाद किया। यूनानी रूपांतर एक ओर शीघ्र ही बने लातिनी तथा कतिपय पश्चिमी यूरोपीय रूपांतरों के लिए आधार बना। दूसरी ओर, यूनानी रूपांतर के आधार पर १३वीं सदी में दक्षिणी-स्लाव रूपांतर बना, जो शीघ्र ही रूस में पहुंचा। इस तरह नया अनुवाद, नया संस्करण, नया रूपांतर था। प्राचीन लेखक अपने देश की साहित्यिक परम्परा के अनुसार विदेशी रचना को बदलते थे, उसे विस्तृत करते थे या उसमें कांट-छांट करते थे। 'पंचतंत्र' के यूनानी रूपांतर में ही बाइबल तथा पुरायुगीन लेखकों की रचनाओं के उद्धरण शामिल कर दिये गये थे। मूल भारतीय रचना 'पंचतंत्र' की ही भांति उसके यूरोपीय रूपांतर भी, जिनमें प्राचीन रूसी ग्रंथ 'स्तेफ़ानीत और इख्निलात' भी आता है, "जीवन दर्पण", "मानव जीवन की शिक्षा" माने जाते थे। 'जीवन कार्यों की गाथा, जिसे अपने राजा की प्रेरणा से एक भारतीय दार्शनिक ने आख्यानों के रूप में पेश किया', अर्थात 'स्तेफ़ानीत और इख्निलात' की कहानी मात्र मनोरंजक नहीं, अपितु शिक्षात्मक रचना थी। 'स्तेफ़ानीत और इख्निलात' 'फ़िज़ियोलोगस' जैसे साहित्य से मिलती-जुलती रचना थी (यह अकारण ही नहीं कि इसका उपशीर्षक 'पशुकथाएं' था)। कथा के पाठ में कुछ परिवर्तन किये गये थे और उसमें कतिपय ख्रीस्तीय उपदेश जोड़े गये थे, जिनमें लोभ-मोह की भर्त्सना की गई थी और "ईसा की खातिर कष्ट भोगने वालों" की प्रशंसा की गई थी। 'स्तेफ़ानीत और इख्निलात' कथा बहुत लोकप्रिय हुई। इसकी ४४ हस्तलिखित नक़लें मिली हैं। 'पंचतंत्र' के इस रूपांतर की छाप प्राचीन रूसी साहित्य की अनेक रचनाओं पर पाई जाती है। १५८१-१५८२ में मास्को दरबार में पोप ग्रिगोरी तेरहवें के दूत जेसुइट अंटोनियो पोस्सेविनो की तुलना "धूर्त इख्निलात" से की जाती थी। संभव है कि 'स्तेफ़ानीत और इख्निलात' में भारतीय मूल की पशु-पक्षियों संबंधी जो नीति-कथाएं हैं उनका रूसी लोक साहित्य पर प्रभाव पड़ा हो। कालांतर में नवीन रूसी साहित्य में भी उन्होंने स्थान पाया।

१५वीं सदी में पहली बार प्राचीन रूसी साहित्य में भारत यात्रा का वृत्तांत प्रस्तुत किया गया। यह अफ़ानासी निकीतिन की पुस्तक 'तीन समुद्र पार की यात्रा' थी। इस पुस्तक के लेखक ने समुद्र पार के सुदूर देश का सही-सही और ब्योरेवार वर्णन किया। इसकी विस्तार मे चर्चा हम आगे करेंगे। अभी केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि रूसी यात्री के वृत्तांत के प्रकाशित होने पर भी भारत की उस छवि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया, जो बैज़ंतियाई और पश्चिमी यूरोपीय साहित्य के प्रभाव में बनी थी। सुदूर देशों के बारे में जानकारी कठिनाई से ही मध्ययुगीन

रूस के लिखित साहित्य में स्थान पाती रही थी। तो भी निकीतिन की 'यात्रा' को भारत के प्रति रूसियों के रुख में एक नये चरण का अग्रदूत कहा जा सकता है।

सोलहवीं और खास तौर पर सत्तरहवीं शताब्दी में जब रूस में दूरवर्ती देशों, विशेषत: भारत के प्रति उत्कट रुचि जागी, तो इस देश के विवरण को समर्पित वैज्ञानिक रचनाएं रची गईं। इन्ही दिनो प्राचीन रोमन और यूनानी भूगोलविज्ञानियों की रचनाओं तथा भूगोल पर सामान्य पुस्तकों का रूसी में अनुवाद किया गया। पोलैंड के मार्तिन बेल्स्की की 'समस्त विश्व का इतिवृत्त', इतालवी वैज्ञानिक जे० बोतेरो की 'कोस्मोग्राफ़ी' और फ़लांडर्स के गेरार्ड मेर्काटोर की 'कोस्मोग्राफ़ी' ऐसी ही कुछ पुस्तकें थी। मुग़ल बादशाहों और भारत यात्राओं को समर्पित विशेष रचनाओं का भी अनुवाद किया गया (उदाहरणत: 'तीन पोतों के प्रधान गेओर्गी स्पीलबेर्ग द्वारा १६०१ मे ईस्ट इंडिया की यात्रा', आदि पुस्तकें)।

लिखित साहित्य में कोस्मस इंदिकोप्लेउस्तस, 'फ़िज़ियोलोगस' और 'अलेक्सान्द्रिया' में निहित सूचनाए 'आज़्बुकोन्निकी ईलि अल्फ़ावीती इनोस्त्रान्निख़ रेचेइ' (ककहरों यानी विदेशी बोलियों की वर्णमालाओं) में शामिल की गईं। इन पुस्तकों में भारत के चमत्कारों और "स्वर्ग से निकलने वाली नदी गंगा के पार" रहने वाले ब्राह्मणों-साधुओं की कहानियां दोहराई जाती थी। दिलचस्प बात यह है कि इन 'ककहरों' के संकलनकर्ता अपनी सूचना को सत्य माने जाने का आग्रह नहीं करते थे, बल्कि कहते थे: "यह सब सच है या झूठ, मैं नही जानता, परंतु चूंकि यह सब मैंने पुस्तकों में पाया है, इसलिए यहां लिखने का कष्ट किया है। पशुओं और पक्षियों, पेड़-पौधों, जड़ी-बूटियों, मछलियों और रत्नो के बारे में भी यही बात लागू होती है, जिनके बारे में यहां वर्णमाला के क्रमानुसार बताया गया है।" १७वीं सदी के ऐसे एक ककहरे में प्राचीन रूसी साहित्य और पश्चिम की 'कोस्मोग्राफ़ी' रचनाओं से ली गई भारत संबंधी जानकारी को इस तरह पेश किया गया है: "महान भारत देश प्राचीन युग से सुविख्यात देश है। इस महान भारत का क्षेत्रफल चारों ओर दूर-दूर तक फैला हुआ है। नगर और देहात यहां असंख्य हैं, जैसे आकाश पर तारे। यह देश एक ओर चीन देश तक फैला हुआ है, दूसरी ओर पूर्वी सागर तक। यहां धर्म का राज था, प्रभु ईसा के पावन पट्टशिष्यों ने इसका बपतिस्मा किया था, किंतु अब यह सच्चे धर्म से विमुख हो गया है: यहां सूर्य और चंद्रमा और तारों की, अग्नि और जल की पूजा होती है। इसी महान भारत में राजकुमार जाओसफ़ हुआ था, और उसने एकांतवासी संत वर्लाम से सच्चे धर्म की शिक्षा पाई थी। भारत में रत्नों और सुगंधियों की बहुत प्रचुरता है। वहां के तौर-तरीक़े बर्बर हैं, लेकिन वहां पियक्कड़पन नहीं है।"

इन शब्दो में पुरायुगीन भूगोलविज्ञानियों, मध्ययुगीन दंतकथाओं, धार्मिक ग्रंथों तथा समसामयिक यात्रियों से प्राप्त जानकारी का निचोड़ देखा जा सकता है।

१७वीं सदी की सामान्य रचनाओं में प्राचीन भूगोलविज्ञानियों, दंतकथाओं और

कोस्मस इंदिकोप्लेउस्तस की 'ख़्रीस्तीय देशवर्णन' से ली गई किताबी जानकारी प्रत्यक्षदर्शियों – भूगोलविज्ञानियों और यात्रियों – से प्राप्त जानकारी के साथ अंतर्गुंथित होती है। उदाहरणतः, रूसी में छपी '१६७० की कोस्मोग्राफ़ी' में, जो मुख्यतः जेरार्ड मेर्काटोर की 'कोस्मोग्राफ़ी' के रूसी अनुवाद पर आधारित थी, रोमन भूगोल-विज्ञानियो और इतिहासकारों – पोम्पोनियस, डायोडरस, प्लिनी का भी तथा १३वीं सदी के यात्री मार्को पोलो का भी और नवीन युग के फ़्रांसीसी भूगोलवेत्ता स्कालिगेर का भी हवाला दिया गया है। इस प्रकार पाठक के सम्मुख भारत का एक कालेतर चित्र बनता है, मानो डेढ़-दो हज़ार वर्षों के दौरान इस देश में कोई परिवर्तन ही न आया हो। ऐसा अनैतिहासिक, कालेतर बोध सारे मध्ययुगीन साहित्य के लिए लाक्षणिक था। ऊपर चर्चित 'अलेक्सान्द्रिया' में मकदूनिया के सम्राट को उन जातियों के साथ वीरतापूर्वक लड़ते दिखाया गया है, जो सिकंदर महान की मृत्यु के कई सौ साल बाद ही गठित हुई थीं। मध्ययुगीन गाथाओं से 'कोस्मोग्राफ़ी' की एक रोचक भिन्नता यह अवश्य है कि भारत के रीति-रिवाजों और प्रकृति का वर्णन करते हुए वहां के चमत्कारों की ओर नहीं, बल्कि मसालों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। पुस्तक का ध्येय अपने कथन से पाठकों का मनोरंजन करना या उन्हें उपदेश देना नहीं, बल्कि उनका ज्ञान बढ़ाना है। 'कोस्मोग्राफ़ी' में भारत के अनेक नगरों की चर्चा की गई है, जिन पर "सिकंदर के सेनापतियों" ने विजय पाई, और इसके साथ ही "प्रधान राजनगरी – कालेखूत नगर" (यानी पुर्तगालियों के प्रधान अड्डे कालिकट) का ज़िक्र किया गया है तथा साथ ही "गुजरात के तट पर" खम्भात नगर का भी ज़िक्र है और इसके लिए स्कालिगेर का हवाला दिया गया है। पुरायुगीन स्रोतों के आधार पर भारत के लोगों, जातों के बारे में बताते हुए 'कोस्मोग्राफ़ी' का लेखक अपनी ओर से इतना और जोड़ता है कि भारत में भाषाएं और रीति-रिवाज भिन्न हैं, वहां "फ़ारसी ..., अरबी भाषा है, ईसाई और यहूदी हैं, वे ईसाई जो पावन संत थॉमस की शिक्षा का पालन करते हैं।" पुरा और मध्ययुगीन दंतकथाओं को अपने समसामयिक भूगोलवेत्ताओं की जानकारी के साथ जोड़ते हुए 'कोस्मोग्राफ़ी' का संकलनकर्त्ता अपनी रचना में वैज्ञानिकता का पुट लाने की कोशिश करता है। वह लिखता है: "तथा दूसरे भारत के बारे में बहुत सी ऐसी बातें भी लिखते हैं जो सत्य प्रतीत नहीं होती, किंतु मैं उन बातों पर चुप रहूंगा।"

शनैः-शनैः साहित्य में विद्यमान भारत की छवि का इस देश के बारे में वास्तविक सूचनाओं के साथ विरोधाभास प्रकट होने लगा और यह छवि लोक-कथाओं के क्षेत्र में स्थानांतरित होने लगी। १७वीं सदी के अंत में तथा १८वीं सदी में रूस में भारत के बारे में अवधारणा रूसी और विदेशी यात्रियों की सूचनाओं के आधार पर बनने लगी, न कि पुराने अनूदित साहित्य के आधार पर। १८वीं सदी के आरंभ तक रूस और भारत के बीच सीधे सम्पर्क भी काफ़ी बढ़ गये।

निस्संदेह, १७वीं सदी तक के प्राचीन रूस में भारत संबंधी ज्ञान का मूल्यांकन

केवल 'कथा भारतीय राज की' और 'अलेक्सान्द्रिया' जैसी रचनाओं के आधार पर ही करना गलत होगा। पुराने ज़माने में वास्तविकता के प्रति साहित्य का रुख काफ़ी जटिल था। साहित्य का मूल उद्देश्य तब वास्तविकता को, विशेषतः भौगोलिक वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करना नही था। काफ़ी लंबे समय तक सुदूर भारत के बारे में व्यावहारिक जानकारी को साहित्य में स्थान नही मिला, जिसका एक कारण यह भी था कि ऐसी जानकारी "ग़ैरकिताबी" लोगों के पास थी। भारत की साहित्यिक छवि तथा इस देश के बारे मे ठोस जानकारी क़ा समांतर अस्तित्व था और उनके बीच कोई विरोधाभास नही पैदा होता था। नवीन युग की पूर्ववेला में ही प्राचीन साहित्यिक परम्परा का अनुभव के आधार पर आलोचनात्मक मूल्यांकन करने की आवश्यकता अनुभव की गई।

रूसी-भारतीय संबंध, चाहे वे प्रत्यक्ष रहे हो या परोक्ष, स्मरणातीत काल से चले आ रहे हैं। पुरातत्त्वीय सामग्री से यह पता चलता है कि कीयेव रूस और पूरब के बीच काफ़ी व्यापक संबध थे। आठवीं-नौवी सदी की स्थलियों की खुदाई में पूर्वी देशों की वस्तुएं और पूर्वी सिक्के भी मिले हैं (जिनमें भारतीय सिक्के भी हैं)। अरब लेखक बहुत पहले ही रूसियों का ज़िक्र करने लगे थे। सभवतः भारत के साथ सम्पर्क वोल्गा के मुहाने में बसी ख़ज़ार लोगों की राजधानी इतील-ख़ज़ारान के ज़रिए स्थापित थे। अरब स्रोतों में नौवीं-दसवीं सदियों में इस नगर मे रूसियों की खासी बड़ी बस्ती का उल्लेख मिलता है। रूसियों और भारतीयो की भेंटें केवल इतील में ही नही होती थी। अरब भूगोलवेत्ता और यात्री इब्न फ़द्लान ने ९२१-९२२ में वोल्गा की अपनी यात्रा के वृत्तांत में वोल्गा-तटीय बुल्गारिया राज्य के शासक के यहां रह रहे और व्यापार कर रहे एक "सिंधी" का ज़िक्र किया है। इब्न फ़द्लान की पुस्तक में बुल्गारिया में आने वाले रूसियों का भी विस्तार से उल्लेख किया गया है।

दसवीं-ग्यारहवीं सदियों मे वोल्गा-कास्पियन व्यापार मार्ग बना, जिसने प्राचीन रूस को मध्य एशिया और उत्तरी भारत से जोड़ा। प्राचीनतम रूसी ग्रथ 'पोवेस्त व्रेमेन्नीख़ लेत' में "बुल्गार और ख़्वालीस" (यानी ख़्वारज़्म) तथा उससे आगे "शेम के राज" तक के मार्ग की चर्चा की गई है। "शेम के राज" में उत्तरी भारत के कुछ इलाक़ों को भी शामिल समझा जाता था। १३वी सदी के आरंभ के प्रसिद्ध अरबी और फ़ारसी लेखक मुहम्मद औफ़ी ने, जो बुख़ारा में जन्मा और दिल्ली में रहा, बताया है कि किस तरह कीयेव के राजा व्लादीमिर ने ख़्वारज़्म के शासक के दरबार में अपने दूत भेजे थे। अरब भूगोलवेत्ताओं की रचनाओ में रूसियो के बारे में अधिकांश जानकारी दसवीं-ग्यारहवीं सदियों की ही है, हालांकि कभी-कभी बाद के स्रोतों में भी यह जानकारी दी गई है। उल्लेखनीय है कि अरबों ने रूसियों और ख़ज़ारों के बीच घनिष्ठ संबंधों का खास ज़िक्र किया है। साथ ही अनेक अरब भूगोलवेत्ता ख़ज़ारों का संबंध किसी न किसी तरह भारतीयों से जोड़ते थे, संभवतः इसका

कारण उनके बीच नियमित व्यापार और अच्छे मार्ग था। कुछ अरब लेखकों, जैसे कि अल-बक्री और इब्न हौकल ने रूसियों और भारतीयों के कुछ रीति-रिवाजों (उदाहरणत:, अंतिम संस्कारों) की समानता इंगित की है। अल-बक्री लिखते हैं: "...उनके (रूसियों के) रीति-रिवाज हिंदुस्तानियों के रीति-रिवाजों जैसे हैं।" अरबीभाषी लेखकों ने, जिनमें भारत में बसे लेखक भी हैं, अक्सर उन मशहूर फ़ौलादी तलवारों का ज़िक्र किया है, जो रूस से पूर्वी देशों में लाई जाती थीं। निस्संदेह रूस और पूरब के बीच संबंध व्यापार तक ही सीमित नहीं थे। रूस में शतरंज काफ़ी पहले ही पहुंच गई थी और यह खेल यहां काफ़ी फैला था। नोवगोरोद में ११वीं सदी के स्तर की खुदाई में प्राय: शतरंज के मोहरे मिलते हैं। बहुत से तथ्य यह इंगित करते हैं कि रूस में शतरंज पूरब से लायी गई – इतील और बुल्गार के रास्ते भारत से ही यह खेल यहां आया। प्राचीन रूस में शतरंज के मोहरों की शक्लें और उनके नाम पश्चिमी यूरोप की अपेक्षा भारत में प्रचलित नामों के अधिक निकट हैं। उदाहरणत:, रूस में कुछ मोहरों के यूरोपीय नामों से भिन्न पूर्वी नाम ही इस्तेमाल किये जाते थे: "क्वीन" के बजाय "फ़ेर्ज़" (फ़रज़ी), "अफ़सर" के बजाय "स्लोन" (फील) इत्यादि।

मंगोल-तातार हमलों (१३वीं शती) ने न केवल रूस को, बल्कि मध्य एशिया के बहुत से इलाक़ों को भी तबाह किया और प्रत्यक्षत: आरंभ में पुराने अंतर्राष्ट्रीय सम्पर्क भी तोड़ दिये। तथापि कुछ समय पश्चात स्वर्ण ओर्दू स्वयं ही रूस और भारत के बीच सम्पर्क की एक कड़ी बन गया। १४वीं सदी में दिल्ली सल्तनत के सुल्तानों के जूची वंश के साथ घनिष्ठ संबंध थे, जबकि कतिपय रूसी रजवाड़े जूची वंश के अधीन थे। ओर्दू की दोनों राजधानियां—सराय बतु (पुरानी सराय) और सराय बेर्के (नई सराय) महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र थीं। विख्यात अरब यात्री इब्न बतूता ने १४वीं सदी के चौथे दशक में स्वर्ण ओर्दू की यात्रा के बाद ओर्दू और भारत के बीच व्यापक व्यापार का ज़िक्र किया (जैसे यह कि वहां से छह-छह हज़ार से भी अधिक घोड़ों के रेवड़ भारत को भेजे जाते थे)। काकेशिया-पार (दर्बेंत, बाकू, शेमाहा) और मध्य एशिया से गुज़रने वाले कई रास्ते वोल्गा-अंचल को भारत से जोड़ते थे। इब्न बतूता ने यह बताया है कि मुहम्मद तुग़लक ख़ास तौर पर स्वर्ण ओर्दू के साथ व्यापार को प्रश्रय देता था। इसकी पुष्टि वोल्गा-अंचल में कई स्थानों पर मिले १४वीं सदी के भारतीय सिक्कों से होती है। यह भी सुविदित है कि रूसी सौदागर सराय में भी और मध्य एशिया में भी व्यापार करते थे। उधर भारत के कुछ इलाक़ों के और अफ़ग़ानिस्तान के व्यापारी भी रूस पहुंचते थे। उज़्बेक ख़ान द्वारा भेजे गये अधिकारियों के ख़िलाफ़ त्वेर नगर में हुई बग़ावत का वर्णन करते हुए इतिवृत्तकार ने लिखा है कि ओर्दू के अधिकारियों के साथ-साथ "बहुत से मेहमान" भी मारे गये। अल ओमारी का कहना है कि भारत में रूसी कपड़ा बहुत क़ीमती चीज़ माना जाता था। अनेक स्रोतों से १४वीं सदी में भारत में रूसियों के होने का पता चलता है। अमीर ख़ुसरो देहलवी ने "बर्फ़ सी ठंडी" रूसी

सुंदरियों का ज़िक्र किया है। तुग़लक़नामे के अनुसार ग़ियासुद्दीन तुग़लक़ की फ़ौज में रूसी फ़ौजी भी थे।

१४वी-१५वीं सदियों के संधिकाल में तैमूरलंग ने स्वर्ण ओर्दू को पराजित किया और भारत तथा रूस दोनों ही देशों पर चढ़ाइयां करके वहां तबाही मचाई। फिर भी व्यापारिक मार्ग बने रहे। तैमूरलंग के दरबार में कस्तील्ला (स्पेन) के दूत रूय गोंज़ालेज़ दे क्लाविहो ने लिखा है कि समरक़ंद में उसने ऐसे व्यापारी देखे, जिनके पास रूसी और भारतीय माल था। "सुदूर देश से, शब्रूक के राज से" (यानी तैमूर के बेटे शाहरुह के दरबार से) दूत त्वेर आये थे। रूसी इतिवृत्तों में भी कभी-कभार भारत का उल्लेख मिलता है। १३५२ में उत्तरी रूस के कई इतिवृत्त-कारों ने "काली मौत" (प्लेग) के फैलने का ज़िक्र किया है: "कुछ लोग कहते हैं कि यह महामारी भारत देश से, सौर-नगर से आई है"। उल्लेखनीय है कि एक ओर तो इतिवृत्तकार अनुश्रुति का हवाला देते हैं, और दूसरी ओर भारत के नाम से ही "सौर-नगर" हेलियोपोलिस की शुद्धत: साहित्यिक संस्मृति सजीव हो उठती है।

स्वर्ग ओर्दू के अवसान के पश्चात कज़ान और मुख्यत: अस्त्राख़ान वोल्गा-अंचल के प्रमुख व्यापारिक केंद्र बन गये। अस्त्राख़ान मध्य एशिया, ईरान और प्रत्यक्षत: उत्तरी भारत से भी जुड़ा हुआ था। साथ ही अस्त्राख़ान में रूसी सौदागर भी बसे हुए थे।

१५वी सदी में रूसी-भारतीय संबंधो की सूचना देने वाले स्रोत थोड़े से ही हैं, किंतु इनमें एक स्रोत अमूल्य है। यह है – रूसी नगर त्वेर के व्यापारी अफ़ानासी निकीतिन की पुस्तक '**तीन समुद्र पार की यात्रा**'। नवीनतम शोधकार्य से यह पता चलता है कि यह यात्रा १४७१ से १४७४ के दौरान हुई (इससे पहले यात्रा काल १४६६-१४७२ माना जाता था)। अफ़ानासी निकीतिन अस्त्राख़ान से जहाज़ द्वारा ईरान गया था। यह रूसी व्यापारियों के लिए पूरब का परिचित मार्ग था। वहां से आगे भारत तक का समुद्र मार्ग रूसियों के लिए नया था, हालांकि ईरान और भारत के बीच यह परम्परागत मार्ग था। समुद्र के रास्ते खम्भात बंदरगाह में पहुंचकर रूसी यात्री चौल, पाली, उमरी, जुन्नार से गुजरा, देर तक बीदर में रहा, पर्वत गया और फिर गुलबर्गा, कोइलकोंड, कल्लूर, अलंद और डबहोल होता हुआ वापस स्वदेश को रवाना हुआ। उन दिनों दूसरे यूरोपीय देशों की ही भांति रूस के साथ भी भारत के नियमित व्यापार-संबंध नहीं थे। भारत के भीतरी इलाक़ों में अफ़ानासी निकीतिन के पीछे "लोगों की भीड़" चलती थी, वे "गोरे आदमी को देखकर चकित होते थे"। अगर हम यह मान भी लें कि अफ़ानासी निकीतिन से पहले रूसी व्यापारी भारत जा सकते थे, तो भी न तो स्वयं अफानासी निकीतिन के वृत्तांत में और न ही किन्हीं अन्य स्रोतों में ऐसी घटनाओं का कोई उल्लेख मिलता है। लेकिन साथ ही अफ़ानासी निकीतिन भली-भांति यह जानता था कि वह कहां जा रहा है। प्रत्यक्षत:

वह कास्पियन सागर के तटवर्ती इलाक़ों में नियमित रूप से व्यापार करता था और उत्तर-पूर्वी ईरान के खुरासान इलाक़े के व्यापारियों से उसके घनिष्ठ संबंध थे, इसीलिए वह अपना नाम "बुसुरमानी ढंग से युसूफ़ खुरासानी" बताता था। भारत पहुचने पर निकीतिन को प्रभावशाली खुरासानी हाजी मुहम्मद का समर्थन मिला। यह भी लाक्षणिक है कि 'यात्रा' में लेखक ने कुछ स्थान ऐसी भाषा में लिखे हैं, जो पूर्वी शब्दों की खिचड़ी है, और प्रत्यक्षतः कास्पियन तटवर्ती इलाक़ों व मध्य एशिया में प्रचलित थी। आधुनिक शोधकर्त्ताओं का यह मत है कि इस भाषा में चग़ताई (पुरानी उज़्बेक) भाषा के तत्व ही अधिक थे। उन मुसलमान सौदागरों ने ही, जो रूसी और भारतीय दोनों ही मंडियों से परिचित थे, त्वेर के व्यापारी को भारतीय माल के बारे में बताया था। अफ़ानासी निकीतिन को भारतीय व्यापार के बारे में कुछ भी पता नहीं था। इसलिए भारत पहुचने पर शुरू में तो वह निराश ही हुआ: "बुसुरमान कुत्तों ने मुझे धोखा दे दिया। कहते थे कि यहां बहुत सा माल है, पर हमारे देश के लिए तो कुछ भी नहीं है, बस बुसुरमानी देशों के लिए ठीक माल ही है। मिर्च और रंग सस्ते हैं ... पर ... महसूल बहुत ज़्यादा है।"

अपनी यात्रा के दौरान रूसी व्यापारी ने बड़े ध्यान से यह सब देखा और नोट किया कि भारत में कहां क्या होता है और किस चीज़ का मोल क्या है (मिर्च और लोबान कहां अधिक होते हैं, घोड़े कितने महंगे हैं, इत्यादि)। भारत के जिन भागों और आस-पड़ोस के जिन देशों में वह स्वय नहीं जा सका, वहां की सम्पदाओं और भावों का भी पता लगाने की उसने कोशिश की। भारत में हुई कुछ निराशा और कठिनाइयों के बावजूद अफ़ानासी निकीतिन सभवतः भारतीय वस्तुओं के बारे में जानकारी को और रूस व भारत के बीच व्यापार की सभावना को महत्त्वपूर्ण मानता था।

निस्संदेह 'यात्रा' का लेखक काफ़ी पढ़ा-लिखा आदमी था। वह अपने साथ पुस्तकें ले गया था, लेकिन वे लुटेरों के हमलों के समय खो गईं। भारत में देखी एक मूर्ति की तुलना निकीतिन त्सारग्राद (कुस्तुंतुनिया) में स्थित सम्राट जस्टीनियन के स्मारक से करता है। प्रत्यक्षतः उसने किसी सचित्र पुस्तक में इस स्मारक का चित्र देखा होगा। अफ़ानासी निकीतिन केवल व्यापार की खातिर नहीं, जिज्ञासावश भी भारत की यात्रा पर निकला था। बहुत मुमकिन है कि उसने दूसरी यात्रा-पुस्तकें पढ़ी हों और उनके प्रभाव से ही भारत में उसने डायरी लिखी और स्वदेश लौटने पर उसे विशेष पुस्तक का रूप दिया। यह भी संभव है कि अफ़ानासी निकीतिन ने कोस्मस इंदिकोप्लेउस्तस की 'ख्रीस्तीय देशवर्णन' पढ़ी हो, जिसने त्वेर के व्यापारी से नौ सौ साल पहले "तीन समुद्र" पार किये थे। निकीतिन की 'यात्रा' का लहजा कहीं-कहीं उपदेशात्मक है और प्राचीन रूसी साहित्य की दूसरी रचनाओं की याद दिलाता है। लेकिन साथ ही रूस में तीर्थ-स्थानों की यात्राओं या राजदूतों की दूसरे देशों की यात्राओं पर जो यात्रा-पुस्तकें तब लिखी गई थीं, उनसे निकीतिन की 'यात्रा'
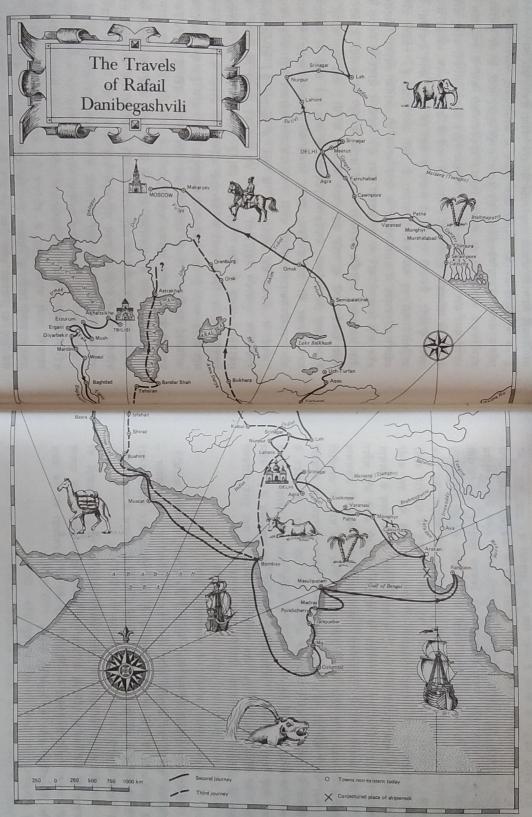
रफ़ईल देनिबेगश्वीली की यात्राएं

की भिन्नता भी बिल्कुल स्पष्ट है। प्राचीन रूसी साहित्य की परम्पराओं के बावजूद 'यात्रा' की भाषा और शैली पर लेखक के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। लेखक के विवरण में साहित्यिक संस्मृतियां भी विरली ही हैं। क्या भारत के भीड़-भड़क्के और घनी आबादी का उल्लेख प्राचीन काल से लिखित साहित्य में चली आ रही जानकारी की पुनरावृत्ति ही है तथा क्या भारतीय सामंतों के वैभव का विवरण भारत के "सोने की चिड़िया" होने के परम्परागत मत का प्रतिबिम्ब मात्र है? ये बातें लेखक के प्रत्यक्ष प्रेक्षणों का पणिाम भी हो सकती थीं। यह देखते हुए कि 'यात्रा' की कतिपय हस्तलिखित प्रतियां बची रही हैं, कहा जा सकता है कि यह पुस्तक रूसी शिक्षित जन में लोकप्रिय हुई। लेकिन भारत में कुछ वर्ष रह आये एक प्रत्यक्षदर्शी द्वारा दिया गया विवरण प्राचीन रूसी साहित्य में भारत संबधी अवधारणाओं को नहीं बदल सकता था। भारत का साहित्यिक बिम्ब तथा त्वेरवासी व्यापारी द्वारा उसकी प्रकृति और जीवन का वर्णन एक तरह से मध्ययुगीन मानव की चेतना के विभिन्न स्तरों में रहते थे।

लेखक ने भारत में जो कुछ देखा उसके प्रति उसका रुख विशेषत: रोचक है। अफ़ानासी निकीतिन भारतीय लोगो के रिवाजों, धार्मिक विश्वासों, उनके अनुभव और तौर-तरीक़ो का वर्णन करता है। कभी-कभी "बुसुरमानों" के प्रति उसकी असहिष्णुता महसूस होती है, जिसका एक कारण यह है कि रूस तब मंगोल-तातार अंकुश में ही था। यह कारण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था कि निकीतिन को रास्ते में ज़बरदस्ती क़लमा पढ़ाने की कोशिशें की गई थी। लेकिन कुल जमा 'यात्रा' में धार्मिक असहिष्णुता नही दिखाई देती है। इसके विपरीत निकीतिन प्राय: विदेशी त्योहारों और रस्मों की तुलना आर्थोडोक्स ईसाई त्योहारों और रस्मों से करता है। निकीतिन को प्राय: अपने धर्म की याद आती है, लेकिन यह मात्र उसकी धार्मिकता की नही, बल्कि जन्मभूमि से वियोग के दुख की भी अभिव्यक्ति है। "ईसाई धर्म का, ईसाई बपतिस्मे का" ध्यान करके ही उसने "रूस लौटने का विचार किया।" इस्लाम स्वीकार करने से इंकार करके वह अपना आर्थोडोक्स धर्म बनाये रहा। लेकिन साथ ही निकीतिन के मन में इस्लाम के प्रति भी कोई धार्मिक विद्वेष नही है। परदेस में समय का हिसाब खोकर रूसी व्यापारी "बुसुरमानों" के साथ ही व्रत रखता था, "पराई ज़बान" में ही प्रार्थना करता था। वह 'यात्रा' के पाठकों को बताता है: "पर सच्चा धर्म प्रभु जानता है।" अफ़ानासी निकीतिन लिखता है कि भारतीयों का वह निकट मित्र बन गया, जब उसने उन्हें बताया "मैं ईसाई हूं, बुसुरमान नहीं और मेरा नाम अफ़ानासी है। ... वे किसी भी बात में मुझसे छिपाव नहीं करते थे, न खाने-पीने में, न व्यापार में, न पूजा-पाठ में, न दूसरी बातों में; अपनी पत्नियों को भी नहीं छिपाते थे।" इन शब्दों में यात्री की अपने अच्छे ज्ञान की श्लाघा देखना शायद ही उचित हो। वह परदेस में अकेला रह रहा था, उसके पास निर्वाह के लिए अधिक साधन नही थे और हिंदुओं की ही भांति उसे अपना धर्म खोने का

डर था, सो स्वाभाविक ही है कि वह स्थानीय आबादी के साथ दोस्ती करता। उसके शब्दों में इस निकटता पर गर्व का आभास मिलता है, क्योंकि, जैसा कि स्वयं यात्री कहता है, आम तौर पर भारतीय "खाने-पीने में परहेज़ करते हैं, और अपनी पत्नियों को छिपाकर रखते हैं", इत्यादि। जिज्ञासावश ही वह हिंदुओं के धार्मिक पर्व में भाग लेने पर्वत नगर गया, वहां वह दूसरे भारतीयों के साथ ही गया। इस हिंदू पर्व का अफ़ानासी निकीतिन ने काफ़ी विस्तृत वर्णन किया है, हिंदुओं के जुलूस और पूजा का उसने सजीव चित्र उतारा है। यहीं पर निकीतिन ने हिंदुओं के देवताओं का विवरण भी दिया है कि उनमें "हाथी की सूंड लगे आदमी की शकल", "वानर की शकल" तथा अन्य कई शकलों के देवी-देवता हैं।

भारत के धार्मिक विश्वासों के बारे में तथा बहमनी और विजयनगर राज्यों के बारे में अफ़ानासी निकीतिन की कतिपय सूचनाएं ऐतिहासिक महत्त्व की हैं। बहमनी और विजयनगर राज्यों के बारे में इससे पहले किसी भी यूरोपियन ने कुछ नहीं लिखा था। मध्ययुगीन साहित्य की परम्पराओं का पूर्ण अनुकरण करते हुए 'यात्रा' के लेखक ने "आग उगलने वाले" रहस्यमय पक्षी की कहानियों में ही अधिक दिलचस्पी ली, एक विदेशी के लिए एकदम नये, अपरिचित भारतीय पशु जगत के वास्तविक चमत्कारों में कम। निकीतिन की कुछ सूचनाओं में भारतीय जन-श्रुतियां प्रतिबिम्बित हुई हैं (उदाहरणतः, राजा और उसकी वानर सेना की कहानी, निस्संदेह, निकीतिन ने रामायण की कथाएं सुनकर लिखी है)। 'यात्रा' के लेखक ने भारतीय लोगों के आम जीवन की रस्मों का भी विस्तार से वर्णन किया है, जैसे कि भोजन करने के नियम, वर्ण प्रतिबंध, नामकरण संस्कार, गोपूजा और दाह-संस्कार, आदि। स्थानीय लोगों की कुछ रीतियां उसे विचित्र लगती थीं, लेकिन 'यात्रा' में विरले ही कहीं भर्त्सना का कोई शब्द मिलेगा। इसके विपरीत 'यात्रा' में हम परदेसियों के जीवन और उनके धर्म के प्रति गहरी रुचि पाते हैं। लेखक कहता है कि भारतीय लोग "रूसियों की ही भांति प्रार्थना करते हैं" और "मठवासियों की भांति झुककर प्रणाम करते हैं।" भारत के बारे में एक रूसी के इन पहले नोटों में स्थानीय लोगों के प्रति वह अवमानना लेशमात्र भी नहीं है, जो पश्चिमी यात्रियों के भारत के वृत्तांतो में प्रायः पाई जाती है और अप्रिय छाप छोड़ती है। मध्ययुग में पूरब की यात्रा पर गये अनेक यूरोपीय लोगों से भिन्न अफ़ानासी निकीतिन एक मिशनरी के तौर पर "सच्चा धर्म" फैलाने और "बुतपरस्ती" मिटाने भारत नहीं आया था। पूर्वी शासकों के लिए वह कोई राजनयिक संदेश भी नहीं लाया था। इस रूसी यात्री ने आश्चर्य (और संभवतः किंचित् अतिशयोक्ति) के साथ भारतीय सामंतों के वैभव का वर्णन किया है, लेकिन उसकी दृष्टि ईर्ष्याभरी नहीं है और वह पूरब तथा उसकी सम्पदाओं को जीतने के मनसूबे नहीं बनाता। इस रूसी यात्री का विश्व-दृष्टिकोण धर्मयुद्धों के प्रभाव में नहीं बना था, और उसकी 'तीन समुद्र पार की यात्रा' आक्रामक युद्ध की अग्रदूत नहीं थी। कुछेक दशक बाद ही हुई वास्को दा गामा की

यात्रा के अतुलनीय विशाल ऐतिहासिक परिणाम हुए, मार्को पोलो की यात्रा के पश्चात यूरोपीय लोगों द्वारा लिखे गये कुछ वृत्तांतो मे दी गई जानकारी कम महत्त्वपूर्ण नही है, लेकिन फिर भी 'तीन समुद्र पार की यात्रा' के लेखक की जिज्ञासा और मैत्री एवं सद्भावना भरे रुख के फलस्वरूप इस पुस्तक ने मध्ययुगीन साहित्य में भारत के वृत्तांतों के बीच विशिष्ट स्थान पाया है। अफ़ानासी निकीतिन की यह टिप्पणी आश्चर्यजनक है कि भारत में "ग्रामवासी बहुत ग़रीब हैं, जबकि ऊंचे घरानों के लोग धनी और वैभवसम्पन्न हैं।" लब्धप्रतिष्ठ रूसी भारतविद इवान मिनायेव ने इस प्रसंग में लिखा था : "अफ़ानासी निकीतिन की यह सटीक और अमूल्य टिप्पणी उसकी असाधारण तीक्ष्ण दृष्टि दर्शाती है। वह भारत की वास्तविक स्थिति समझ पाया था : ऐश्वर्य और वैभव के पीछे वह भारतीय जीवन के दुखद पहलू देख पाया, यह समझ सका कि तड़क-भड़क भरा दरबार विदेशी और स्वदेशी अभिजात वर्ग, उनके घर के और बाहर के योद्धा उन ग्रामवासियों को लूटकर ही मौज करते थे, अपनी धन-दौलत जमा करते थे, जो हमारे यात्री को 'अपार दरिद्र' लगे।" यह अंतः-दृष्टि आकस्मिक नही थी। 'तीन समुद्र पार की यात्रा' में लेखक का निश्चित जनवादी दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित हुआ है, क्योंकि रूसी अभिजातों की भी वह निंदा करता है। 'यात्रा' में लेखक की यह कामना व्यक्त हुई है कि "रूसी धरती पर सुव्यवस्था हो" और वहां न्याय हो। अफ़ानासी निकीतिन उस युग की संतान था, जब रूस के एकीकरण की चेतना जाग रही थी, विदेश में वह अपने को त्वेर नगर का निवासी नही, बल्कि सर्वप्रथम एक रूसी अनुभव कर रहा था। स्मोलेंस्क में निकीतिन की मृत्यु के पश्चात १४७५ में उसकी हस्तलिपि का मास्को लाया जाना इस बात का प्रमाण है कि पुस्तक की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ था, और 'यात्रा' को इतिवृत्त में शामिल किया जाना यह सिद्ध करता है कि भारत के यात्रा-वृत्तांत को तब राजकीय महत्त्व की बात माना जाता था।

अफ़ानासी निकीतिन की मृत्यु के कुछ दशक पश्चात पंद्रहवीं-सोलहवीं सदियों के संधिकाल में वास्को दा गामा ने यूरोपीयों के लिए भारत के समुद्री मार्ग की खोज की। पुर्तगालियों ने भारत से व्यापार पर एकाधिकार कर लिया और उससे कल्प-नातीत लाभ कमाने लगे, जो सभी यूरोपीय व्यापारियों और शासकों के लिए ईर्ष्या की वस्तु बन गया। मंगोल-तातार अंकुश से मुक्त होकर एकीकृत हुए मास्को राज्य में भी पूर्वी देशों की सम्पदा में रुचि दिखाई जाने लगी। यहां यह बात भी मानी रखती थी कि मास्को दरबार में बहुत से विदेशी रहते थे। इटली वाले अपने पुर्तगाली प्रतिद्वंद्वियों की सफलताओं पर विशेषतः चिंतित थे और फ़ारस व रूस के रास्ते भारत एवं चीन तक नये मार्ग खोजने के स्वप्न देख रहे थे। १५२० में जेनोआवासी पाओलो चेंतुरिओने ने मास्को दरबार में इसकी चर्चा की थी, और १५३७ में वेनिसवासी मार्को फ़ोस्कारीनी ने। रूस से होते हुए चीन और ईस्ट इंडिया तक समुद्री मार्ग से जाने की संभावना के बारे में रूसी राजनयज्ञ द्मीत्री गेरासिमोव के शब्दों से सारे

यूरोप में सनसनी फैल गई थी। रोम में "रूसी राजदूत" के शब्दों के आधार पर ही १५२५ में पावेल जोवियस ने और फिर इटली के रमूसियो ने उत्तर-पूर्वी मार्ग के बारे में लिखा। सोलहवीं सदी के आरंभ में उत्तरध्रुवीय महासागर के तट के साथ-साथ और थल मार्ग से रूस से होते हुए कास्पियन सागर तक और आगे ईरान से भारत तक जाने के संयुक्त ब्रिटिश-स्वीडिश अभियानों की योजनाएं बनाई गईं। प्रत्यक्षतः, रूसी अधिकारियों ने इन योजनाओं की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, शायद इसलिए कि वे ऐसे अभियान की कठिनाइयों की कल्पना भली-भांति करते थे। इस काल में भारत के साथ सीधे सम्पर्क नहीं थे और उसके बारे में उपलब्ध सूचना नगण्य थी। नीकोन इतिवृत्त में कहा गया है कि १५३२-३३ के सितंबर मास में "मास्को में सर्व रूस के महाराज वसीली इवानोविच के दरबार में भारत से ख्वाजा हुसैन नाम का दूत आया और भारत देश के शासक बाबर बादशाह का संदेशनामा लाया।" बाबर ने उसमें लिखा था कि "महाराज वसीली इवानोविच उनसे दोस्ती और भाईचारा रखें और उनके देशों के बीच लोग आये-जायें।" इतिवृत्त के अनुसार महाराज ने इसकी स्वीकृति दी कि "लोग उनके देशों के बीच आये-जायें, पर उनके साथ भाईचारे का आदेश नही दिया," क्योंकि "पता नहीं, भारत राज में वह कौन है, बादशाह या यों ही कोई ऐरा-ग़ैरा।" इस दूत के कोई दस्तावेज़ नहीं बचे हैं, इसलिए इसके बारे में भिन्न-भिन्न मत हैं। एक विचार यह है कि ख्वाजा हुसैन सौदागर था और उसके पास बाबर का साधारण संरक्षण-पत्र था। परंतु एक दूसरा अनुमान यह भी है कि चूंकि बाबर खुद मध्य एशिया से गया था, इसलिए उसे उस सुदूर उत्तरी राज्य में रुचि थी, जिसके मध्य एशिया के देशों के साथ पुराने संबंध थे। जो भी हो, रूस और भारत के बीच संबंध स्थापित करना काफ़ी कठिन था। यही उल्लेखनीय है कि ख्वाजा हुसैन की मास्को तक की यात्रा कम से कम तीन साल में पूरी हुई होगी, क्योंकि बाबर का देहांत १५३० में ही हो गया था।

१६वी सदी के मध्य में ज़ार इवान भयानक (१५३३-१५८४) के राज में कज़ान और अस्त्राखान पर विजय के बाद, जो लंबे अरसे से पूर्वी व्यापार के केंद्र थे, भारत में बहुत दिलचस्पी दिखाई जाने लगी। मास्को राज और इंगलैंड के बीच व्यापारिक संबंध भी इन्ही दिनों स्थापित हुए। उत्तर-पूर्वी मार्ग से भारत पहुंच पाने के लिए प्रयत्नशील अंग्रेज़ सौदागरों ने १६वीं सदी के छठे दशक में रूसी मंडी की खोज की। यहां व्यापार के लिए उन्होंने एक कंपनी बनाई, जो मास्को या रूसी कंपनी कहलाती थी। १६वीं सदी के सारे उत्तरार्द्ध के दौरान अंग्रेज़ रूस से होते हुए मध्य एशिया, फ़ारस और भारत तक के व्यापारिक मार्गों पर क़ब्ज़ा करने की निरंतर कोशिशें करते रहे। उन्हे उम्मीद थी कि अर्खांगेल्स्क से यारोस्लाव्ल, मास्को, अस्त्राखान होते हुए फ़ारस तक का और उससे आगे भारत तक का रास्ता खोलकर वे विशाल मुनाफ़ा कमा सकेंगे। इंगलैंड की सरकार ने अनेक बार रूसी ज़ारों से यह अनुरोध किया कि वे मास्को कंपनी को बुखारा, फ़ारस, भारत और चीन के साथ

व्यापार का एकाधिकार दे दें। दूसरे यूरोपीय देश भी पूरब के व्यापारिक मार्गों में रुचि दर्शा रहे थे। उदाहरणतः, स्वीडन ने इवान भयानक के साथ शांति संधि करते हुए उसमें यह मुद्दा भी शामिल किया कि स्वीडन के व्यापारी रूस से होकर चीन आ-जा सकेंगे। इटली के जोवान्नी बोतेरो का कहना था कि भारत का सबसे अच्छा रास्ता रूस से होकर है, लेकिन रूसी ज़ार इसका उपयोग नहीं करने देता। रूसी सरकार पूर्वी व्यापार को प्रोत्साहन देती थी, बस वह इस व्यापार का लाभ अंग्रेज़ों और दूसरे विदेशियों को नही उठाने देना चाहती थी, उसे उम्मीद थी कि वह स्वय पूर्वी देशों के साथ सम्पर्क स्थापित कर लेगी। १५५७-१५५८ में ख़ीवा, बुख़ारा और समरक़ंद के सौदागरों का यह आवेदन स्वीकार किया गया कि उन्हें अस्त्राख़ान में व्यापार करने की अनुमति दी जाये। भारतीय माल मुख्यतः फ़ारस के रास्ते ही मास्को पहुंचता था, और विदेशियों का यह कहना था कि रूसी लोग बहुत अधिक मसाले, ख़ास तौर पर, मिर्च इस्तेमाल करते हैं। १५५३ के एक इतालवी स्रोत मे भारत के नये मार्ग खोजने में इवान भयानक की विशेष रुचि का उल्लेख किया गया है। १५५७ में फ़ारस की खाड़ी के मुहाने पर स्थित होर्मुज़ नगर को, जो भारत के साथ व्यापार का केंद्र था, मास्को के व्यापारियों की ओर से एक विशेष दूतमंडल भेजा गया था। १५९५ मे ईरान के साथ संधि के मसविदे में यह प्रावधान था कि रूसी लोग ईरान के रास्ते (प्रत्यक्षतः, भारत से) व्यापार कर सकेंगे।

१६वी सदी में भारत के साथ रूस के अधिकृत संबध नही थे। तो भी रूसी व्यापारी भारत पहुंच ही जाते थे। नौवें दशक में अंग्रेज़ यात्री राल्फ़ फ़िच ने भारत में रूसी व्यापारियों के बारे में सुना था। इस सदी के अंतिम दशक में रूसी सौदागर लेओन्ती यूदिन नौ साल तक बुख़ारा और भारत में "व्यापार के लिए रहा"। भारतीय व्यापारी भी रूस आये और इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि १६वीं-१७वीं सदियों के संधिकाल में रूसी ज़ार बोरिस गोदुनोव का सरक्षण उन्हें प्राप्त था। ओर्स्क (दक्षिणी उराल) में मिला कांसे का बर्तन, जिसपर गुरुमुखी में लेख खुदा हुआ है, संभवतः १६वी शताब्दी का ही है। वह भोलासिंह नाम के किसी सिख का था, जो व्यापार करने इस इलाक़े में आया था। यह भी ज्ञात है कि बंगाल का एक व्यापारी रेशम का माल जहाज़ पर लादकर रूस को चला था, मगर उसकी यात्रा असफल रही। सोलहवी शती के अंत में रूसी-भारतीय व्यापारिक संबंध मुश्किल से स्थापित हो रहे थे। १७वी सदी में ही ये अधिक सुदृढ़ और स्थायी हो पाये।

१७वीं शती के पूर्वार्द्ध में भारतीय माल का कुछ अंश अंग्रेज़ और डच व्यापारियों के ज़रिए रूस पहुंचता था, इसे उत्तर से अर्खांगेल्स्क और खोल्मोगोरी के रास्ते मास्को लाया जाता था। भारतीय कपड़ा, रत्न, लोबान और औषधियां फ़ारस से बड़ी मात्रा में रूस पहुंचने लगीं। स्वयं फ़ारस में भारतीय व्यापारिक पूंजी का काफ़ी प्रभाव था। इस्फ़हान, कंधार और शीराज़ जैसे बड़े नगरों में भारतीय व्यापारी हज़ारों की तादाद में बसे हुए थे। काकेशिया-पार और कास्पियन सागर से लेकर

उत्तरी भारत तक भारतीय व्यापारियों की बस्तियों का जाल फैला हुआ था। ये व्यापारी न केवल कामकाजी संबंधों से, बल्कि नातेदारी से भी एक दूसरे से जुड़े हुए थे। १६वीं सदी के अंत और १७वीं सदी के आरंभ में अशांत काल के युद्धों और बलवों के तुरंत बाद १६१५-१६१६ में काकेशिया-पार और ईरान से भारतीय व्यापारी अस्त्राखान पहुंचे। तीसरे दशक के आरंभ तक इनमें से कुछ ने अस्त्राखान में अच्छी तरह पांव जमा लिये थे। कज़ान, मास्को, यारोस्लाव्ल में भी भारतीय व्यापारी व्यापार करते थे। रूसी सरकार पूर्वी, विशेषतः भारतीय व्यापारियों को अपना माल यहां लाने को प्रोत्साहित करने की चेष्टा करती थी। अस्त्राखान में भारतीय व्यापारी बुखारियों, आर्मीनियाइयों और फ़ारसियों के साथ रहते थे। १६४७ में अस्त्राखान में स्थायी रूप से रहने वाले भारतीयों की संख्या लगभग २५ थी। इनका व्यापार इतना बड़ा था कि भारतीयों ने अपनी अलग कोठी बनाने के लिए दरखास्त दी। १६४९ तक यह कोठी तैयार हो गई। अस्त्राखान की भारतीय बस्ती से संबधित बहुत से दस्तावेज़ आज भी उपलब्ध हैं। इन व्यापारियों के नामों से यह पता चलता है कि इनमें ज़्यादातर पंजाब और सिंध से आये थे और हिंदू थे। रूसी सरकार अस्त्राखान में भारतीयों को संरक्षण देती थी और स्थानीय अधिकारियों के साथ उनके मतभेदों को दूर करने की चेष्टा करती थी, उन्हें अपने धार्मिक कृत्य करने और अपनी रस्मों का पालन करने की छूट देती थी। उनकी अपनी पंचायतें थीं। अस्त्राखान में बसे कुछ भारतीयों ने रूसी नागरिकता स्वीकार करके यहां अपना घर भी बसा लिया। तातार स्त्रियों से विवाहित भारतीयों की संतानों – अग्रीजों – का एक पूरा वर्ग यहां बन गया। भारतीयों द्वारा आर्थोडोक्स ईसाई धर्म अपनाने के कुछ मामले भी ज्ञात हैं। अस्त्राखान की भारतीय बस्ती के व्यापारी, जो फ़ारस में ऐसी ही बस्तियों के व्यापारियों से घनिष्ठ संबंध रखते थे, सर्वप्रथम फ़ारसी और भारतीय माल ही रूस में लाने का काम करते थे। इसके लिए उन्हें ज़ार का प्रश्रय प्राप्त था। कुछ भारतीय व्यापारियों का लेन-देन काफ़ी अधिक था और राजकीय खज़ाने को कुछ हज़ार रूबल महसूल के तौर पर मिलते थे (स्वयं भारतीय तो दसियों हज़ार रूबलों की बात करते थे)। राजकीय खज़ाने द्वारा भारतीय व्यापारियों को अनुदान दिये जाने के मामले भी ज्ञात हैं। उदाहरणतः, एक समृद्ध व्यापारी सुतूर (अथवा छूत्र) को खज़ाने से चार हज़ार रूबल मिले थे। भारतीय माल, जैसे कि औषधियों, के लिए राजकीय आर्डर दिये जाते थे। भारतीय व्यापारी रूस में फुटकर व्यापार भी करते थे और कभी-कभी मास्को में कई-कई साल तक रहते थे। मास्को की "ग्रनाल्नी पेरेऊलोक" गली में भारतीय, आर्मीनियाई और फ़ारसी व्यापारियों के लिए एक खास हवेली थी। एक दस्तावेज के अनुसार १७वीं सदी के उत्तरार्द्ध मे मास्को में ३१ भारतीय व्यापारी और तीन साधु रहते थे, जिनमें एक अग्निपूजक था।

अस्त्राखान के भारतीयों की मदद से मास्को सरकार भारतीय कारीगरों – बुनकरों और रंगसाजों – को रूस बुलाने की उम्मीद लगाये थी। १७वीं सदी के उत्तरार्द्ध

में विदेशी प्रतिद्वंद्वियों के खिलाफ़ रूसी व्यापारियों की कई सारी शिकायतों के बाद भारतीय व्यापारियों को दिया जाने वाला सरक्षण काफी कम कर दिया गया। १६६७ में रूस के आंतरिक और विदेश व्यापार संबंधी नया क़ानून जारी होने के बाद भारतीयों का कामकाज अस्त्राखान में थोक व्यापार तक ही सीमित करने की कोशिश की गई, हालांकि १७वीं सदी के अतिम तीन दशको में भी भारतीय व्यापारी प्रायः मास्को आते रहते थे। भारतीय व्यापारियों के लाभ कमाने का एक प्रमुख साधन साहूकारी था। कतिपय दस्तावेज़ो से यह पता चलता है कि उनमें से कुछ ने न केवल स्थानीय तातार लोगों को, बल्कि अपने साथी देशवासियों को भी अपने चंगुल में फंसा लिया था।

ज़ार मिखाईल फ़्योदोरोविच (१६१३-१६४५) और ज़ार अलेक्सेई मिखाइलो-विच (१६४५-१६७६) की सरकारें भारत के साथ सीधे राजनयिक सम्पर्क स्थापित करने के भी लगातार प्रयत्न करती रहीं। १६३२ में ज़ार के निजी कार्यालय ने भारत के बारे में ज्ञात सभी तथ्यों का एक संकलन तैयार किया। साथ ही महान मुग़ल साम्राज्य के बारे में कई पश्चिमी यूरोपीय रचनाओं का अनुवाद भी किया गया। १६४६ में एक विशेष दूतमंडल महान मुगल सम्राट शाहजहां के दरबार में भेजा गया। कज़ानवासी निकीता सीरोयेभकिन और अस्त्राखान के व्यापारी वसीली तुश्कानोव को, जो अक्सर फारस आता-जाता था, इस दूतमंडल का नेतृत्व सौंपा गया। उन्हे रूसी और तातार भाषाओं में जो पत्र दिया गया उसमें शाहजहां से "भाइचारे, दोस्ती और मोहब्बत" का प्रस्ताव रखा गया था, और यह अभिलाषा व्यक्त की गई थी कि "दोनों महान सम्राटों के देशों के बीच लोग आये-जायें और व्यापार करें।" दूतों को दिये गये विस्तृत आदेशों में कहा गया था कि वे रूस और भारत के बीच व्यापार मार्गो का, भारतीय वस्तुओं और उनके भावों का पता लगायें तथा रूसी माल की प्रशंसा करें। भारत पहुंचकर दूतों को देश के बारे में भी जान-कारी हासिल करनी थी, यह पता लगाना था कि उसमें कितने और कैसे नगर हैं, वहां के लोगों का धर्म क्या है और उनके तीर्थ स्थान कहां हैं, तथा जर्मनों के साथ समुद्री व्यापार की स्थिति क्या है। (शायद भारत के धर्म का प्रश्न लिखित साहित्य में भारत विषयक किंवदंतियों से संबंधित हो सकता था – कुछेक दशक पश्चात भेजे गये दूतों से भी कहा गया था कि वे न केवल "भांति-भांति के माल और मंडियों" का और "रूसी लोगों के लिए रास्ते" का पता लगायें, बल्कि "राजकुमार जो-आसफ़ के बारे में भी मालूम करें कि उसके पुण्य कहां दफन हैं।") किंतु इन्हीं दिनों शाहजहां और फ़ारस के बादशाह के बीच कंधार नगर को लेकर लड़ाई छिड़ गई, इसलिए यह दूतमंडल भारत नहीं पहुंच सका। मास्को में भारत के प्रति रुचि स्थिर हो गई। १६४६ में ही मध्य एशिया को भेजे गये अनीसिम ग्रीबोव को यह आदेश दिया गया कि वह अस्त्राखान से भारत जाने के रास्तों का पता लगाये। १६५१ में मास्को के एक सबसे समृद्ध व्यापारी वसीली शोरिन के कारिंदे रोदिओन पुश्निकोव

और इवान देरेवेन्स्की "व्यापार की खातिर" फ़ारस के रास्ते भारत को रवाना हुए। इन्हें भी वही संदेश-पत्र और कार्य सौंपे गये थे, जो शाहजहां के पास भेजे गये पहले दूतमंडल को। १६६२ में भारत तक एक समुद्री अभियान भेजने की योजना बनी। प्रिंस इवान अफ़ानास्येविच भेल्याबुभस्की ने इस अभियान के लिए जलपोत बनाने की संभावना पर कूरलैंड के चांसलर फ़ेल्केर्साम से वार्ता की। १६६६ में तोबोल्स्क के नगराधीश प्योत्र इवानोविच गोदुनोव के आदेश पर 'चीन देश और अंदरूनी भारत का रजिस्टर' बनाया गया। भारत के बारे में जानकारी उन बुखारियों से मिली होगी, जो तब तक तोबोल्स्क में व्यापार के लिए बस चुके थे और "तोबोल्स्क बुखारी" नामक अपना संगठन बना चुके थे। १६७३ में बुखारा, खीवा और बल्ख से लौटे व्यापारी बोरिस पज़ूखिन से मास्को दरबार के दूतावास कार्यालय में भारत के सीधे मार्ग के बारे में विस्तार से पूछताछ की गई (प्रत्यक्षतः बुखारा के भारतीय मोहल्ले में बोरिस पज़ूखिन ने भारत के रास्तों की जानकारी पाने की कोशिश की थी)। दूतावास कार्यालय में पज़ूखिन से प्राप्त जानकारी की तुलना मास्को में उपस्थित भारतीयों से हासिल जानकारी से की गई। रूसी राजनयज्ञ अर्तामोन सेर्गेयेविच मत्वेयेव ने मास्को में बुखारा के दूत और व्यापारियों से भारत के मार्गों के विषय पर बातचीत की। उन्हीं दिनों रूसी ज़ार की सेवा में लगे मोल्दावियाई सामंत निकोलाई मिलेस्कु स्पाफ़ारी ने साइबेरिया के रास्ते चीन की यात्रा करते हुए भारत के मार्गों और उससे व्यापार के बारे में लिखा।

१६७५ में "अस्त्राखान की बुखारी कोठी के वासी" मुहम्मद यूसुप कसीमोव के नेतृत्व में एक दूतमंडल औरंगज़ेब के पास भेजा गया। दूतों और व्यापारियों से सामान्यतः जो अपेक्षाएं की जाती थीं, उनके अलावा यूसुप कसीमोव को यह आदेश भी दिया गया कि वह "पेड़-पौधों के बीज या छोटे जानवर और चिड़ियां लाये, जो रूसी राज में जी सकें" तथा "पत्थर के पुल बनाने वाले कुशल राज-मिस्त्रियों और दूसरे अच्छे कारीगरों" को रूस बुलाये। भारत के मार्गों के बारे में प्रश्न अब इस तरह उठाया गया था: क्या वहां अस्त्राखान से जाना बेहतर है या साइबेरिया से। यूसुप कसीमोव का दूत कार्य कुल जमा असफल रहा। मुग़ल सम्राट ने सुदूर रूस के साथ संबंध बनाने नहीं चाहे। बीस साल बाद कहीं औरंगज़ेब ने अधिक मेहरबानी दिखाई और व्यापारी सेम्योन मालेन्की के नेतृत्व में पहुंचे रूस के दूतमंडल से मिला।

इस तरह नई १८वीं सदी की पूर्ववेला में रूस-भारत संबंध कठिनाई से स्थापित हो रहे थे। भारत के मार्ग निर्धारित करते हुए १७वीं सदी के रूस में प्रायः पश्चिमी यूरोपीय साहित्य या मौखिक साक्ष्यों का उपयोग किया जाता था और इस तरह भारत के पुराने साहित्यिक बिम्ब के साथ-साथ एक नया बिम्ब उभर रहा था, जो महान भौगोलिक खोजों के युग का परिणाम था।

बेशक, प्राचीन रूस ने भारत की "खोज" नहीं की और रूसी-भारत व्यापार

बहुत सीमित था, जब कि राजनयिक सम्पर्क तो १७वी शती के अंत में जाकर ही स्थापित होने लगे। इसका कारण भौगोलिक और राजनीतिक बाधाएं भी थीं तथा रूस का निश्चित सामाजिक-राजनीतिक पिछड़ापन भी। तो भी यह कहना होगा कि रूस-भारत संबंध, जो कि स्मरणातीत काल से चले आ रहे थे, कभी भी पूरी तरह भंग नही हुए। रूसी साहित्य में और जनश्रुतियों में चिरकाल से भारत की छवि विद्यमान थी। यह छवि मुख्यत: बैज़ंतियाई और प्राचीन बुल्गारियाई साहित्य, एपोक्रिफ़ ईसाई ग्रंथो, 'अलेक्सान्द्रिया', 'कथा भारतीय राज की' तथा उन अनूदित रचनाओं के आधार पर बनी, जो अंततः भारतीय मूल ग्रथों पर आधारित थीं। रूसी लोग भारत की कल्पना एक अत्यंत समृद्ध देश के रूप में करते थे, जो पृथ्वी के सिरे पर स्वर्ग के पास ही स्थित है और जहां आश्चर्यजनक, विचित्र पशु-पक्षी रहते हैं। अनेक साहित्यिक मध्यस्थो के ज़रिए ब्राह्मणो के बारे में किंवदंतियां रूस तक पहुंची। असाधारण धर्मपरायणता, न्याय और भक्ति के लिए विख्यात इन लोगों को मध्ययुगीन रूस में ईसाई या ईसाइयों जैसा ही समझा जाता था। यह माना जाता था कि ब्राह्मण और शायद सभी भारतीय ही बहुत न्यायप्रिय हैं और वे इहलौकिक चिंताओं से मुक्त जीवन व्यतीत करते हैं।

रूसी लोगों के मस्तिष्क में बनी भारत की छवि में जो लक्षण पुरायुगीन परम्परा से चले आ रहे थे उनका स्थान धीरे-धीरे समसामयिक और प्रत्यक्षदर्शी लोगों से प्राप्त सूचनाएं ले रही थी। भारत के प्रति रूसी राज्य की रुचि बाह्य विस्तार की कामना से नही, बल्कि दोनों पक्षों के लिए लाभदायक व्यापार विकसित करने की अभि-लाषा से ही निर्धारित थी। अफ़ानासी निकीतिन जैसे रूसी लोग भारत पहुंचने पर सामान्यत: इस देश और उसके लोगों के प्रति निस्स्वार्थ रुचि, सद्भावना और मैत्रीपूर्ण रुख दर्शाते थे।

२. १८वीं सदी के रूस में भारत संबंधी ज्ञान

प्योत्र प्रथम (पीटर महान) के शासन काल (१६८९-१७२५) में, विशेषत: अठारहवीं सदी के पहले दशकों में रूस बड़ी तेज़ी से बदल रहा था। स्वीडन के साथ संघर्ष के फलस्वरूप उसके लिए बाल्टिक का जलमार्ग खुल गया। बाल्टिक तट पर कतिपय क़िलों और नई राजधानी–सेंट-पीटर्सबर्ग (वर्तमान लेनिनग्राद)–का निर्माण किया गया। रूस का अलगाव दूर हुआ तथा पश्चिमी यूरोप के साथ उसके व्यापा-रिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संबंधों का द्रुत विकास हुआ। चर्च और चर्च संस्कृति की भूमिका कम हुई, चर्चो से असंलग्न स्कूल खुले और थियेटर बने।

देश में द्रुत आर्थिक विकास लाने की इच्छा से रूसी सरकार नये उत्साह से पूरब की ओर उन्मुख हुई तथा भारत समेत सभी विशाल पूर्वी राज्यों के साथ व्यापार

के निरापद मार्ग ढूंढने लगी। १७१४ में फ्योदोर सल्तीकोव द्वारा प्रस्तुत की गई 'राज्य के लिए अतिरिक्त आय के बारे में' योजना मे भारत तक पहुचने के लिए उत्तरी समुद्री मार्ग खोजने और साथ ही साइबेरिया में क़िले बनाने तथा कल्मीको और मगोलों के इलाक़ों के ज़रिए भारत के साथ व्यापार के रास्ते बनाने के प्रस्ताव रखे गये। आशा थी कि इससे "राज्य को अपार लाभ होगा, जैसा कि इगलैंड और हालैंड वहां से पा रहे हैं।" १७१५ में फ़ारस में रूस के राजदूत अर्तेमी वोलीन्स्की को यह निर्देश दिया गया कि वह भारत के साथ व्यापार के रास्तो का पता लगाये। १७१६ में स्वय ज़ार प्योत्र प्रथम के आदेश पर प्रिस अलेक्सान्द्र बेकोविच-चेर्कास्स्की का प्रसिद्ध अभियान दल मध्य एशिया के खान-राज्यों को गया। इस दल मे लेफ्टिनेंट अलेक्सान्द्र कोभिन के नेतृत्व में कुछ लोग थे, जिन्हें आमू दरिया के रास्ते भारत तक जाना था और "मसालों तथा दूसरे माल के बारे में" जानकारी हासिल करनी थी। अलेक्सान्द्र कोभिन के सम्मुख रखा गया प्रमुख कार्यभार था – भारत तक का जल-मार्ग ढूंढना और उसका नक्शा बनाना। भारत के साथ सीधे सम्पर्क स्थापित करने की आशा में मास्को के "पोसोल्स्की प्रिकाज़" (दूत कार्यालय) में १७वी सदी के दूतों से संबधित पुराने दस्तावेज़ खोजे गये। पुराने कागज़ातो मे मिली जानकारी को महान मुग़ल सम्राटों के बारे में नवीनतम पश्चिमी प्रकाशनो से तथा मास्को में रह रहे पूर्वी सौदागरों की सूचनाओं से मिलाया गया। प्योत्र प्रथम ने भारत की ओर एक समुद्री अभियान भी भेजा। १७२३ में वाइस एडमिरल दवीद विलस्तर का अभियान दल तैयार किया गया, जिसे मेडागास्कर जाना था और फिर "'ईस्ट इंडिया तक, ठीक बंगाल तक" यात्रा करनी थी। दवीद विलस्तर को रूस और महान मुग़ल साम्राज्य के बीच व्यापार सधि करने तथा भडार के लिए लकड़ी खरीदने का काम सौंपा गया। न अलेक्सान्द्र कोभिन और न ही दवीद विलस्तर भारत तक पहुच सके।

प्योत्र प्रथम के निधन के बाद भी भारत के साथ व्यापार की योजनाए बनाई गई। १७२७ की एक अनाम योजना में अस्त्राखान से मध्य एशिया होते हुए भारत जाने के कारवा-पथ पर ग़ौर किया गया था। चौथे दशक की योजनाओं मे इवान किरील्लोव ने ओरेनबुर्ग से भारत जाने का मार्ग सुझाया। उसने बुखारा से भारतीय व्यापारियों को निमंत्रित करके ओरेनबुर्ग में उनकी बस्ती बसाने की कोशिश की। प्रत्यक्षत: कुछ भारतीय १८वीं सदी के मध्य में सचमुच ओरेनबुर्ग आ गये थे। सुविदित है कि इन दिनों ओरेनबुर्ग में भाव केवल रूसी रूबलों मे ही नहीं, भारतीय रुपयों में भी तय किये जाते थे। भारत के साथ व्यापार के लिए विशेष कपनियां खोलने सबधी विदेशी व्यवसायियो के प्रस्तावों पर भी समय-समय पर ग़ौर किया जाता था। छठे दशक के आरभ में ओरेनबुर्ग के गवर्नर इवान नेप्लूयेव ने भारत तथा मध्य एशिया के खान-राज्यो के साथ व्यापार के लिए रूसी व्यापारियो की कपनी बनाने की कोशिश की, लेकिन तत्संबधी सरकारी अपीलों पर रूसी व्यापारियों

ने कोई ध्यान नहीं दिया। महान रूसी वैज्ञानिक मिखाईल लोमोनोसोव ने सातवें दशक में भारत पहुंचने के उत्तर-पूर्वी मार्ग के प्रश्न पर विचार किया। उन्हीं दिनों मध्य एशिया के खान-राज्यों और साइबेरिया के रास्ते भारत के साथ व्यापार करने की कोशिशें फिर से की गईं। अंततः, इस सदी के अंतिम दशक में भी भारत के साथ थल-मार्ग से और मेडागास्कर होते हुए जल-मार्ग से व्यापार करने के लिए विशेष कंपनी स्थापित करने के प्रस्ताव कई बार रखे गये। तब इन योजनाओं को क्रियान्वित होना बदा नहीं था।

१७वी शताब्दी से अस्त्राखान में बसे भारतीय व्यापारियों के माध्यम से ही भारत के साथ व्यापार बढ़ाने की योजना के सफल होने की कहीं अधिक आशा की जा सकती थी। प्योत्र प्रथम के दिनों से रूसी सरकार पूर्वी व्यापार को प्रश्रय देने लगी थी। १७२२ में ज़ार प्योत्र प्रथम स्वयं अस्त्राखान गया था और वहां भारतीय व्यापारियों के प्रधान अंबाराम से मिला था। प्योत्र प्रथम के नाम से जारी किये गये हुक्मनामे में भारतीय व्यापारियों को अपने संपत्ति संबंधी मामलों का निपटारा करने में काफ़ी स्वतंत्रता प्रदान की गई थी। उत्तराधिकार के मामले उन्हें स्वयं "अपनी प्रथा, नियमों और अधिकारों के अनुसार" निपटाने को कहा गया था और "गवर्नरों व दूसरे हुक्मरानों को उनके मामलों में" हस्तक्षेप न करने का आदेश दिया गया था। रूसी अधिकारी सारी अठारहवीं सदी के दौरान प्योत्र प्रथम के इस हुक्मनामे का पूरी तरह से पालन करते रहे। भारतीय व्यापारियों को अस्त्राखान के बाहर फुटकर व्यापार करने की अनुमति मिली। उन्होंने न केवल सेंट-पीटर्सबर्ग और आर्खांगेल्स्क में व्यापार करने की, बल्कि इन नगरों के रास्ते "जर्मन राज्यों" से संबंध स्थापित करने की भी इच्छा व्यक्त की।

१८वी सदी के तीसरे से पांचवें दशक तक के काल में रूस में भारतीय लोगों का व्यापार सर्वाधिक फला-फूला। इस अवधि में उनका वार्षिक व्यापारिक लेन-देन कभी-कभी एक लाख रूबल से भी अधिक होता था। १८वीं सदी के मध्य में अस्त्राखान में बसे भारतीयों की संख्या १०० तक पहुंच गई। तेरेक नदी पर किज़लार नगर में भी भारतीयों की बस्ती थी। रूस में स्थायी या अस्थायी तौर पर रह रहे भारतीयों की संख्या कुछ वर्षों में ४००-५०० तक पहुंच जाती थी। कुछ भारतीय व्यवसायी काफ़ी बड़ी संपत्ति के स्वामी थे। अभिलेखागारों में उपलब्ध दस्तावेज़ों के अनुसार सेंट-पीटर्सबर्ग में सुखानन्द नामक भारतीय की मृत्यु के पश्चात उसकी संपत्ति का मूल्य तीन लाख रूबल आंका गया था। भारतीय व्यापारियों के कारोबार से संबंधित वहुत से दस्तावेज़ बचे रहे हैं। रूसी भाषा में जो दस्तावेज़ हैं उनमें अधिकांश का प्रकाशन हो गया है, जबकि स्वयं भारतीय व्यापारियों के बही खातों का अध्ययन किया जाना शेष है।

अस्त्राखान में स्थायी तौर पर रह रहे भारतीयों के नाम ज्ञात हैं। प्रायः उनके रिश्तों और व्यापारिक संबंधों, संपन्नता, व्यवसाय तथा पारिवारिक स्थिति, आदि

का भी पता लगाया जा सकता है। वे संघ बनाकर रहते थे और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इन्हें अपने आंतरिक मामलों को निपटाने में काफ़ी स्वतंत्रता प्राप्त थी। व्यापारियों के अलावा बस्तियों में विभिन्न परिचारक और संभवतः शिल्पी भी रहते थे। अस्त्राखान में (और केवल इस नगर में ही नहीं) धार्मिक अनुष्ठान कराने वाले भारतीय भी रहते थे – रूसी स्रोतों में इन्हें पादरी कहा गया है। प्रत्यक्षतः ये पुजारी-पुरोहित थे। धनी भारतीय व्यापारी मास्को और सेंट-पीटर्सबर्ग जाते हुए भी ब्राह्मणों को अपने साथ ले जाते थे। बस्तियों में सदा कुछ साधु-सन्यासी भी होते थे, जो अपने धर्म के लोगों से दान व भिक्षा पाकर निर्वाह करते थे। स्थानीय पुलिस अधिकारी कभी-कभी इस बात पर असंतोष व्यक्त करते थे कि अस्त्राखान शहर के बीचोंबीच भारतीय लोग अपने धार्मिक अनुष्ठान करते हैं, तो भी, प्रत्यक्षतः, उनके मार्ग में कोई विशेष अड़चनें नहीं डाली जाती थीं। इस लिहाज़ से रूस में भारतीय व्यापारियों की स्थिति पड़ोस के फ़ारस की तुलना से कहीं अधिक अच्छी थी। अस्त्राखान में भारतीय व्यापारी मुख्यतः फ़ारस से ही आते थे और भारत के नहीं, बल्कि फ़ारस के माल का ही अधिक व्यापार करते थे। अतः रूसी-भारतीय व्यापार में अस्त्राखान की भारतीय बस्ती की भूमिका का अतिमूल्यांकन नहीं करना चाहिए। हां, भारत के साथ इस बस्ती के संबंध कभी भी नहीं टूटते थे। कुछ भारतीय थोड़े समय के लिए ही अस्त्राखान में रहते थे और फिर स्वदेश लौट जाते थे। अक्सर भारतीय व्यापारी अल्प-अवधि के लिए ही अस्त्राखान आते थे। अस्त्राखान में रह रहे भारतीय अपने रीति-रिवाजों का सख़्ती से पालन करते थे और भारत में मंदिरों को भेंटें भेजते थे। सोवियत संघ के प्राच्य हस्तलिपि संग्रहों में अस्त्राखान से प्राप्त भारतीय धार्मिक ग्रंथ संरक्षित हैं, जिन्हें या तो भारत से लाया गया था, या अस्त्राखान की बस्ती में ही उनकी नक़ल तैयार की गई थी। कतिपय रूसी और विदेशी यात्रियों ने अस्त्राखान के भारतीयों का वर्णन किया है। इन वर्णनों का एक महत्त्व यह भी है कि ये भारतीयों के रहन-सहन और रस्मों के सच्चे साक्षी हैं।

१८वीं सदी के पांचवें दशक के अंत में ही अस्त्राखान में भारतीय व्यापारी कुछ कठिनाइयां महसूस करने लगे। इनका पहला कारण यह था कि अस्त्राखान की बस्ती में व्यापार फ़ारस में भारतीयों की ऐसी ही बस्तियों के साथ घनिष्ठ संबंधों पर फला-फूला था, और फ़ारस में नादिर शाह की हत्या के बाद "भयानक उपद्रव हुए और लूटपाट मची।" एक दस्तावेज़ में कहा गया है: "हमारे हिंदुस्तानी भाई-बंधु फ़ारस में ... व्यापार कतई नहीं कर पा रहे हैं।" इसके अलावा रूस में शनैः-शनैः पूर्वी व्यापार का केंद्र अस्त्राखान से हटकर ओरेनबुर्ग बनता जा रहा था। उधर स्वयं भारत में भी परिवर्तन आ रहे थे, इस देश में अंग्रेज़ों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था।

१८वीं सदी में रूसी लोग बहुत विरले ही भारत पहुंच पाते थे। सातवें दशक में अंग्रेज़ों के जहाज़ों पर प्रशिक्षण पा रहे चार रूसी जहाज़ियों ने भारत की यात्रा

की। लंदन में रूसी दूत काउंट अ० वोरोन्त्सोव ने उन्हें यह आदेश दिया था कि वे नौचालन की बातों के साथ-साथ वे सब बातें भी नोट करते जायें, जो रूस और भारत के बीच व्यापार में लाभदायक हो सकती हों। वारंट अफ़सर निकीफ़ोर पोलुबोयारिनोव की डायरी विशेषतः रोचक है। इसमें भारत की जलवायु और उसके नगरों का, भारतीय लोगों के रूप-रंग और रीति-रिवाजों का जीवंत वर्णन किया गया है। डायरी में कुछ रेखाचित्र भी हैं (संभवतः ये किसी रूसी द्वारा भारत में बनाये गये पहले चित्र हैं)। रूसी जहाज़ियों की कुछ सूचनाएं ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं, जैसे कि बंगाल में अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह की, पटना में सेना में फैले विप्लव की कहानियां। सातवें दशक में एक छोटे से रूसी नगर त्रुब्चोव्स्क का व्यापारी निकोलाई चेलोबीत्चिकोव भी भारत गया था। आठवें दशक में व्यात्का (वर्तमान कीरोव) नगर का निवासी, ज़ारशाही सेना का जूनियर अफ़सर फ़िलीप्प येफ़्रेमोव बुख़ारा में दास बना लिया गया। किंतु वह वहां से भागकर भारत के रास्ते स्वदेश लौटा। १७८६ में फ़िलीप्प येफ़्रेमोव ने अपनी डायरी प्रकाशित की। उसके जीवनकाल में ही इस पुस्तक के तीन संस्करण निकले। लेखक ने भारत में जो कुछ देखा, उसका रोचक विवरण दिया है। बहरहाल रूसी लोगों की भारत यात्राएं संयोग मात्र ही थीं और इन यात्रियों के विवरणों में विद्वता का दावा नहीं था। भारतीय लोगों का (भारतीय व्यायारी बस्तियों के अलावा) रूस आना भी ऐसा ही संयोग था। उदाहरणतः, १८वीं सदी के आरंभ में चीन जा रहे रूसी दूत-मंडल को बाइकाल-पार क्षेत्र में सेलेंगींस्क इलाक़े में मद्रास से आया एक भारतीय साधु मिला था। सम्राज्ञी आन्ना इयोआनोव्ना को फ़ारस के शाह द्वारा भेंट किये गये हाथियों की देख-रेख के लिए अठारह भारतीय महावत सेंट-पीटर्सबर्ग में रहते थे। प्राणमूर्ति नामक एक भारतीय द्वारा अस्त्राख़ान, बाकू और मास्को की यात्रा का उल्लेख मिलता है।

१८वीं सदी में रूस में अकादमिक विज्ञान-कार्य शुरू हुआ। ज़ार प्योत्र प्रथम के दिनों में स्थापित "कुंस्तकामेरा" (चमत्कारों की कोठी) में प्राचीन प्राच्य वस्तुएं संग्रहीत की जाने लगीं। १७२४ में सेंट-पीटर्सबर्ग विज्ञान अकादमी की स्थापना हुई। १८वीं सदी में इसके सदस्यों में प्राच्य विषयों के कतिपय विशेषज्ञ भी थे (मुख्यतः जर्मन मूल के)। चौथे दशक में भारत से संबंधित कई वैज्ञानिक कृतियां प्रकाशित हुईं। प्योत्र प्रथम के निर्देश पर साइबेरिया के अध्ययन के लिए वहां गये जर्मन विज्ञान दनिएल मेस्सेरश्मीत्त की मुलाक़ात एक भारतीय व्यापारी से हुई थी, जिससे उसने भारतीय भाषाएं सीखीं। यह व्यापारी दिल्ली से आकर इर्कूत्स्क में बस गया था। यहां उसने विवाह कर लिया था और आर्थोडोक्स ईसाई धर्म में दीक्षा ले ली थी। दनिएल मेस्सेरश्मीत्त ने हिंदुस्तानी पढ़नी, लिखनी और थोड़ी-थोड़ी बोलनी भी सीखी। बोलचाल की भाषा के अलावा उसने संस्कृत का भी परिचय पाया। अपने भारतीय शिक्षक के शब्दों से उसने भारतीय भाषाओं में पौधों, पक्षियों और पशुओं

के नामों की सूचियां बनाईं। इस विद्वान के काग़ज़ों में न केवल भारतीय आर्य भाषाओं की, बल्कि तमिल भाषा की भी वर्णमालाएं और रूपावलियां मिली हैं।

रूस में भारतीय भाषाओं का अध्ययन करने वाले पहले विद्वानों में एक थे – प्राच्यविद प्रोफ़ेसर **गेओर्ग याकोब केर।** रूस में आने से पहले ही वे भारतीय भाषाओं और लिपियों में रुचि लेने लगे थे। उस समय तक यूरोपीय भाषाओं में इस विषय पर जितने भी ग्रंथ छपे थे (अथानासियुस कीर्खेर, रेलांद, बर्तोलोमे त्सिगेनबाल्ग, आदि के) उन सब का उन्होंने अध्ययन किया। गे० या० केर के दस्तावेजों में भारत और लंका से उन्हें मिले पत्र भी हैं, इनमें यूरोप में भारतविद्या के एक संस्थापक बर्तोलोमे त्सिगेनबाल्ग का एक लंबा पत्र भी है। इन काग़ज़ों में कुछ कापियां भी मिली हैं, जिनमें कतिपय भारतीय भाषाओं की लिपियां, शब्दों की सूचियां, संज्ञाओं और क्रियाओं की रूपावलियां, तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं (बंगला, तमिल, आदि) में किये गये कुछ अनुवाद हैं। १७३३ में इस विद्वान की भेंट अस्त्राखान के भारतीय सुंगार (सुहार) से हुई, जो तब पीटर्सबर्ग में रह रहा था। इस भारतीय ने बपतिस्मा ले लिया था और उसे कुलीनों की सामाजिक श्रेणी प्रदान की गई थी (रूसी में उसका नाम प्योत्र इवानोविच सुंगूर लिखा जाता था)। गे० या० केर के काग़ज़ातों में वह कापी भी मिली है, जिसमें उन्होंने सुंगार के पाठ नोट किये थे। सुंगार ने केर को देवनागरी के अलावा लंडा लिपि भी सिखाई, जिसमें अस्त्राखान में बसे भारतीय व्यापारी अपना हिसाब-किताब रखते थे। सुंगार के निर्देशन में केर ने भारत की एक बोलचाल की भाषा (प्रत्यक्षतः मुलतानी बोली) के व्याकरण का बारीकी से अध्ययन किया। उन्होंने विभिन्न विषयों पर शब्दों की सूची भी बनाई। उन्होंने कई भारतीय भौगोलिक नामों की भारत के बारे में यूनानी और रोमन लेखों में पाये जाने वाले नामों से समानता इंगित की और भारतीय तथा प्राचीन यूनानी शब्दावली की समानता भी दर्ज की। सुविदित है कि ऐसे सामीप्य को देखकर ही तुलनात्मक भाषाविज्ञान और संस्कृतविद्या के क्षेत्र में काम शुरू हुआ था।

गे० या० केर के ज़रिए ही अकादमीशियन **तेओफ़िल ज़ीगफ़्रिद बायेर** का सुंगार से परिचय हुआ और उन्होंने उससे संस्कृत सीखी। संस्कृत का ज्ञान बायेर की पुस्तक 'यूनानी-बाख़्त्री राज्य का इतिहास' और 'ब्राह्मण, तंगूत तथा मंगोल लिपियां' लेख मे प्रकट हुआ। यह यूरोप में प्राच्यविद्या पर पहले ठोस, आधारभूत कार्यों में से एक था। केंद्रीय एशिया की सभ्यता की ओर इस विद्वान का ध्यान अकारण ही नहीं गया था, इसका संबंध रूस की एशियाई सीमाओं के फैलने तथा पूर्वी देशों के साथ उसके संबंधों के सुदृढ होने से था।

अकादमीशियन **प्योत्र पल्लास** ने भी अस्त्राखान में भारतीय शब्द नोट किये। भाषाविज्ञान के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात करनेवाली १८वीं सदी के अंत की रचना – प्योत्र पल्लास रचित विश्व भाषाओं का तुलनात्मक कोश – मे

संस्कृत, हिंदुस्तानी, बंगाली और मुलतानी के बारे में ही नहीं, तेलुगू, तमिल, मलयालम और सिंहल भाषाओं के बारे मे भी जानकारी दी गई है।

रूसी प्रकाशक पश्चिमी यूरोप में भारत पर छपने वाली रचनाओं से रूसी पाठकों को परिचित कराने लगे। उदाहरणत:, १७८९ में 'भारतीयों के रीति-रिवाजों, भाषा, धर्म और दर्शन की सक्षिप्त एव सामान्य व्याख्या तथा विचार' नामक पुस्तक छपी। यह अलेक्सान्द्र डो की पुस्तक के फ्रांसीसी संस्करण का अनुवाद था, जो मुहम्मद क़ासिम फ़रिश्ता के १८वीं सदी के इतिवृत्त के आधार पर लिखी गई थी। १८वी सदी के अंत में अनेक रूसी लेखकों की रचनाओं में भारत के वर्णन की ओर ध्यान दिया जाता था। ऐसा मुख्यत: भारत के साथ रूस का व्यापार बढ़ाने की संभावनाओं के अध्ययन के उद्देश्य से किया जाता था। इन रचनाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थी – मिखाईल चुल्कोव की पुस्तक 'रूसी वाणिज्य का ऐतिहासिक वर्णन'। ये रचनाएं मोटे तौर पर विभिन्न स्रोतों से सूचनाएं जमा करके ही लिखी जाती थीं, तथापि ये १८वीं सदी के अंत के विज्ञान के स्तर के अनुरूप थीं।

भारतीय विषयों में रूसी पत्रकारिता की रुचि १८वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही अधिक प्रकट होने लगी। रूसी पत्रिकाएं अंग्रेज़ों के साथ भारतीयों के संघर्ष, अंग्रेज़ों और फ़्रांसीसियों की स्पर्द्धा, इत्यादि के बारे में लिखती थीं। स्वयं भारतीय राज्यों के राजनीतिक इतिहास के बारे में सामग्री कहीं कम होती थी। ऐसा एक लेख १७५९ में 'अवकाश का सदुपयोग' पत्रिका के १८वें अंक में छपा था, उसका शीर्षक था: 'महान मुग़ल साम्राज्य में सत्ता का परिवर्तन'। यूरोप की ही भांति रूसी पत्रिकाओं में भी भारतीय विषयों पर कथा-साहित्य प्रकाशित होने लगा। पूरब की विचित्रता रूसी पाठक के लिए रोचक थी।

१८वीं सदी के नौवें और अंतिम दशकों के पत्र-पत्रिकाओं की भारत के प्रति रुचि कहीं अधिक गंभीर थी। यह रुचि मुख्यत: प्रगतिशील धारा की पत्रिकाओं में दृष्टिगोचर होती थी। विलक्षण रूसी ज्ञान-प्रसारक निकोलाई नोविकोव अपनी पत्रिका 'मोस्कोव्स्किये वेदोमोस्ती' (मास्को गज़ेट) के परिशिष्ट में नियमित रूप से भारत के बारे में लेख छापते थे। ये सदा मौलिक रचनाएं नहीं होती थीं, प्राय: ये अनूदित (नियमत:, जर्मन भाषा से) सिंहावलोकनात्मक लेख ही होते थे। रूसी भाषा में अनुवाद के लिए लेखों का चुनाव स्पष्टत: प्रकाशक के जनवादी दृष्टि-कोण का साक्षी था। लेख मुख्यत: ईस्ट इंडिया कंपनी के कार्यकलापों को समर्पित होते थे। भारत में उसकी नीति का मूल्यांकन नकारात्मक होता था। निकोलाई नोविकोव अंग्रेज़ों द्वारा इस देश को लूटे जाने के बारे में लिखते और परवश जनता के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते थे। "इससे पहले कभी किसी दूसरी जाति ने ऐसे सुसंपन्न जनगण को परवश नहीं किया है, जैसे वास्तव में बंगाली हैं," "ऐसा समृद्ध और सुखी राष्ट्र नये शासन में इतनी शीघ्र अवनति और दरिद्रता को प्राप्त हुआ है कि इसका भी इतिहास में अन्य उदाहरण नहीं है," निकोलाई नोविकोव

ने लिखा। भारत के प्रति इस रूसी पत्रकार और प्रकाशक का रुख उसके सामान्य राज-नीतिक दृष्टिकोण द्वारा निर्धारित था। रूसी समाज की अग्रणी शक्तियां उन सबकी पक्षधर थी, जो अपनी स्वतत्रता के लिए अग्रेजो से लड रहे थे। इगलैंड द्वारा भारतीय जनता की स्वतंत्रता के हरण पर भी उनमे गहरा आक्रोश फैला। नोविकोव की पत्रिका में १८वी सदी के अग्रणी रूसी विचारको, लेखको ने जो उपनिवेशवाद विरोधी रुख अपनाया उसका रूसी भारतविद्या की परम्पराओ के गठन पर प्रभाव पडा।

रूसी मुक्ति आंदोलन के अग्रदूत अलेक्सान्द्र रदीश्चेव के लेखन मे यह रुख विशेषत ज्वलंत रूप से प्रकट हुआ। अपने 'ऐतिहासिक गीत' में रदीश्चेव ने लिखा "विवेकी ब्रामो (ब्राह्मणो) के ये वशज, जो धृष्ट दुष्टो के बंदी है, अपने प्राचीन गौरव के अवशेष और पतन के साक्षी प्राचीन संस्कृत में रचे हुए येजुर्वेदम (यजुर्वेद) में उल्लिखित अपने पावन विधान को पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित रखे हुए हैं।" इन थोडे से शब्दो मे भारत का एक बिल्कुल निश्चित बिम्ब देखा जा सकता है। मूलत यह १८वी सदी के यूरोप के लिए भारत का एक आम ब्रिम्ब है – भारतीयो के प्राचीन यश तथा रहस्यमय संस्कृत ग्रथो मे निहित विवेक का उल्लेख किया गया है; उन ब्राह्मणो का जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को अपना ज्ञान, आस्थाए और रीतिया प्रदान करते जाते हैं। साथ ही लेखक ने अपने समसामयिक भारत के प्रति भी निश्चित रुख प्रकट किया है, कभी जो देश महान था, उसके ह्रास का उल्लेख किया है, देश अंग्रेज़ो का जिन्हें लेखक "धृष्ट दुष्ट" कहता है "बंदी" हो गया है। रूसी साहित्य और पत्रकारिता के लिए कुल जमा एशियाई जनगण के प्रति उपेक्षा और तिरस्कारभरा रुख लाक्षणिक नहीं था और न ही उपनिवेशवादी दृष्टिकोण, जो पश्चिमी यूरोप में काफी फैला हुआ था।

भारत में अंग्रेज़ो के अत्याचारों का पर्दाफ़ाश और इस देश के दरिद्र हो गये जन समूहो के प्रति सहानुभूति तथा स्वय अपने देश में निरकुशता के विरुद्ध रूसी ज्ञानप्रसारकों के सघर्ष व रूसी किसानो की दयनीय दशा सुधारने की उनकी अभिलाषा के बीच सीधा सबध था।

१८वी सदी के अत मे भारत में ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो जाने के पश्चात यूरोप प्राचीन भारतीय संस्कृति से अधिक निकट से परिचित हो पाया। एशियेटिक सोसाइटी ऑफ़ बगाल में सगठित विद्वानों ने संस्कृत साहित्य के अध्ययन के लिए बहुत काम किया। निस्सदेह, इस सोसाइटी का काम ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन से घनिष्ठ रूप से जुडा हुआ था, वैज्ञानिक अनुसधानों की आवश्यकता बहुत हद तक एक ऐसे विशाल देश का शासन चलाने की आवश्यकता से ही निर्धारित थी, जिसकी अपनी, यूरोपीय लोगों के लिए बिल्कुल नई परम्पराए और अपने नियम थे। जहा एक ओर एशियेटिक सोसाइटी के कार्यकलापो में औपनिवेशिक नीति के तत्व प्रकट हुए बिना नही रह सकते थे, वही दूसरी ओर पूरब में सच्ची रुचि भी थी। यूरोप के सम्मुख पहली बार इतना व्यापक परिप्रेक्ष्य खुला था और अंग्रेज़ो,

फ्रांसीसियों, जर्मनों का अब तक प्रायः अज्ञात प्राच्य संस्कृतियों से साक्षात्कार हुआ। एशियेटिक सोसाइटी के संस्थापक विलियम जोन्स और उनके साथी प्राच्य साहित्य, धर्म और दर्शन में सारी मानवजाति के लिए समान, मानवतावादी विचार ढूंढ़ते थे। संस्कृत से हुए पहले अनुवादों, जैसे कि भगवद्गीता और कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुंतलम्' की ओर यूरोप के जानकार लोगों का ध्यान भारत के विवेक के प्रमाण और साहित्यिक परिष्कृति के उदाहरण के रूप में ही आकर्षित हुआ। ये ग्रंथ मानव-जाति की एकता के विचार की पुष्टि करते थे। अंग्रेज़ी अनुवाद शीघ्र ही दूसरी यूरोपीय भाषाओं में भी प्रकाशित हुए। १७८८ में भगवद्गीता का रूसी अनुवाद छपा। इसका नाम था : 'बगुअत-गेता अर्थात कृष्ण की अर्जुन से वार्ता, टीका सहित। प्राचीन ब्रामिन भाषा, जो संस्कृत कहलाती है, में लिखित मूलग्रंथ से अंग्रेज़ी में और उससे रूसी भाषा में अनूदित'। उल्लेखनीय है कि यह ग्रंथ निकोलाई नोविकोव के मुद्रणालय में ही छपा था। कुछ वर्ष पश्चात १७९२ में 'शकुंतला' के भी कुछ अंशों का अनुवाद रूसी में छपा। रूस में भी कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' ने वैसी ही प्रशंसा लूटी, जैसी पश्चिमी यूरोप में पाई थी। रूसी में इसका अनुवाद अपने समय के सबसे बड़े इतिहासकार और लेखक निकोलाई करमज़िन ने किया था। अनुवाद के लिए लिखी भूमिका 'मोस्कोव्स्की भ़ुर्नाल' (मास्को पत्रिका) में छपी थी। इसमें उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि "सृजन की भावना केवल यूरोप में ही व्याप्त नही है, यह समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त है। मनुष्य सर्वत्र मनुष्य ही है; सर्वत्र उसकी छाती में संवेदनशील हृदय धड़कता है और अपनी कल्पना के दर्पण में वह धरती और आकाश को समेटता है।" नाटक के प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर उनका साक्षात्कार "काव्य के अनुपम सौष्ठव, सूक्ष्मतम भावनाओं, अकथनीय कोमलता ... पावन, अद्वितीय प्रकृति और महानतम कला" से हुआ। करमज़िन ने कालिदास की तुलना प्राचीन यूनान के महान कवि होमर से की। नाटक के कलात्मक गुणों के अतिरिक्त करमज़िन ने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि इससे प्राचीन भारत को, "उसके निवासियों के चरित्रों, रीति-रिवाजों और आचार-व्यवहार" को समझने में मदद मिलती है।

इस प्रकार प्राचीन भारत के साहित्य रत्नों की ओर प्रमुखतम रूसी लेखकों का ध्यान काफ़ी पहले ही आकर्षित हो गया था। तथापि भारत के साथ निकट सम्पर्क न होने के कारण रूसी समाज को यूरोप से, मुख्यतः अंग्रेज़ी प्रकाशनों से मिलने वाली सूचनाओं पर ही संतोष करना पड़ता था। १८वीं सदी के अंत में स्वतंत्र रूप से भारत का अध्ययन करने वाला एकमात्र रूसी व्यक्ति था – **गेरासिम (हेराशिम) लेबेदेव।**

गेरासिम लेबेदेव का जीवन मार्ग असाधारण था। उनका जन्म १७४९ में हुआ। कुछ स्रोतों के अनुसार उनका जन्म-स्थान यारोस्लाव्ल नगर था। उनके पिता पादरी थे और कुछ समय तक पीटर्सबर्ग में दरबारी समूह-गान मंडली में गायक थे। परिवार

की आर्थिक स्थिति साधारण ही थी, इसलिए पंद्रह वर्ष की आयु में ही बालक अच्छी तरह पढ़ना-लिखना सीख पाया। इस क्षण से वह संगीत सीखने लगा और कुछ समय बाद पेशेवर संगीतकार बन गया। १७७७ में वह सुविख्यात संगीतमर्मज्ञ, काउंट अ० रज़ुमोव्स्की के परिजनों के साथ विदेश गया। कुछ समय तक इटली के नेपल्स नगर में रहने के बाद लेबेदेव यूरोपीय राजधानियों वियेना, पेरिस, लंदन में चेलो वादन के कंसर्ट देने लगे। १७८५ में ईस्ट इंडिया कंपनी के जहाज़ पर वह मद्रास पहुंचे और मद्रास के गवर्नर के साथ हस्ताक्षरित अनुबंध के अंतर्गत कंसर्ट देते हुए दो साल तक वहां रहे। भारत में लेबेदेव की गहरी रुचि हो गयी, अतः उन्होंने यहां दक्षिण भारत की बोलचाल की एक भाषा सीखने की कोशिश की। लेबेदेव ने इसे मालाबार की जन भाषा कहा है, यद्यपि उनका अभिप्राय स्पष्टतः तमिल भाषा से है। अनुबंध की अवधि समाप्त होने पर "वस्तुओं और लोगों के भी बारे में अपना ज्ञान बढ़ाने की इच्छा से प्रेरित" रूसी यात्री कलकत्ता चला आया। यहां काफ़ी देर तक वह ऐसे शिक्षक की असफल खोज करता रहा, जो उसे भारतीय भाषाएं सिखा सके। अंततः १७८९ में गोलकनाथ दास के साथ पढ़ाई शुरू हुई। यह विद्वान लेबेदेव को बंगाली और हिंदुस्तानी भाषाएं सिखाता था तथा संस्कृत के मूल तत्व भी समझाता था। उधर वह स्वयं लेबेदेव से पश्चिमी संगीत सीखता था। बंगाली के पाठों में वे एन० बी० हेलहेड के व्याकरण का उपयोग करते थे, जो इससे कुछ समय पहले ही प्रकाशित हुआ था। भाषाओं के अलावा गोलकनाथ दास और उनके मित्रों ने लेबेदेव को भारतीय अंकगणित भी सिखाया और पंचांग समझना भी। उल्लेखनीय है कि भारतीय विद्वानों और यूरोपीय लोगों के बीच संसर्ग नितांत कठिन था, क्योंकि दोनों ओर से ही पूर्वाग्रह थे। रूसी संगीतकार ने भारतीयों के प्रति अपनी सद्भावना और गहरे आदर की बदौलत उनके साथ परस्पर समझ के संबंध बना लिये, उसके अपने शब्दों में, वह "उनके ज्ञान का समुचित मान करता था।" भारतीयों के साथ लेबेदेव के सम्पर्क काफ़ी घनिष्ठ थे, वह भारत की प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर में ही नहीं, बल्कि अपने समसामयिक लोगों – बंगालियों और उनकी संस्कृति – में भी रुचि लेते थे। उन्होंने बंगला कवि भरतचन्द्र राय की कविताओं का अनुवाद किया और उन पर संगीत भी रचा। भारतीयों के साथ उनके पाठ कई वर्षों तक जारी रहे। १८वीं सदी के अंतिम दशक के मध्य में लेबेदेव को यह धुन सवार हुई कि कलकत्ता में यूरोपीय ढंग का ऐसा थियेटर बनाया जाये, जिसमें बंगला में नाटक हों। भारत में ऐसा थियेटर तब नहीं था। उनका मत था कि ऐसा थियेटर एकसाथ दो महत्त्वपूर्ण ध्येयों की पूर्ति करेगा – एक ओर भारतीयों को यूरोपीय कला से परिचित करायेगा, तो दूसरी ओर भारतीयों और भारतीय भाषाओं को अधिक अच्छी तरह समझने में यूरोपीयों की मदद करेगा, यानी उन्हें "हिंदोस्तानियों के साथ संसर्ग के अवसर प्रदान करेगा।" लेबेदेव बड़े उत्साह से इस काम में जुट गये। उन्होंने स्वयं दो नाटकों का अंग्रेज़ी से बंगला में अनुवाद किया। इन नाटकों में

प्रहसन और स्वांग का प्रबल पुट था और ऐसा अकारण ही नहीं था – लेबेदेव ने भारतीय दर्शकों की पसद को ध्यान में रखा था। इसके अलावा दर्शकों के लिए नाटकों को सुबोध बनाने के ध्येय से उनके घटनास्थल कलकत्ता और लखनऊ रखे गये थे, पात्रों के नाम भी बंगाली कर दिये गये थे। भारतीय परम्परा को देखते हुए लेबेदेव ने नाटकों के घटनाक्रम मे कुछ नृत्य और गीत भी जोड़ दिये थे। प्रत्यक्षतः संगीत का बहुत महत्त्व था, चूंकि थियेटर का संचालक स्वय संगीतकार था। लेबेदेव ने अपने अनुवाद अपने बंगाली मित्रों को सुनाये। वह न केवल अनुवाद के बारे में, बल्कि कलात्मक सौष्ठव के बारे में भी उनकी राय जानना चाहते थे, क्योंकि थियेटर तो बंगाली दर्शकों के लिए ही बनाया जाना था।

नाटक दिखाने के लिए ईस्ट इडिया कंपनी के थियेटर की इमारत किराये पर लेने का प्रयास विफल रहा। एक दूसरा भवन किराये पर लेना पड़ा। लेबेदेव ने इसके पुनर्निर्माण में अपनी सारी सपत्ति लगा दी। स्वय लेबेदेव के शब्दों में, थियेटर उनके "देशवासी, यारोस्लाव्ल के फ्योदोर वोल्कोव" की शैली में बनाया गया था और पर्दे "बंगालियो की पसद के" रखे गये थे। इस थियेटर में दो प्रदर्शन हुए – २७ नवबर १७९५ को और २१ मार्च १७९६ को। इनमे मुख्यतः "कलकत्ता नगर और उसके निकटवर्ती भागो के एशियाई निवासी" ही निमंत्रित थे। यह घोषणा की गई थी कि यदि नाटक दर्शको का "अनुमोदन पायेंगे, तो सारा थियेटर पूर्णतः एशियाई भागीदारों को सौंप दिया जायेगा।" ३००-४०० सीटों वाला विशाल हाल खचाखच भरा हुआ था। दोनों ही प्रदर्शन अत्यंत सफल रहे। सभवतः यह सफलता ही थियेटर और उसके सस्थापक के सिर पर टूटे मुसीबतो के पहाड़ का कारण बनी। ईस्ट इडिया कंपनी के प्रबधक पहले तो रूसी उत्साही का मजाक उडाते रहे कि वह "डान क्विज़ोट" बन रहा है, लेकिन शीघ्र ही वे उसे अपना प्रतिद्वद्वी मानने लगे। और फिर कलकत्ता और आस-पास के इलाके के एशियाई निवासियों के लिए विशेष थियेटर बनाने का विचार ही भारत मे ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन के हितों के अनुकूल नहीं था। तरह-तरह की चालबाज़ियों से लेबेदेव का दिवाला निकलवा दिया गया, अभिनेता पलायन कर गये, थियेटर में आग लग गई। इसके स्वामी पर कई मुक़दमे दायर किये गये, जो अंततः निराधार माने गये, लेकिन इस सबसे लेबेदेव के स्वास्थ्य की जड खुद गई, मन की शांति जाती रही। इन दिनों के बारे में उन्होंने लिखा है कि "तपता सूरज शरीर को इतना नहीं झुलसाता था, जितना कि उदासी मन को झुलसाती थी।" अपनी सपत्ति से वंचित, भारत में अपने कार्यकलापों की संभावनाओ से निराश और ईस्ट इडिया कंपनी के चालबाज़ों तथा बरतानवी न्याय और प्रशासन प्रणाली के प्रति आक्रोश से भरपूर लेबेदेव को १७९७ में कलकत्ता छोड़ देना पड़ा।

रास्ते में आई अनेक मुसीबतो के बाद, दक्षिणी अफ्रीका में कुछ समय तक मजबूरन रहने के बाद लेबेदेव लंदन में रूसी दूतावास में पहुंचे। रूसी संगीतकार और

नये ढंग के पहले भारतीय थियेटर के संस्थापक का बारह वर्ष का भारत प्रवास समाप्त हो गया। लंदन में लेबेदेव ने भारत पर अपनी रचनाओं के प्रकाशन के प्रयास किये। आरंभ में उनकी योजना 'बंगाली और भारतीय गीत संग्रह' छापने की थी। इसकी सूचना १७९९ में 'मोस्कोव्स्कियें वेदोमोस्ती' में छपी। १८०१ में लेबेदेव 'शुद्ध और मिश्रित पूर्वी भारतीय बोलियों का व्याकरण' प्रकाशित करने में सफल रहे। यह आधुनिक भारतीय भाषाओं के यूरोप में प्रकाशित पहले व्याकरणों में एक था। १८वीं सदी के अंत में कलकत्ता में बोली जाने वाली हिंदुस्तानी का अध्ययन करने वालों के लिए इस रचना का महत्त्व कभी भी कम नहीं होगा। यह अकारण ही नहीं कि स्वतंत्र भारत में यह पुस्तक पुन: प्रकाशित हुई हैं। १८०१ में लेबेदेव सेंट-पीटर्सबर्ग लौटने में सफल रहे। भारतीय भाषाओं के विशेषज्ञ के नाते उन्हें विदेशी मामलों के बोर्ड के एशियाई विभाग में नियुक्त किया गया। यही नहीं, अपनी कृतियों के प्रकाशन के लिए उन्हें साधन भी मिले। १८०२ में सेंट-पीटर्सबर्ग में भारतीय (बंगाली) लिपि के टाइप वाला यूरोप का पहला मुद्रणालय खुला। दूसरे यूरोपीय देशों में ऐसे मुद्रणालय इसके बाद ही खुले थे, उदाहरणत: लंदन में चार्ल्स विल्किंस का छापाखाना १८०८ में ही खुला था। सेंट-पीटर्सबर्ग के मुद्रणालय में १८०५ में भारत पर लेबेदेव का प्रमुख ग्रंथ रूसी में छपा। इसका नाम था 'पूर्वी भारत की प्रणालियों, ब्राह्मणों, उनके अनुष्ठानों और जन रीतियों का निष्पक्ष अवलोकन'। पुस्तक के पहले भाग में भारतीय मिथकों, विश्वोत्पत्ति की भारतीय धारणाओं और भारतीय लोगों की आस्थाओं, विश्वासों के बारे में बताया गया था। दूसरे भाग में भारतीय पंचांग और ज्योतिष-विद्या का विशद विवरण था। तीसरे भाग में मुख्यत: अनुष्ठानों, मंदिरों, भारतीय लोगों के रीति-रिवाजों और तीज-त्योहारों की चर्चा थी। यही पर वर्ण और जाति-प्रथा के बारे में रोचक जानकारी दी गई थी तथा वर्णेतर लोगों की उत्पत्ति दी गई थी। इस पुस्तक की सामग्री का बहुत थोड़ा सा भाग ही यूरोपीय लेखकों की रचनाओं पर आधारित था, अधिकांश सामग्री लेखक ने अपने प्रेक्षणों से तथा अपने बंगाली मित्रों से मौखिक रूप में पाई थी। अनेक वर्ष तक भारत में रहे व्यक्ति की डायरी के नाते लेबेदेव की पुस्तक का महत्त्व आज भी बना हुआ है।

लेखक ने भारतीय मिथकों की अन्योक्तियों के रूप में जो व्याख्याएं प्रस्तुत की और निरुक्ति संबंधी जो विचार रखे, उन्हें, निस्संदेह आज गंभीरता से नहीं लिया जा सकता, तथापि यह भी स्मरणीय है कि १८वीं शती के अंत के जाने-माने भाषा-विज्ञानियों, जैसे कि विलियम जोन्स, के शोधकार्यों में भी ऐसी ही कमियां थीं। रूसी पाठक के लिए यह हिंदू धर्म से पहला विशद परिचय था। लेकिन लेबेदेव की पुस्तक मात्र सूचनात्मक नहीं थी, बल्कि उसमें एक महत्त्वपूर्ण विचार लाल सूत्र की तरह पिरोया हुआ था। पुस्तक का नाम '... निष्पक्ष अवलोकन' अकारण ही नहीं रखा गया था। सारी पुस्तक में लेखक ने हिंदुओं की धार्मिक अवधारणाओं की

तुलना ईसाई धर्म की अवधारणाओं से की है। उसके मत में ईसाइयों की ही भांति हिंदुओं में भी एक सच्चे भगवान की अवधारणा है, जिसे वे ब्रह्म कहते हैं। दूसरे हिंदू देवताओं को लेबेदेव ने देवदूत कहा है। लेखक ने भारत में ईसाई अवधारणा के अनुरूप एक अखण्ड त्रिरूप परमेश्वर (पिता, पुत्र और पावन आत्मा) का विचार भी पाया। कृष्ण को लेखक पुत्र का मूर्तरूप समझता है और उसके नाम कृष्ण की तुलना ख्रीस्त के नाम से करता है। दुर्गा अथवा काली को लेखक ने पावन आत्मा माना है, इस देवी का स्वरूप उसे ईसाइयों की माता मरियम जैसा लगता है। लेबेदेव इनमें केवल एक ही भेद पाते हैं कि काली देवी का चेहरा काला है। पुस्तक में हिंदू देवी-देवताओं के, मुख्यत: दुर्गा के चित्र दिये गये और उनकी अन्योक्तियों के रूप में व्याख्या की गई। (यहां अनचाहे ही प्राचीन रूसी साहित्य की याद आती है, जिसमें भारतीय राजा "जॉन" अथवा "इवान" और राह्मनों को ईसाई सरीखा माना जाता था।) भारतीय धर्म की तुलना लेबेदेव ईसाइयों की आस्था और "प्रभु के नियम" से करते हैं तथा हिंदुओं के संस्कारों (शास्त्रविहित कृत्यों) की तुलना वह ईसाइयों के पांच अभिषेकों से करते हैं। भारतीय ब्राह्मणों, पुरोहितों के विभिन्न वर्गों को वह रूसी आर्थोडोक्स चर्च के धर्माधिकारी वर्ग के पदानुक्रम के समरूप मानते हैं। भारतीय मंदिर उन्हें आर्थोडोक्स गिरजों की याद दिलाते हैं। यह सब पाठकों के लिए अपरिचित विश्वासों और रीतियों को परिचित बातों से तुलना करके समझाने का प्रयास मात्र नहीं है। लेबेदेव के लिए हिंदू और ईसाई धर्म का सादृश्य गहन है, मात्र सांयोगिक नहीं। लेखक के इस विश्वास को सत थॉमस द्वारा भारत में ईसाई धर्म के प्रचार की किंवदंती से उत्पन्न समझना उचित न होगा। लेबेदेव के मत में सिरजनहार ने दिव्य सत्य ईसाइयों की ही भांति भारतीयों को भी प्रकट किया था, बल्कि उन्हें तो ईसाइयों से पहले किया था, क्योंकि, लेबेदेव के मत में, भारत मानवजाति की जन्मस्थली थी। भारतीयों को ईसाई सरीखा मानकर निष्ठावान ईसाई धार्मिक असहिष्णुता से बच सकता था। लेबेदेव लिखते हैं कि "भारतीय लोग बुतपरस्तों जैसे बिल्कुल नहीं हैं," कि वे "एक सच्चे परमपिता को मानते हैं और अनेक यूरोपीयों से पहले ही ख्रीस्तीय नियम का पालन करने लगे हैं, भेद बस इतना है कि यहां बुतपरस्तों के अंधविश्वास न्यूनाधिक बने हुए हैं, जिनसे पूर्णत: शुद्धि पाना, सभवत:, अकेले इस देश में ही शेष नही है।" भारतीय धार्मिक दर्शन की अद्वैतवादी व्याख्या करना और उसे ईसाई धर्म के सन्निकट लाना केवल लेबेदेव के लिए ही नहीं, बल्कि उस समय की यूरोपीय संस्कृति के अन्य प्रतिनिधियों, जैसे कि विलियम जोन्स, के लिए भी लाक्षणिक था। संभवत: ऐसे विचार बंगाली बुद्धिजीवियों में भी, जिनके साथ रूसी यात्री उठता-बैठता था, फैल रहे थे। कुछ समय पश्चात राजा राममोहन राय की रचनाओं में ये विचार विकसित हुए।

लेबेदेव ने भारतीयों के आचरण और रीति-रिवाजों के बारे में बहुत कुछ लिखा। लेबेदेव के अनुसार भारतीय लोग बहुत धर्मपरायण हैं, व्रत रखते हैं, सफ़ाई से रहते

हैं, हिंसा से घृणा करते हैं, मदिरापान और सामिष भोजन से परहेज़ करते हैं, वचन निभाना अपना परम कर्त्तव्य मानते हैं और बच्चों को प्रभु के नियम की शिक्षा देते हैं। इसके साथ ही लेखक ने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि "भारतीयों का आचरण और प्रथाएं किन्हीं अंधविश्वासपूर्ण परम्पराओं द्वारा संचालित नहीं हैं, अपितु श्रुति तथा विवेकसम्मत नियमों पर आधारित हैं।"

भारतीयों की हिमायत करते हुए लेखक ने भारत के जो मूल्यांकन तथा भारत मे अंग्रेज़ों की कार्रवाइयों के बारे में जो विचार यूरोपीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकट हो रहे थे उनकी आलोचना की। उसने लिखा कि "भारतीय लोग कदापि वहशी नहीं हैं, उलटे ... इसका उलाहना उन लोगों को देना अधिक उचित होगा, जो उनसे हिंस्र से हिंस्र पशुओं से भी अधिक बर्बरता का व्यवहार करते हैं।" लेबेदेव "सौदागरों के राज" के प्रतिनिधि अंग्रेज़ों का, उन "घमंडी आगंतुकों" का पर्दा-फ़ाश करते हैं, "जो मानवजाति के दुर्भाग्यवश अपनी अनबुझ धन-लोलुपता की खातिर समूचे राज्यों को हड़प जाते हैं।" इसके विपरीत स्वयं भारतीयों का "अंतः-करण अधिक कोमल है और वे अधिक न्यायप्रिय हैं," बस उनके साथ व्यापार कर रहे यूरोपीय ही उन्हें विश्वासघात करना सिखा रहे हैं। भारत में ब्रिटिश आधिपत्य पर लेबेदेव का रुख़ रूसी साहित्य के श्रेष्ठ प्रतिनिधियों रदीश्चेव और नोविकोव के रुख के समान ही है। लेबेदेव ने भारतीयों को आदर्श रूप में दिखाने का यत्न नही किया। उन्होंने उनके अंधविश्वासों की भी और "अमीर-उमराओं की विलासप्रियता और ऐश्वर्य" की भी चर्चा की। उनका मत था कि अंग्रेज़ भारत में सभ्यता इतनी नहीं ला रहे, जितनी कि बरबादी और पतन। "उन पर (भारतीयों पर) इतने अत्याचार हो रहे हैं, इतने जुल्म ढाये जा रहे हैं, उनके जीवन में इतने प्रलोभन लाये जा रहे हैं, फिर भी वे अपने आचरण में अनुकरणीय अडिगता बनाये हुए हैं।"

लेबेदेव ने इस बात पर ज़ोर दिया कि भारत के अध्ययन में किसी एक देश का एकाधिकार नहीं हो सकता और अंग्रेज़ "दूसरों की सहायता के बिना उस गूढ़ मर्म में नही पैठ सकते, जो सिरजनहार ने काले लोगों को प्रदान किया है।" अंग्रेज़ों को "स्वयं अपने लिए ही अपमानजनक अपना मूर्खतापूर्ण घमंड" छोड़ देना चाहिए और भारत के अध्ययन के क्षेत्र में "किसी भी जाति के अध्यवसायी को प्रोत्साहन देना चाहिए।"

लेबेदेव के लिए उनके कार्यकलाप का ध्येय उस चीज़ का सृजन करना था, जो "जनगण के बीच वांछनीय हार्दिकता के परस्पर संबंध को सुदृढ़ करती है और सार्विक एवं विश्व कल्याण की पुनःस्थापना की योग्यताओं को मिलाती है।" स्वाभाविक ही है कि इसमें वह अपनी मातृभूमि रूस की ओर विशेष ध्यान देते हैं। भारत और उसकी संस्कृति से अपनी पितृभूमि को निकट से परिचित कराके

यह विद्वान उसकी सेवा करने की चेष्टा करता है। वह उस सामीप्य की ओर विशेष ध्यान दिलाता है, जो रूसियों और भारतीयों की न केवल भाषाओं में, बल्कि उत्पत्ति, धर्म और रीति-रिवाजों में भी है।

रूसी विद्वान भारत की प्राचीन वस्तुओं और चमत्कारों से ही आकर्षित नही हुआ। उसे भारत का ज्ञान "केवल पठन-पाठन के लिए ही" आवश्यक नहीं लगता था। उसने भारत के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने के लिए प्योत्र प्रथम और येकातेरीना द्वितीय द्वारा किये गये प्रयासों को जारी रखने की वांछनीयता का उल्लेख किया। लेबेदेव का यह मत था कि १९वी सदी के आरंभ में "रूस और भारत के बीच संबंध अधिक पनप रहे हैं।" "व्यापक फलते-फूलते रूस के हित के लिए" लेबेदेव ने "भारतीय भाषाएं जानने और सीखने की" तथा वहां "भिन्न-भिन्न काल में बसे लोगो" के बारे मे "सच्ची जानकारी" पाने की चेष्टा की। लेबेदेव की रचना 'निष्पक्ष अवलोकन' के अंत में एक छोटा सा अध्याय है, जिसमे भारत की सम्पदाओं, वहां की उन वस्तुओं का विवरण है, जो रूस में यूरोप के रास्ते आती हैं। इस अध्याय में उन्होंने दूसरे देशों के साथ भारत के व्यापार के बारे में भी बताया है और उन रूसी चीज़ों का भी ज़िक्र किया है, जो यूरोप के रास्ते भारत पहुचती हैं। लेबेदेव ने अपनी पुस्तक इन शब्दो के साथ समाप्त की: "प्रिय देशवासियो, इस सबसे आप सहज ही यह देख सकते हैं कि हम कितने लाभों से वंचित होते हैं, जब विदेशी इतने चक्करों के बाद हम तक आवश्यक वस्तुएं पहुंचाते हैं।" भारत के साथ सीधे व्यापारिक संबंध स्थापित करने के बारे में लेबेदेव का विचार उन परियोजनाओं को प्रतिबिम्बित करता था, जिन पर रूसी पत्र-पत्रिकाओं में भी और उच्च राजकीय कार्यालयों में भी निरंतर बहस होती रहती थी। रूस और भारत के बीच व्यापार की संभावनाओं के बारे में लेबेदेव ने कलकत्ता में रहनेवाले "रूस के प्रजाजनों" की सलाहों से लाभ उठाया था। "रूस के प्रजाजन" से उनका आशय शायद आर्मीनियाई सौदागरों से है।

लेबेदेव की मृत्यु १८१७ में हुई। हिंदुस्तानी-बंगाली-रूसी बातचीत कोश, बंगला व्याकरण, बंगला-रूसी शब्दकोश, भारतीय अंकगणित (तथा अंक प्रतीकों) के बारे में लेख, आदि के लिए उनके द्वारा संकलित बहुत सी सामग्री अप्रकाशित रह गई। लेनिनग्राद के एक संग्रहालय मे संगमरमर का समाधि-पत्थर रखा हुआ है, जिसपर गेरासिम लेबेदेव की स्मृति में ये शब्द अंकित हैं: "दूर देश भारत तक गया, भारत के लोगों के रीति-रिवाजों को देख समझकर उनकी भाषा भी सीखी, किन्ही विश्वविद्यालयों में विद्याएं नहीं सीखीं, तो भी ज्ञान के नभ में ऊंची उड़ान भरी, भारत के प्राचीन विवेक का मर्म समझ संसार को उससे अवगत कराया – ऐसा था रूस का यह सपूत।" १८३५ में एशिया संग्रहालय के पुस्तकालय को भारतीय हस्तलिपियों का संग्रह मिला, जिसे गेरासिम लेबेदेव भारत से लाये

थे। यह रूस में अपने ढंग का पहला संग्रह था। इसमें 'अमरकोश', 'हितोप-देश' आदि सस्कृत के कई ग्रथ भी थे।

गेरासिम लेबेदेव ने रूस में भारतविद्या का सूत्रपात नहीं किया। उनकी अनेक रचनाएं अप्रकाशित ही रह गयी। वैज्ञानिक दृष्टि से 'निष्पक्ष अवलोकन' शीघ्र ही दूसरे विद्वानों की रचनाओं की तुलना में पुराना पड़ गया। ये रचनाए यूरोप में तेज़ी से विकसित हो रही भारतविद्या का सुपरिणाम थी। १६वीं सदी के आरंभ में शिक्षित रूसी भारत के बारे में ज़्यादातर जर्मन में प्रकाशित पुस्तकें ही पढते थे, अत: आश्चर्य नही कि अपने देशवासी की पुस्तक को शीघ्र ही लगभग भुला दिया गया। अफ़ानासी निकीतिन की यात्रा की भांति गेरासिम लेबेदेव के कार्य-कलापों से भी रूस में भारत संबंधी अवधारणाओं में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया और न ही ये रूस में भारतविद्या के भाग्य के लिए निर्णायक सिद्ध हुए। बहुत सी बाते लेबेदेव और उनके सुदूर पूर्ववर्ती – निकीतिन – के बीच समान हैं। दोनो मध्यम वर्ग में जन्मे और असाधारण रूप से समृद्ध देश में रहकर भी दोनों में से कोई अपने को मालामाल नही बना सका। भारत में बिताये वर्षों के दौरान दोनों को अनेक मुसीबतों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा; एक "खुरासा-नियों" से तंग रहा, तो दूसरा ईस्ट इंडिया कंपनी के अफ़सरों और चालबाज़ों से। भारतीयों में ही, सो भी अमीर-उमराओं के बीच नहीं, मध्यम वर्गीय भारती-यों में ही दोनों ने मित्र पाये। स्वदेश लौटने पर दोनों के मन में भारतीय लोगों के प्रति मैत्री भाव बना रहा। दोनों ही बहुत अधिक शिक्षित नहीं थे, लेकिन बहुत जिज्ञासु थे। दोनों ही रूसी यात्रियों ने भारत में सजीव रुचि दिखायी और उसके जनगण के प्रति सद्भावना में पगे संस्मरण छोड़े। उनकी रचनाएं मात्र ऐतिहासिक स्रोतों के नाते ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, वे एक तरह से रूसी-भारतीय सांस्कृतिक सम्पर्कों में सुपरम्परा की प्रतीक हैं। यह अकारण ही नही कि रूस में भी और भारत में भी इन यशस्वी लोगों और उनकी रचनाओं की ओर अध्ये-ताओं का बारंबार ध्यान जाता है।

३. भारत के साथ मध्य एशिया और काकेशिया-पार के जनगण के संबंध

अति प्राचीन काल से ही भारत और मध्य एशिया के बीच बड़े घनिष्ठ संबंध रहे हैं। पुरातत्वीय सामग्रियां इस बात की साक्षी हैं। इन सामग्रियों पर हम प्रस्तुत पुस्तक के एक अलग अध्याय मे विचार करेंगे। प्राचीन काल में मध्य एशिया के साथ भारत के सम्पर्कों का विषय इतना व्यापक है कि उसके निरूपण के लिए एक विशाल ग्रंथ भी पर्याप्त न होगा। अत: यहां हम इन संबंधों के विकास के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चरणों को ही इंगित करेंगे।

मध्य एशिया में प्रस्तर और ताम्र युग की कई सभ्यताओं में उत्तर-पश्चिमी भारत की तत्कालीन सभ्यताओ जैसे लक्षण दिखाई देते हैं। पुरातत्व की दृष्टि से मध्य एशिया, ईरान, अफ़गानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत को एक क्षेत्र माना जा सकता है। दक्षिणी तुर्कमानिस्तान में आद्यभारतीय (हड़प्पा) मोहरों जैसी मोहरों का मिलना यह इंगित करता है कि ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी के अंत में मध्य एशिया और उत्तर-पश्चिमी भारत के बीच सुदृढ़ आर्थिक संबंध थे। ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में आर्य क़बीलों के दल भारत उपमहाद्वीप में पहुंचे। उत्तरी भारत में फैलते हुए तथा स्थानीय आबादी को आत्मसात करते हुए उन्होंने प्राचीन भारतीय सभ्यता के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। भारतीय आर्यों का निकट रिश्ता ईरानीभाषी क़बीलों से था, जो केवल ईरान में ही नहीं, बल्कि मध्य एशिया में भी बसे हुए थे। चूंकि ज्ञात है कि ईरान में आर्य काफ़ी देर से आये थे और उत्तर की ओर से आये थे, इसलिए उनके आद्य इलाक़े को मध्य एशिया के इलाक़े में ढूंढना चाहिए। सोवियत पुरातत्वविदों की नवीनतम खोजें भारतीय-ईरानी क़बीलों की "आद्य जन्मभूमि" और प्राचीनतम देशांतरणों के बारे में रोचक सामग्री पेश करती हैं। बाख़्त्रीय, ख़्वारज़्मी और सोग्दी, आदि मध्य एशिया की ईरानीभाषी जातियों की भौतिक एवं आत्मिक संस्कृति में देर तक वे लक्षण बने रहे जो सभी आर्यों की समान धरोहर थे और इन जातियों को दक्षिण में, भारतीय उपमहाद्वीप में चले गये संबंधी क़बीलों के निकट लाते थे। वैदिक आर्यों के अध्ययन के लिए उनसे संबंधित जानकारियों की ईरानी जातियों (मध्य एशिया में बसी जातियों समेत) से संबंधित जानकारियों से तुलना बहुत महत्त्वपूर्ण है। मध्ययुग में मध्य एशिया में बहुत बड़े परिवर्तन आये – यहां इस्लाम फैला, ईरानी-भाषी आबादी को अंशतः तुर्कों ने आत्मसात कर लिया। तो भी मध्य एशिया की तुर्कीभाषी और मुस्लिम आबादी में भी, जैसे कि ख़्वारज़्म के उज़्बेकों में, ऐसी आस्थाएं और प्रथाएं बनी रहीं, जो प्राचीन भारतीयों की आस्थाओं और प्रथाओं से बहुत मिलती थीं। ये आस्थाएं और प्रथाएं ख़्वारज़्म की आद्य ईरानीभाषी आबादी की संस्कृति की धरोहर थीं। धार्मिक तथा नृजातीय परिवर्तनों के बावजूद मध्य एशिया की आबादी ने बहुत समय तक उन परम्पराओं को बनाये रखा, जो आर्यों के सुदूर अतीत से चली आई थीं।

प्राचीन युग के महान राज्यों के गठन के काल में, विशेषतः ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी के मध्य से, उत्तर-पश्चिमी भारत और मध्य एशिया के इलाक़े प्रायः एक ही राज्य के अंतर्गत होते थे। उदाहरणार्थ, अखामनीष साम्राज्य में मध्य एशियाई प्रांतों – बाख़्त्री, सोग्द और ख़्वारज़्म – के साथ-साथ भारतीय प्रांत – गांधार और हिंदू – भी शामिल थे। राजनीतिक संगठन आर्थिक संबंधों के सुदृढ़ी-करण और संस्कृतियों के मिलन में सहायक था। सिकंदर महान के साम्राज्य

और फिर सेल्यूकिद तथा यूनानी-बाख्त्रीय राज्यों की स्थापना भी बाह्य जगत, विशेषत: अफ़गानिस्तान और मध्य एशिया के साथ भारत के सम्पर्क बढ़ाने में सहायक रही। सीमित जानकारी के बावजूद इस तथ्य पर संदेह करने का कोई आधार नहीं है कि मौर्य वंश के महान सम्राट अशोक के शासन-काल में भी मध्य एशिया के साथ गहरे संबंध थे – अशोक के साम्राज्य की सीमा इससे जो लगती थी। मौर्य वंश के पतन के काल में मध्य एशिया से आये बहुत से लोग उत्तर-पश्चिमी भारत में बस गये और यहां कई ऐसे राज्य बने, जिनके शासक मध्य एशियाई शक वंशों के थे। ईसवी संवत के आरंभ में कुषाण साम्राज्य के दिनों में सम्पर्क विशेषत: सुदृढ़ हुए। इस साम्राज्य में मध्य एशिया, अफ़गानिस्तान और उत्तरी भारत का बड़ा भाग शामिल था। कुषाण साम्राज्य प्राचीन युग के महान साम्राज्यों में से एक था। इधर कुछ समय से इतिहासकार, पुरातत्वविद, भाषाविद और कलाविद इसमें विशेष रुचि ले रहे हैं। १९६८ में सोवियत ताजिकिस्तान की राजधानी दुशांबे में कुषाण काल के अध्ययन की समस्याओं पर एक विशाल अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था। कुषाण साम्राज्य में रुचि का कारण केवल यह नहीं है कि यह प्राचीन युग के सभी विशाल साम्राज्यों में सर्वाधिक रहस्यमय साम्राज्य है, जिसका बहुत कम अध्ययन हुआ है, बल्कि यह भी कि विश्व संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पृष्ठ कुषाणों से संबद्ध हैं। कुषाण वंश का काल सघन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का, विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं, सर्वप्रथम भारतीय, यूनानी और ईरानी संस्कृतियों के व्यापकतम समन्वय का काल है। कुषाण काल में भारतीय सभ्यता का व्यापक प्रसार हुआ। बौद्ध धर्म, जो विश्व धर्म बन रहा था, केंद्रीय एशिया में और वहां से चीन में फैला। वर्तमान मध्य एशियाई सोवियत जनतंत्रों में अनेक महत्त्वपूर्ण बौद्ध स्मारक मिले हैं, जिनसे यह पता चलता है कि प्राचीन युग में एशिया में बौद्ध धर्म के प्रसार में इन प्रदेशों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। मुस्लिम विजयों के दिनों तक इस इलाक़े में भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव प्रबल था, जिसके साक्षी हैं बौद्ध मठों में मिली वस्तुएं, भारतीय अभिलेख तथा अन्य बहुत सी चीज़ें। इस्लामपूर्व मध्य एशिया में भारतीय साहित्य की रचनाएं मूल रूप में भी और अनुवाद में भी ज्ञात थीं। सोग्दी हस्तलिपियों के ऐसे अंश बचे रहे हैं, जिनमें न केवल बौद्ध ग्रंथों के, बल्कि 'पंचतंत्र' की कथाओं के भी अनुवाद हैं। भित्तिचित्रों की शैली पर भी (उदाहरणत:, पंजीक़ंद के पास मिले भित्ति-चित्रों पर) भारतीय प्रभाव देखा जा सकता है। ये चित्र इस बात के साक्षी हैं कि चित्रकार और उनसे चित्र बनवाने वाले दोनों ही भारतीय उपदेशात्मक ग्रंथों से भी और महाकाव्यों से भी परिचित थे। यहा यह स्मरणीय है कि मध्य एशिया की प्राचीन संस्कृति का अभी पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है अत: भविष्य में मध्य एशिया और भारत के संबंधो के बारे मे सामग्री बहुत बढ़ने की आशा की जा सकती है।

ARAL SEA
KHOREZM
Syr Darya
Amu Darya (Oxus)
Lake Balkhash
Bukhara
Samarkand
FERGANA
TIEN SHAN Mts
Tarim River
Merv
Kashgar
Termez
Bactra
BACTRIA
PAMIRS
Yarkand
HINDU KUSH
Herat
Surkh-Kotal
Khotan
Begram
Kabul
Peshawar
Taxila
Indus
Sui Vihar
SIND
Mathura
Ganges
KATHIAWAR
ARABIAN SEA

कुषाण साम्राज्य

प्रत्यक्षत:, भारत और मध्य एशिया के बीच व्यापार बहुत पहले से हो रहा था। भारतीय शब्द "सार्थ" तो मध्य एशिया की आवासित ईरानीभाषी आबादी का नाम ही बन गया। रूसी विद्वान अकादमीशियन वसीली बर्तोल्द (१८६९-१९३०) का यह मत था कि बुख़ारा नाम संस्कृत के "विहार" से बना है, जो बौद्ध मठ के लिए प्रयुक्त होता था। बुख़ारा और समरकंद दोनों ही शहरों में "नौबहार" नाम का दरवाज़ा था। अकादमीशियन बर्तोल्द यह मानते थे कि इस नाम में भी "विहार" की ओर, किसी ज़माने में नगर के दरवाज़े के बाहर स्थित बौद्ध विहार की ओर इशारा है। बुख़ारा में ऐसे "विहार" के स्थान पर कालांतर में मुस्लिम धार्मिक स्थल बन गया। मुस्लिम धार्मिक शिक्षालय – मदरसा – को भी वे बौद्ध विहार के नमूने पर बना मानते थे। उनके विचार में यह अकारण ही नहीं था कि सबसे पहले मदरसे मुस्लिम जगत के पूर्वी इलाक़ों में ही बने थे। मध्य एशिया में उन दिनों विकसित हो रही नई मुस्लिम संस्कृति के गर्भ में प्राय: भारत से मिलती-जुलती परम्पराएं देखी जा सकती हैं, जिनकी व्याख्या या तो समान उत्पत्ति से, या फिर सांस्कृतिक प्रभाव से ही की जा सकती है।

मुस्लिम विजयों के पश्चात मध्य एशिया इस्लामी जगत का अंग बन गया। इसका साहित्य मुख्यत: अरबी और फ़ारसी में रचा जाने लगा। अरब खिलाफ़त की संस्कृति पर भारतीय प्रभाव कुल जमा निर्विवाद है। आदि अरब साहित्य में ही भारत की एक निश्चित छवि बन गई थी, जो लगभग हर रचना में दोहराई जाती थी। एक ओर, भारत की कल्पना चमत्कारों के देश के रूप में की जाती थी, जहां यात्री कल्पनातीत अनुभव पाता है और दूसरे जनगण से आगत तथा प्राचीन अरब किंवदंतियों का संबंध भारत से जोड़ा जाता था। दूसरी ओर, अरब साहित्य में काफ़ी पहले से ही भारत के भूगोल के बारे में, व्यापार के मार्गों और भारतीय माल के बारे में विश्वसनीय जानकारी मिलती है, जोकि प्रत्यक्षत: निकट और मध्य पूर्व के साथ भारत के पुराने और काफ़ी सुदृढ़ संबंधों का प्रतिबिम्ब है। आठवीं सदी का उत्तरार्द्ध भारत-अरब संबंधों के लिए विशेषत: महत्त्वपूर्ण था। खलीफ़ा अल-मंसूर और हारू अल-रशीद के दरबारों में भारत से दूत आते थे। इन दूतमंडलों में प्राय: भारतीय विद्वान भी होते थे। आठवीं सदी में खिलाफ़त में भारतीय साहित्य से व्यापक परिचय हो रहा था। भारतीय साहित्य की रचनाओं का फ़ारसी से या भारतीय विद्वानों की सहायता से सीधे ही अरबी में अनुवाद किया गया। वैज्ञानिक साहित्य में खगोलविद्या पर भारतीय पुस्तकें, जैसे कि ब्रह्मगुप्त का ग्रंथ तथा आयुर्वेद और गणित पर पुस्तकें प्रसिद्ध हुईं। 'कलीला-ओ-दाना' ('पंचतंत्र' का फ़ारसी और अरबी में अनुवाद) जैसी शिक्षात्मक रचनाएं बहुत लोकप्रिय हुईं। भारतीय साहित्य से अनेक कथानक उन दिनों अरबी साहित्य में आये। यह भी रोचक है कि "कथा के अंदर कथा" की भारतीय संरचना ही 'अलिफ़-लैला' जैसी अमर साहित्यिक कृति का आधार बनी। हारू

अल-रशीद के वज़ीर याहिया इब्न हमीद बरमाकी ने औषधियां लाने और भारतीय वनस्पतियों के बारे में जानकारी जमा करने के लिए अपने दूत भारत भेजे थे। वह अनुवादकों को प्रश्रय देता था, जो अरबों को विभिन्न विषयों – ज्योतिष और विष, हस्तरेखाओं और दर्शन, काव्यशास्त्र, आदि – पर भारतीय पुस्तकों से परिचित कराते थे। उन दिनों भारतीय विश्वासों, रीति-रिवाजों का वर्णन करने वाले ग्रंथ भी रचे गये। इस विशाल कार्य में मध्य एशिया के निवासियों का भी ख़ासा बड़ा योगदान था, जो बहुत पहले से ही भारत से संबद्ध थे। याहिया इब्न हमीद की भारत में रुचि का एक कारण शायद यह भी था कि उसके कुटुंब के भारत के साथ पुराने संबंध थे। अनुमान है कि उसका पूर्वज – बरमाक – बल्ख़ के बौद्ध विहार में सेवक था। मुहम्मद इब्न-मूसा अल-ख़्वारज़्मी ने भारत के एक खगोलवैज्ञानिक ग्रंथ का अरबी में अनुवाद किया और इस तरह अरबों में भारतीय खगोलविद्या का ज्ञान फैलाया। अल-ख़्वारज़्मी ने ही गणित पर एक पुस्तक लिखी, जिसकी सहायता से न केवल अरब जगत, बल्कि मध्ययुगीन यूरोप भी (१२वीं सदी में लातिनी भाषा में हुए अनुवाद की बदौलत) भारतीय गणना प्रणाली से परिचित हुआ। खिलाफ़त के सांस्कृतिक केंद्र – बग़दाद और दमिश्क – भारत और मध्य एशिया के विद्वानों की भेंटों का स्थान थे।

११वीं सदी के आरंभ तक अरब विज्ञान में, जिसमें मध्य एशिया में रह रहे विद्वानों का भी योगदान था, भारत के बारे में काफ़ी जानकारी संचित कर ली गई। उदाहरणतः, स्वनामधन्य विद्वान इब्न-सीना के 'अल-क़ानून-फ़ीत्तिब' में भारतीय औषधियों और उपचार विधियों का प्रायः उल्लेख आता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह ८वीं सदी में अरबी में हुए चरक-संहिता के अनुवाद से परिचित थे।

मध्य युग में मध्य एशिया और भारत के बीच सांस्कृतिक संबंधों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पृष्ठ **अबुरेहान मुहम्मद अल-बरूनी** (९७३-१०४८) ने लिखा। बरूनी का जन्म ख़्वारज़्म के मुख्य नगर कात में हुआ। जीवनपर्यंत वे स्वयं को ख़्वारज़्मी ही मानते रहे, उनका कहना था कि अरबी और फ़ारसी दोनों ही भाषाओं में वे "आगंतुक" हैं। छोटी उम्र से ही बरूनी ने असाधारण जिज्ञासा दर्शाई। उनके विविध ग्रंथों में यह स्पष्टतः अनुभव होता है कि उन्हें अनेक भाषाओं के साहित्य का गहरा ज्ञान था – न केवल फ़ारसी और अरबी, बल्कि सोग्दी, शामी, इब्रानी (हिब्रू), संस्कृत और शायद प्राचीन यूनानी भाषाओं में लिखी रचनाओं का।

अल-बरूनी का यौवन ख़्वारज़्म में बीता, यहां उन्होंने राजनीतिक जीवन में भाग लिया और यहीं उन्होंने एक विद्वान के गुण पाये। संभवतः भारत में अल-बरूनी की रुचि काफ़ी जल्दी ही जाग गई थी, क्योंकि अपने पहले विश्वकोशात्मक ग्रंथ 'असर-अल-बक़ीयत' में ही वे भारत के बारे में अरबी साहित्य के विशाद ज्ञान का परिचय दे देते हैं। १०१७ में महमूद ग़ज़नवी की फ़ौजों ने ख़्वारज़्म को

सर कर लिया और अल-बरूनी को अपने साथ ग़ज़नी ले गयीं। महमूद ग़ज़नवी ने भारत पर भी कई चढ़ाइयां कीं और वहां के कुछ इलाक़े पर क़ब्ज़ा कर लिया।

प्रत्यक्षतः महमूद ग़ज़नवी की फ़ौजों के साथ महान ख्वारज़्मी विद्वान काबुल की घाटी, पंजाब और मुल्तान गया। अल-बरूनी काफ़ी समय तक भारत में रहे। नंदन क़िले में उन्होंने पृथ्वी के व्यास की आश्चर्यजनक सही गणना की। अल-बरूनी के महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष भारत उपमहाद्वीप के भौगोलिक अतीत के बारे में हमारे आधुनिक विज्ञान की जानकारी के अग्रदूत थे। महमूद ग़ज़नवी की चढ़ाइयों के फलस्वरूप ही अल-बरूनी भारत पहुंचे थे, लेकिन वे विजेता नहीं थे, बल्कि विजित ख्वारज़्मी लोगों के प्रतिनिधि थे। महमूद ग़ज़नवी के अधीन अल-बरूनी की स्थिति स्वतंत्र नहीं थी। स्वाभाविक ही है कि अल-बरूनी महमूद ग़ज़नवी के "जिहाद" के प्रति अपना रुख़ अपनी रचनाओं में व्यक्त नहीं कर सकते थे। लेकिन यह बात निर्विवाद है कि विजित जनगण और उनकी प्राचीन संस्कृति के प्रति उनके मन में गहरा आदर था और वे उनमें गहरी रुचि लेते थे।

अल-बरूनी की सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'क़िताबुल-हिंद' है, जिसे संक्षेप में 'अल-हिंद' भी कहा जाता है। १०३० में उन्होंने इसे लिखना पूरा किया। बरूनी से पहले भी अरब विद्वान भारत में रुचि लेते रहे थे और उनके समसामयिक विद्वानों में भी "भारतीय विद्या के अनेक अध्यवसायी प्रशंसक" थे। कुछ रचनाओं में, जो बची नहीं रही हैं, कतिपय धार्मिक-दार्शनिक प्रश्नों पर विवाद किया गया था। वैसे बरूनी की टिप्पणियों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन रचनाओं में भारत के धर्म और दर्शन के बारे में जानकारी प्रामाणिक नहीं थी। अल-बरूनी अपने स्वभाव के अनुसार पूरी गहराई से इस समस्या के अध्ययन में जुट गये। सुविख्यात रूसी प्राच्यविद अकादमीशियन वीक्तोर रोज़ेन (१८४९-१९०८) ने 'अल-हिंद' को "अपने ढंग का एकमात्र ग्रंथ" कहा था, जिसके समान ग्रंथ "पश्चिम और पूरब के समस्त प्राचीन व मध्ययुगीन साहित्य में नहीं है"। 'अल-हिंद' का ऐसा मूल्यांकन वैज्ञानिक साहित्य में प्रायः देखने को मिलता है। इस ग्रंथ का अंतर्य बहुत व्यापक है। अल-बरूनी की यह पुस्तक भारतीय धर्म, दर्शन, विज्ञान, साहित्य, रीतियों, प्रथाओं, अनुष्ठानों, रस्मों का विश्वकोश है। कुल जमा यह भारतीय सभ्यता की लाक्षणिक विशिष्टताओं की यथासंभव पूर्ण संहिता है। मध्ययुग में न इससे पहले और न इसके बाद में ही किसी भी सभ्यता का इतना विस्तृत विवरण किया गया। अपने इस ग्रंथ की रचना के लिए अल-बरूनी ने संस्कृत सीखी, भगवद्गीता, 'पातंजल' तथा गौड़पाद-कृत सांख्य-कारिका टीका जैसे ग्रंथ मूल में पढ़े। अपने ग्रंथ में वे प्रायः खगोलविद्या के सिद्धांतों और पुराणों (विष्णुपुराण और विष्णुधर्मोत्तर) का हवाला देते हैं। इस ग्रंथ की रचना के लिए उन्हें अनेक कठिनाइयां लांघनी पड़ीं। भाषा सीखने तथा हस्तलिपियों की खोज करने और उन्हें पढ़ने का काम ही काफ़ी कठिन था। अल-बरूनी लिखते हैं:

"... जहां कहीं भी भारतीय पुस्तकों के होने का अनुमान लगाया जा सकता था, वहां-वहां उन्हें जमा करने के लिए मैंने कंजूसी बरते बिना यथासंभव अपनी सारी शक्ति और साधन लगाये, उन लोगों की खोज की, जो यह जानते थे कि ये पुस्तकें कहां छिपाई गई हैं।" एक सबसे गंभीर बाधा थी विभिन्न सभ्यताओं के बीच—इस्लाम के प्रतिनिधि और हिंदू विद्वानों के बीच—समझ के अभाव की दीवार। अल-बरूनी के समसामयिक भारतीय विद्वान "अपनी विद्या दूसरों को प्रदान करने में कृपणता दिखाते थे" और "शास्त्रों से संबंध न रखने वाले भारतीयों से भी अपनी विद्या को दूर रखते थे, औरों की तो बात ही क्या।" वे तो यह "कल्पना तक नहीं करते थे कि किसी और जाति की भी कोई विद्या या ज्ञान हो सकता है।"

"भारतीयों और सभी विदेशियों" के बीच विमुखता के कारण राजनीतिक और धार्मिक थे। अल-बरूनी ने इस विमुखता को खत्म करने का ध्येय रखा। अपने पाठकों को उन्होंने चेताया कि उनके ग्रंथ में भारतीयों के दृष्टिकोणों की समीक्षा इतनी नहीं है, जितनी कि उनकी सही-सही प्रस्तुति। यह देखकर आश्चर्य होता है कि अल-बरूनी ने पराये धर्म का वर्णन कितनी निष्पक्षता से किया और भारतीय दार्शनिक सिद्धांतों की जटिलतम अवधारणाओं को कितने सही ढंग से प्रस्तुत किया।

संस्कृत का उनका ज्ञान कितना विशद और गहन था, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि 'अल-हिंद' में ढाई हजार से अधिक संस्कृत शब्द आये हैं। पर अल-बरूनी ने अपनी जानकारी केवल लिखित स्रोतों से ही नहीं हासिल की थी। भारतीयों के साथ उनका संसर्ग तथा भारत में बिताये दिनों में उनके निजी प्रेक्षणों का महत्त्व भी कम नहीं था। अल-बरूनी ने संस्कृत शब्दों का जो लिप्यंतरण दिया है, उसमें उनके स्थानीय शिक्षकों के उच्चारण का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अल-बरूनी ने अनेक बार इस बात का उल्लेख किया है कि भारतीयों ने उन्हें अपने शास्त्रों या धार्मिक ग्रंथों का अनुवाद या पुनर्कथन करके दिया। निस्संदेह अधिकांश सूचना उन्होंने ब्राह्मणों से ही पाई। अल-बरूनी सदा विभिन्न व्यक्तियों और लिखित स्रोतों से प्राप्त जानकारी की तुलना करते थे। उन्हें संस्कृत का इतना ज्ञान था कि वे स्वयं ही अनुवाद कर सकते थे। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अल-बरूनी ने संस्कृत के ग्रंथों का अरबी में अनुवाद तो किया ही, साथ ही अरबी के ग्रंथों का संस्कृत में अनुवाद भी किया। इस तरह दो महान सांस्कृतिक परम्पराओं के बीच उन्होंने मध्यस्थ का काम किया। 'अल-हिंद' तथा दूसरी रचनाओं में कहीं-कहीं अल-बरूनी ने भारतीय विद्वानों की उनकी अहंमन्यता, कूपमंडूकता, स्वार्थ, सिद्धांत में आर्ष प्रमाणों के तथा व्यवहार में अभिचार व मंत्रों के दुरुपयोग के लिए आलोचना की है। लेकिन यह आलोचना सदा साधार और लक्ष्यबद्ध है। यह सभी भारतीयों की नहीं, बल्कि जनता के अंधविश्वासों का लाभ उठाने वाले लोभी ब्राह्मणों तथा उन अहंकारी सवर्ण विद्वानों

की आलोचना थी, जो भारत की प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर में जो कुछ श्लाघ्य है, उसे कलुषित करते थे। मुस्लिमों के लिए अस्वीकार्य भारतीय रीतियों और दृष्टिकोणों का विवरण देते हुए भी अल-बरूनी आश्चर्यजनक वैज्ञानिक निष्पक्षता तथा भारत के प्रति आदर बनाये रखते हैं। अपने से भिन्न संस्कृति के दोष निकालना या उसकी हंसी उड़ाना उनका ध्येय नहीं है, वे तो उसे यथासंभव अधिक गहराई से समझने और उसमें जो सर्वाधिक मूल्यवान है, उसे आत्मसात करने की चेष्टा करते हैं। "मैं सत्य के रत्न को ग्रहण करने में नहीं हिचकता हूं, चाहे किसी भी 'खान' में वह मुझे मिले," अल-बरूनी कहते हैं। इस संबंध में अल-बरूनी ने अरब विद्वानों के श्रेष्ठ प्रतिनिधियों, जैसे कि ईरान-शहरी, की परम्परा जारी रखी। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह सहिष्णुता कुछ हद तक ख्वारज़्म के वातावरण से भी विकसित हुई। ख्वारज़्म मुस्लिम जगत के सीमांत पर स्थित था और यहां विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं का संगम हुआ।

अल-बरूनी की सभी रचनाओं में भारत के प्रति रुचि और इस देश का ज्ञान प्रकट होता है। "किताब-अल-सईदाना-फ़ीत्तिब्ब' में बरूनी ने औषधियों, जड़ी-बूटियों, रोगों के कई सौ भारतीय नाम दिये हैं और भारतीय वैद्यों के प्रति अपना प्रशंसा भाव व्यक्त करते हुए लिखा है कि वे "आश्चर्यजनक सही निदान करते हैं"। किताब-अल-जमाहिर फ़ी म'रिफ़त अलजवाहिर' में उन्होंने पत्थरों के भारतीय नाम दिये हैं और कहीं-कहीं भारतीयों के आचार-व्यवहार व रीतियों के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी भी दी है। १०३५ ई० के आसपास अल-बरूनी ने अपनी रचनाओं की जो पूर्ण सूची बनाई उसमें भारत से सीधे-सीधे संबंधित बीस से अधिक रचनाएं थीं—ज्योतिषविद्या के भारतीय सिद्धांतों के बारे में, ब्रह्मसिद्धांत में दी गई गणित पद्धतियों के बारे में, भारतीय खगोलशास्त्रियों और कश्मीरी पंडितों के प्रश्नों के उत्तर, इत्यादि। अल-बरूनी ने रोगों के बारे में भारतीय ग्रंथ का तथा "संसार के बंधनों से मुक्ति" के बारे में दार्शनिक रचना 'पातंजल' का और 'नीलकमल' की भारतीय कथा का अनुवाद किया। 'पंचतंत्र' का नया अनुवाद भी वह तैयार कर रहे थे। खेदवश इनमें से सभी रचनाएं नहीं बची रहीं। कुछ हाल ही में मिली हैं और इनका अध्ययन अभी शुरू ही हुआ है। कालांतर में कुछ अरब ग्रंथों में यह कहा गया कि अल-बरूनी भारत से आये थे। निस्संदेह, ऐसी धारणा इसलिए बनी कि इस देश की संस्कृति और जीवन में अल-बरूनी की रुचि व ज्ञान ने भारत को उनकी दूसरी मातृभूमि बना दिया था।

सोवियत संघ में बरूनी के जीवन और रचनाओं के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उनके बारे में ग्रंथ और लेख-संग्रह प्रकाशित होते हैं, स्वयं उनकी रचनाएं एक साथ ही रूसी और उज़्बेक भाषाओं में प्रकाशित की जाती हैं। अल-बरूनी विस्तृत मुस्लिम जगत के विज्ञान के प्रतिनिधि थे,

तथापि सोवियत संघ में उचित ही इस बात पर गर्व किया जाता है कि इस विद्वान की जन्मभूमि ख्वारज़्म थी।

१३वीं-१४वीं सदियों में भारत और मध्य एशिया के बीच सक्रिय सम्पर्क स्थापित हो गये थे। दिल्ली सल्तनत के अमीर-उमरा अपने मूल, रिश्तेदारी और धर्म के सूत्रों से मध्य एशिया से बंधे हुए थे। १२२१ में ख्वारज़्म का आखिरी शाह जलालुद्दीन मंगोल हमले से बचने के लिए भागकर भारत ही गया था। १४वीं सदी में भी मध्य एशिया के बहुत से अमीर-उमरा तुग़लक़ के राज में जा बसे थे। भारतीय संस्कृति के कई उजले सितारे मध्य एशिया में ही उदय हुए थे। १२वीं-१३वीं सदी के मशहूर लेखक मुहम्मद औफ़ी का जन्म बुखारा में हुआ और जीवन दिल्ली में बीता, वहीं उनका इंतक़ाल हुआ। उनकी पुस्तक 'जामी-अल-हिकायत वा लवामी-अल-रिवायत' में मावराननहर और भारत के बारे में कहानियां हैं। फ़ारसी के शायरों का जो संकलन उन्होंने तैयार किया, उसमें मध्य एशिया, अफ़ग़ानिस्तान, ईरान और भारत के शायरों की रचनाएं हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से ये इलाक़े एक क्षेत्र ही थे। महान भारतीय कवि अमीर ख़ुसरो देहलवी के पूर्वज मध्य एशिया के शहरे सब्ज़ से भारत आकर बसे थे। उज़्बेक साहित्य के कालजयी रचनाकार अलीशेर नवाई पर अमीर ख़ुसरो का प्रभाव सुज्ञात है। १४वीं सदी के भारतीय शायर बदरुद्दीन चाची का जन्मस्थल ताशक़ंद था। तैमूरलंग की भारत पर चढ़ाइयों के बाद वहां से बहुत से भारतीय कारीगर समरक़ंद लाये गये थे, जिन्होंने बीबी-ख़ानुम जामा मस्जिद के निर्माण में भाग लिया। मध्य एशिया में अभी हाल ही तक ऐसी बस्तियां थीं, जिनके नामों में "हिंदवी" शब्द शामिल था। जनश्रुति के अनुसार यहां तैमूर द्वारा लाये गये भारतीय रहते थे। १५वीं सदी में दिल्ली तैमूर के बेटे शाहरुख़ के अधीन थी। शाहरुख़ की सरकार के बंगाल, कालिकट और विजयनगर के साथ घनिष्ठ सम्पर्क थे। उन दिनों भारतीय राज्यों को भेजे गये एक दूतमंडल का नेतृत्व अब्दुर्रज़्ज़ाक समरक़ंदी ने किया था, जिसने भारत के बारे में बहुत रोचक नोट छोड़े – यह 'अल-हिंद' के बाद इस विषय पर एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। समरक़ंदी की इस रचना में भारत की सम्पदाओं, वहां के क़िलों, दरबार की प्रथाओं, आबादी की आस्थाओं, मंदिरों, त्योहारों आदि के बारे में बहुत सी सामग्री है।

१५वीं सदी में मध्य एशिया के कवियों – नवाई, जामी – और भारतीय कवियों के बीच सम्पर्क बने रहे।

१६वीं सदी के आरंभ में तैमूर वंश के फ़रग़ना के शासक बाबर ने दिल्ली जीत ली। बाबर ने महान मुग़ल वंश की नींव रखी। 'बाबरनामा' में उसने भारत को "हैरतअंगेज़ मुल्क" कहा है। वह इस देश पर विमुग्ध था, पर फिर भी अंतिम दिन तक अपनी जन्मभूमि की याद उसे सताती रही। बाबर के वंशजों

ने मध्य एशिया के साथ सम्पर्क बनाये रखे। दूतमंडल नियमित रूप से आते-जाते रहते थे और व्यापारियों के क़ाफ़िले भी। मध्य एशिया के विद्वान, शायर, क़लमनवीस और ख़ुशनवीस अकबर और औरंगज़ेब के दिनों में भारत आते रहे। मध्य एशिया की शायरी में "भारतीय शैली" का प्रचलन हुआ। ब्रिटेन द्वारा भारत को जीते जाने के बाद इस देश के बाह्य सम्पर्कों में कमी आई, तो भी १९वीं सदी के अंत तक मध्य एशिया के साथ न्यूनाधिक घनिष्ठ संबंध बने रहे।

* * *

भारत और काकेशिया-पार के इलाक़े के बीच पहले सम्पर्क भी सुदूर अतीत में स्थापित हुए थे। पुरायुगीन भूगोलवेत्ता स्ट्रेबो ने काकेशियाई अल्बानिया से गुज़रने वाले व्यापार मार्ग का ज़िक्र किया था, जिससे भारतीय माल काला सागर तक पहुचता था। स्ट्रेबो की जानकारी का स्रोत ई० पू० तीसरी शताब्दी में कास्पियन सागर के निकटवर्ती प्रदेश के क्षत्रप पेट्रोक्लीज़ की सूचनाए थीं। वर्रो का हवाला देते हुए रोमन भूगोलवेत्ता प्लिनी वरिष्ठ ने भी भारत से आरंभ होकर बाख़्त्री राज्य से गुज़रते कास्पियन सागर और कूरा नदी को पार करते हुए काला सागर के तट पर फ़ासिस (आधुनिक पोती) नगर तक के रास्ते का वर्णन किया था। काकेशिया-पार क्षेत्र में पुरातात्त्विक खुदाई में मिली भारतीय कौडियों तथा त्बिलिसी नगर के इलाक़े में द्वितीय शती ई० पू० के बाख़्त्रीय सिक्के, आदि वस्तुओं की खोज को इस क्षेत्र और भारत के बीच प्राचीन संबंधों का एक प्रमाण माना जा सकता है।

काकेशिया-पार के जनगण में से एक – आर्मीनियाई लोगों – के मिथकों में भारतीय मिथकों से मिलती-जुलती बहुत सी बातें हैं। यह बात निर्धारित हुए तो काफ़ी समय हो चुका है कि प्राचीन आर्मीनियाइयों का वाहाग्न देवता वैदिक इंद्र (वृत्रघ्न – ईरानी वेरेत्रग्न) के समरूप था। आर्मीनिया के ईसाई बनने पर कई पुराने सम्प्रदाय प्रच्छन्न रूप में बने रहे, पुराने देवी-देवताओं के लक्षण ईसाई संतों पर आरोपित कर दिये गये, उदाहरणतः, वाहाग्न के लक्षण संत कारापेत के मान लिये गये। प्राचीन आर्मीनियाई और वैदिक मिथकों की समानता कुछ हद तक सामान्य भारोपीय मूल से उत्पन्न हो सकती है, किंतु मुख्यतः यह कालांतर में आर्मीनियों पर ईरानी प्रभाव का फल है। द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के ख़ुर्रीतों के ग्रंथों में आर्य शब्दावली तथा भारत के वैदिक आर्यों के सहजातीय कुछ क़बीलों के काकेशिया के पार देशांतरण की संभावना विशेष समस्याएं हैं। द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० में काकेशिया-पार में आर्य संभवतः इस क्षेत्र की प्राचीन सांस्कृतिक परंपराओं पर अपनी छाप छोड़ गये हों।

प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य में आर्मीनिया के, जो अख़ामनीषी वंश के राज्य में शामिल था, फ़ारस के भारतीय क्षत्रपों के साथ सीधे संबंध हो सकते

थे। ये संबध यूनान-प्रभावित काल में भी बने रहे होगे। प्राचीन आर्मीनियाई साहित्य में आर्मीनिया के तरोन क्षेत्र मे भारतीय बस्ती के होने की दतकथा मिलती है। 'तरोन के इतिहास' में, जो युहन्ना ममिकोन्यान द्वारा लिखित माना जाता है, दो भारतीय राजकुमारो देमेत्र और गिसाने के बारे में बताया गया है, जो भारत से भागकर पार्थिया के रास्ते आर्मीनिया पहुचे। देमेत्र और गिसाने को देवता मानने वाली "भारतीय बस्ती" चौथी सदी ई० के आरभ तक बनी रही कही जाती है, यानी आर्मीनिया के ईसाई बनने तक। इस जनश्रुति की ऐतिहासिक प्रामाणिकता संदेहास्पद है, क्योकि देमेत्र स्पष्टत: यूनानी नाम है और गिसाने नाम के लिए प्राय: आर्मीनियाई निरुक्ति पाई जाती है। तो भी जन-परम्परा ममि-कोन्यानो के कुलीन वंश का निकास इस बस्ती से ही जोड़ती है और फ़िलहाल इस सभावना को निश्चित रूप से नही नकारा जा सकता कि उत्तर-पश्चिमी भारत या उसके समीपवर्ती इलाको, उदाहरणत:, बाख्त्री से कुछ लोग आर्मीनिया आकर बस गये थे।

ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने के पश्चात लिखित आर्मीनियाई साहित्य बना। इसमे भारत के बारे में जो जानकारी है, वह मूलत: सीरियाई और यूनानी साहित्य से ली गई है। आर्मीनियाई भाषा मे अनूदित पहले ग्रथो मे कैलीस्थेनीज़ के नाम से लिखी गयी 'फ़िज़ियोलोगस' और 'अलेक्सान्द्रिया' भी हैं, अर्थात वे रचनाएं, जो मध्ययुग मे दूसरे ईसाई जनगण मे भी लोकप्रिय थी और जिनमे भारत का उल्लेख था। साथ ही प्राचीन आर्मीनियाई साहित्य की रचनाओं में तत्कालीन भारत के राजनीतिक इतिहास और भूगोल पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके लिए यूनानी, सीरियाई और संभवत: ईरानी स्रोतो से जानकारी पाई गई। आर्मी-नियाई इतिहासकार मूसा खोरेनी (५वी सदी) ने भारत की सीमाओ के पास खुसरो और अर्दाशेर के सघर्ष के बारे में तथा चौथी सदी में ससानिद वश के साथ भारत के परस्पर सबधो के बारे मे बताया है। इसी काल के दूसरे इति-हासकार येगिशे ने कुषाणो के बीच और आगे भारत तक ईसाई धर्म के फैलने की बात कही है। कुषाणो के बारे में जानकारी फ़ौरन बैज़ंतियाई की तथा प्रथम सहस्राब्दी ई० के मध्य के दूसरे आर्मीनियाई लेखको की रचनाओं मे भी पाई जाती है।

बैज़ंतिया वासियो के साथ काकेशिया-पार के लोग भी भारत जाते थे। भारत के मार्गो के यूनानी विवरणो – 'पथदर्शिकाओ' – के जार्जियाई रूपातर बचे रहे हैं। इन पुस्तको में उत्तरपुरायुगीन और आदिबैज़ंतियाई साहित्य के लिए लाक्षणिक भारत सबंधी धारणाएं प्रतिबिम्बित हुई हैं। इनमे भारत के रत्नो तथा वहा के लोगो की असाधारण दीर्घायु के बारे मे, फ़िसोन नदी के तट पर रहने वाले साधु-महात्माओ के बारे में बताया गया है, जो "न ख्रीस्त के साथ है, न ख्रीस्त के अनुयायी है", "लेकिन सब ईश्वर का भय मानते है और सच्चे हैं।" ७वी

सदी की एक आर्मीनियाई भूगोल पुस्तक में भी, जो अब अनानी शिराकात्सी की लिखी मानी जाती है, ऐसी ही जानकारी दी गई है। भारत के वर्णन में इस देश के वास्तविक जीव-जंतुओं – मगरमच्छों, बंदरों, हाथियों – के साथ-साथ कल्पनाजनित जीवों – "सिंहचींटी" आदि का भी उल्लेख है, "हिम्नो-सोफिस्टों" (नागा साधुओं) का भी ज़िक्र है, जो "पाप नहीं करते और पशुओं का मांस नहीं खाते।" भारत के विवरण में इस 'भूगोल' के लेखक ने पैप्पुस सिकंदरियाई और कोस्मस इंदिकोप्लेउस्तस जैसे पुरायुगीन और आदिबैज़ंतियाई लेखकों का अनुसरण किया। संभवत: सीरियाई लोगों के साथ आर्मीनियाई भी दक्षिण भारत पहुंचते रहे होंगे। इस बात का उल्लेख मिलता है कि ८वीं सदी में फ़ोमा (थॉमस) नाम का आर्मीनियाई मालाबार में व्यापार करता था।

प्रथम सहस्राब्दी ई० के अंत तक 'बर्लाम और जोआसफ़ की कथा' के सीरियाई या अरबी रूपांतर के आधार पर इसका जार्जियाई रूपांतर 'बालावरियानी' बना। यह कथा बहुत लोकप्रिय हुई, जिसका प्रमाण यह है कि 'बालावरियानी' के कतिपय जार्जियाई रूपांतर मिलते हैं। जार्जियाई 'बालावरियानी' विशेषत: रोचक है, क्योंकि कुछ यूनानी हस्तलिपियों के अनुसार इस कथा का यूनानी रूपांतर जार्जियाई से किया गया अनुवाद ही है और यह अनुवाद किया था येफ़ीमी इवेर जार्जियाई ने। यदि इस सूचना को सच माना जाये तो जार्जियाई 'बालावरियानी' ही वह ग्रंथ है, जिसकी बदौलत सभी ईसाई देशों में "भारतीय राजकुमार" (बोधिसत्व) का जीवनचरित फैला। इसकी बदौलत मध्ययुगीन यूरोप ने भारत का अपना बिम्ब बनाया। 'भारतीय राजकुमार जोआसफ़ का चरित' आर्मीनियाई साहित्य का अंग भी बना।

'अलेक्सान्द्रिया', 'बर्लाम और जोआसफ़ की कथा', आदि अनूदित ग्रंथों तथा भारत से संबंधित अन्य रचनाओं के प्रभाव में आर्मीनियाई और जार्जियाई साहित्य में इस दूरवर्ती पूर्वी देश का बिम्ब बना। १२वीं सदी के कालजयी कवि शोता रुस्तावेली द्वारा रचित काव्य 'व्याघ्रचर्मधारी वीर' का नायक तरिएल और नायिका नेस्तान दरेजान को काव्य में भारतीय बताया गया है। कवि ने तरिएल के पिता को "हिंदुस्तान का एक राजा" और स्वयं तरिएल को "हिंदों का शहंशाह" कहा है। बेशक रुस्तावेली का हिंदुस्तान काल्पनिक है, सांकेतिक है, तो भी काव्य में उसे स्थान दिया जाना यह दर्शाता है कि भारत का बिम्ब पाठकों के मन में कितना गहरा बैठा हुआ था और कितना लोकप्रिय था। रुस्तावेली के काव्य में भारत और उसके आस-पास के देशों के बारे में कुछ वास्तविक जानकारी भी देखी जा सकती है। काव्य के कुछ भागों पर 'बालावरियानी' का प्रभाव महसूस होता है।

अन्य इलाकों की भांति काकेशिया-पार में भी 'अलेक्सान्द्रिया' लोकप्रिय थी, जिसमें भारत के बारे में भी बताया गया था। १३वीं सदी में आर्मीनियाई

लेखक खचातुर केचारेत्सी ने 'सिकंदर की कथा' लिखी। फारसीभाषी आज़रबैजानी साहित्य के कालजयी लेखक निज़ामी गजवी ने १३वीं सदी में 'सिकंदर-नामा' में सिकंदर महान के भारत अभियान तथा वहां भारतीय मनीषियों के साथ उसकी वार्ताओं का वर्णन किया। निज़ामी के इस काव्य का निश्चित प्रभाव अमीर खुसरो देहलवी के ऐसे ही काव्य पर पड़ा।

१५वीं सदी तक भारत के साथ काकेशिया-पार के संबंधों के बारे में जानकारी आंशिक और सायोगिक है, लेकिन इसमें कोई सदेह नही कि ये सबंध कभी भी पूरी तरह भंग नही हुए। इसका एक प्रमाण है मध्ययुगीन आर्मीनियाई साहित्य में भारत के भूगोल के बारे में उपलब्ध जानकारी। उदाहरणत , १२वीं सदी में आर्मीनिया में भारत की 'मार्गदर्शिका' लिखी गई। व्यापारियों के अलावा मिशनरी भी भारत पहुचते थे। उदाहरणत , १४वी सदी में तिफलिस (आधुनिक त्बिलिसी) नगर से भारतीय नगर चौल पहुचे एक जार्जियाई मिशनरी का उल्लेख मिलता है। तैमूरलंग ने भारत पर भी और काकेशिया-पार पर भी चढ़ाइयां की थीं। जार्जियाई रजवाड़ों की आबादी के एक भाग को वह पूर्व को ले गया था। बंदियों में से कुछ बहुत साल बाद स्वदेश लौटे। १४४६ में तिफ़लिस में बैज़ंतियाई सम्राट कोन्स्तंतीन ११वें के दूत ने उस जार्जियाई से बातचीत की थी, जो भारत में कुछ समय तक रहने के बाद स्वदेश लौटा था।

१६वी-१७वीं सदियों में काकेशिया-पार और भारत के बीच सुदृढ़ व्यापारिक संबंध क़ायम हो गये। सभी बड़े ईरानी शहरों मे तब तक आर्मीनियाई व्यापारियों की बस्तियां बन चुकी थीं। ईरान के रास्ते आर्मीनियाई व्यापारी भारत जाते थे। १७वी सदी में ईस्ट इंडिया कपनी के कर्मचारी फ्रांसुआ मार्टिन ने लिखा कि मलाबार में "आर्मीनियाई सक्रिय हैं, जो प्राचीन काल से यहा बसे हुए हैं और व्यापार करते हैं ... यहां लाखों के स्वामी आर्मीनियाई परिवार हैं।" मलाबार में आर्मीनियाइयों की संख्या काफ़ी थी। और उनके बारे में १६वीं-१७वीं सदियों के बहुसंख्य दस्तावेज़ उपलब्ध हैं। मद्रास में और फिर बम्बई व कलकत्ता में भी आर्मीनियाइयों की खासी बड़ी बस्तियां बनीं। भारत में आर्मीनियाइयों के कार्यकलापों के स्वर्णिम दिन मुगल साम्राज्य के दौरान आये। अकबर के राज में आगरा मे आर्मीनियाई व्यापारी बसे, जिन्हें स्वयं शहंशाह का प्रश्रय प्राप्त था। आगरा में आर्मीनियाई गिरजा भी बनाया गया। आर्मीनिया के धार्मिक केंद्र एचमियाद्ज़ीन से आर्कबिशप ज़कारिया इस गिरजे में पधारे थे। भारत में आये यूरोपीय यात्रियों और मिशनरियों ने प्राय आर्मीनियाइयों का उल्लेख किया है। इनमें अनेक के नाम भी ज्ञात हैं। अकबर के दरबार में सदर काज़ी अब्दुल-हई आर्मीनियाई था और अकबर की एक पत्नी भी आर्मीनियाई थी। यह भी ज्ञात है कि दरबार में आर्मीनियाई हकीम और पुर्तगाली से तर्जुमा करने वाला आर्मीनियाई दुभाषिया, आदि भी थे। आर्मीनियाई व्यापारी याकूब (अकोप) जान

के बेटे जुल-करनैन का लालन-पालन शाहजहां के साथ हुआ था। कालांतर में वह भारत के एक इलाके का सूबेदार बना। कहा जाता है कि जुल-करनैन को अकबर ने गोद लिया था। जुल ने कविताएं और गीत लिखे, जिन्हें 'रागमाला' में शामिल किया।

आर्मीनियाई बस्तियां भारत के अनेक भागों में बनीं – ग्वालियर, लाहौर, ढाका, दिल्ली, लखनऊ, उड़ीसा, पांडीचेरी आदि में। प्रत्यक्षत: भारत में बसे आर्मीनियाइयों की संख्या दसियों हज़ार थी। १७वीं सदी के मध्य में ईरान में ईसाइयों पर अत्याचार आरंभ होने के बाद वे विशेषत: बड़ी संख्या में भारत जा बसे। भारतीयों की धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप यहां उन्हें दूसरी मातृभूमि मिली। अधिसंख्य आर्मीनियाई व्यापार और कारोबार करते थे, पर उनमें कारीगर, नौकर, मज़दूर, आदि भी थे। आर्मीनियाई व्यापारी दूसरे देशों – ईरान, तुर्की, रूस, आदि – और निस्संदेह आर्मीनिया के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रखते थे। येरेवान नगर के ऐतिहासिक संग्रहालय में भारत में बसे आर्मीनियाई जौहरियों की चीज़ें रखी हुई हैं। मास्को क्रेमलिन में रूसी ज़ारों की सम्पदा के संग्रहालय – ओरुझेइनया पलाता (शस्त्रागार) – में भारत में बनी रत्न-जड़ित सोने-चांदी की वे चीज़ें हैं, जो १७वीं सदी के मध्य में आर्मीनियाई व्यापारियों ने रूसी ज़ार को भेंट की थीं।

भारत में रह रहे आर्मीनियाइयों ने पहले तो ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ सक्रिय सहयोग किया। १६६८ में उन्हें भारत में ब्रिटिश नागरिकों के अधिकार और विशेषाधिकार तक दिये गये। लेकिन १८वीं सदी के मध्य से जब ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रभाव बढ़ गया, अंग्रेज़ आर्मीनियाई व्यापारियों को सताने लगे, उनका कारोबार ठप्प करवाने, उनका दिवाला निकलवाने की चालें चलने लगे। इस समय आर्मीनियाई लोग प्राय: अन्य भारतीयों के साथ मिलकर अंग्रेजों से जूझे। सुविदित है कि बंगाल, बिहार और उड़ीसा के आखिरी नवाब का सेनापति ग्रिगोरी अरुतुन्यान था, जो १८वीं सदी के सातवें दशक में लंबे समय तक अंग्रेजों से लड़ता रहा। बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने उसे अपने उपन्यास 'चंद्रशेखर' का नायक बनाया।

१७वीं-१८वीं सदियों में आर्मीनिया में भारत के बारे में बहुत सी पुस्तकें लिखी गईं, लेकिन फ़िलहाल इस साहित्य का पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है। सोवियत संघ में इसके अनुसंधान और प्रकाशन की ओर काफ़ी ध्यान दिया जा रहा है। भारत को समर्पित पुस्तकों में कोस्तांद जुगायेत्सी की 'व्यापारिक शिक्षा की पाठ्यपुस्तक' विशेषत: उल्लेखनीय है। यह १६वीं-१७वीं सदियों में भारत के आर्थिक इतिहास के अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। इस काल के आर्मीनियाई संदर्भ साहित्य में भी भारत के बारे में बड़े-बड़े अध्याय हैं। इनमें भारत का वर्णन अंशत: प्राचीन ईसाई पुस्तक परम्परा के अनुसार दिया गया है : "ब्राह्मण जनता

सदाचारी और ईमानदार है। ये लोग सादगी का जीवन व्यतीत करते हैं, कभी भी मर्यादा की सीमा नहीं लांघते। ये मुख्यत: प्रकृति के फलों से ही संतोष करते हैं... भारतीयों को शांतिमय जीवन प्रिय है। वे कभी एक दूसरे को ठेस नहीं पहुंचाते... उनके शब्दों मे झूठ नही होता।"

साथ ही आर्मीनियाई हस्तलिपियों में नूतन युग के भारत, उसके आर्थिक जीवन, वस्तुओं, धर्म, रीति-रिवाजों और प्रथाओं का विस्तृत विवरण भी दिया गया है। एक हस्तलिपि में भारतवासियों के बारे में कहा गया है: "हिंदू लोग सुनिर्मित नगरों और देहातों में रहते हैं। वे बहुत समझदार, बुद्धिमान और सूझ-बूझ रखने वाले लोग हैं, विभिन्न शिल्पों और विद्याओं का उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान है।" आर्मीनियाई विद्वानों ओ० गोवेरान और ग० इजीजान ने 'भारत का भूगोल' नामक अपनी पुस्तक में भारत का विशेषत: विस्तृत विवरण दिया है। आर्मीनियाई विद्वानों ने भारत के इतिहास पर भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रचे। १८वीं सदी के आरंभ में 'भारतीय राजाओं का कालक्रम' लिखा गया। इसके कुछ समय पश्चात तोव्मस (थॉमस) खोजामलन ने मुख्यत: फ़ारसी स्रोतों के आधार पर भारत का इतिहास लिखा। उसने भारत के धर्म, तीर्थस्थानों, मंदिरों, रस्मों की ओर विशेष ध्यान दिया। इसके अलावा भारतीय तोलों, मापों, करों, भाषाओं, आदि के बारे में व्यवहारिक जानकारी भी दी गई थी। पुस्तक में भारत के राज-तिक इतिहास पर प्रकाश डाला गया था और प्राचीन युग से भारत में ईसाई धर्म के प्रसार का इतिहास दिया गया था। खोजामलन ने अंग्रेज़ों द्वारा बंगाल और बिहार पर क़ब्जा किये जाने के इतिहास से संबंधित महत्त्वपूर्ण जानकारी दी है। एक दूसरे इतिहासक़ार अकोप सिमोन्यान द्वारा रचित हैदर अली का जीवन-चरित भारत पर अंग्रेज़ों की जीत के इतिहास का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। यह रचना लेखक की व्यापक जानकारी की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नही है, बल्कि इस लिहाज़ से भी कि इसमें दी गई जानकारी से कभी-कभी ब्रिटिश स्रोतों में निहित एकतरफ़ा जानकारी को संशोधित करने में मदद मिलती है। १८वीं सदी के अंत में रूस मे एक आर्मीनियाई बस्ती में आर्मीनियाई भाषा मे संस्कृत की पाठ्यपुस्तक लिखी गई। उल्लेखनीय है कि इस पुस्तक के साथ दी गई शब्दावली मे संस्कृत शब्दों के समानार्थक रूसी शब्द ही नही, लातिनी, यूनानी और जार्जियाई भाषाओं के शब्द भी दिये गये हैं।

१८वीं सदी के अंतिम दशक में आर्मीनियाई व्यापारी दनीला अतानासोव मध्य एशिया से अफ़ग़ानिस्तान होते हुए भारत में कलकत्ता तक गया और फिर तिब्बत के रास्ते रूस पहुंचा। जार्जियाई कुलीन **रफ़ईल दनिबेगश्वीली** की भारत यात्राएं और भी अधिक रोचक थीं। उसके परिवार के भारत के साथ पुराने संबंध थे। उसके पिता कई बार अधिकृत यात्राओं पर भारत गये थे। रफ़ईल दनिबेगश्वीली अपनी भारत यात्रा में जार्जिया के राजा इराक्ली का एक अमीर

आर्मीनियाई व्यापारी याकोव शाहमिर्यान के नाम संदेश लेकर गया था। उल्लेखनीय है कि काकेशिया-पार के राजाओं और भारत में आर्मीनियाई व्यापारियो के बीच घनिष्ठ सम्पर्क थे। दनिबेगश्वीली को भारत मे ही नही, बर्मा में भी प्रभावशाली आर्मीनियाई व्यापारियों का संरक्षण मिला। दनिबेगश्वीली कम से कम पांच बार भारत गया और कुल जमा १८ साल तक वहां रहा। उसकी आखिरी यात्रा जार्जिया के रूस मे सम्मिलन के बाद हुई। भारत के बारे में उसकी पुस्तक मास्को मे रूसी भाषा मे छपी, जिसकी भूमिका में लेखक ने कहा कि वह "अपने हमवतन, रूस-वासियों" को वह सब बताना चाहता है, जो उसने देखा है। रफ़ईल दनिबेग-श्वीली की रचना मे यात्रा वृत्तांत के साथ भारत की धार्मिक प्रथाओं, दाहसंस्कार और सती प्रथा के बारे में भी बताया गया है। लेखक ने भारत के विरले फलों, जैसे अनानास, अद्वितीय कश्मीरी शालों आदि के बारे मे बताया है और एक सच्चे ईसाई यात्री के नाते उस स्थान के बारे में भी, जहां संत थॉमस दफ़न है। लेकिन इन विचित्र, रंग-बिरंगे विवरणों के साथ-साथ यात्री ने समसामयिक घटनाओं का भी उल्लेख किया है, "भारत की साधारण जनता के साथ," जो "उसकी स्वतंत्रता छीनने वालों" की अधीनता स्वीकार नहीं करना चाहती, "संघर्ष में अंग्रेज़ों की असफलता" के बारे में बताया है। दनिबेगश्वीली ने राजनीतिक मूल्यांकन नहीं दिया, लेकिन इस बात का उल्लेख कि अंग्रेज़ "पवित्र गंगा तक पहुंचने के लिए" भी टैक्स लेते हैं तथा अपने देश की स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में भारतीय नारियों की वीरता के विवरण स्पष्टत यह इंगित करते हैं कि लेखक की सहानुभूति किस ओर है। इस प्रसंग में हम जार्जियाई यात्री को १८वीं सदी के अंत और १९वीं सदी के आरंभ के रूसी वृत्तकारों के साथ पूर्णतः एकमत पाते हैं।

काकेशिया-पार में भारतीयों के बारे में भी कुछ शब्द हम कहना चाहेंगे। वे निस्संदेह बहुत पहले से यहां आते रहे थे। काकेशिया-पार में स्थायी भारतीय बस्तियां भी थी। इन में सबसे महत्त्वपूर्ण बाकू नगर में थी, जो अब आज़रबैजान जनतंत्र की राजधानी है। यहां सुराखानी नामक स्थान पर अग्निपूजकों का मंदिर "आतिशगाह" है। यह मंदिर प्राचीन व्यापारिक मार्ग पर कास्पियन सागर के तट पर स्थित है। यह मार्ग अस्त्राख़ान और वोल्गा को जाता है और भारतीय व्यापारी इससे काफ़ी समय से परिचित थे। बाकू मे भारतीय बस्ती का पहला उल्लेख १७वीं सदी मे मिलता है। इस बस्ती के निवासी मुल्तानी थे, इनका धर्म हिंदू था, शायद इनमें सिख भी थे। अग्नि मंदिर का निर्माण मुख्यतः १८वीं सदी मे हुआ। यहां छोटी-छोटी गुफाओं के रूप मे साधुओं के रहने और पूजा के स्थान हैं, गोलाकार गुम्बद तले वेदी है। तीर्थयात्रियों के लिए यहां धर्मशाला भी थी। मंदिर के चारों ओर दांतेदार दीवार बनी हुई है। इन इमारतों की दीवारों पर देवनागरी और गुरमुखी लिपि में लेख खुदे हुए हैं। इनमें कुछ संस्कृत के श्लोक

रफईल देनिबेगश्वीली की यात्राएं

और कुछ अशुद्ध संस्कृत के वाक्य हैं तथा शेष अन्य भाषाओ में। प्राय लेख "श्री गणेशाय नमः !" शब्दों से आरंभ होते हैं। १८वीं सदी के अंत और १९वीं सदी के आरंभ में बाकू का "अग्नि मंदिर" देखने आये अनेक रूसी और यूरोपीय यात्रियों ने इस मंदिर और उसके निवासियों का विवरण छोड़ा है। १८वीं सदी के मध्य में यहां चालीस-पचास साधु स्थायी रूप से रहते थे, जो भांति-भांति की हठयोग-साधनाएं करते थे। उदाहरणतः, यात्रियों ने ऐसे साधुओं का ज़िक्र किया है, जो बरसों तक हाथ ऊपर उठाये खड़े रहते थे। बाकू में भारतीय बस्ती के स्थायी निवासियों के अलावा तीर्थयात्री भी प्रायः यहां आते थे। इस बस्ती के अस्त्राखान के साथ सम्पर्क थे, १८०६ में बाकू के रूस में सम्मिलन के पश्चात ये संबंध विशेषतः घनिष्ठ हुए। अस्त्राखान के व्यापारी बाकू की बस्ती और मंदिर की वित्तीय सहायता करते थे, उदाहरणतः, अस्त्राखान के बड़े व्यवसायी उत्तमचन्द मोहनदास ने काफ़ी दान दिया था। १९वीं सदी के मध्य तक बाकू में भारतीयों की संख्या काफ़ी कम हो गई। १८६० में जब रूसी विज्ञान अकादमी के एशियाई संग्रहालय के डायरेक्टर बर्नार्ड डोर्न का अभियान दल यहां आया, तो मंदिर के सेवादार पांच भारतीय ही यहां थे। १८८३ में अंतिम पुजारी ने ज्वाला बुझाकर मंदिर छोड़ दिया। आजकल "आतिशगाह" बाकू का एक संग्रहालय है। "अग्नि मंदिर" के धार्मिक ग्रंथों का एक भाग प्राच्यविद्या संस्थान में तथा दूसरे सोवियत संग्रहों में संरक्षित है।

व्यापार और जातियों का देशांतरण, चढ़ाइयां और यात्राएं, राजनयिक समझौते, साहित्यिक कृतियों का अनुवाद और सांस्कृतिक उपलब्धियों का आदान-प्रदान – ऐसे भांति-भांति के सूत्रों से पुराने ज़माने से ही मध्य एशिया और काकेशिया-पार के इलाक़े भारत से जुड़े हुए थे। यहां के जनगण के भाग्य के इतिवृत्त में प्रायः "भारत" शब्द आता है।

रूस के जनगण के भारत के साथ घनिष्ठ ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संबंधों की बदौलत ही इस देश के इतिहास में और इस जनगण की संस्कृति में रुचि उत्पन्न हुई, भारत संबंधी अनुसंधानों का विकास तथा रूस में भारतविद्या की एक प्रबल और लब्धप्रतिष्ठ धारा का गठन हो पाया।

अध्याय २

रूस में प्राचीन भारतीय सभ्यता का अध्ययन (१९वीं सदी – २०वीं सदी का आरंभ)

१. रूस में संस्कृतविद्या की शुरूआत

१९वीं सदी के पहले दशकों में यूरोप में पूरब के अध्ययन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण खोजें हुईं और वैज्ञानिक प्राच्यविद्या का विकास होने लगा। उन दिनो की प्राच्य-विद्या में सर्वोपरि स्थान भारत और सर्वप्रथम उसकी भाषा – संस्कृत – के अध्ययन को प्राप्त था। पूरब का वैज्ञानिक अध्ययन भारत में शुरू हुआ। एशियेटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल पहला अनुसंधान केंद्र बनी। इस सोसाइटी के सदस्य प्राच्यविदों की रुचियों का क्षेत्र काफी व्यापक था, तथापि इनका ध्यान मुख्यत: संस्कृत और संस्कृत साहित्य पर केंद्रित था। १९वीं सदी के आरंभ में अंग्रेज़ होरेस विल्सन और फ्रांसीसी अंतुआं-लेओनार शेज़ी जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ संस्कृतविद और उनके शिष्य काम कर रहे थे। परंतु संस्कृतविद्या का विशेष विकास जर्मनी में हुआ। यहां इसके प्रवर्तक थे जर्मन स्वच्छंदतावादी (रोमांटिसिस्ट), दार्शनिक और कवि फ़्रीडरिख़ और आगस्त श्लेगेल बंधु। श्लेगेल बंधु प्राचीन भारत की संस्कृति पर विमुग्ध थे, भारतीय सभ्यता की तुलना वे यूनान और रोम की क्ला-सिकीय सभ्यताओं से करते थे तथा उनके बीच निश्चित संबंध पाते थे। वे भारतीय संस्कृति की प्राचीनता को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते थे और उसे निकट पूर्व, यूनान व रोम की संस्कृतियों का स्रोत मानते थे। इस प्रसंग में फ़्रीडरिख़ श्लेगेल द्वारा १८०३ में अपने मित्र और साथी, कवि लुडविग टीक को लिखा पत्र उल्लेखनीय है। फ़्रीडरिख़ श्लेगेल ने संस्कृत भाषा के बारे में, जिसका वह अध्ययन करने लगे थे, लिखा: “यही सभी भाषाओं, मानव आत्मा के सभी विचारों और सारे काव्य का स्रोत है। सभी कुछ, निरपवाद रूप से सभी कुछ भारत से ही उत्पन्न हुआ है। इस स्रोत के सम्पर्क में आने का

अवसर पाने के पश्चात मैं हर वस्तु को दूसरी दृष्टि से देखने लगा हूं।" फ्रीडरिख़ का भाई आगस्त-विलहेल्म जर्मनी में संस्कृतविद्या की एक पूरी धारा का प्रवर्तक बना। उन्ही दिनो उभरी ज्ञान की एक नई शाखा तुलनात्मक भाषाविज्ञान इस विचार पर आधारित थी कि संस्कृत सभी "भाषाओं का उत्स" है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के संस्थापकों में एक था आगस्त श्लेगेल का शिष्य फ्रांज़ बोप्प। उसे भारोपीय भाषा परिवार का सिद्धांत प्रतिपादित करने का, निरुक्ति-विश्लेषण तथा तुलनात्मक व्याकरण की वैज्ञानिक विधि तैयार करने का श्रेय प्राप्त है। भारोपीय भाषाविज्ञान १९वीं सदी में संस्कृतविद्या का आधार बना।

भारतविदों की रुचि मुख्यत: संस्कृत साहित्य के प्राचीनतम ग्रंथों पर तथा प्राचीन-तम भारतीयों की भाषा की आदिअवस्था के पुनर्निर्माण से संबंधित समस्याओं, मिथकों, सामाजिक रहन-सहन की आदिअवस्था का पता लगाने पर केंद्रित था और वहां से वह अधिक गहराई में भारोपीय एकता के दिनों तक जाती थी। १९वीं सदी के मध्य में तुलनात्मक भाषाविज्ञान की सफलताओं के प्रभाव से कई नयी ज्ञान-शाखाओं का आविर्भाव हुआ, जैसे तुलनात्मक नृजातिविज्ञान, तुलनात्मक विधिशास्त्र, आदि। लोक साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के एक संस्थापक थेओडोर बेन्फ़े का मत था कि लोक साहित्य के अधिकांश कथानकों की जन्मभूमि भारत ही है। तुलनात्मक मिथकशास्त्र का अध्ययन करने वाले अनेक विद्वान, जैसे कि जर्मन संस्कृतविद मैक्स मूलर और एडल्बर्ट कून प्राय: प्राचीन भारतीय मिथकों को ही मूल भारोपीय मिथक मानते थे।

पश्चिमी यूरोप के अग्रणी देशों का एशिया में सक्रिय आर्थिक और राजनीतिक विस्तार प्राच्यविद्या के अधिक तीव्र विकास में सहायक था, तथापि उपनिवेश-वाद की विचारधारा का इस क्षेत्र में हो रहे शोधकार्यों पर नितांत नकारात्मक प्रभाव पड़ा। अनेक अंग्रेज़ संस्कृतविद भारत में औपनिवेशिक प्रशासन के अधिकारी थे, जिसका उनके अनुसंधानों की दिशा और स्वरूप पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। १९वीं सदी की भारतविद्या में, विशेषत: इस विषय पर अंग्रेज़ों की रचनाओं में, यूरोप और एशिया के पूर्णत: भिन्न, परस्पर विरोधी होने के तथा यूरोपीय सभ्यता की निर्विवाद श्रेष्ठता के विचार प्राय: पाये जाते हैं। पूरब के जनगण और उनकी प्राचीन संस्कृतियों को तब प्राय: हेय दृष्टि से देखा जाता था।

१९वीं सदी के आरंभ में पश्चिमी यूरोपीय इतिहासशास्त्र में भारत के प्रति दो प्रमुख दृष्टिकोण स्पष्टत: दिखाई देते हैं — एक ओर औपनिवेशिक तथा दूसरी ओर "रोमांटिक" जो संस्कृतविद्या के विकास से संबंधित था। रूस वैज्ञानिक चिंतन के सामान्य विकास से पीछे नहीं रहा, लेकिन यहां निस्संदेह भारत के प्रति "रो-मांटिक" रुख़ का ही प्राधान्य था और प्राचीन भारतीय संस्कृति के गुणों का उच्च मूल्यांकन किया जाता था।

१९वीं सदी के बिल्कुल आरंभ में ज़ार अलेक्सान्द्र प्रथम के शासनकाल (१८०१-१८२५) में ज्ञानप्रसारात्मक और उदारतावादी प्रवृत्तियां उभरीं। इस काल में देश में कतिपय नये विश्वविद्यालय खोले गये, विज्ञान अकादमी की नई नियमावली बनाई गई, जिसमें इतिहास के अध्ययन का भी प्रावधान था। प्राच्यविद्या के विकास को भी प्रश्रय दिया गया। १८०४ में मास्को, कज़ान और खार्कोव विश्वविद्यालयों में प्राच्य भाषाओं के विभाग खोलने का निर्णय किया गया। खार्कोव विश्वविद्यालय के पहले रेक्टर ई० रीझस्की प्राच्य भाषाओं और साहित्य के अध्ययन को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे। अपने भाषणों और लेखन, आदि में वे संस्कृत की ओर भी निश्चित ध्यान देते थे।

प्राच्यविद्या के विकास की हितचिंता अंशतः रूसी साम्राज्य की व्यावहारिक आवश्यकताओं द्वारा प्रेरित थी, क्योंकि तब पूरब के राज्यों, विशेषतः निकट पूर्व के देशों के साथ अधिकाधिक घनिष्ठ संबंध स्थापित किये जा रहे थे। यूरोप के साथ संबंधों का भी निश्चित महत्त्व था।

अनेक जर्मन विद्वान रूसी विज्ञान अकादमी के सदस्य थे, क्योंकि १८वीं-१९वीं सदियों में जर्मनी और रूस के बीच न केवल वैज्ञानिक प्रतिष्ठानों के स्तर पर, बल्कि निजी सम्पर्कों द्वारा भी वैज्ञानिक संबंध बने रहे थे। अकादमी-शियन पल्लास के शब्दकोश के बाद से रूस में विश्व जनगण की भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की वैज्ञानिक परम्परा बन गई थी। रूसी राज्य के लिए, जहां विभिन्न जातियों के लोग बसे हुए थे, भाषाओं का अध्ययन और तुलना विशेषतः महत्त्व रखते थे। पिछली सदी के सुविख्यात जर्मन संस्कृतविद रुडोल्फ़ रोथ ने लिखा था कि इस संबंध में किसी भी देश ने इतनी रुचि नहीं दिखाई है, जितनी रूस ने।

१८०६-१८०७ की रूसी पत्रिकाओं में संस्कृत के बारे में जानकारी प्रकट होने लगी। १८०९ में जर्मनी के विट्टेनबर्ग नगर में प्राच्य भाषाओं के प्रोफ़ेसर, मास्को विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक समाज के मानद सदस्य एंटोन कॉनरड गोट्लिब की एक छोटी सी पुस्तक प्रकाशित हुई: 'रूसी भाषा तथा संस्कृत के साथ उसका समान मूल'। इन्हीं दिनों लेफ़्टिनेंट-जनरल न० अस्वेदोंव ने संस्कृत और रूसी का एक छोटा सा तुलनात्मक शब्दकोश बनाया। यह शब्दकोश प्रकाशित नहीं हुआ, तथापि इसके आधार पर पीटर्सबर्ग के सुविख्यात विद्वान फ़्रीडरिख आडेलुग ने १८११ में एक पुस्तिका लिखी: 'संस्कृत भाषा की रूसी से समानता'। यह पुस्तिका रूसी और फ़्रांसीसी में छपी और फिर अंग्रेज़ी में इसका अनुवाद हुआ। रूसी पत्र-पत्रिकाओं में इसकी काफ़ी चर्चा हुई। तब तक रूस में संस्कृत कोई नहीं जानता था, उसके बारे में जानकारी दूसरे स्रोतों से पाई जाती थी और वह सदा सही नहीं होती थी। तो भी प्राचीन भारत की भाषा के प्रति रूस में जल्दी ही जागी रुचि और इसकी दिशा – संस्कृत का रूसी से सामीप्य – उल्लेखनीय हैं।

१८१० में रूस में एशियाई अकादमी की स्थापना संबंधी परियोजना प्रकाशित हुई, जो काउंट सेर्गेई उवारोव ने तैयार की थी। इस परियोजना में रूस के लिए पूरब के अध्ययन के महत्त्व पर ज़ोर दिया गया था और भावी अकादमी के कार्य-कलापों का व्यापक कार्यक्रम सुझाया गया था। यह परियोजना सेर्गेई उवारोव ने पेरिस में रूसी दूतमंडल के सदस्य के रूप में रहते समय बनाई थी। रूसी विज्ञान अकादमी के सदस्य ह० य० क्लाप्रोथ ने उनकी इस काम में सहायता की। काउंट सेर्गेई उवारोव की परियोजना एक तरह से १८वी सदी के रूसी अकादमीशियनों याकोब केर और मिखाईल लोमोनोसोव की रूस में पूरब के नियमित अध्ययन संबंधी योजनाओं को ही आगे बढ़ाती थी। उल्लेखनीय है कि सेर्गेई उवारोव की परियोजना में संस्कृतविद्या को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया था और इस क्षेत्र में ठोस कार्यभार निर्धारित किये गये थे – रूस में संस्कृत शब्दकोश का प्रकाशन, वेदों और महाभारत का अनुवाद। तत्कालीन रूस के लिए ये व्यापक परिप्रेक्ष्य यद्यपि हवाई क़िले अधिक थे, मगर कुछ हद तक वे विज्ञान के भावी विकास के सूचक अवश्य बने। सेर्गेई उवारोव की परियोजना में पश्चिमी यूरोप में गहरी रुचि दिखाई गई। रूस में प्राच्य-विद्या के व्यावहारिक विकास के लिए भी इसका निश्चित महत्त्व था। १८१८ में एशियाई संग्रहालय स्थापित किया गया। यह विज्ञान अकादमी के अधीन प्राच्य-विद्या का विशेष प्रतिष्ठान था, यही कालांतर में विकसित होकर प्राच्यविद्या संस्थान बना, जो आज सोवियत विज्ञान अकादमी के अधीन आता है। यहां हम यह इंगित करना चाहेंगे कि एशियाई संग्राहालय यूरोप में प्राच्यविद्या के सबसे पुराने प्रतिष्ठानों में से एक था। तुलना के लिए यह देखिये कि पेरिस में एशियाई समाज की स्थापना १८२२ में हुई थी, ब्रिटिश एशियेटिक सोसाइटी की १८२६ में और जर्मन प्राच्य-विद्या समाज की १९वीं सदी के पांचवें दशक में हुई। १८१८ में ही प्रमुख अध्यापन-शिक्षण संस्थान में, जो शीघ्र ही पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय बना, प्राच्य भाषाओं का अध्यापन आरंभ हुआ। प्राच्य भाषाओं के पाठ्यक्रम के उद्घाटन समारोह में सेर्गेई उवारोव ने भाषण दिया, जो तब पीटर्सबर्ग शैक्षिक क्षेत्र के संरक्षक और विज्ञान अकादमी के अध्यक्ष के पद पर आसीन थे। उन्होंने "सारी विश्व संस्कृति के गहवारा" पूरब के अध्ययन के महत्त्व की चर्चा की और इस बात पर ज़ोर दिया कि संस्कृति को समझने के लिए सर्वप्रथम उसके स्रोत की ओर उन्मुख होना चाहिए। उनका कहना था कि "सभी धर्म, सभी विद्याएं, सारा दर्शन" एशिया से ही निकले हैं, कि अकेले एशिया ने ही "नैतिक जगत की सभी विशाल परिघटनाओं के उद्भव की क्षमता बनाये रखी है।"

एशियाई देशों में भारत को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। यह मत प्रचलित था कि यूनानी दर्शन और बाबुलवासियों की खगोलविद्या का स्रोत भारत में ही खोजना चाहिए। सेर्गेई उवारोव कहते थे: "निस्संदेह संस्कृत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है," वह "संसार की सभी ज्ञात भाषाओं से श्रेष्ठ है।" "भारत का साहित्य

पूरब के सभी साहित्यों में सर्वप्रथम, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और व्यापकतम है।" वेदों, मनुस्मृति, महाभारत और रामायण जैसे भारतीय साहित्य के रत्नों का सर्वेक्षण करते हुए सेर्गेई उवारोव ने भारतीय काव्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की, जिस पर "सौम्यता तथा सौष्ठव की और साथ ही बुद्धि एवं आत्मा की पूर्ण परिपक्वता की छाप है।" उनका मत था कि भारतीय "एशिया में सर्वाधिक शिक्षित लोग" थे और यह कि संस्कृत साहित्य से परिचय का रूसी साहित्य की कृतियों पर सुप्रभाव पडेगा। "इस नवीन स्रोत के सम्पर्क से नूतन रूसी वाङ्मय का नवीकरण हो सकता है," उनका यह विश्वास था। पूरब के अध्ययन को सेर्गेई उवारोव सर्वप्रथम एक वैज्ञानिक, सांस्कृतिक, ज्ञानप्रसारात्मक कार्यभार ही मानते थे। तथापि उन्होंने रूस मे प्राच्यविद्या संबधी अनुसंधानों के राजनीतिक औचित्य की भी चर्चा की: "राज-नीतिक दृष्टि से रूस के मानचित्र पर एक नज़र ही यह स्पष्टतः सिद्ध कर देती है कि यह ज्ञान हमारे लिए कितना महत्त्वपूर्ण और यहा तक कि आवश्यक भी है।"

सेर्गेई उवारोव ने अपने भाषण में संस्कृत और भारत के अध्ययन के महत्त्व की चर्चा भले ही की, लेकिन १९वीं सदी के आरंभ में रूस में वैज्ञानिक रूप से भारत का अध्ययन नही हो रहा था और भारतीय भाषाए भी नही पढ़ाई जाती थीं। एशियाई संग्रहालय के वैज्ञानिक कार्यकलाप मुख्यतः मुस्लिम देशों तक ही सीमित थे।

संस्कृत और स्लाव भाषाओं के सामीप्य के अलावा रूस को भारत से जोड़ने वाला एक और सूत्र भी था – बौद्ध धर्म। रूसी साम्राज्य के क्षेत्र में या उसकी सीमाओ पर रह रही कुछ पूर्वी जातिया बौद्ध धर्म की अनुयायी थीं। कल्मीक, मंगोल और बुर्यात लोगो से बौद्ध धर्म के बारे मे निश्चित जानकारी पाई जा सकती थी। इन जातियो के जीवन के अध्ययन के लिए बौद्ध धर्म का, उसके धार्मिक ग्रंथों, विशेषतः संस्कृत में लिखे गये ग्रंथो का ज्ञान नितांत आवश्यक था। रूस में बौद्ध धर्म के पहले विशेषज्ञो मे एक थे अकादमीशियन याकोव (जैकब) श्मीद्त (१७७९–१८४७), जो मंगोलिया और तिब्बत के सुविख्यात अध्येता थे। अपने वैज्ञानिक कार्य के लिए उन्होंने संस्कृत के क्षेत्र में भी निश्चित प्रशिक्षण पाया।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में फ्रीडरिख़ आडेलुंग (१७६८–१८४३) ने सराहनीय कार्य किया। वे विदेश मंत्रालय के एशियाई विभाग में प्राच्य भाषाओ के शैक्षिक उपविभाग के अध्यक्ष और विज्ञान अकादमी के सह-सदस्य थे। १८२० में उन्होंने 'सभी भाषाओं और बोलियों का सर्वेक्षण' शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की। इसकी भूमिका में कहा गया था कि शीघ्र ही लेखक संस्कृत भाषा के साहित्य पर विशेष रचना पेश करेगा। १८३० में जर्मन भाषा मे यह पुस्तक छपी। इसका नाम था 'संस्कृत भाषा के साहित्य की विवेचना' और इसमें संस्कृत भाषा, उसकी उत्पत्ति, प्राचीनता तथा दूसरी भाषाओ के साथ संबंध पर अलग-अलग अध्याय थे। फ्रीडरिख़ आडेलुंग ने १७० भारतीय लेखकों का हवाला देते हुए संस्कृत की ३५० रचनाओं का वर्णन किया। यह पुस्तक १९वी सदी के पहले दशकों तक यूरो-

पीय संस्कृतविदों को ज्ञात और तब तक प्रकाशित संस्कृत की लगभग सभी पुस्तकों की बड़े परिश्रम से तैयार की गई प्रणालीबद्ध और पहली सूची है। आडेलुंग की इस पुस्तक का शीघ्र ही अंग्रेज़ी में अनुवाद किया गया, जो १८३२ में आक्सफ़ोर्ड में छपा। इसका दूसरा संस्करण १८३७ में 'संस्कृत ग्रथागार। संस्कृत भाषा का साहित्य' नाम से प्रकाशित हुआ। कई दशको तक यह संस्कृतविदो के लिए अद्वितीय पुस्तक रही।

संस्कृतविद्या की अमूल्य सेवा फ्रीडरिख आडेलुग ने अवश्य की, किंतु स्वयं वे संस्कृत भाषा के विशेषज्ञ नही थे। विज्ञान अकादमी ने विदेश से संस्कृतविद को निमंत्रित करना आवश्यक समझा। १८वी सदी के आरंभ से ही पश्चिमी यूरोप, मुख्यत: जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वानों को रूस बुलाया जाने लगा था। रूस में निमंत्रित जर्मन मूल के कुछ विद्वान जीवन भर यहीं रहे और उन्होंने अपनी दूसरी मातृभूमि के लिए बहुत कुछ किया। ऐसे विद्वानों में एक थे एशियाई संग्रहालय के पहले डायरेक्टर, अकादमीशियन क्रिश्चियन फ्रेन। उनके परामर्श पर ही १८२७ में प्रतिभावान युवा प्राच्यविद **बर्नार्ड (बोरिस) डोर्न** (१८०५-१८८१) को खार्कोव विश्वविद्यालय में अध्यापन के लिए निमंत्रित किया गया। खार्कोव आने से पहले ही इथियोपियाई भजन-संहिता पर शोधकार्य के लिए उन्होंने डाक्टरेट (डी० फिल०) की डिग्री पा ली थी, सादी के 'गुलिस्तान' का फ़ारसी से अनुवाद किया था और 'ओरिएन्टल ट्रांस्लेशन कमेटी' के लिए अनुवाद माला पर कार्य करने की सोच रहे थे। खार्कोव में डोर्न प्रोफ़ेसर बने और १८२९ से १८३५ तक इब्रानी, इथियोपियाई, अरबी, फ़ारसी और संस्कृत भाषाएं पढ़ायीं। यह रूस में संस्कृत के अध्यापन का पहला अनुभव था। एक रोचक बात यह है कि प्रो० डोर्न अपने लेक्चर लातिनी भाषा में देते थे। अपने समय के अन्य अनेक प्रमुख प्राच्यविदों की ही भांति प्रो० डोर्न अत्यंत व्यापक ज्ञान और दृष्टिकोण के स्वामी थे। १८२९ में लंदन में 'अफ़ग़ानों के इतिहास' का पहला खंड प्रकाशित हुआ, जो १७वीं सदी में भारत में संकलित इतिवृत्त था। इसके मुख पृष्ठ पर लिखा था: 'खार्कोव के प्रो० बी० डोर्न द्वारा अनूदित'। 'इतिहास' का दूसरा खण्ड १८३६ में प्रकाशित हुआ।

१८३३ में प्रो० डोर्न ने खार्कोव में 'स्लाव भाषा और संस्कृत का संबंध' शीर्षक से लातिनी में एक पुस्तक प्रकाशित की, जो रूस में संस्कृत पर पहला स्वतंत्र शोध-कार्य था। यह ग्रंथ प्रो० डोर्न द्वारा १८३२ में खार्कोव विश्वविद्यालय में दिये गये लेक्चरों पर आधारित था। पुस्तक में दो महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया था। एक थी – भारोपीय परिवार की भाषाओं के संबंध की यानी तुलनात्मक भाषाविज्ञान की समस्या, जिसमें उन दिनों पश्चिमी यूरोप के सभी संस्कृतविद और भाषाविद रुचि ले रहे थे। दूसरी समस्या थी स्लावों की उत्पत्ति की, जो स्लाव देशों के वैज्ञानिकों को बहुत उद्विग्न किये हुए थी। १८१६ में ही पोलिश विद्वान वलेन्तीन मयेव्स्की ने 'स्लाव और उनके बंधु' नामक रचना लिखी थी, इसमें भी

प्राचीन भारतीयो के साथ स्लावों के संबंधों का सवाल उठाया गया था। पोलैंड तब रूसी साम्राज्य मे शामिल था और पोलिश प्राच्यविद्या रूसी प्राच्यविद्या से संबंधित थी। कुछ पोलिश प्राच्यविद रूसी विश्वविद्यालयों में पढ़ाते थे; रूस में, विशेषतः उक्राइना में पोलिश रचनाओं का अनुवाद किया जाता था। उदाहरणतः, सुप्रसिद्ध लेखक और खार्कोव विश्वविद्यालय के प्राफेसर प्योत्र गुलाक-अर्तेमोव्स्की ने १९वीं सदी के आरंभ मे भारतीय पंचांग और ब्रह्मांडविद्या पर पोलिश भाषा में लिखी रचना का रूसी में अनुवाद किया था। विभिन्न स्लाव देशों के शोधकर्ता स्लावों की उत्पत्ति की समस्या पर काम कर रहे थे। क्रोएशिया के मिखानोविच ने १८२३ में 'संस्कृत और स्लाव भाषाओं के अर्थ व उच्चारण मे मिलते-जुलते शब्द' शीर्षक रचना लिखी। १८२६ में एंटोन युगमन ने संस्कृत की तुलना चेक भाषा से की (यह लेख रूसी में छपा)। प्रसिद्ध चेक स्लावविद पावेल शाफ़रिक, रूसी इतिहासकार निकोलाई करमजिन और निकोलाई पोलेवोई भी स्लावों की उत्पत्ति में रुचि लेते थे और उनकी आदि-मातृभूमि एशिया में ही खोजते थे। उदाहरणतः, पावेल शाफ़रिक ने लिखा कि स्लावों का मूलस्थान भारत है।

सो प्रो० डोर्न की पुस्तक 'स्लाव भाषा और संस्कृत का संबंध' रूसी और स्लाव लोगों की वैज्ञानिक रुचियों की मुख्य धारा में ही आती थी। निस्संदेह, प्रो० डोर्न को इस बात का श्रेय है कि अपनी पुस्तक में उन्होंने पूर्णतः वैज्ञानिक विधि से काम लिया। उन्होंने यह दिखाया कि शब्दों की ध्वनियां एक सी हो सकती हैं, उनके अर्थ मिलते-जुलते हो सकते हैं, तो भी वे परस्परसंबंधित हों, यह आवश्यक नहीं। प्रो० डोर्न मुख्यतः भाषाओं की व्याकरण पद्धतियों की तुलना की ओर ही ध्यान देते थे, उन्होंने संस्कृत और स्लाव भाषाओं में विभक्तियो की विस्तार से तुलना की। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि किसी ज़माने में एक ऐसी भाषा थी, जो संस्कृत और स्लाव भाषाओं तथा दूसरी भारोपीय भाषाओं के लिए आधार बनी। इस प्रकार, अपने समय के अनेक लब्धप्रतिष्ठ पश्चिमी भाषाविदों से भिन्न प्रो० डोर्न संस्कृत को ही मूल भारोपीय भाषा नहीं मानते थे। अपनी तुलनाएं प्रो० डोर्न ने कई स्लाव भाषाओं के आधार पर की, ये थीं – रूसी, चर्च-स्लाव, पोलिश और चेक भाषाएं। रूस आने से पहले वे स्लाव भाषाएं नहीं जानते थे, लेकिन अपने असाधारण अध्यवसाय और भाषा-अध्ययन योग्यता के बल पर शीघ्र ही ये भाषाएं सीख गये। प्रो० डोर्न स्लाव भाषाओं पर विमुग्ध थे, उन्होंने लिखा कि इनकी समृद्ध अभिव्यजनात्मकता की दृष्टि से इनकी तुलना संस्कृत से की जा सकती है। प्रो० डोर्न स्लाव भाषाओं और संस्कृत की तुलना एक प्रबल वृक्ष के दो विशाल तनों से करते थे।

मुख्यतः जर्मनी में काम कर रहे भाषाविद प्रायः संस्कृत और जर्मन वर्ग की भाषाओं तथा क्लासिकीय भाषाओं लातिनी और यूनानी के बीच संबंधों का विश्लेषण करते थे। यूरोपीय विज्ञान में प्रो० डोर्न का एक महत्त्वपूर्ण योगदान यह था कि उन्होंने तुलनात्मक भाषाविज्ञान की अध्ययन सामग्री में स्लाव भाषाओं को भी शामिल

किया। प्रो० डोर्न की पुस्तक इस प्रश्न पर फ्रांज़ बोप्प की प्रसिद्ध रचना से पहले ही प्रकाशित हो गई थी। पिछली सदी मे यह इंगित किया गया था कि संस्कृत और स्लाव भाषाओं के बीच उत्पत्तिमूलक संबंधों की खोज का श्रेय बोप्प को नहीं डोर्न को है, यद्यपि यह भी निर्विवाद है कि डोर्न का शोधकार्य रास्मुस रास्क, फ्रांज़ बोप्प और दूसरे पश्चिमी यूरोपीय विद्वानों द्वारा तैयार की गई सामान्य वैज्ञानिक विधि पर आधारित था।

१८३८ मे प्रो० डोर्न खार्कोव से पीटर्सबर्ग चले आये, जहा १८४२ तक एशियाई विभाग में उन्होंने संस्कृत तथा पूरब का भूगोल पढाये। उन्हें अकादमीशियन की उपाधि प्रदान की गई और कालांतर मे उन्होंने क्रिश्चियन फ्रेन के स्थान पर एशियाई संग्रहालय के डायरेक्टर का दायित्व सभाला। अपने सारे वैज्ञानिक कार्य-कलापों से डोर्न "पूरब के प्रति रूस के रुख को स्पष्ट करने" की चेष्टा करते रहे। पीटर्सबर्ग में वे शनैः-शनैः संस्कृत के अध्ययन से दूर होते गये, मुस्लिम संस्कृतियों के अध्ययन पर ही उनका सारा ध्यान केंद्रित हो गया। उनके बाद के कार्यों में भारतविद्या के लिए महत्त्वपूर्ण एकमात्र कार्य बाकू में भारतीय मंदिर में आलेखों का अध्ययन था, जिसकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं।

चौथे दशक के आरंभ से पीटर्सबर्ग में स्थित विज्ञान अकादमी प्राच्यविद्या की ओर विशेष ध्यान देने लगी। १८३० में यहां प्राच्य साहित्य और पुरावशेषों का विभाग खोला गया। इसके सम्मुख अकादमी के लिए एक संस्कृतविद तैयार करने कार्यभार रखा गया। देर्प्त (वर्तमान तार्तू) विश्वविद्यालय के युवा स्नातक **राबर्ट लेंज़** (१८०८-१८३६) को इसके लिए चुना गया। राबर्ट लेंज़ रूसी अकादमीशियन, सुप्रसिद्ध भौतिकविज्ञानी एमिल लेंज़ के छोटे भाई थे। क्रिश्चियन फ्रेन के निवेदन पर, जिसका विज्ञान अकादमी के अध्यक्ष और भावी शिक्षा मंत्री सेर्गेई उवारोव ने समर्थन किया, राबर्ट लेंज़ को संस्कृत सीखने के लिए विलक्षण जर्मन संस्कृतविद फ्रांज़ बोप्प के पास बर्लिन भेजा गया। बोप्प के साथ कार्य के फलस्वरूप लेंज़ ने १८३३ में कालिदास का नाटक 'विक्रमोर्वशी' प्रकाशित किया। यह प्रकाशन क्ला-सिकीय पाठविद्या की सर्वश्रेष्ठ परम्पराओं के अनुसार किया गया था, इसमें लातिनी अनुवाद और टीका भी दी गई थी। लेंज़ के इस अनुवाद का बाद में हुए 'उर्वशी' के अनुवादों पर बहुत प्रभाव पड़ा। क्रिश्चियन फ्रेन को लिखे पत्र में फ्रांज़ बोप्प ने संस्कृत और तुलनात्मक व्याकरण के अध्ययन में लेंज़ की सफलताओं को सराहा। बोप्प ने लिखा कि यह विद्वान "इन विषयों के अध्ययन में अपनी द्रुत और गहरी सफलताओं के फलस्वरूप बहुत आगे निकल गया है।" इसका प्रमाण है "उसके द्वारा कालिदास के नाटक 'उर्वशी' का प्रकाशन, जो यूरोप में निकली दूसरी भारतीय नाटक रचना और पहली ऐसी रचना है, जिसमें मूल पाठ को समझना आसान बनाने के लिए इतनी अच्छी टिप्पणियां दी गई हैं, कि कम अनुभवी लोग भी महान भारतीय कवि की इस अनुपम रचना का रसास्वादन कर सकेंगे।" बोप्प का कहना था कि

लेंज़ को अपने कार्य में रूसी सरकार और विज्ञान अकादमी का समर्थन मिलना चाहिए।

लेंज़ का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रकाशन था विज्ञान अकादमी के एशियाई संग्रहालय में संरक्षित संस्कृत पांडुलिपियों का सूचीपत्र। यह १८३३ में छपा था। इसके आधार पर लेंज़ ने शोधप्रबंध लिखा और उसी वर्ष उसका मण्डन किया। बोप्प के परामर्श और फ्रेन के समर्थन से लेंज़ ने लंदन, आक्सफ़ोर्ड और पेरिस की यात्रा की। यहां इस युवा विद्वान के विशाल फलप्रद कार्य की साक्षी हैं 'जन शिक्षा मंत्रालय की पत्रिका' में छपी रिपोर्टें तथा सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान में संरक्षित हस्तलिपियां।

पीटर्सबर्ग में ही लेंज़ को बौद्ध धर्म पर ऐतिहासिक ग्रंथ ढूंढने और उनका अध्ययन करने का काम भी सौंपा गया था। प्रत्यक्षतः, इस कामना का कारण यह था कि रूस मे बौद्ध धर्म का जितना गहरा परिचय पाना आवश्यक समझा जाता था, उतना मंगोल और तिब्बती स्रोतो से पाना संभव नहीं था। उल्लेखनीय है कि उन दिनों बौद्ध धर्म के इतिहास पर पश्चिम में लिखी कोई पुस्तक भी उपलब्ध नहीं थी। बौद्ध धर्म के इतिहास और सिद्धांतों पर पहली सुव्यवस्थित रचना लेंज़ की मृत्यु के कुछ वर्ष पश्चात उनके मित्र, फ्रांसीसी भारतविद यूजीन बुर्नूफ़ ने तैयार की थी। स्वय लेंज़ ईस्ट इंडिया कंपनी के पुस्तकालय, ब्रिटिश म्यूज़ियम और रॉयल एशियेटिक सोसाइटी के पांडुलिपि संग्रहों में आवश्यक सामग्री नहीं पा सके और उन्हें अपनी योजना बदलनी पडी। 'उर्वशी' की पांडुलिपियों पर काम जारी रखते हुए १८३४ मे लेंज़ ने पहले प्रकाशित संस्करण का एक अलग परिशिष्ट छापा, जिसमें टीका सामग्री दी गई थी। भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन, जो संस्कृत के नाटकों के प्रकाशन कार्य से घनिष्ठ रूप से सबंधित था, लेंज़ के वैज्ञानिक कार्यकलापों की मुख्य दिशा बन गया। अंग्रेज़ भारतविद हेनरी थॉमस कोलब्रुक और दूसरे यूरोपीय विद्वानो की इस विषय पर रचनाओं का गहराई से अध्ययन करने के पश्चात लेंज़ स्वतंत्र रूप से काव्यशास्त्र और संगीत पर संस्कृत रचनाओं (शारंगदेव कृत 'संगीतरत्नाकर') का विश्लेषण करने में जुट गये। संस्कृत और पाली की छंद प्रणाली पर रचनाओं – रविकर और विश्वनाथ की टीकाओं सहित पिंगल कृत 'छंदशास्त्र', केदार कृत 'वृत्तिरत्नाकर', आदि – की ओर उनका ध्यान विशेषतः गया। वे 'प्राकृतपिंगल' के टीका सहित प्रकाशन पर काम कर रहे थे और भारतीय काव्यशास्त्र पर एक ग्रंथ लिखने की सोच रहे थे।

आक्सफ़ोर्ड मे युवा विद्वान का परिचय विलक्षण संस्कृतविद होरेस विल्सन से हुआ और उनके पुस्तकालय में काम करने का अवसर मिला। लेंज़ की अभिरुचि संस्कृत तक ही सीमित नहीं थी। संस्कृत के अध्ययन से खाली सारा समय वे साहित्यिक हिंदी और बोलचाल की हिंदुस्तानी को समर्पित करते थे। उनकी कापियों से यह पता चलता है कि उन्होंने हिंदी के सभी यूरोपीय व्याकरणों का अध्ययन किया था।

लेंज़ की हस्तलिपियों में संस्कृत और नूतन भारतीय भाषाओं की स्वतंत्र तुलना मिलती है। उन्होंने बंगला, प्राकृत और उपनिषदों पर, 'अवेस्ता' और तिब्बती साहित्य पर काम किया। 'पृथ्वीराजरासो' के अध्ययन में उन्होंने बहुत समय लगाया। आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में वे 'ललितविस्तर' की पांडुलिपि ढूंढ़ने में सफल रहे। बौद्ध धर्म के इस एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ में बौद्ध धर्म के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। 'पृथ्वीराजरासो' के साथ-साथ लेंज़ छह पांडुलिपियों के आधार पर भट्टनारायण के संस्कृत नाटक 'वेणिसंहार' के टीका सहित प्रकाशन की भी तैयारी कर रहे थे। इंगलैंड में डेढ़ साल के प्रवास के दौरान लेंज़ ने भारत-विद्या पर असंख्य पुस्तकें पढ़ीं। उनके नोट उनकी व्यापक रुचि और भगीरथ परिश्रम के साक्षी हैं। १८३५ में पीटर्सबर्ग लौटने पर अकादमीशियन क्रिश्चियन फ्रेन और याकोव श्मीद्त के परामर्श पर लेंज़ विज्ञान अकादमी में अवर विज्ञानकर्मी बने। वह संस्कृत ही नहीं, हिंदी के भी विशेषज्ञ थे। विदेश से वह बहुत बड़ी संख्या में वैज्ञानिक सामग्री लाये थे। उनकी बनाई सूची के अनुसार यूरोप में भारतविद्या संबंधी पुस्तकें और देवनागरी का टाइप भी खरीदा गया। १८३६ के आरंभ में लेंज़ संस्कृत और तुलनात्मक भाषाविज्ञान पर लेक्चर देने लगे। उन्होंने 'ललित-विस्तर पुराण' पर लेख छापा और भारतीय विद्वान राधाकांत देव के शब्दकोश 'शब्दकल्पद्रुम' पर समीक्षा छापी। वैज्ञानिक कार्य की उनकी योजनाएं विशाल थीं और विज्ञान अकादमी को उनसे बहुत आशाएं थीं। लेकिन दिन-रात के परिश्रम ने उनके स्वास्थ्य की जड़ खोद दी थी, उनकी योजनाओं की पूर्ण होना नहीं बदा था। १८३६ में २८ वर्ष की आयु में ही राबर्ट लेंज़ का देहांत हो गया।

१९वीं सदी की पहली तिहाई में राबर्ट लेंज़, बर्नार्ड डोर्न और फ़्रीडरिख़ आडेलुंग की रचनाओं की बदौलत संस्कृतविद्या विज्ञान की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में गठित होने लगी। लेकिन इस काल में भारतविद्या की अपनी धारा, व्यवस्थाबद्ध अध्ययन और शोधकार्य की परम्परा देश में अभी नहीं बनी थी। इस दिशा में केवल पहले क़दम ही उठाये गये थे।

रूस में संस्कृत का नियमित अध्यापन प्रो० **पावेल याकोव्लेविच पेत्रोव** (१८१४-१८७५) के नाम के साथ जुड़ा हुआ है। पेत्रोव कुछ समय तक राबर्ट लेंज़ के शिष्य थे। मास्को विश्वविद्यालय में उन्होंने प्राच्य भाषाओं की शिक्षा पानी शुरू की थी। उन्होंने अरबी और फ़ारसी भाषाएं सीखीं और कालांतर में मास्को विश्वविद्यालय में ये भाषाएं पढ़ाने लगे। विसरिओन बेलीन्स्की, जो आगे चलकर सुविख्यात साहित्यिक समीक्षक, जनवादी विचारक बने, विश्वविद्यालय में पावेल पेत्रोव के सहपाठी थे। दोनों प्रगाढ़ मित्र थे। एक-दूसरे को लिखे उनके पत्र सुरक्षित हैं, बेलीन्स्की अपने संबंधियों और मित्रों के नाम पत्रों में प्रायः अपने साथी पेत्रोव के बारे में बताते थे। १८२९ में एक पत्र में बेलीन्स्की ने लिखा : "पावेल पेत्रोव से मेरी दोस्ती हो गई है। यह वह दोस्ती है, जिस पर मैं सचमुच गर्व कर सकता हूं ... क्या आदमी

है! कितना ज्ञान है उसे!" बेलीन्स्की ने लिखा कि उनके मित्र का न केवल आधुनिक भाषाओं – फ्रांसीसी, जर्मन, अंग्रेजी, इतालवी, और प्राचीन भाषाओं – लातिनी और यूनानी पर अधिकार है, बल्कि प्राच्य भाषाओं – अरबी और फ़ारसी – पर भी, तथा वह बहुत अच्छी कविता भी करता है। "भाषाओं और विज्ञान के अध्ययन में वह अथक है... भाषाएं सीखने की उसमें अद्भुत अनबुझ पिपासा है – संस्कृत और तुर्की भाषाएं भी सीखना चाहता है। प्राच्य भाषाओं से उसे विशेष अनुराग है।" उल्लेखनीय है कि पेत्रोव की आयु तब केवल पंद्रह वर्ष थी और वह विश्वविद्यालय के द्वितीय वर्ष का छात्र था।

बेलीन्स्की, पेत्रोव और दूसरे विद्यार्थियों ने साहित्य में तथा अग्रणी सामाजिक विचारों में रुचि रखने वाले युवाजन की मंडली गठित की। इन लोगों ने इतालवी क्रांतिकारी उगो फ़ोस्कोलो की पुस्तक 'याकोव ओर्तिस के चुने हुए पत्र' का अनुवाद किया। १८३१ में इसका अनाम प्रकाशन हुआ। मिल्टन के 'खोया स्वर्ग' (पैराडाइज़ लॉस्ट) के कुछ अंशों का पेत्रोव ने रूपांतर किया, जो चौथे दशक के आरंभ में प्रकाशित हुए। १८३२ में पेत्रोव ने विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी की और वाङ्मीमांसा के कैंडीडेट (पी-एच० डी० के समतुल्य) की डिग्री पाई। शिक्षा आगे जारी रखने के लिए पेत्रोव राजधानी (पीटर्सबर्ग) गये। यहां १८३४ में क्रिश्चियन फ्रेन के निवेदन पर शिक्षा मंत्री सेर्गेई उवारोव ने पावेल पेत्रोव को पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में शोधकार्य के लिए स्थान दिया। लेकिन इससे पहले युवा विद्वान को अरबी और फ़ारसी की तथा संस्कृत की भी परीक्षा देनी पड़ी। संस्कृत की परीक्षा याकोव श्मीद्त ने ली। पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में पेत्रोव ने अरबी और फ़ारसी का अध्ययन जारी रखा तथा तुर्की और चीनी भाषाएं भी सीखीं। पेत्रोव ने लिखा: "कहीं भी पढ़ूं, बस पढ़ता रहूं – यही मेरा ध्येय है।" अपना सारा समय प्राच्य भाषाओं के अध्ययन में लगाते हुए पेत्रोव "उस यौवनसुलभ उन्माद के वशीभूत हो गये, जो सभी नौजवानों, विशेषतः रूसी नौजवानों के लिए लाक्षणिक होता है और जिसके कारण वे अपनी शक्ति का अनुमान लगाये बिना ही एकसाथ सभी कामों का बीड़ा उठा लेते हैं।" सभी प्रमुख प्राच्य भाषाओं का अध्ययन करने की लालसा युवा विद्वान के अथाह उत्साह की द्योतक है।

पेत्रोव का चरित्र, विज्ञान के प्रति उनकी निस्वार्थ भावना बेलीन्स्की के साथ पत्र-व्यवहार में विशेषतः स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हैं। अपने एक पत्र में पेत्रोव ने लिखा: "हां, मित्र, संसार के खोखले सुखों को त्यागकर, भौतिक आवश्यकताओं में न्यूनतम से ही संतोष पाकर और आत्मिक जगत को समेटने की अनबुझ प्यास जगाकर ही मनुष्य सुखी हो सकता है। यह महासागर बहुत गहरा है, लेकिन इसमें डूब पाना परम सुख है, मानवोचित है। भाषाओं के नीरस अध्ययन में भी दिव्य सुख मिलता है, यदि तुम इसे एक निर्जीव विषय के रूप में नहीं, बल्कि मानववाणी के सभी रूपों के सजीव ज्ञान की शक्ल में देखो।" पीटर्सबर्ग में अध्ययन के वर्षों

में संस्कृत ही पेत्रोव की रुचि का प्रमुख विषय बन गई। पीटर्सबर्ग पहुचने पर उन्हें कुस्तुंतुनिया में बहुत अच्छे पद के लिए प्रस्ताव मिला था, लेकिन उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया। अपने एक पत्र में उन्होंने इसके कारण के बारे में लिखा: "मुझे धन का लोभ नही है... मैं तो अपना जीवन संस्कृत को अर्पित कर रहा हूं।" युवा विद्वान को संस्कृत स्वय ही सीखनी पडी, फ़्रीडरिख आडेलुग और क्रिश्चियन फ्रेन ने उन्हें आवश्यक पुस्तके अवश्य दिलाई और अपने परामर्श भी दिये। पीटर्सबर्ग मे रह रहे एक जर्मन विद्वान, गेटिगन नगर के डाक्टर ने, जो संभवत फ़्रीडरिख बोल्लेन्ज़ेन थे, कुछ समय तक संस्कृत सीखने में पेत्रोव की मदद की, पेत्रोव ने उन्हें फ़ारसी सिखाई। पाठ व्याकरण के अध्ययन से आरभ होते थे, फिर संस्कृत की पुस्तके पढ़ते और अंतत पांडुलिपियों से परिचित होते। पेत्रोव बडी अधीरता से राबर्ट लेंज़ के विदेश से लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे। १८३३ में उन्होंने संस्कृत का अध्ययन शुरू किया। पेत्रोव ने लिखा: "कितनी उत्कृष्ट भाषा है! इसकी संरचना और व्यापक साहित्य पर मैं विस्मित हूं।" प्राकृते उन्हे मनमोहक और काव्यमय लगती हैं। संस्कृत उन्हें अपनी मातृभाषा से मिलती-जुलती लगती है, "इसे सीखना रूसी आदमी के लिए बाये हाथ का खेल है।" १८३५ में बेलीन्स्की के सहयोग से पेत्रोव ने नल-दमयंती की कथा के एक अंश का प्रकाशन किया। यह सीधे संस्कृत से रूसी मे किया गया पहला अनुवाद था। १८३६ में पेत्रोव ने लेंज़ के सूचीपत्र ा परिशिष्ट तैयार किया। १८३७ में उन्होंने उपनिषदों के प्रकाशन पर समीक्षा ाpी तथा मास्को विश्वविद्यालय के संग्रह में रखी अरबी, फ़ारसी और तुर्की की स्तलिखित रचनाओं का विवरण दिया।

एक संस्कृतविद के नाते पेत्रोव की परीक्षा थी – रामायण के 'सीताहरण' अंश का अनुवाद, पेत्रोव ने हस्तलिपियों के आधार पर यह अनुवाद किया और इसके साथ शब्दावली तथा विस्तृत व्याकरणिक विश्लेषण भी दिया। क्रिश्चियन फ्रेन और कतिपय प्राच्यविदों द्वारा इस कार्य को अनुमोदित कर दिये जाने पर पेत्रोव को बर्लिन में बोप्प से शिक्षा पाने भेजा गया। इसके अलावा बोन में उन्हें प्रसिद्ध संस्कृतविद क्रिश्चियन लास्सेन से, पेरिस में यूजीन बुर्नूफ़ से और फिर लंदन में भी शिक्षा पानी थी। पेत्रोव को संस्कृत के नाटकों तथा कश्मीर के इतिहास का अध्ययन करने और तब तक अप्रकाशित संस्कृत ग्रंथों के आधार पर शैक्षिक शब्दावली समेत एक पाठ्यपुस्तक (रीडर) तैयार करने का कार्यभार सौंपा गया। इसके लिए उन्हें ब्राह्मण धर्म के ही नहीं, बौद्ध धर्म के भी ग्रंथों को चुनना था। इस प्रकार पेत्रोव के वैज्ञानिक कार्यकलाप एक तरह से लेज़ द्वारा आरभ किये गये कार्य को ही आगे बढ़ाते थे। बोप्प ने युवा रूसी प्राच्यविद की योग्यता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए फ्रेन को लिखा: "मुझे इसमें कोई संदेह कि व्यापक और गूढ़ ज्ञान का धनी यह प्रतिभावान युवा विद्वान भारतीय वाङमीमांसा की कीर्त्ति बढ़ायेगा और मेरे मित्र तथा भूतपूर्व शिष्य लेंज़ का, जिससे दुर्भाग्यवश विज्ञान इतनी जल्दी ही वंचित हो

गया है, योग्य उत्तराधिकारी होगा।" विदेश में पेत्रोव ने 'पद्मपुराण' और कल्हण की 'राजतरंगिणी' जैसी संस्कृत की पुस्तकों का ही नहीं, अपितु 'अवेस्ता' की भाषा (ज़ेंद) और समसामयिक बंगला का भी अध्ययन किया। लेकिन १८४० में रूस लौटने पर इस प्रतिभावान और अपार ज्ञान के स्वामी विद्वान को कोई काम नहीं मिला, भयानक गरीबी का मुंह उसे देखना पड़ा, "भगवान जाने कैसे, क्या खाकर" वह जिया, ट्यूशनें देकर और पत्रिकाओं में लेख लिखकर जैसे-तैसे रोटी-पानी का बंदोबस्त हो पाता। इन्हीं दिनों पेत्रोव ने महाभारत से सावित्री की और द्रौपदी-चीरहरण की कथाओं के अनुवाद छापे। पाली भाषा तथा दक्षिणपूर्वी एशिया के बौद्ध साहित्य के बारे में इन्हीं दिनों लिखा उनका लेख भी उल्लेखनीय है।

१८४१ में पेत्रोव को रूस के एक प्राचीनतम और सबसे बड़े विश्वविद्यालय – कज़ान विश्वविद्यालय – में संस्कृत पढ़ाने के लिए बुलाया गया। उन दिनों इस विश्वविद्यालय के रेक्टर महान रूसी गणितज्ञ निकोलाई लोबाचेव्स्की थे। विश्व-विद्यालय की "प्राच्य शाखा" का काफ़ी विस्तार किया गया। लोबाचेव्स्की के दिनों में कज़ान नगर रूस में प्राच्यविद्या का प्रमुखतम केंद्र बन गया। कज़ान विश्वविद्यालय पहला विश्वविद्यालय था, जिसने सीधे भारत के साथ वैज्ञानिक सम्पर्क स्थापित किये। १८२७ में विश्वविद्यालय की परिषद ने पेशावर के मुहम्मद ख़लील इब्न ग़फ़रानुल्ला को अपना संवादी चुना। भारतीय विद्वान ने संस्कृत और अरबी की कतिपय पांडु-लिपियां कज़ान भेजीं। एशियेटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल के साथ संबंधों की बदौलत कज़ान विश्वविद्यालय कलकत्ता में प्रकाशित सामग्री पाता था। १८४२ में लोबाचेव्स्की और मंगोलिया व बौद्ध धर्म के विशेषज्ञ ओसिप कोवालेव्स्की की पहलक़दमी पर विश्वविद्यालय में संस्कृत का विशेष विभाग खोला गया और पेत्रोव ने इसका दायित्व संभाला। यह रूस में संस्कृत का पहला विभाग था।

कज़ान में पेत्रोव को विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में संस्कृत की पांडुलिपियां और भारतविद्या पर पुस्तकों का बहुत अच्छा संग्रह मिला। संस्कृत के अध्यापन के लिए नींव बनाई जा चुकी थी। आरंभ में केवल विश्वविद्यालय में ही नहीं, अपितु उच्च माध्यमिक विद्यालय में भी संस्कृत पढ़ाने की योजना थी। पावेल पेत्रोव ने इन पाठों के कार्यक्रम तैयार और प्रकाशित भी किये। विश्वविद्यालय में संस्कृत का पाठ्यक्रम तीन वर्ष का था। यह बोप्प और लास्सेन की पाठ्यपुस्तकों पर आधारित था। विद्यार्थियों को संस्कृत भाषा ही नहीं, साहित्य भी पढ़ाया जाता था। कार्यक्रम के अनुसार पाठों का दायरा बहुत व्यापक था। पाठ्यक्रम भारतीय भाषाओं और लिपियों की उत्पत्ति, स्वन प्रणाली, वर्णमाला और सुलेख के अध्ययन से आरंभ होता था। व्याकरण का सैद्धांतिक पक्ष से नहीं, बल्कि मुख्यतः पाठों के विश्लेषण के आधार पर अध्ययन किया जाता था। इस प्रकार, भाषा का अध्यापन व्यावहारिक था, जो कि कुल जमा कज़ान में प्राच्यविद्या के लिए लाक्षणिक था। संस्कृत के अलावा पाली, हिंदुस्तानी, बंगाली और भारत की दूसरी जीवित भाषाओं से भी विद्यार्थियों को

परिचित कराने का प्रावधान था। पेत्रोव प्राचीन और नूतन भारतीय भाषाओं के बीच घनिष्ठ संबंध की ओर विद्यार्थियों का ध्यान दिलाते हुए कहते थे कि "संस्कृत की सहायता के बिना ... (नूतन भाषाएं) जानना असंभव है, बशर्ते छात्र केवल बोलचाल की भाषा तक ही सीमित न रहना चाहता हो," उधर "संस्कृत के लिए हिंदू बोलियों के अध्ययन के महत्त्व की तो हम बात ही नही करते क्योंकि यह स्वतः स्पष्ट है ; ये दोनों एक दूसरे की पूरक हैं।" इस प्रकार, कालांतर के प्रमुख रूसी भारतविद इवान मिनायेव की ही भांति, पेत्रोव भी प्राचीन और नूतन भाषाओं को प्रत्यास्थापना नही करते थे, उनके मन में समसामयिक भारतीय भाषाओं के प्रति किसी तरह का हेय भाव नही था। भाषा के अध्ययन के साथ-साथ विद्यार्थियों को भारत के लौकिक और धार्मिक साहित्य से भी परिचित कराया जाता था, जिनमें इतिहास, आयुर्विज्ञान, दर्शन और संगीत, आदि विषयों पर रचनाएं भी होती थीं। संस्कृत ग्रंथों को पढ़ पाने के लिए भारतीय मिथकों को जानना आवश्यक था। विश्वविद्यालय के कार्यक्रम के अनुसार मंगोल-तातार और चीनी विभागों के विद्या-र्थियों के लिए भी संस्कृत सीखना अनिवार्य था। दूसरी विशिष्टताओं के प्राच्यविद भी संस्कृत के लेक्चर सुनते थे। विश्वविद्यालय में पहले बुर्यात विद्वान दोर्जी बंज़ारोव ने भी पेत्रोव से संस्कृत सीखी थी।

कज़ान में अपने काम के पहले वर्षों में पेत्रोव बडे उत्साह से वैज्ञानिक कार्य-कलापों में रत रहे। हर साल उनकी रचनाएं प्रकाशित होती थी – जयदेव कृत 'गीतगोविंद' के अंशों का अनुवाद तथा 'घटखर्परम' काव्य का संस्कृत पाठ, हिंदुओं के साहित्य का सर्वेक्षण और 'संस्कृत संग्रह'। 'संग्रह' (१८४६) में महा-भारत और रामायण, हितोपदेश और कथासरितसागर से, ब्रह्मांडपुराण, राज-तरंगिणी, आदि से लिये गये अंश शामिल थे। इस संग्रह का मुद्रण बडी कठिनाई से हुआ। देवनागरी का टाइप बर्लिन से मंगाना पड़ा और स्वयं पेत्रोव को कम्पोज़िंग का काम करना पडा। इसका टीका और शब्दावली सहित दूसरा संस्करण नहीं निकाला जा सका। समय बीतने के साथ-साथ पेत्रोव अपने पत्रों में "बौद्धिक एकाकी-पन" की शिकायत करने लगे, उनकी रचनाएं कम प्रकाशित होने लगीं। १८५२ में जब मास्को में संस्कृत विभाग खोलने का फ़ैसला किया गया, तो पेत्रोव ने कज़ान छोड़ दिया। वे मास्को विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर हो गये और यहां अपने जीवन के लगभग अंतिम दिनों तक संस्कृत तथा अरबी व फ़ारसी भाषाएं पढाते रहे।

पेत्रोव पूरब की प्राचीन और नूतन दोनों ही तरह की भाषाओं को जीवित मानते थे, उन्होंने न केवल हाफ़िज़ की कविताओं का अनुवाद किया, बल्कि स्वयं भी हाफ़िज़ के अंदाज़ में फ़ारसी में शायरी की। पेत्रोव के एक समसामयिक ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि पेत्रोव एक जीवित भाषा के रूप में संस्कृत बोलते और लिखते थे। उन्होंने बायरन का संस्कृत में अनुवाद किया, इसके लिए उन्होंने संस्कृत के ऐसे छंद ढूंढने और कभी-कभी स्वयं रचने की कोशिश की, जो आधुनिक कवि

की रचनाओं को हमारे सुदूर पूर्वजों की भाषा में अनुवाद करने के लिए उपयुक्त होते। पेत्रोव पूरब के जिन रचनाकारों का अध्ययन कर रहे होते थे, उनकी शैली और अंदाज का अनुकरण करने की कोशिश करते थे। भाषा के अध्यापन की उनकी विधि मूल पाठों के आधार पर व्याकरण की व्यावहारिक शिक्षा पाने की ओर लक्षित थी। पेत्रोव के व्यापक ज्ञान का साक्षी था उनका पुस्तकालय, जिसकी वसीयत उन्होंने मास्को विश्वविद्यालय के नाम की। इसमें संसार की सौ भाषाओं में लगभग दो हज़ार पुस्तकें थीं। अधिकांश पुस्तकों पर पेत्रोव के हाथ की लिखी टिप्पणियां हैं। सुविख्यात रूसी संस्कृतविदों और भाषाविज्ञानियों – फ़िलीप्प फ़ोर्तुनातोव, व्सेवोलोद मिल्लेर, फ्योदोर कोर्श, आदि – ने पेत्रोव से प्राचीन भारतीय भाषाएं सीखीं।

खेदवश, पावेल पेत्रोव ने अपना कोई ऐसा शिष्य प्रशिक्षित नहीं किया, जो उनके बाद विभाग का काम संभाल सकता। लब्धप्रतिष्ठ ईरानविद अकादमीशियन कार्ल ज़ालेमन का कहना था कि चहुंमुखी प्रतिभा के धनी इस भाषाविद, अध्यापक और मननशील शोधकर्त्ता का "विज्ञान की सफलताओं पर आगे कोई प्रभाव नहीं पड़ा... उनके बाद कुछ छोटे-मोटे लेख ही रह गये, जिनका स्वरूप सांयोगिक ही था और जो विज्ञान पर अपनी कोई छाप छोड़े बिना ही विस्मृति के गर्भ में समा गये।" मास्को में प्रायः पच्चीस वर्ष के वैज्ञानिक कार्यकलापों के दौरान पेत्रोव ने बहुत ही कम रचनाएं प्रकाशित कीं. उन सामग्रियों पर, जो उन्होंने यौवन के दिनों में ही फ्रेन के निर्देश पर एकत्रित की थीं, एक लेख – 'पूर्वी शब्दों के सजातीय या समान कतिपय रूसी शब्दों की सूची', प्राच्य लिपियों का सर्वेक्षण, कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' के कुछ अंशों के अनुवाद। अपने जीवन के अंतिम वर्षों में इस विद्वान ने उत्तरी भारत की प्रमुख भाषाओं – बंगला, हिंदुस्तानी, मराठी – का सर्वेक्षण कुछ लेखों के रूप में छापा। इन लेखों में नूतन भारतीय भाषाओं के व्याकरण और संस्कृत से उनके संबंध के बारे में जानकारी दी गई थी, इन भाषाओं के साहित्य पर लेख दिया गया था तथा कुछ रचनाओं के अंशों का अनुवाद और कुछ का सारांश दिया गया था। उर्दू गद्य में से पावेल पेत्रोव ने मीर अम्मन के 'बाग़ोबहार' के तथा हिंदी के 'प्रेमसागर' के कुछ अंशों का अनुवाद दिया था। उन्होंने "ब्रिटिश उपनिवेशों में शिक्षा के आधुनिक आंदोलन" की ओर ध्यान दिलाया था और यह मत व्यक्त किया था कि "प्राचीन हिंदू विद्या और यूरोपीय विद्या के संगम से बहुसंख्यक भारत के लिए प्रचुर लाभ होगा।" पावेल पेत्रोव की वैज्ञानिक धरोहर में बहुत कुछ रोचक है, किंतु फिर भी अकादमीशियन ज़ालेमन की निर्मम टिप्पणी सही है। यहां हम ज़ारशाही रूस में एक विद्वान की त्रासदी पाते हैं। उनके शिष्य वसीली ग्रिगोर्येव ने पुरानी रूसी प्राच्यविद्या के भाग्य का मूल्यांकन करते हुए लिखा था कि "समाज में विज्ञान के प्रसार का निश्चित स्तर, उसमें विज्ञान की मांग के विकास का निश्चित स्तर होना आवश्यक है" जबकि तत्कालीन रूस में, उनके विचार में, विज्ञान "समाज की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता नहीं, बल्कि वैभव था, सरकारी चिंता से उत्पन्न मरियल

फल था।" १९वीं सदी के मध्य में सामाजिक और राजनीतिक विकास में रूस के पिछड़ेपन के कारण "शुद्ध विज्ञान" के क्षेत्र में भी पिछड़ेपन फैला हुआ था। ज़ार निकोलाई प्रथम के शासनकाल (१८२५-१८५५) के कठोर दशक भी घातक सिद्ध हो रहे थे। उस काल के प्रतिभावान रूसी संस्कृतविद पावेल पेत्रोव अन्य अनेक रूसी प्राच्यविदों की ही भांति "बौद्धिक एकाकीपन" अनुभव कर रहे थे और वस्तुतः उन्होंने लिखना छोड़ दिया था।

रूस में संस्कृतविद्या के एक दूसरे मेधावी प्रवर्तक **काएतान कोसोविच** (१८१५-१८८३) का भाग्य भी ऐसा ही रहा। उपरोक्त ग्रिगोर्येव ने ही यह भी लिखा था कि कोसोविच "रूसी विज्ञान के इतिहास में एक विलक्षण व्यक्ति है... विज्ञान की सेवा में लगे ऐसे उदात्त कर्मठ व्यक्ति का विरला उदाहरण है, जिसने अपना ज्ञान इतनी अधिक प्रतिकूल परिस्थितियों मे प्राप्त किया हो।" बेलोरूसी पादरी के पुत्र कोसोविच ने लड़कपन मे ही "भूखे रहते हुए अटारी में ठंड सहते हुए लातिनी के अध्ययन की धुन पकड़ ली थी," और इसमें इतने सफल रहे थे कि वीतेब्स्क नगर के उच्च माध्यमिक विद्यालय ने उन्हें वहां की शिक्षा पूरी करने से पहले ही मास्को विश्वविद्यालय में पढ़ने भेज दिया था। मास्को में वे विसरिओन बेलीन्स्की और निकोलाई स्तान्केविच जैसे विलक्षण रूसी साहित्यकारों और प्रगतिशील चिंतकों के सम्पर्क में आये। १८३६ में दर्शनशास्त्र संकाय से स्नातक होने के पश्चात युवा विद्वान को तब तक छोटे-मोटे कामो से ही आजीविका का प्रबंध करना पड़ा, जब तक कि अंततः त्वेर (वर्तमान कलीनिन) नगर के उच्च माध्यमिक विद्यालय में उन्हें प्राचीन यूनानी भाषा के अध्यापक की नौकरी नहीं मिल गई। कोसोविच "यूनानी के दीवाने" थे, प्राचीन यूनानी और लातिनी भाषाओं एवं साहित्य के वे प्रेमी व मर्मज्ञ थे। अपने भाई इग्नाती कोसोविच के साथ मिलकर उन्होंने यूनानी-रूसी शब्दकोश बनाया। काएतान कोसोविच ने यूनानी भाषा के व्याकरण का रूसी में अनुवाद भी किया, यूनानी गद्य-पद्य संग्रह तथा छोटे यूनानी-रूसी और रूसी-यूनानी शब्दकोश संकलित किये।

१८४३ से कोसोविच मास्को के एक उच्च माध्यमिक विद्यालय में प्राचीन यूनानी भाषा पढ़ाने लगे। इन्ही दिनों जाने-माने साहित्यकार, दार्शनिक और सार्वजनिक कार्यकर्त्ता अलेक्सेई खोम्याकोव से उनका निकट परिचय हुआ और उन्होंने स्वतंत्र रूप से संस्कृत सीखनी शुरू की। १८४४ में ही संस्कृत से उनके पहले अनुवाद छपने लगे: जीमूतवाहन 'विद्याधर की कथा', महाभारत से सुंद-उपसुंद की कथा, भागवतपुराण का एक अंश (ध्रुव की कथा), आदि। भागवतपुराण का अनुवाद कोसोविच ने यूजीन बुर्नूफ़ के प्रकाशन से किया था और मूल पाठ के कुछ स्थानों की व्याख्या फ्रांसीसी संस्कृतविद की व्याख्या से भिन्न की थी। शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' के पहले अंक का अनुवाद भी उन्होंने छापा और नायिका के नाम पर रूसी में इसका शीर्षक 'वसंतसेना' रखा। संस्कृविद्या के क्षेत्र में कोसोविच का सर्वाधिक

महत्त्वपूर्ण कार्य था कृष्णमिश्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' का अनुवाद, जो उन्होंने ब्रोकहाउस के १८४५ के प्रकाशन के आधार पर किया था। यह संस्कृत साहित्य की पहली रचना थी, जिसे पूरा का पूरा रूसी में रूपांतरित किया गया था। रूस में यह नाटक १८४७ में छपा, अर्थात यूरोप में इसके ज्ञात होने के तुरंत पश्चात ही। कृष्णमिश्र का नाटक धार्मिक-दार्शनिक समस्याओं को समर्पित है, इसमें दिगम्बर जैनों, कापालिकों, चार्वाकों, बौद्धों तथा दूसरे भारतीय धार्मिक और दार्शनिक मतों पर प्रकाश डाला गया है। रूसी अनुवादक के विचार में इसका दार्शनिक अंतर्य समसामयिक रूसी समाज के लिए न केवल रोचक, अपितु तात्कालिक भी था, क्योंकि रूसी समाज में तब उग्र विचारधारात्मक संघर्ष चल रहा था। कोसोविच के सम्मुख एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी – अनुवाद की भाषा और शैली की समस्या। यह अनुवाद उन्होंने रूसी नाटक साहित्य की सर्वश्रेष्ठ परम्पराओं का पालन करते हुए किया। अनुवाद मूल रचना के पूर्णतः अनुरूप था, समसामयिक लोगों के मत में यह सौष्ठवमय था। नाटक के जटिल स्थानों को स्पष्ट करने के लिए कोसोविच ने संस्कृत साहित्य पर विशेष टिप्पणियां लिखीं। इसके अलावा उन्होंने संस्कृत के दार्शनिक शब्दों की भी व्याख्या दी। संस्कृत शब्द छापने के लिए कोसोविच के आर्डर पर मास्को विश्वविद्यालय के मुद्रणालय में विशेष टाइप गढ़ा गया। खेदवश रूसी साहित्य में इस प्रकाशन की ओर प्रायः ध्यान नहीं दिया गया। कृष्णमिश्र के नाटक के प्रकाशन का मूल्यांकन करते हुए सुविख्यात लेखक और विद्वान, पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के रेक्टर प्योत्र प्लेत्न्योव ने अनुवादक को लिखा: "यह ऐसा पराक्रम है, जो रूसी समीक्षकों की समझ से बाहर है।" उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि वह समय आयेगा जब कोसोविच का नाम "रूस में संस्कृत वाङ्मय के अध्ययन के संस्थापक के नाते आदर और कृतज्ञता से लिया जायेगा।"

१८५० से कोसोविच पीटर्सबर्ग में जन पुस्तकालय (पब्लिक लाइब्रेरी) में वैज्ञानिक रचनाओं के सम्पादक का काम करने लगे। पुस्तकालय की प्राच्य पुस्तकों और पांडुलिपियों का विभाग भी उनके अधीन था और उन्होंने इनकी संदर्भसूची बनाने पर काम किया। पुस्तकालय की भारतीय पांडुलिपियों को मिलाने के लिए १८५१ में कोसोविच विदेश गये और वहां पश्चिमी यूरोप के प्रमुखतम भारतविदों से मिले। छठे दशक के मध्य में कोसोविच ने भाषाविज्ञान विषयक कुछ रचनाएं लिखीं। उन्होंने संस्कृत और रूसी की शब्दावली की तुलना पर अलेक्सान्द्र हिल्फ़ेर्डिंग के कार्य का स्वागत किया। १८५४ में विज्ञान अकादमी के प्रस्ताव पर कोसोविच संस्कृत-रूसी शब्दकोश छापने लगे। उन्हें आशा थी कि इस तरह वे अपने देश के विद्वानों के लिए "संसार की एक प्राचीनतम और सर्वाधिक सौष्ठवमय भाषा के अध्ययन का द्वार" खोल सकेंगे। कोसोविच का शब्दकोश रूसी वर्णमाला पर आधारित था, वह पूरा नहीं हो पाया। १८५६ तक उसके तीन भाग ही प्रकाशित हुए।

१८५५ में राजधानी के पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में प्राच्य भाषा संकाय स्थापित

किया गया। १८५८ में यहां संस्कृत के अध्यापन का काम कोसोविच को सौंपा गया। शैक्षिक ध्येय से उन्होंने कुछ कृतियों का प्रकाशन किया, जिनमें महाभारत की आखेटक और कपोत-युग्म की कथा भी थी; पाठों का लातिनी अनुवाद और शब्दावली भी साथ में दी गई थी। १८५९ में प्राच्य भाषा संकाय की संस्कृत-फ़ारसी शाखा के उद्घाटन के समय संस्कृत भाषा एवं साहित्य पर परिचयात्मक व्याख्यान में कोसोविच ने रूस में संस्कृतविद्या को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने कहा: "संस्कृत पूर्णतम रूपों और सर्वाधिक परिष्कृत गठन वाली भाषा का उदाहरण है, मानव वाङ्मय की चरम परिष्कृति का उदाहरण है।" वाङ्मीमांसक के लिए संस्कृत का वैज्ञानिक महत्त्व निर्विवाद है, क्योंकि संस्कृत "उसकी विद्या की नींव" है। संस्कृत ही "जातियों की भाषाओं में उनकी बंधुत्वपूर्ण एकता" सिद्ध करती है। कोसोविच ने "स्लाव भाषा के साथ संस्कृत के घनिष्ठ संबंध" की याद दिलाई। लेकिन संस्कृत का महत्त्व इतने तक ही सीमित नहीं है। संस्कृत "एक तिहाई मानवजाति के लिए पावन भाषा है।" एशिया के लिए उसकी भूमिका वही है जो यूरोप के लिए यूनान और रोम की क्लासिकीय भाषाओं की। एशिया में संस्कृत का महत्त्व एक विशालतम विश्व धर्म – बौद्ध धर्म – के विस्तार से संबंधित है। संस्कृत साहित्य का सिंहावलोकन करते हुए कोसोविच ने यह इंगित किया कि "भारतीय नाटक शेक्सपियर के और यूनानी नाटकों से अधिक विविधतापूर्ण है," और "तथाकथित शुद्ध विद्याओं के संस्कृत ग्रंथ प्रायः ऐसे परिणाम दर्शाते हैं, जिन पर जिज्ञासु यूरोपीय विज्ञान हाल ही में पहुंच पाया है।" अंत में कोसोविच ने यह निष्कर्ष व्यक्त किया कि "रूस को संस्कृतविद की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी गणितज्ञ की, इतिहासविद की।"

इस प्रकार प्राचीन भारतीय संस्कृति का उच्चतम मूल्यांकन किया गया, लेकिन साथ ही भारतविद्या को सारतः संस्कृतविद्या तक ही सीमित माना गया।

अपने वैज्ञानिक कार्य के अंतिम चरण में कोसोविच ने संस्कृतविद्या संबंधी शोधकार्य और अनुवाद बहुत थोड़े ही प्रकाशित किये। उनका कार्यक्षेत्र मुख्यतः ईरानविद्या तक सीमित था। यहां 'अवेस्ता' के कुछ श्लोकों का लातिनी अनुवाद, वाङ्मीमांसात्मक और आलोचनात्मक टिप्पणियों सहित प्रकाशन तथा अख़ामनीष युग के कीलाक्षर अभिलेखों का प्रकाशन उल्लेखनीय है।

चौथाई सदी तक कोसोविच पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाते रहे। आरंभ में विद्यार्थी अडोल्फ़ फ्रीडरिख़ श्तेत्सलेर की पुस्तक में से पाठ पढ़ते, फिर मनुस्मृति, कालिदास के 'मेघदूत' और जयदेव के 'गीतगोविंद' के अंश। भाषा के पाठों के अलावा कोसोविच विद्यार्थियों को भारतीय जीवन और संस्कृति के स्वरूप के बारे में, प्राकृतों की विशिष्टताओं, संस्कृत के दार्शनिक शब्दों, आदि के बारे में बताते थे। कोसोविच की रचनाओं की ही भांति उनके अध्यापन कार्य में सुघड़ वैज्ञानिक विधि का अभाव, निस्संदेह, महसूस होता था। भारतविद्या के इतिहास

में कोसोविच का प्राय: कोई शिष्य उल्लेखनीय नहीं है, सिवाय एक अपवाद के– यह थे महान रूसी भारतविद इवान मिनायेव।

पांचवें-छठे दशकों में संस्कृत के प्रति रूसी लोगों की रुचि स्लावप्रेमियों की कुछ रचनाओं से भी संबंधित थी। स्लावप्रेम पिछली सदी के मध्य में रूस में सामाजिक चिंतन की एक धारा था। स्लावप्रेमी पश्चिमी यूरोप के अनुकरण का विरोध करते थे, रूस के विकास की राष्ट्रीय मौलिकता के कट्टर समर्थक थे। लोक गीतों और रीति-रिवाजों का, रूस के प्राचीन इतिहास का बारीकी से अध्ययन और सर्वस्लाव बंधुत्व के विचार की रक्षा – यह स्लावप्रेमियों के लिए लाक्षणिक था। वैसे एक धारा के नाते स्लावप्रेम का सामाजिक अंतर्य विविधतापूर्ण था, एक ओर यह धारा रूढ़िवादी और सरकारी हलक़ों के समीप थी, तो दूसरी ओर कुछ मामलों में उदारतावादी और सरकार की नीति की विरोधी भी। विज्ञान के विकास में स्लावप्रेम ने स्लाव संस्कृति के प्राचीनतम स्रोतों के प्रति तथा मातृभाषा की श्रेष्ठता के प्रति रुचि जगाने का काम किया। स्लावप्रेम धारा के एक संस्थापक और इसके प्रमुखतम प्रतिनिधि, सार्वजनिक कार्यकर्त्ता, चिंतक और कवि अ० ख़ोम्याकोव की संस्कृत में रुचि थी और उन्होंने इसका अध्ययन भी किया। उनके प्रभाव से ही एक दूसरे स्लावप्रेमी लोक गीतों के प्रसिद्ध संग्रहकर्त्ता **अ० हिल्फ़ेर्डिंग** भी संस्कृत की ओर उन्मुख हुए। अ० ख़ोम्याकोव कोसोविच के 'मित्र और शिक्षक' थे, जबकि हिल्फ़ेर्डिंग ने कोसोविच से ही संस्कृत सीखी। १८५३ में हिल्फ़ेर्डिंग ने 'स्लाव भाषा और उसकी संबंधी भाषाएं' नामक शोधकृति प्रकाशित की और इसके साल भर बाद एक विशद ग्रंथ – 'संस्कृत भाषा के साथ स्लाव भाषा का संबंध'। हिल्फ़ेर्डिंग की रचनाओं में निहित प्रमुख विचार निम्न थे – भारोपीय भाषाओं का अध्ययन कर रहे जर्मन भाषाविद स्लाव भाषाओं के महत्त्व का उचित मूल्यांकन नहीं करते हैं। "स्लावों की भाषा ने अपनी सभी बोलियों में वे धातुएं और शब्द बनाये रखे हैं, जो संस्कृत में हैं।" "इस दृष्टि से... भाषाओं का सामीप्य... आसाधारण है।... अन्य किसी भी यूरोपीय भाषा में संस्कृत से संबंधित इतने शब्द नहीं मिलेंगे, जितने... स्लाव भाषा में।" इस विद्वान का कहना था कि रूसी भाषा में एक-दो दर्जन ही ऐसे शब्द होंगे, जिनसे संबंधित शब्द संस्कृत में न हों। वह यह सिद्ध करते थे कि सारी स्लाव भाषा में मूल भारोपीय तत्व ही हैं और उसकी एक भी ऐसी विशिष्टता नहीं है, जो संस्कृत में भी न हो। शब्दावली की तुलना करते हुए हिल्फ़ेर्डिंग इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि संस्कृत और स्लाव भाषा से निकट का संबंध केवल लिथुआनियाई भाषा का ही है और वे भारोपीय समष्टि में एक तरह से एक अलग परिवार ही हैं। उनका मत था कि स्लाव, संस्कृत और लिथुआनियाई भाषाओं का अपना विशिष्ट संबंध है, जो प्रागैतिहासिक काल से चला आया है। अंत में पुस्तक के लेखक ने यह विचार व्यक्त किया: "स्लावों को अपनी भाषा पर गर्व होना चाहिए... अकेले उन्होंने ही चिंतन की वह नूतनता और वह सृजन भाव बनाये रखा है, जो भारो-

पीय मूल की धरोहर है।" १८५५ में प्रकाशित अ० खोम्याकोव की पुस्तक 'संस्कृत के साथ रूसी शब्दों की तुलना' भी इसी भाव-प्रवाह में लिखी गई। लेखक के मत में मानवजाति के शैशवकाल के अनुपम दिनों से "हिंदू चिंतन और स्लाव जीवनचर्या ही शेष रहे हैं।" भारतीय और स्लाव "बंधु हैं, जिनका बंधुत्व शब्द रूपों की पूर्ण समानता तथा समान मूल से उनके तर्कसंगत सुघड़ विकास में प्रकट होता है।" "रूसी के लिए संस्कृत शब्दों की ध्वनि परिचित है, हमें आश्चर्य इस पर नहीं कि अनेक परिचित शब्द हैं, अपितु इस पर है कि संस्कृत में अपरिचित शब्द भी हैं।" खोम्याकोव और हिल्फ़ेर्डिंग अपने भाव-प्रवाह में इतने बह गये कि उन्होंने संस्कृत और स्लाव को अलग-अलग भाषाएं नहीं, बल्कि एक ही भाषा की बोलियां घोषित कर दिया।

उपरोक्त लेखकों की रचनाओं के लिए अतिशयोक्ति और एकतरफ़ापन लाक्षणिक थे। भाषा की शब्दावली में व्यापक समानता का आधार बहुत खुली और सतही तुलनाएं थीं। वैसे कुछ तुलनाओं को कतिपय लब्धप्रतिष्ठ भाषाविद, उदाहरणतः प्रसिद्ध स्लावविद और संस्कृतविद इग्नाती यागिच, उचित मानते हैं। यूरोपीय विद्वानों द्वारा स्लावों और स्लाव भाषाओं की ऐतिहासिक भूमिका का उचित मूल्यांकन न किये जाने संबंधी विचार भी सही है। (उदाहरणतः, सुविदित है कि पिछली सदी में जर्मन विद्वान भारोपीय भाषाओं को भारतीय-जर्मन भाषाएं ही कहते थे।) खोम्याकोव और हिल्फ़ेर्डिंग के भाषाविज्ञान संबंधी शोधकार्य आज कुल जमा पुराने पड़ गये हैं, १९वीं सदी के मध्य में ही इन्हें सुवैज्ञानिक कार्य कहना कठिन था। वैसे विज्ञान के इतिहास की दृष्टि से ये कार्य रोचक अवश्य हैं, क्योंकि इनमें वह सामाजिक वातावरण स्पष्टतः देखा जा सकता है, जिसमें तुलनात्मक भाषाविज्ञान और संस्कृतविद्या के क्षेत्र में तब काम हो रहा था। साथ ही इनमें प्राचीन भारतीय सभ्यता के प्रति रुचि भी प्रतिबिम्बित हुई है।

१९वीं सदी के मध्य में रूस में संस्कृतविद्या के प्रवर्तकों में हम विज्ञान की निष्काम सेवा में रत उत्साही लोगों को देखते हैं, जिन्होंने अपने वैज्ञानिक कार्य में अपार कठिनाइयों को पार किया। इनमें सर्वप्रथम वे विद्वान थे, जिन्होंने स्वयं ही संस्कृत का अध्ययन किया, जिन्हें इसकी विधिवत शिक्षा नहीं मिली। प्राचीन भारत की भाषा की संपन्नता और स्लाव भाषाओं से इसकी समीपता ने ही रूसी अनुसंधानर्ताओं का ध्यान आकर्षित किया। इन विद्वानों की रुचि प्रायः शुद्धतः वैज्ञानिक ही थी और भारत की संस्कृतिक उपलब्धियों के प्रति उनके मन में जागी प्रशंसा से ही निर्धारित होती थी। उन्होंने रूसी लोगों को प्राचीन भारतीय वाङमय की कालजयी रचनाओं से परिचित कराने की चेष्टा की, तथापि संस्कृतविद्या एक अमूर्त विद्या ही रही, जो रूसी समाज की आकांक्षाओं और अभिरुचियों से बहुत दूर प्रतीत होती थी।

संस्कृत काव्य की केवल एक कृति ने रूसी साहित्य में अपना अभिन्न स्थान बनाया। यह रचना थी – 'नल-दमयंती' उपाख्यान का अनुवाद, जो वसीली झुकोव्स्की

ने किया (१८४४ में यह प्रकाशित हुआ)। यह अनुवाद सीधे संस्कृत से नही, बल्कि फ़्रीडरिख़ रुक्कर्ट के जर्मन अनुवाद से किया गया था। रूसी कवि जर्मन स्वच्छदतावाद (रोमांटिसिज़्म) से प्रभावित थे और भारत में उनकी रुचि तथा 'नलदमयंती' का उनका बोध भारतीय काव्य के प्रति स्वच्छंदतावादियों के रुख़ के समान था। आ० श्लेगेल का उद्धरण देते हुए झुकोव्स्की ने इस कथा के "आद्य, अकलुष सौंदर्य, विचारों और कोमल भावनाओं की उदात्तता" का उल्लेख किया। वसीली झुकोव्स्की का 'नल-दमयती' १९वीं सदी के पूर्वार्ध में रूसी काव्य की एक विलक्षण और सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है। कालांतर मे स्वरकार अन्तोन अरेन्स्की ने इसे सगीतबद्ध किया और रूसी रगमच पर 'नल-दमयती' ओपेरा मचित हुआ। वसीली झुकोव्स्की ने रुक्कर्ट के अनुवाद को "अधिक काव्यमय" मानकर चुना था, हालांकि वैज्ञानिक सटीकता की दृष्टि से बोप्प का अनुवाद मूल के अधिक निकट था। अपनी 'भारतीय कथा' में झुकोव्स्की ने मूल के प्रति निष्ठा की अधिक परवाह नही की, शाब्दिक अनुवाद देने के बजाय रुक्कर्ट का अनुकरण अधिक किया। उनके 'नल-दमयंती' को महाभारत के एक अंश के अनुवाद की अपेक्षा भारतीय कथा पर आधारित रूसी काव्य कहना अधिक सही होगा।

कुछ वर्ष पश्चात 'नल-दमयंती' उपाख्यान का सीधे संस्कृत से भी रूसी में अनुवाद हुआ। रूसी पाठकों को पसंद आई रचना को सुविख्यात संस्कृतविद काएतान कोसोविच के भाई इ० कोसोविच ने वाङ्मीमांसा की दृष्टि से अधिक सही रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इ० कोसोविच क्ल्याज़्मा नदी के तट पर बसे प्रांतीय नगर व्लादीमिर में रहते थे।

रूसी काउंट अ० सल्तिकोव के यात्रा-संस्मरणों में भारत की छवि रोमांटिक रगो मे रजित थी। उनके 'भारत के पत्र' रूसी और फ़्रांसीसी भाषाओं में छपे थे, इनके साथ लेखक द्वारा बनाये गये रेखाचित्र भी थे। यह पुस्तक यूरोप मे सुज्ञात थी। उदाहरणत:, कार्ल मार्क्स ने अपने एक लेख में भारतीय जनता के प्रतिभासंपन्न होने के बारे मे अ० सल्तिकोव के शब्द उद्धृत किये थे।

रूसी विश्वविद्यालयों मे लेक्चरों और पाठ्यपुस्तको में प्राचीन भारत के इतिहास पर प्रकाश डाला जाता था। मास्को विश्वविद्यालय के मशहूर प्रो० तिमोफ़ेई ग्रानोव्स्की, जिनके लेक्चर पांचवें-छठे दशकों में रूस के वैज्ञानिक और सामाजिक जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना होते थे, प्राचीन भारत की ओर बहुत ध्यान देते थे। अपने विद्यार्थियों को वे यूरोप के प्रमुख संस्कृतविदों – लास्सेन, बुर्नूफ़, आदि – के कार्यों के परिणामों के बारे में बताते थे। प्रो० मिखाईल लूनिन को "खार्कोव का ग्रानोव्स्की" कहा जाता था, वे प्राचीन इतिहास पर अपने लेक्चर भारत से आरंभ करते थे। प्राचीन भारत मे प्रो० लूनिन विशेष रुचि लेते थे। १८३७ में उन्होंने 'भारतीय उपमहाद्वीप की जनता के जीवन पर दृष्टिपात' नाम से एक विशेष ग्रंथ छापा और इसके कुछ वर्ष पश्चात प्राचीन पूरब के इतिहास पर अपने लेक्चरों के कोर्स में भारत

7-900

ओट्टो बोटलिंग

को विशेष स्थान दिया। खार्कोव के ही प्रो० रोस्लाव्स्की-पेत्रोव्स्की के 'प्राचीन विश्व इतिहास का सिंहावलोकन' ग्रंथ मे तथा अन्य रचनाओं में प्राचीन भारत के लोगों के रहन-सहन, सामाजिक जीवन, दर्शन, धर्म, आदि का विवरण दिया गया था। तुलनात्मक नृजातिविज्ञान और विधिशास्त्र के अध्येता प्रायः भारतीय सामग्री की ओर उन्मुख होते थे और उसका काफ़ी विस्तृत विवरण देते थे। ये विद्वान संस्कृतविद नही थे, सो संस्कृत ग्रंथों का स्वयं गहन विश्लेषण नही कर सकते थे, लेकिन ये यूरोप के भारतविद्या संबंधी नवीनतम साहित्य का उपयोग अपनी रचनाओं में करते थे और रूसी लोगो को इस क्षेत्र की उपलब्धियो से परिचित कराते थे। यहा यह उल्लेखनीय है कि भारतविद्या के बारे में रूसी लोगों के ज्ञान का अनुमान केवल रूसी भाषा के प्रकाशनों से नही लगाया जाना चाहिए। मौलिक पश्चिमी साहित्य, विशेषतः फ्रांसीसी और जर्मन भाषाओं में लिखित पुस्तकें रूस के शिक्षित जन पढ़ सकते थे।

रूसी इतिहासविद्या की एक विशिष्टता रोचक है: रूस में विश्व इतिहास के पाठ्यक्रमों में भारत तथा अन्य पूर्वी देशों का अभिन्न स्थान था, जबकि पिछली सदी में (और कही-कही तो आज भी) यूरोप में सुदूर पूर्व और दक्षिणी एशिया के देशों को पूर्णतः पृथक सभ्यताएं ही माना जाता था। प्रसिद्ध जर्मन प्रो० लेओपोल्ड रांके जैसे प्रमुख यूरोपीय इतिहासवेत्ता भारत को विश्व इतिहास के क्रम से अलग

रखने के लिए सैद्धांतिक आधार तक पेश करते थे। इंगलैंड के विश्वविद्यालयों में स्वीकृत पाठ्यक्रमों के यूरोप-केंद्रीयतावादी, और कभी-कभी तो नस्लवादी, उपनिवेशवादी सिद्धांत सुज्ञात हैं। रूस के वैज्ञानिक जगत में ऐसे दृष्टिकोण नहीं फैले। रूसी शोधकर्त्ता प्रायः पश्चिमी इतिहासविद्या की इस बात के लिए आलोचना करते थे कि विश्व इतिहास का वर्णन उसमें "प्रायः पूर्णतः यूरोप के जनगण पर ही केंद्रित होता है, जबकि दूसरे जनगण के हज़ारों वर्षों के और महान जीवन को पृष्ठभूमि में धकेल दिया जाता है और उसका यूरोप के एक तरह से विशेषाधिकारप्राप्त जनगण के साथ कोई संबंध नहीं स्थापित किया जाता" (अ० खोम्याकोव)। इस बात की ओर ध्यान दिलाया जाता था कि पूरब के और स्लावों के इतिहास के बिना इतिहास को विश्व इतिहास नहीं माना जा सकता। यूरोप-केंद्रीयतावाद का अभाव रूस में विज्ञान का एक विशेष लक्षण था और निश्चित हद तक इसी से रूस में प्राच्यविद्या की सफलताएं सुनिश्चित हुईं।

पीटर्सबर्ग विज्ञान अकादमी में पिछली सदी के मध्य में संस्कृत पर महत्त्वपूर्ण शोधकार्य हुआ। इस कार्य का संबंध सर्वप्रथम **ओट्टो निकोलायेविच बोटलिंग** (१८१५-१९०४) के नाम से है।

ओट्टो बोटलिंग का जन्म पीटर्सबर्ग में ही हुआ था, देर्प्त नगर के उच्च माध्यमिक विद्यालय और फिर पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में वे पढ़े। प्राच्यविद्या की व्यापक शिक्षा पाने के ध्येय से उन्होंने प्रो० ओसिप सेन्कोव्स्की और फ़० शर्मुआ से अरबी व फ़ारसी भाषाएं सीखीं। इन्हीं प्रोफ़ेसरों से पावेल पेत्रोव ने भी शिक्षा पाई थी। जर्मन संस्कृतविद जार्ज ऐवाल्ड के शिष्य फ़्रीडरिख़ बोल्लेन्ज़ेन के साथ, जो रूस में रहते और काम करते थे, परिचय होने पर ओट्टो बोटलिंग को भारतीय भाषाएं सीखने की प्रेरणा मिली। रूस में तब संस्कृत सिखाने वाला कोई नहीं था, सो बोटलिंग जर्मनी चले गये। १८३५ से बर्लिन में बोप्प से और बोन में आगस्त श्लेगेल व लास्सेन से संस्कृत सीखने लगे। १८३८ में हेस्सेन में उन्होंने डी० फिल० की डिग्री पाई। ओट्टो बोटलिंग ऐसे भारतविद थे जो सर्वप्रथम "भाषा के गहनतम और पूर्णतम अध्ययन" के लिए प्रयत्नशील थे, इसी को वे "कालांतर में उस जटिल और मौलिक जगत के अध्ययन का एकमात्र विश्वसिनीय साधन मानते थे, जिसको समझने की कुंजी संस्कृत थी।" इस विद्वान का पहला बड़ा कार्य था, १८३९-१८४० में बोन में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का प्रकाशन। यह प्रकाशन यूरोप में संस्कृत के अध्ययन में एक युगांतरकारी घटना थी, इसके साथ प्राचीन भारत के व्याकरण साहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हुआ। बोटलिंग ऐसे पहले विद्वान थे, जिन्होंने 'अष्टाध्यायी' की रचना का अनुमानित काल निर्धारित किया और इसके प्रकाशन में वैज्ञानिक टीका भी दी। समीक्षकों ने बोटलिंग के कार्य को आदर्श माना। १८४२ में उन्हें रूसी विज्ञान अकादमी का अवर विज्ञानकर्मी (एडजंक्ट) और फिर सदस्य चुना गया। कुछ वर्षों में ही बोटलिंग ने कालिदास के नाटक 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' की

प्राचीनतम पांडुलिपि का अनुवाद और टीका सहित प्रकाशन किया और संस्कृत में बलाघात के प्रश्न पर एक पुस्तक लिखी, जिससे भाषाविज्ञान के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर कार्य शुरू हुआ। भारतीय व्याकरण परम्परा के आधार पर बोटलिंग ने संस्कृत के प्रत्ययों पर भी एक लेख लिखा। १८४५ में पीटर्सबर्ग में संस्कृत का एक अनुपम संकलन छपा, जिसमें पहली बार ऋग्वेद के श्लोक शामिल किये गये थे। भारतीय व्याकरण और शब्दविज्ञान पर काम जारी रखते हुए बोटलिंग ने पीटर्सबर्ग में बोपदेव कृत व्याकरण (१८४६) और हेमचन्द्र रचित शब्दकोश 'अभिधान चिन्तामणि' (१८४७) प्रकाशित किया। संस्कृत के विशद शब्दकोश के संकलन का काम शुरू हुआ। इस विद्वान की वैज्ञानिक रुचियों और ज्ञान की व्यापकता तथा असाधारण कर्मठता देखकर आश्चर्य होता है। पांचवें दशक के अंत में उन्होंने याकूत भाषा पर व्यापक ग्रंथ तैयार किया। इस विषय पर यह पहला गंभीर और विशद शोधकार्य था और इसका महत्त्व आज तक बना हुआ है। १९६४ में हेग (हालैंड) में इस ग्रंथ का पुनः मुद्रण हुआ। वर्तमान सदी के सातवें दशक के अंत में याकूत्स्क नगर में बोटलिंग की स्मृति में वैज्ञानिक सम्मेलन हुआ। इसमें इस बात पर जोर दिया गया कि याकूत भाषा की लिपि का आधार बोटलिंग द्वारा तैयार की गई वर्णमाला से ही बना। १८५२ में उनकी पुस्तक 'रूस में जिप्सियों की भाषा' (रूसी प्राच्यविद व० ग्रिगोर्येव द्वारा एकत्रित सामग्री के आधार पर) छपी। रूसी व्याकरण और स्वनविज्ञान पर भी बोटलिंग ने लेख लिखे, जिनमें बहुत से गूढ़ विचार, प्रेक्षण और मूल्यांकन थे। लेकिन बोटलिंग का सबसे बड़ा कार्य संस्कृत का शब्दकोश ही था, जो "बृहद पीटर्सबर्ग कोश' के नाम से जाना जाता है। १८५२ से १८७५ तक सात विशाल खण्डों में यह कोश प्रकाशित हुआ। ओट्टो बोटलिंग ने प्रो० रुडोल्फ़ रोथ के साथ मिलकर इस शब्दकोश पर कार्य किया। अनेक जाने-माने संस्कृतविदों – बर्लिन के प्रोफ़ेसर एल्ब्रेख्ट वेबेर, अमरीकी संस्कृतविद विलियम विटनी, लीडन के डा० हेंड्रिक केर्न, पीटर्सबर्ग के अकादमीशियन अन्तोन शिफ़्नेर, आदि ने उनकी सहायता की। यह कोई अतिशयोक्ति नहीं कि बोटलिंग और रोथ के शब्दकोश के साथ संस्कृत के अध्ययन में एक नए युग का पदार्पण हुआ। इस शब्दकोश का कार्यभार था यथासंभव अधिक व्यापक शब्द-सामग्री एकत्रित करना, जो मध्ययुगीन भारतीय कोशकारों और टीकाकारों की व्याख्याओं से स्वतत्र हो (यानी संस्कृत की मूल पुस्तकों के स्वतंत्र अध्ययन के आधार पर जमा की गई हो)। शब्दों के अर्थ उनके ऐतिहासिक क्रम में दिये गये। बड़े अध्यवसाय से, बहुत बारीकी से और पूर्ण रूप से तैयार किया गया यह शब्दकोश उस समय तक ज्ञात संस्कृत के सारे मुद्रित और पांडुलिपियों के रूप में उपलब्ध साहित्य पर आधारित था। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि उन दिनों ही यह साहित्य असीम था और इस बात के बावजूद कि इस शब्दकोश को छपे सौ साल से अधिक बीत चुके हैं तथा इस बीच संस्कृत के अनेक नये मूल ग्रंथ तथा कई नये शब्दकोश छपे हैं, 'पीटर्सबर्ग शब्दकोश' आज भी अद्वितीय है। भाषाविज्ञान के

इतिहासकार, भाषाविद और संस्कृतविद सेर्गेई बूलिच ने "मनुष्य के मनोबल, लौह कर्मठता और अपार ज्ञान के बल पर रचित इस आश्चर्यजनक ग्रंथ द्वारा इस क्षेत्र में आई क्रांति" की चर्चा की और कहा कि "बोटलिंग और रोथ के शब्दकोश के फलस्वरूप ही अनेक भारतीय ग्रंथों को सही-सही समझना संभव हुआ और उनका सच्चा अतर्य प्रकट हुआ।" इस शब्दकोश में रोथ ने वैदिक संस्कृत की शब्दावली पर काम किया था, जबकि बोटलिंग ने लौकिक संस्कृत के शब्दों की व्याख्या करते हुए अधिकांश काम किया। (बेर्टोल्ड डेल्ब्रुक का अनुमान था कि शब्दकोश का ६/१० भाग बोटलिंग ने ही तैयार किया।) यद्यपि पिछले सौ वर्षों में अनेक नये ग्रंथों और पाठभेदों की खोज और उनका प्रकाशन हुआ है, तथापि बोटलिंग द्वारा इस शब्दकोश में किया गया कार्य ही सब से कम पुराना पड़ा है।

'बृहद पीटर्सबर्ग शब्दकोश' पर कार्य संपन्न होने के पश्चात बोटलिंग ने अकेले ही एक और भव्य कार्य – 'लघु पीटर्सबर्ग शब्दकोश' के प्रकाशन – का बीडा उठाया। यह भी बड़े आकार के सात खण्डों में १८७९ से १८८९ के दौरान प्रकाशित हुआ। इसमें संस्कृत ग्रंथों से उद्धरण नहीं दिये गये थे, परंतु नये मिले ग्रंथों से शब्दावली परिवर्द्धित की गई थी। ये पीटर्सबर्ग शब्दकोश आने वाले अनेक दशकों के लिए न केवल संस्कृतविद्या के, बल्कि तुलनात्मक भाषाविज्ञान के भी आधार बने।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि शब्दकोशों पर कार्य के साथ-साथ बोटलिंग ने कई दूसरे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन भी तैयार किया। १८६३-१८६५ में 'भारतीय सूक्तियों' (जर्मन अनुवाद सहित) के तीन विशाल खण्ड निकले। इस पुस्तक के दूसरे संस्करण में लगभग ८ हजार सूक्तियां थीं। इसमें बोटलिंग ने पहली बार संस्कृत के सूक्ति और सुभाषित काव्य की समृद्धि और विविधता दर्शाई। उन्होंने शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' का जर्मन अनुवाद छापा, बृहदारण्यक और छांदोग्य उपनिषदों के अनुवाद प्रकाशित किये तथा पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का दूसरा संस्करण निकाला (इस बार इसमें जर्मन अनुवाद भी दिया गया था), संस्कृत पाठ-संकलनों और 'भारतीय सूक्तियों' के परिवर्द्धित संस्करण तैयार किये और दंडी कृत काव्य-शास्त्र का अनुवाद सहित प्रकाशन किया। बोटलिंग के प्रकाशनों की विशिष्टता है – अधिकतम शुद्धता और सटीकता। उन "रूढ़िवादियों" के विपरीत, जो किताबों की ग़लतियों में "भाषा की विशिष्टताएं" देखते थे, पाठ-अनुशीलन में बोटलिंग "प्रामाणिक संस्कृत व्याकरण का कठोरता से अनुकरण करते थे।" संस्कृतविद्या की अनेक समस्याओं पर बोटलिंग ने अपने समय में प्रचलित विचारों से भिन्न विचार व्यक्त किये। उनका एक विचार यह था कि प्राचीन भारत में रचनाओ के संप्रेषण में मौखिक परम्परा के प्रभुत्व को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर नहीं देखना चाहिए, कि वैदिक संहिताओं के बाद का सारा भारतीय साहित्य लिखित साहित्य है।

अपने जीवन के अंतिम वर्ष बोटलिंग ने जर्मनी में बिताये, किंतु रूस की विज्ञान अकादमी और रूसी संस्कृतविदों के साथ उन्होंने सम्पर्क बनाये रखे। वैज्ञानिक की

मुख्य रचनाएं पीटर्सबर्ग में ही छपती थीं। विज्ञान अकादमी अपने इस विलक्षण सह-सदस्य के वैज्ञानिक कार्य के लिए भारी अनुदान देती थी। उनकी रचनाओं के प्रकाशन के लिए विशेष मुद्रणालय खोला गया था, वैज्ञानिक साहित्य मंगाया जाता था। 'बृहद पीटर्सबर्ग शब्दकोश' की रचना के दिनों को याद करते हुए रुडोल्फ़ रोथ ने लिखा था कि रूस की विज्ञान अकादमी ही वह "ज़मीन थी, जिस पर यह वृक्ष उगा," उसके प्रभाव, साधनों और रूसी विद्वानों की सहायता के बिना यह शब्दकोश न बन पाया होता। पीटर्सबर्ग शब्दकोश विज्ञान अकादमी के गौरव की वस्तु हैं। ये भारत में भी सुविदित हैं। १९२३ में कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुरोध पर सोवियत विज्ञान अकादमी ने उन्हें 'बृहद पीटर्सबर्ग शब्दकोश' की एक प्रति भेजी थी। आधुनिक भारतीय संस्कृतविद शब्दार्थ विषयक अपने कार्य में पीटर्सबर्ग शब्दकोश का सक्रिय उपयोग करते हैं।

१९वीं सदी के मध्य के दूसरे संस्कृतविदों, भाषाविदों में फ़्रीडरिख़ (फ़्योदोर) बोल्लेन्ज़ेन (१८०९-१८९६) का नाम उल्लेखनीय है। र० लेंज़ की सामग्री का उपयोग करते हुए बोल्लेन्ज़ेन ने १८४६ में पीटर्सबर्ग में कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशी' का संस्कृत पाठ, जर्मन अनुवाद और टीका सहित प्रकाशित किया और छठे दशक में प० पेत्रोव के मास्को चले जाने के बाद कुछ समय तक कज़ान में संस्कृत पढ़ाई।

ओट्टो बोटलिंग, फ़्रीडरिख़ बोल्लेन्ज़ेन ने यूरोप में संस्कृतविद्या में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उनके नाम वैज्ञानिक जगत में सुज्ञात हैं। यूरोप के, विशेषतः जर्मनी जाने-माने विशेषज्ञों के साथ उनके घनिष्ठ सम्पर्क थे। रूसी विज्ञान अकादमी उनके वैज्ञानिक कार्यकलापों में सक्रिय सहयोग प्रदान करती थी। तो भी रूस में अपनी संस्कृतविद्या के विकास पर उनका प्रभाव नगण्य रहा, रूसी समाज के साथ उनका सम्पर्क क्षीण था, विशेषतः इसलिए भी कि उनका मुख्य कार्य संस्कृत ग्रंथों का प्रकाशन ही था और उनके शोधकार्य जर्मन भाषा में छपते थे।

रूस के वैज्ञानिक जगत की भारत और उसकी सांस्कृतिक धरोहर में रुचि कतिपय वस्तुगत कारकों पर आधारित थी। रूस में बौद्ध धर्म की अनुयायी जातियां भी रहती हैं, सो यहां बौद्ध धर्म के अध्ययन का विकास होना स्वाभाविक ही था और इस कार्य के लिए बौद्ध धर्म के भारतीय स्रोतों तथा प्राचीन भारतीय भाषाओं में लिखित साहित्य की ओर उन्मुख होना आवश्यक था। १८वीं सदी के अंत और १९वीं के आरंभ में ही याकोव श्मीद्त बौद्ध धर्म के अध्ययन में प्रवृत्त हो गये थे।

प्रो० **ओसिप कोवालेव्स्की** (१८०१-१८७८) का शोधकार्य विशेषतः रोचक है। प्रो० कोवालेव्स्की जन्म से पोलिश थे और वील्नो नगर (वर्तमान वीलन्युस, लिथुआनिया जनतंत्र की राजधानी) में लातिनी भाषा के अध्यापक थे। पोलिश कवि आदम मित्स्केविच द्वारा संस्थापित गुप्त समाज में भाग लेने के अपराध में उन्हें १८२४ में कज़ान में निष्कासित कर दिया गया। यहां वे मंगोल भाषा और

संस्कृति का तथा तिब्बत और बौद्ध धर्म का अध्ययन करने लगे। संस्कृत से भी उनका परिचय हुआ। चौथे दशक में उन्होंने 'बौद्ध ब्रह्मांड-मीमांसा' नामक पुस्तक छापी, जो बौद्ध धर्म पर यूरोप में प्रकाशित पहली पुस्तकों में से एक है। इस विद्वान की कई अप्रकाशित रचनाएं भी बौद्ध धर्म पर ही हैं: 'बौद्ध इतिवृत्त के क्षेत्र में शोधकार्य', 'बौद्ध धर्म का इतिहास', आदि। प्रो० कोवालेव्स्की के कार्य की एक विशिष्टता यह थी कि उन्होंने प्राच्यविद्या संबधी शोधकार्यो में स्रोतों के आलोचनात्मक विश्लेषण की उस विधि का प्रयोग किया, जो यूरोप में प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य के लिए प्रयुक्त होती थी।

मंगोलिया और तिब्बत के एक और विशेषज्ञ **अन्तोन शिफ़्नेर** (१८१७-१८७९) पीटर्सबर्ग मे काम करते थे। उन्होंने पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में ही शिक्षा पाई, १८४०-१८४२ में बर्लिन में संस्कृत सीखी। अ० शिफ़्नेर तिब्बत और मगोलिया की बौद्ध परम्परा के भारतीय जातकों एवं अवदानों का अध्ययन करते थे। उन्होंने कतिपय ग्रथो की रचना की, जो प्राच्य भाषाओं और बौद्ध धर्म के उनके व्यापक ज्ञान की साक्षी हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं: 'बौद्ध शब्दावली का संस्कृत-तिब्बती-मंगोल शब्दकोश' (१८५९) तथा तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के 'भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास' का जर्मन भाषा में अनुवाद (१८६९)। यह दूसरा कार्य उन्होंने वसीली वसील्येव के साथ घनिष्ठ सहयोग में किया था।

प्रोफ़ेसर **वसीली वसील्येव** (१८१८-१९००) १९वीं सदी के मध्य में रूस में बौद्ध धर्म और चीन के सबसे बड़े जानकार थे। उन्होंने कज़ान विश्वविद्यालय मे प्रो० कोवालेव्स्की से शिक्षा पाई थी और अपने शिक्षक से बौद्ध धर्म में रुचि लेना तथा स्रोतों के प्रति आलोचनात्मक रुख अपनाना सीखा था। उनकी पहली रचना बौद्ध दर्शन के मूलभूत सिद्धांत शून्यवाद के विषय में थी। प्रो० वसील्येव की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक है: 'बौद्ध धर्म। उसके सिद्धांत, इतिहास और साहित्य', जो तीन खण्डो में है और १८५७-१८६९ में प्रकाशित हुई थी। प्रो० वसील्येव संस्कृत भाषा और साहित्य से परिचित थे, किंतु उन्होंने अपने कार्य का स्रोत मुख्यत: चीनी और तिब्बती ग्रंथों को ही बनाया। बौद्ध धर्म के तत्कालीन पश्चिमी यूरोपीय अध्येताओ की तुलना मे प्रो० वसील्येव इस मामले में कहीं अधिक श्रेष्ठ स्थिति में थे कि उन्हे चीनी और तिब्बती भाषाओं का ज्ञान था। इसके अलावा उनके पास बहुत बड़ी संख्या मे बौद्ध पुस्तकें थीं, जो वे पीकिंग से लाये थे और जो यूरोप के विद्वानो को उपलब्ध नही थीं। प्रो० वसील्येव ने लंबे अरसे तक पीकिंग मे रूसी धार्मिक मिशन मे काम किया, जो तब रूसी प्राच्यविद्या का एक प्रमुख केंद्र था। प्रो० वसील्येव में परम्परागत विद्वता के साथ निष्पक्ष आलोचनात्मक दृष्टि थी। रूसी विद्वान का यह आग्रह था कि स्रोतों के साक्ष्यों को "संदेह की दृष्टि से" देखा जाना चाहिए, अर्थात प्रथम दृष्टि में ही सत्य नहीं मान लेना चाहिए। बौद्ध धर्म के आरंभिक इतिहास के बारे में उपलब्ध जानकारी का विश्लेषण करते हुए उन्होंने पहली सगीतियो की
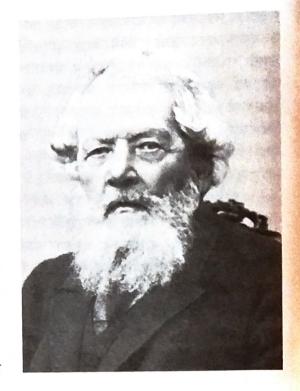
वसीली वसील्येव

प्रामाणिकता का प्रश्न उठाया था। उनके सामने दूसरी समस्याएं भी आईं, जिन पर आज तक विवाद चल रहा है। बौद्ध धर्म पर उनके ग्रंथ में हीनयान और महायान का इतिहास, वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार व माध्यमिक संप्रदायों के दर्शन का सिंहावलोकन तथा अश्वघोष से वसुबंधु तक प्रमुख बौद्ध विद्वानों की जीवनियों का विवरण दिया गया है। इस ग्रंथ का जर्मन और फ़्रांसीसी भाषाओं में अनुवाद हुआ तथा बुर्नूफ़ की प्रसिद्ध रचना के साथ १९वीं सदी के मध्य में बौद्ध धर्म के अध्ययन में एक प्रमुख चरण बना।

स्वयं प्रो० वसील्येव इस रचना को अपनी दूसरी पुस्तकों की भूमिका ही मानते थे, जिनकी पांडुलिपियां उन्होंने तैयार कर ली थी। पांचवें दशक के आरंभ में ही उन्होंने हुएन त्सांग की भारत यात्रा संबंधी पुस्तक का चीनी भाषा से अनुवाद कर लिया था। इस तरह उन्होंने यह काम फ़्रांसीसी चीनविद स्तानिस्लाव जूल्येन से, जिन्होंने १८५६ में यूरोप को इस महत्त्वपूर्ण स्रोत से परिचित कराया, दस से भी अधिक साल पहले संपन्न कर लिया था। उन्होंने बौद्ध साहित्य का विशद सर्वेक्षण तथा महाव्युत्पत्ति के अनुसार बौद्ध धर्मसिद्धांतों का विवरण भी तैयार किया था। इन शोधकार्यों और अनुवादों को प्रकाशित होना बदा नहीं था। पांडुलिपियों का एक

अंश नष्ट हो गया। प्रो० वसील्येव प्रायः इस बात की शिकायत करते थे कि उनके देशवासी उनके कार्य के प्रति उदासीन हैं, कि "वैज्ञानिक का पृथक पडा कार्य अज्ञात ही व्यर्थ जा रहा है।"

विलक्षण रूसी भारतविद और बौद्ध धर्म के अध्येता अकादमीशियन सेर्गेई ओल्देन-बुर्ग ने प्रो० वसील्येव से शिक्षा पाई थी और वे यह मानते थे कि संसार भर में बौद्ध धर्म के अध्येताओं में किसी का भी ज्ञान प्रो० वसील्येव जितना व्यापक नहीं था। उनका कहना था कि प्रो० वसील्येव की रचनाओं का सुसामयिक प्रकाशन न होने के कारण यूरोप में बौद्ध धर्म का अध्ययन कई दशाब्दी पिछड गया था। प्रो० वसील्येव के निधन पर उन्होंने लिखा: "रूस में विज्ञान के इतिहास का अध्ययन करने वाला गहरा विषाद अनुभव करता है–एक ओर, साहसपूर्ण पहलक़दमियां, गूढ विचार, यहां तक कि अथक अध्यवसाय और भगीरथ परिश्रम, इस सब के अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं और, दूसरी ओर, हम देखते हैं कि कैसे यह सब अधूरा ही रह जाता है–'प्रथम खण्डों' का लंबा सिलसिला, विस्तृत योजनाएं, अप्रकाशित हस्तलिपियां, पहलकदमियां, जो सिरे नहीं चढ पाईं, सपने, जो अधूरे रह गये।" व० वसील्येव के भाग्य में प० पेत्रोव और उन दूसरे विलक्षण रूसी विद्वानों के भाग्य से बहुत समानता है, जो विज्ञान के क्षेत्र में वह सब नहीं कर पाये, जो करना चाहते थे और जो करने की योग्यता रखते थे।

पूरब के प्रति व० वसील्येव का सामान्य रुख़ भी रोचक है। वह यह मानते थे कि विज्ञान का ध्येय मनुष्य का संज्ञान, उसे जानना-समझना ही है, कि यह ध्येय प्रकृति के संज्ञान के ध्येय से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य का "सर्वांगीण, सम्पूर्ण" अध्ययन पूरब के अध्ययन के बिना असंभव है। व० वसील्येव ने लिखा: "दूरवर्ती पूरब में हमारे भाई-बंधु बसते हैं। उनका अपना इतिहास, अपना विकास, अपना दृष्टिकोण है।" वे यूरोपीय विद्वानों के दृष्टिकोण की सीमितता का विरोध करते थे और प्राच्य सभ्यता के लोगों का नज़रिया अपनाने की कोशिश करते थे। यह सामान्य रुख़ आगे चलकर रूसी प्राच्यविद्या के अनेक प्रमुख प्रतिनिधियों, यथा चीनविद अकादमीशियन वसीली अलेक्सेयेव और बौद्ध धर्म के अध्येता अकादमीशियन सेर्गेई ओल्देनबुर्ग, के लिए लाक्षणिक रहा। व० वसील्येव का मत था कि पूरब का वर्तमान पिछडापन एक अस्थाई परिघटना है: "जब संसार एक होगा तो पूरब न केवल ज्ञान का रक्षक, बल्कि उसका प्रचारक भी बनेगा।"

कई दशकों तक पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या संकाय के डीन के पद पर काम करते हुए व० वसील्येव ने रूस में प्राच्यविद्या के विकास के लिए बहुत कुछ किया। न केवल प्राचीन, अपितु अर्वाचीन पूरब में भी वे गहरी रुचि लेते थे। इस सिलसिले में उन्होंने शिक्षा मंत्रालय में कई बार यह सवाल उठाया कि नूतन भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया जाना चाहिए। बौद्ध धर्म के अध्ययन के क्षेत्र में व० वसील्येव के शिष्य इवान मिनायेव ने उनके काम को आगे बढाया। इवान

मिनायेव ने मुख्यत: भारत में बौद्ध धर्म के इतिहास का अध्ययन किया। अपने शिक्षक से उनकी भिन्नता यह रही कि उन्होंने मुख्यत: पाली और संस्कृत ग्रंथों पर काम किया। लेकिन रूस में बौद्ध धर्म के अध्येताओं की उत्तरी बौद्ध धर्म के ग्रंथों में रुचि व० वसील्येव की ही याद दिलाती है। स्रोतों व मूल ग्रंथों के प्रति इवान मिनायेव का आलोचनात्मक रुख, प्राचीन युग से लेकर अर्वाचीन युग तक भारत के इतिहास को अखंड रूप में देखने की उनकी चेष्टा तथा भविष्य में पूरब के महत्त्व के बारे में विचार – यह सब व० वसील्येव के विचारों से मेल खाता है।

पांचवें-छठे दशक में रूसी पत्र-पत्रिकाओं की आधुनिक भारत में रुचि जागी। इनमें भारतीय ज्ञान-प्रसारकों राममोहन राय और द्वारकानाथ ठाकुर के बारे में लेख छपे, जिन्होंने "अपने देशवासियों के सुख और प्रगति" के लिए बहुत कुछ किया था। इनके बारे में जानकारी यूरोपीय साहित्य से और कभी-कभी भारतीय पत्र-पत्रिकाओं से भी ली जाती थी। भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति का पर्दाफ़ाश करने वाले भी कई लेख छपे। इनमें ब्रिटिश शासन प्रणाली के विरुद्ध भारतीयों के संघर्ष के प्रति सहानुभूति दर्शाई जाती थी। भारत के १८५७-१८५६ के महान राष्ट्रीय विद्रोह में रूसी जनमत ने गहरी रुचि ली। रूसी पत्र-पत्रिकाओं में विभिन्न दृष्टिकोणों से इस पर विस्तार से प्रकाश डाला गया। रूस में भूदासता प्रथा समाप्त किये जाने (१८६१) की पूर्ववेला में क्रांतिकारी स्थिति बनी हुई थी। रूसी क्रांतिकारी और जनवादी भारत में विद्रोह की ओर ध्यान दे रहे थे, क्योंकि वे रूस और भारत के बीच निश्चित समानता पाते थे, मुक्ति के लिए जनता के सशस्त्र संघर्ष से संबंधित सामान्य समस्याओं पर विचार करते थे। सुप्रसिद्ध रूसी क्रांतिकारी-जनवादी, पत्रकार और समीक्षक निकोलाई दोब्रोल्यूबोव ने भारतीय विद्रोह पर एक बड़ा लेख लिखा। उन्होंने यह प्रमाणित किया कि भारत में अंग्रेज़ों की औपनिवेशिक लूट के कारण विद्रोह भड़कना अनिवार्य था। भारत के इतिहास, वहां के प्रमुख सामाजिक संबंधों और वर्ण प्रथा परम्पराओं का विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि इस विद्रोह के दौरान भारत विदेशी प्रभुत्व से मुक्त नहीं हो पायेगा। औपनिवेशिक शासन से मुक्त होने के लिए देश का और आगे आर्थिक व सामाजिक विकास होना ज़रूरी था, तो भी विद्रोह इस बात का साक्षी था कि भारत में जागृति आने लगी है। रूसी पत्रकार ने ब्रिटिश प्रेस में दिये गये इस विद्रोह के मूल्यांकन से अपनी असहमति व्यक्त की। उनका कहना था कि यह "सभ्यता के विरुद्ध आक्रोश नहीं है, बल्कि यह तो इस सभ्यता को भारत पर थोपने की अंग्रेज़ों की विधि के विरुद्ध ही अधिक लक्षित है; इसके पीछे जो प्रेरक शक्ति है, वह अंग्रेज़ों की कल्पना से कहीं अधिक वर्तमान युग की ज्ञानोदय की अभिलाषाओं के समीप है।"

१६वीं सदी के मध्य में संस्कृतविद्या और तुलनात्मक भाषाविज्ञान, रूस में बौद्ध धर्म के अध्ययन की अपनी धारा का गठन, राष्ट्रीय मुक्ति के लिए भारतीय जनता के

संघर्ष के प्रति अग्रणी रूसी जनमत की सहानुभूति – इन सभी बातों का अंतर्गुंथन १९वीं सदी के अंतिम तीन दशकों के प्रमुखतम रूसी संस्कृतविद और बौद्ध धर्म के अध्येता इवान मिनायेव के कार्यकलापों में देखने को मिलता है। इवान मिनायेव को रूस में भारतविद्या का संस्थापक माना जाता है। उनको सही-सही समझने के लिए उस वातावरण को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए, जिसमें न केवल उनकी वैज्ञानिक अभिरुचियां गठित हुईं, बल्कि उनका जनवादी सामाजिक दृष्टिकोण, प्राचीन और अर्वाचीन पूरब की ओर उनका रुख बना।

२. इवान मिनायेव – रूस में भारतविद्या के संस्थापक

रूसी प्राच्यविद्या के इतिहास में इवान पाव्लोविच मिनायेव को उचित ही विशेषतः सम्मानित स्थान प्राप्त है। रूस में भारतविद्या और बौद्ध धर्म के अध्ययन की एक पूरी धारा गठित करते का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। अपना सारा अल्प जीवन (१८४०-१८९०) उन्होंने पूरब के, सर्वप्रथम भारत और भारतीय संस्कृति के अध्ययन को समर्पित किया। भारतीय जनता की उपलब्धियों के प्रति उनके मन में गहरा आदर था। वे अग्रणी विद्वान थे, जनगण की समानता के उच्च आदर्शों में उनकी आस्था थी। वे ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारतीय जनता के संघर्ष का समर्थन करते थे, उन्हें विश्वास था कि भारत शीघ्र ही स्वतंत्रता पायेगा। इवान मिनायेव के वैज्ञानिक कार्यकलाप भी इन्हीं उदात्त मनोरथों को समर्पित थे।

इवान मिनायेव ने पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में प्राच्यविद्या की अत्युत्तम शिक्षा पाई। प्रो० व० वसील्येव से उन्होंने चीनी और तिब्बती भाषाएं सीखीं, फिर संस्कृत और पाली का भी ज्ञान पाया। सुविख्यात संस्कृतविद प्रो० कोसोविच भी उनके शिक्षक थे। विश्वविद्यालय में पढ़ते हुए ही मिनायेव ने यह दर्शा दिया कि वे न केवल स्वतंत्र और गहन अध्येता हैं, अपितु प्रगतिशील दृष्टिकोण भी रखते हैं। विश्वविद्यालय के अग्रणी अध्यापकों और प्रोफ़ेसरों से उनका निकट सम्पर्क बना। उनके शिक्षकों में इज़्माईल स्रेज़्नेव्स्की जैसे सुविख्यात और प्रगतिशील विद्वान भी थे, जिनके कार्यों में गहन वैज्ञानिक विश्लेषण और विश्व संस्कृति की परिघटनाओं के प्रति व्यापक दृष्टिकोण होता था। मिनायेव ने निस्संकोच प्रगतिशील विचारों वाले विद्वानों के जगत में प्रवेश किया और ज़ारशाही द्वारा थोपे जाने वाले प्रति-क्रियावादी और रूढ़िवादी विचारों का विरोध किया, शिक्षा के अग्रणी सिद्धांतों का समर्थन किया।

पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में पढ़ाई पूरी करने के पश्चात इवान मिनायेव ने जर्मनी, इंगलैंड और फ़्रांस में भारतविद्या संबधी शिक्षा जारी रखी। यहां उन्होंने

इवान मिनायेव

ए० वेबेर, थ० बेन्फे, फ़० बोप्प जैसे प्रसिद्ध भारतविदों से परामर्श लिये। यूरोप में वैज्ञानिक कार्य के लिए जाने से पहले ही इवान मिनायेव ने संस्कृत और पाली भाषाओं पर अधिकार पा लिया था। उल्लेखनीय है कि पेरिस में उन्होंने राष्ट्रीय पुस्तकालय में रखी पाली की हस्तलिपियों की ओर विशेष ध्यान दिया। इन अमूल्य ग्रंथों की पहली संदर्भसूची मिनायेव ने ही बनाई।

मिनायेव के वैज्ञानिक कार्यों का क्षेत्र बहुत व्यापक था। यद्यपि सर्वप्रथम संस्कृत और बौद्ध धर्म का अध्ययन ही उनका क्षेत्र था, तथापि नृजातिवर्णन और भूगोल में, रूस और भारत के बीच संबंधों के इतिहास में भी उन्होंने गहरी रुचि ली और फलप्रद कार्य किया। अपने मुख्य कार्य-क्षेत्र प्राचीन भारत के अध्ययन में भी उनकी वैज्ञानिक अभिरुचियां अत्यंत विविध थीं – उन्होंने वैदिक साहित्य और अशोक के शिलालेखों का अध्ययन किया, जैन ग्रंथों पर काम किया, पाली भाषा का व्याकरण लिखा और प्रकाशित कराया, भारोपीय भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण पर काम किया। मिनायेव पहले ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने रूस में (पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में) मध्ययुगीन भारतीय भाषाओं (प्राकृतों) का अध्यापन शुरू किया।

प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति की सामान्य समस्याओं के अध्ययन की तैयारी करते हुए इवान मिनायेव ने सर्वप्रथम ऋग्वेद का गहन मनन किया।

१८६२ की अपनी डायरी में (यानी जब मिनायेव केवल २२ वर्ष के थे) उन्होंने आदिवैदिक साहित्य की ओर उन्मुख होने का यह कारण बताया है: "भारत के इतिहास के अध्ययन में कालानुक्रम का अनुसरण करते हुए मुझे इस आदि ग्रंथ से ही काम शुरू करना पड़ा। इसके अलावा मेरे इस निर्णय का औचित्य यह भी है कि आदि ऐतिहासिक स्रोत के नाते इस ग्रंथ का भारतीय जीवन और विज्ञान में अपार महत्त्व है, और, अंततः, मैंने यह ग्रंथ इसलिए चुना है कि भारतीय इतिहास के प्रथम काल पर यूरोपीय विद्वानों की रचनाओं का स्वतंत्र मूल्यांकन कर सकूं। साथ ही मुझे आशा है कि ऋग्वेद में मैं उन अनेक प्रश्नों का उत्तर पा सकूंगा, जो आजकल मेरे मन में उठ रहे हैं।"

अपने वैज्ञानिक कार्यों के आरंभिक चरण में ही भारतीय संस्कृति का अध्ययन करते हुए इवान मिनायेव सर्वप्रथम इतिहासकार के नाते सामने आते हैं। उनकी सभी रचनाओं में हम ऐतिहासिक रुख पाते हैं। जीवन के अंतिम वर्षों में भी जब इवान मिनायेव ने बौद्ध धर्म पर विशाल ग्रंथ रचे और प्राचीन भारत के धर्मों के अध्ययन पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया, तब भी इतिहासपरक उपागम ने उनका साथ नहीं छोड़ा, बल्कि वह वैज्ञानिक खोज की अधिकाधिक आवश्यक अपेक्षा बन गया। मिनायेव के ये शब्द आज भी वैज्ञानिक कार्यों के लिए उतने ही सच्चे उतरते हैं, जितने तब थे: "धर्म के भाग्य का विवेचन करते हुए हमें उन नियमों का पता लगाना चाहिए, जो इसका विकास सुनिश्चित करते हैं", "किसी भी आत्मिक विकास का मर्म हम उसके ऐतिहासिक विकास की संपूर्णता में ही देख सकते हैं और उसे केवल तभी समझ सकते हैं, जबकि इस विकास प्रक्रिया पर हम इसकी भ्रूणावस्था तक दृष्टिपात करते हैं और जब इस तरह इसके स्रोत प्रकट होते हैं।"

भारत के आत्मिक जीवन के अध्ययन में इवान मिनायेव इतिहासपरकता के जिस सिद्धांत का अनुसरण करते थे, उसका उनके शिष्यों पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा और वह रूसी भारतविदों की सभी श्रेष्ठ रचनाओं के लिए लाक्षणिक हो गया।

इवान मिनायेव ने वैदिक, बौद्ध और जैन धर्मों का अध्ययन उन्हें एक दूसरे से अलग करके नहीं किया। इसके विपरीत, विभिन्न धार्मिक और धार्मिक-दार्शनिक धाराओं के अनुपम ज्ञान की बदौलत वे प्रत्येक धारा की विशिष्टता को असाधारण गहराई से समझ पाये और सामान्य निष्कर्ष निकाल पाये। उन्होंने लिखा: "यदि शोधकर्त्ता विभिन्न धार्मिक मतों के बीच आनुवंशिक संबंध की ओर तथा उनके पारस्परिक ऐतिहासिक संबंधों की ओर, जिन्होंने विभिन्न धाराओं का सूत्रपात किया, उचित ध्यान नहीं देगा, तो धर्म का इतिहास एकतरफ़ा ही रहेगा।"

इसके साथ ही प्राचीन भारत के आत्मिक जीवन के अध्ययन की ओर इवान मिनायेव का रुख संकीर्ण विशेषज्ञ का रुख नहीं था। वे अपने समसामयिक युग के

अध्ययन के लिए इस विषय के महत्त्व को समझते थे और इस बात पर ज़ोर देते थे कि "प्राच्य धर्मों का ज्ञान न केवल ऐसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक और नितांत महत्त्वपूर्ण है, जिसे समय आने पर पूरब में काम करना होगा, अपितु धर्मों का अध्ययन समसामयिक चिंतनशील व्यक्ति के लिए भी अपार महत्त्व रखता है।"

मिनायेव एक ऐसे विद्वान थे, जो प्राचीन और अर्वाचीन युगों के बीच कोई सीमा नही खीचते थे, उनके लिए ये अध्ययन के एक विषय – जनगण की आत्मिक और भौतिक संस्कृति – के दो पहलू थे। मिनायेव भली-भांति समझते थे कि प्राचीन इतिहास में ही समसामयिक युग के अनेक प्रश्नों के उत्तर पाये जा सकते हैं। उन्होंने यह अकारण ही नहीं लिखा: "प्राचीन और अर्वाचीन भारत का चहुंमुखी अध्ययन एक नितांत आवश्यक कार्य है।"

१८८४ में मिनायेव ने पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में 'रूस के विश्वविद्यालयों में भारत का अध्ययन' विषय पर भाषण दिया। यह भाषण रूस मे भारतविद्या संबंधी वैज्ञानिक कार्यों के विकास के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा। इसमें लब्धप्रतिष्ठ विद्वान ने यह दिखाया कि रूस मे न केवल प्राचीन, अपितु अर्वाचीन भारत का भी अध्ययन करना आवश्यक है। इवान मिनायेव ने विश्व सभ्यता में भारत के और समूचे पूरब के विशाल योगदान की चर्चा की। "हर बार जब हम अपनी वर्तमान सभ्यता की उत्पत्ति के बारे में, उसके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के मूल के बारे में चिंतन-मनन करते हैं, तो पूरब हमें अपनी याद दिलाता है, और उसके अतीत में हम जितना गहरा पैठते हैं, पूरब और पश्चिम का घनिष्ठ ऐतिहासिक संबंध उतना ही अधिक स्पष्ट हो जाता है।" उल्लेखनीय है कि ये शब्द तब कहे गये थे जब यूरोप के वैज्ञानिक जगत में यूरोप-केंद्रीयतावाद का बोलबाला था। पश्चिमी यूरोप के अनेक शोधकर्त्ता प्राच्य संस्कृति की "गौणता" पर बल देते थे, कहते थे कि इसकी उत्पत्ति प्राचीन यूनानी और रोमन सभ्यताओं के बहुत बाद में हुई। यूरोप केंद्रीयतावाद की अवधारणाओं के विरुद्ध संघर्ष न केवल मिनायेव, अपितु दूसरे रूसी विद्वानों के लिए भी लाक्षणिक था। "उसके (भारत के – ले०) सुदूर अतीत का जितना अधिक पूर्ण और चहुंमुखी अध्ययन हो रहा है, उतना ही अधिक यह स्पष्ट होता जा रहा है कि प्राचीन विश्व के भाग्य में इस दूरवर्ती पूर्वी देश ने कितनी बड़ी भूमिका अदा की। प्राचीन मानव के लिए यह एक समृद्ध देश मात्र ही नहीं था, जहां से वह सोना, हाथी दांत और रत्न ले जाता था, बल्कि विवेक का देश भी था।" विश्व सभ्यता में प्राचीन भारत का असाधारणतः विशाल योगदान दर्शाते हुए मिनायेव रूस में भारत के प्रति किसी अमूर्त नही, बल्कि व्यावहारिक रुचि पर बल देते थे। उनका कहना था: "प्राचीन भारत के अध्ययन के सामने समसामयिक भारत के जीवन की परिघटनाओं के वैज्ञानिक और व्यावहारिक महत्त्व को उपेक्षणीय नहीं समझना चाहिए।" इसके साथ ही उन्होंने उचित ही यह भी इंगित किया कि भारतीय इतिहास में गहरी रुचि

का कारण हमारी संस्कृतियों का सामीप्य है, तथा वह भूमिका भी जो भारत ने विश्व इतिहास में अदा की, कि यह रुचि किन्हीं स्वार्थपूर्ण ध्येयों से प्रेरित नहीं है। "हम सच्चे मन से यह कह सकते हैं कि रूस में भारत पर चढ़ाई का या भारत विजय का कोई गंभीर विचार कभी नहीं रहा।" भारत के प्रति रूस के सद्भावनापूर्ण रुख की तुलना मिनायेव ने ब्रिटेने की औपनिवेशिक नीति से की और इस नीति की तीव्र भर्त्सना की। अपनी अनेक रचनाओं में उन्होंने इस बात का उल्लेख किया कि भारतीय लोगों में राजनीतिक चेतना जाग रही है और दो शत्रु खेमों – मुट्ठी भर आगंतुकों और कोटि-कोटि भारतीय जन – में टक्कर अवश्यंभावी है।

मिनायेव के दृष्टिकोण की व्यापकता और अग्रणी स्वरूप को पूरी तरह जान पाने के लिए उनकी वे डायरियां देखनी चाहिए, जो उन्होंने भारत यात्राओं के दौरान लिखीं। पूरब की (भारत, नेपाल और श्रीलंका की) पहली यात्रा उन्होंने १८७४-१८७५ में क़ी। लगभग दो वर्ष वे इन देशों में रहे, यहां के लोगों के जीवन और संस्कृति का गूढ़ अध्ययन किया। अपनी छापों का विवरण उन्होंने 'श्रीलंका और भारत के शब्दचित्र। एक रूसी के यात्रा संस्मरण' नामक पुस्तक में दिया, जो १८७८ में पीटर्सबर्ग में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का छपना रूस में ही नहीं, पश्चिमी यूरोप में भी भारतविद्या की एक महत्त्वपूर्ण घटना बन गया। यह पुस्तक रूस के व्यापक जनमत में भारत के प्रति रुचि जगाने में सहायक बनी। प्राचीन भारतीय संस्कृति का अनुपम ज्ञान तो मिनायेव को था ही, अपनी यात्रा में उन्होंने भारत के धर्मों, इतिहास और नृजातिवर्णन पर अमूल्य जानकारी जमा की। इसके साथ ही पुस्तक में उन्होंने भारतविद्या की अनेक वैज्ञानिक समस्याओं पर मौलिक विचार पेश किये। लेकिन इस प्रकाशन का महत्त्व इस सबसे कहीं अधिक व्यापक था: मिनायेव ने अपने समसामयिक भारत में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखे। वे यूरोप के उन पहले विद्वानों में थे, जिन्होंने ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति का निष्पक्ष मूल्यांकन किया, भारत पर उसका घातक प्रभाव दिखाया। मिनायेव के कुछ वैज्ञानिक कथनों का महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ है, सो यह सहज ही समझा जा सकता है कि सौ साल पहले भारतविद्या संबंधी उनके प्रेक्षण क्या अर्थ रखते थे। 'शब्दचित्रों' में एक शोधकर्त्ता के नाते मिनायेव का एक और गुण प्रकट हुआ: प्राचीन संस्कृति के ग्रंथों का अध्ययन और उनकी व्याख्या करने के साथ-साथ वे इन अमूल्य रत्नों को संरक्षित करने में भी प्रयत्नरत रहे। फ़रवरी १८७५ में वे बिहार गये, जहां उन्होंने प्राचीन बौद्ध, जैन और हिन्दू स्मारक देखे। जिज्ञासु प्रेक्षक ने यहां गुप्त सम्राट स्कंदगुप्त के शिलालेख वाला स्तंभ पाया, अन्य शिलालेखों का अध्ययन किया और प्राचीन भारत के इतिहास में मगध की अद्वितीय भूमिका के निष्कर्ष पर पहुंचे। उनका ध्यान स्थानीय संग्रहालय की ओर आकर्षित हुआ, जो सर्वथा उपेक्षित अवस्था में था, हालांकि मिनायेव के शब्दों में वहां प्राचीन अभिलेखों, स्तंभों, मूर्तियों,

आदि का बहुत अच्छा संग्रह था। मिनायेव ने इन स्मारकों के भविष्य पर चिंता व्यक्त की। अपनी डायरी में उन्होंने लिखा: "इस संग्रह में अनेक रोचक वस्तुएं हैं, जिनका अधिक अच्छा रख-रखाव होना चाहिए और फ़ोटो छपने चाहिए। सभी वस्तुएं बाग़ में रखी हुई हैं, इस तरह धूप-पानी से बिगड़ रही हैं; और कुछ वर्ष बीतने पर इस संग्रह में से बहुत कुछ विज्ञान के लिए सदा-सदा के लिए खो जायेगा।"

अपनी पहली यात्रा में ही मिनायेव ने प्राचीन संस्कृति के अमोल रत्न देखे। "बिहार में और भारत के दूसरे प्राचीन स्थानों में प्रायः सर्वत्र ही प्राचीनतम युग के अवशेष अकस्मात देखने को मिल जाते हैं।" मिनायेव ने प्राचीन शिलालेखों का बारीकी से अध्ययन किया, बौद्ध धर्म के इतिहास का सही ज्ञान पाने और बौद्ध धर्म की अवनति के दिनों में उसका स्वरूप निर्धारित करने के लिए इन लेखों की अद्वितीय भूमिका इंगित की। मिनायेव नालंदा गये, महायान की अभिपुष्टि और विस्तार में इस केंद्र के महत्त्व पर उन्होंने उचित ही बल दिया। नालंदा में मिनायेव ने "प्राचीन युग का एक अत्यंत रोचक अवशेष" सोनभंडार गुफ़ा देखी। प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति के, मूल संस्कृत ग्रंथों के अपने ज्ञान के बल पर मिनायेव ने स्थानीय पुराविदों से इस स्मारक के काल के बारे में विवाद किया।

मथुरा पहुंचकर उन्होंने कृष्ण संप्रदाय के इतिहास में रुचि ली और फिर इस महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुंचे कि कृष्ण पूजा ख्रीस्त पूजा से स्वतंत्र मत है (उन दिनों यूरोप में यह विचार बहुत प्रचलित था कि कृष्ण पूजा ख्रीस्त पूजा का ही एक रूप है)। जेम्स प्रिंसेप और अलैक्ज़ेंडर कनिंघम जैसे जाने-माने ब्रिटिश भारतविदों के साथ मथुरा कला के स्वरूप पर मिनायेव का वादानुवाद वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था। अधिकांश यूरोपीय विद्वान प्राचीन भारतीय कला की मथुरा शैली को उत्पत्ति की दृष्टि से यूनानी मानते थे, जबकि रूसी भारतविद ने सामग्री का बारीकी से अध्ययन करके अलग मत व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि मथुरा की प्राचीन कला का आधार स्थानीय ही है और उस पर उत्तर-पश्चिमी भारत में भारतीय-यूनानी राज्य के दिनों में बनी परम्पराओं का प्रभाव पड़ा है। मिनायेव उन पहले लोगों में से थे, जिन्होंने मथुरा के कुषाण अभिलेखों की ओर ध्यान दिया तथा क्षत्रपों के अभिलेखों को अलग वर्ग में रखा।

मिनायेव जहां भी गये, किन्हीं भी प्राचीन स्मारकों और ग्रंथों का अध्ययन उन्होंने किया, कहीं पर भी और कभी भी उन्होंने अपने को समसामयिक भारत के जीवन से अलग नहीं किया। इस देश की अपनी पहली यात्रा के दौरान ही वे भारतीयों और अंग्रेज़ों के संबंधों का अध्ययन करने लगे, जिसके फलस्वरूप वे भारत में जन्म ले रही नई प्रक्रियाओं – भारतीयों की राष्ट्रीय चेतना के जागरण, उनकी उपनिवेशविरोधी भावनाओं – को देख पाये। रूसी विद्वान ने सदा भारतीय जनता

का समर्थन किया। अपनी डायरी में उन्होंने लिखा: "भारतीय विदेशियों के प्रभुत्व को नही सहते ... अंग्रेजो ने भारत में गहरी जड़ें नही फैलाई हैं; वे यहां एक तरह से सतही तत्त्व हैं।" "नैतिक दृष्टि से विभाजित, एक दूसरे को हेय दृष्टि से देखते अंग्रेज़ और भारतीय एक शहर में रहते हुए भी एक दूसरे से दूर हैं; उनके घर एक दूसरे से उतने ही दूर हैं, जितने कि उनके जीवन हित। भारतीय प्रश्नों में अंग्रेजों की दिलचस्पी उसी हद तक होती है, जिस हद तक उनका वास्ता उनके निजी जीवन से होता है, अक्सर यह दिलचस्पी मुनाफ़े की मात्रा से तय होती है।"

मिनायेव स्वयं एक अच्छे ज्ञान-प्रसारक थे और भली-भांति समझते थे कि स्थानीय भारतीय पत्र-पत्रिकाएं भारत के जनगण की राष्ट्रीय चेतना जगाने में, विदेशी राज के विरुद्ध उनके संघर्ष में कितनी बड़ी भूमिका अदा कर सकते हैं। अपनी पहली यात्रा के दौरान ही मिनायेव ने अपनी डायरी में लिखा: "प्रेस ने भारत में भाषा के संबध में वही किया है, जो इटली में दांते और जर्मनी में लूथर ने किया था।" प्रचुर साक्षियां, उनके चुनाव और मूल्यांकन में निष्पक्षता तथा रूसी विद्वान का उच्च नागरिक आदर्शों वाला रुख – यह सब मिनायेव की डायरियों को १९ वीं सदी के आठवें-नौवें दशक में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारतीय जनता के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के इतिहास का मूल्यवान स्रोत बनाता है। साथ ही ये डायरियां रूस में प्रगतिशील सामाजिक दृष्टिकोण को, भारतीयों के मुक्ति संघर्ष के प्रति रूसियों की गहरी सहानुभूति को प्रतिबिम्बित करती हैं। १८८० में और १८८५-१८८६ में मिनायेव की पूरब की दूसरी और तीसरी यात्राओं के दौरान उनका अग्रणी राजनीतिक दृष्टिकोण और भी ज्वलत रूप से प्रकट हुआ।

पूरब की अंतिम यात्रा के दौरान मिनायेव बर्मा भी गये। १८८६ में पीटर्सबर्ग लौटकर वे पूरी तरह से वैज्ञानिक और अध्यापन कार्य में जुट गये। उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रकाशन के लिए तैयार कीं और प्रकाशित करवाई, लेकिन असामयिक निधन के कारण उनके शोधकार्य अधूरे रह गये, विशाल सृजनात्मक योजनाएं पूरी न सकीं। बौद्ध धर्म पर उनका प्रमुख ग्रंथ भी उनके जीवनकाल में पूरी तरह प्रकाशित नहीं हो पाया, मिनायेव के जीते-जी उसका केवल पहला खण्ड ही निकला। कालांतर में उनके शिष्य सेर्गेई ओल्देनबुर्ग ने अपने शिक्षक के बौद्ध धर्म विषयक कार्यों के अपूर्ण रह गये अलग-अलग अंश प्रकाशित किये। इवान मिनायेव भारत की दूसरी और तीसरी यात्राओं की डायरियां छपवाना चाहते थे, लेकिन वे प्रकाशन के लिए तैयार नहीं थीं और उनके लेखागार में हस्तलिपियों के रूप में ही रह गईं। इन डायरियों का प्रकाशन १९५५ में ही हो पाया, हालांकि इन्हें मुद्रण के लिए तैयार करने का काम काफ़ी पहले ही शुरू हो गया था। वर्तमान सदी के तीसरे दशक के अंत में रूस के भूगोल समाज की पहलक़दमी पर इवान मिनायेव

की भतीजी अ० श्नाइदेर ने इन पर बहुत काम किया। उन्होंने डायरियों मे लिखे नोट, जो मिनायेव अपने लिए लिखते थे, पढ़े और उनकी नक़ल तैयार की। मिनायेव प्राय: जल्दी में शब्दों को संक्षिप्त करते हुए लिखते थे।

इवान मिनायेव की डायरियों के प्रकाशन की तैयारियां पांचवें दशक के अंत में फिर से शुरू हुईं। सोवियत भारतविद तब अपने देश मे भारतविद्या के संस्थापक के जन्म की ११० वीं जयंती मनाने की तैयारी कर रहे थे। अकादमीशियन अ० बरान्निकोव ने यह प्रस्ताव रखा कि इ० मिनायेव की डायरियों का प्रकाशन पुन: आरंभ किया जाये। उन्होंने इवान मिनायेव की जीवनी लिखी और आवश्यक टिप्पणियां तैयार करने लगे, लेकिन वे यह काम पूरा न कर पाये। उनकी मृत्यु के पश्चात न० गोल्दबेर्ग और ग० कोतोव्स्की ने डायरियों को मुद्रण के लिए तैयार किया। विद्वानों और पाठकों को विलक्षण रूसी भारतविद की एक नई रचना से परिचित होने का अवसर मिला। भारतीय विद्वानों ने इस प्रकाशन में गहरी रुचि दिखाई और इसका अंग्रेज़ी अनुवाद १९६० में कलकत्ता में प्रकाशित कराया।

'श्रीलंका और भारत के शब्दचित्रों' की ही भांति इवान मिनायेव की दूसरी और तीसरी भारतीय यात्राओं की डायरियां इस रूसी विद्वान के सृजनात्मक कार्यों के अध्ययन के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। ये १९ वीं सदी के अंत में रूस और भारत के बीच संबंधों के सुदृढ़ीकरण का जीता-जागता प्रमाण है, भारत के जनगण प्रति गहरे आदर भाव से तथा ब्रिटिश राज से मुक्ति के लिए भारतीय जनता के संघर्ष के सच्चे समर्थन की भावना से ओत-प्रोत हैं।

निस्संदेह, इवान मिनायेव की डायरियों के विशिष्ट स्वरूप को नहीं भुलाया जाना चाहिए, जो इनके लेखक की मृत्यु के ६५ वर्ष पश्चात ही प्रकाशित हुईं। भारत की पहली यात्रा की डायरियां तो स्वयं मिनायेव ने प्रकाशन के लिए तैयार की थीं, उनमें आवश्यक स्पष्टीकरण दिये गये थे। मिनायेव ने वे बातें चुनी थीं, जिनसे वे पाठकों को परिचित कराना चाहते थे, लेकिन दूसरी और तीसरी यात्रा की डायरियां लेखक द्वारा सुव्यवस्थित की हुई सामग्री नहीं हैं, बल्कि उनके निजी प्रेक्षणों का, उन्होंने अपनी पूर्वी यात्राओं के दौरान जो देखा, उसका "उद्धरण" मात्र हैं। वैसे इस विशिष्टता की अपनी श्रेष्ठताएं भी हो सकती हैं: रूसी विद्वान ने घटना स्थल पर ही जो बातें नोट कीं, वे उनकी सीधी, प्रत्यक्ष छापें प्रतिबिम्बित करती हैं, उन पर कई साल बाद दूसरे वातावरण में – पीटर्सबर्ग के अध्ययन कक्ष में – लेखक ने दुबारा दृष्टिपात करके क़लम नहीं चलायी।

इवान मिनायेव की दूसरी और तीसरी यात्राओं का मुख्य प्रयोजन था – प्राचीन भारतीय संस्कृति के और सर्वप्रथम बौद्ध धर्म से संबंध रखने वाले स्मारक देखना, प्राचीन पांडुलिपियों का अध्ययन और संग्रह करना। वे अजंता और एलोरा गये, नासिक के पास स्थित कार्ले और कन्हेरी गुफाएं और उज्जैन के निकट भर्तृहरि गुफा – जिसका संबंध परम्परानुसार सुविख्यात कवि भर्तृहरि से जोड़ा जाता है,

देखी। मिनायेव के शब्दों में अजंता के भित्ति चित्र उनके अनुमान से कहीं अधिक श्रेष्ठ निकले। एलोरा देखते हुए उन्होंने अपनी डायरी में लिखा: "मैंने दो गुफाएं देखी हैं: कैलाश और देवावतार। पहला (मंदिर) अपनी योजना और मूर्तियों की प्रचुरता की दृष्टि से आश्चर्यजनक है... दूसरा भी लाजवाब है... पहली गुफा में इतनी मूर्तियां हैं कि इसे भारतीय मिथकों की पुस्तक कहा जा सकता है। बेशक, स्थानीय ब्राह्मण इनके बारे में जो बताते हैं, उन सब बातों को सही नहीं माना जा सकता।" यहां हम प्राचीन भारतीय स्मारकों के सम्मुख प्रशंसा भाव ही नहीं, बल्कि गाइडों और स्थानीय पंडितों के स्पष्टीकरणों के प्रति आलोचनात्मक रुख भी देखते हैं। मिनायेव कहीं-कहीं अपनी डायरी में इन स्मारकों का विस्तृत विवरण देते हैं, जिनका उपयोग बाद में उन्होंने अपनी वैज्ञानिक रचनाएं तैयार करते समय किया। कलकत्ता में रूसी भारतविद ने वहां इंडियन म्यूज़ियम में भरहुत की निम्न-उद्भृत मूर्तियों का (अपने ग्रंथ 'बौद्ध धर्म' में मिनायेव ने इस बौद्ध स्मारक का विशेषत: विस्तारपूर्वक उल्लेख किया) और गांधार मूर्तियों का अध्ययन किया, एशियेटिक सोसाइटी में काम किया और प्राचीन हस्तलिपियों का संग्रह देखा। बम्बई में उनका परिचय विलक्षण भारतीय इतिहासविद रामकृष्ण गोपाल भंडारकर तथा जाने-माने पुरालेख-अध्येता और इतिहासविद भगवानलाल इंद्राजी से हुआ। इंद्राजी के साथ मिनायेव के मैत्री संबंध वर्षों तक बने रहे। मिनायेव ने उनके साथ भारतीय पुरालेखों के अध्ययन की समस्याओं पर विचार-विमर्श किया, शिलालेखों के छायाचित्रों का अध्ययन किया और कनिंघम द्वारा प्रकाशित छायाचित्रों के साथ उनकी तुलना की। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि "कनिंघम द्वारा दिये गये पुरालेखों के पाठ सही नहीं हैं, विशेषत: खालसी लेखों के पाठ" (प्रत्यक्षत: चर्चा कालसी में प्राप्त अशोक के शिलालेख के पाठभेद की है)। १८८० में इंद्राजी ने रूसी विद्वान को कुषाण सम्राट हुविष्क के नये पुरालेखों से, जो उन्हें मथुरा में मिले थे, तथा क्षत्रपों की मुद्राओं (सिक्कों) से परिचित कराया। इसके ६ साल बाद मिनायेव फिर से इंद्राजी से मिले और उन्होंने मुद्राशास्त्र के प्रश्नों पर विचार किया। उन वर्षों में जब मिनायेव भारत में थे, भारत में इतिहासविद्या का गठन ही हो रहा था और अंग्रेज़ इतिहासविद इसके विकास को रोक रहे थे। इस बात को देखते हुए यह उल्लेखनीय है कि रूसी भारतविद ने भारतीय विद्वानों के साथ ही विशेषत: घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित किये, उनके साथ ही उन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति की मूलभूत समस्याओं पर विचार किया। इन भेंटों से ही रूसी और भारतीय भारतविदों के बीच वैज्ञानिक संबंधों की नींव पड़ी। दोनों पक्षों के लिए ही ये भेंटें अत्यंत लाभदायक रहीं। मिनायेव बौद्ध धर्म और भारतीय पुरालेखों के प्रमुखतम जानकार थे, सो यह अकारण ही नहीं कि भारतीय विद्वान उनका गहरा आदर और उन पर पूरा विश्वास करते थे। रूसी विद्वान के लिए भारतीय विद्वानों से वार्ताएं और शास्त्रार्थ अत्यंत रोचक थे। नये स्रोतों से परिचय के फलस्वरूप उनका

वैज्ञानिक दृष्टिकोण अधिक व्यापक होता था, प्रमुख भारतीय विद्वानों के साथ भेंटों में मिनायेव अपने वैज्ञानिक निष्कर्ष परखते थे, उनके पास जो तथ्य थे उन्हें भारतीय विद्वानों की सहायता से जाचते थे। उदाहरणत:, अशोक के शिलालेखों की विवेचना पर उन्होंने इंद्राजी के साथ मिलकर जो काम किया, संभवत: उसी के फलस्वरूप मिनायेव ने बौद्ध धर्म पर अपने मुख्य ग्रंथ में इन स्रोतों को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। कुषाण पुरालेखों पर मिनायेव और इंद्राजी के बीच हुए वाद-विवादों का महत्त्व विशेषत: उल्लेखनीय है। पिछली सदी के नौवें दशक के आरंभ में कुषाण युग का अध्ययन शुरू ही हो रहा था, कुषाण पुरालेखों की प्रमुख खोजें अभी आगे चलकर ही होनी थी, लेकिन उन दिनों ही मिनायेव ने इंद्राजी की खोजों को बहुत ऊंचा आंका। रूसी और भारतीय विद्वान की भेंट तथा उनके द्वारा कुषाण युग के अध्ययन की समस्याओं पर विचार किया जाना प्रतीकात्मक महत्त्व भी रखता था: इसके साथ कुषाण युग पर उन भावी अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठियों और सम्मेलनों की नींव पड़ी, जिनमें सोवियत और भारतीय विशेषज्ञों ने भाग लिया। आजकल इस विषय पर दोनों देशों के विद्वानों के सम्पर्क विशेषत: फलप्रद हैं।

अपनी तीसरी भारत यात्रा के दौरान मिनायेव बम्बई गये और यहां फिर से अपने मित्र व सहयोगी इंद्राजी से मिले। "वे मुझे देखकर प्रसन्न हुए," मिनायेव अपनी डायरी में लिखा। दोनों विद्वानों ने पुरातत्त्व और संस्कृतविद्या की समस्याओं पर विचार किया और भारत में अंग्रेज़ों की नीति पर भी (उनकी बातचीत संस्कृत में हुई)। इंद्राजी देश में अंग्रेज़ों के अत्याचारों से बहुत चिंतित थे। वे समझते थे कि भारतीयों के पास अभी इतनी शक्ति नहीं है कि वे संगीनों और तोपों के बल पर टिकी विदेशी सत्ता का सक्रिय विरोध करें। इंद्राजी भारत में फैल रहे "पश्चिमी सभ्यता के रोगों"—मदिरापान, लूटपाट, व्यभिचार की तीव्र भर्त्सना करते थे, हालांकि मिनायेव के शब्दों में वे "पुरानी व्यवस्था के समर्थक नहीं थे।"

अपनी भारत यात्राओं के दौरान मिनायेव ने भारतीय संस्कृतविदों से काफ़ी घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लिये। बम्बई में वे सुप्रसिद्ध मराठी विद्वान महादेव महेश्वर कुन्त से कई बार मिले, उनके साथ बौद्ध धर्म के अध्ययन की समस्याओं पर विचार-विमर्श किया, विशेषत: महायान की एक प्रमुखतम रचना 'ललितविस्तर' पर। भारतीय संस्कृतविद गट्टूलालजी के साथ मिनायेव ने संस्कृत में बातचीत की। अपनी डायरी में रूसी विद्वान ने लिखा कि उन्होंने कई बार भारतीय विद्वानों, ब्राह्मणों और जिन मंदिरों में वे गये, उनके पुरोहितों से संस्कृत में वार्ताएं कीं। उनकी विद्वता देखकर भारतीयों के मन में गहरा आदर जागा। ७फ़रवरी १८९० को 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' ने लिखा कि मिनायेव बम्बई में जाने-माने संस्कृतविदों से मिले, संस्कृत भाषा में सहज ही बात करते रूसी विद्वान के व्यापक ज्ञान से भारतीय विद्वान बहुत प्रभावित हुए।

भारत और बर्मा की यात्राओं के दौरान मिनायेव की वैज्ञानिक अभिरुचियों

की व्यापकता विशेषतः प्रकट हुई। पुरालेखों और बौद्ध धर्म के अध्ययन के साथ-साथ उन्होंने जैन धर्म में भी रुचि दिखाई। मिनायेव अनेक जैन मंदिरों में गये और जैन प्रवचनों में उपस्थित रहे। अपनी डायरी में मिनायेव ने यह बताया है कि कैसे वे पूना के दक्खिन कालेज गये थे वहां उन्होंने जैन हस्तलिपियां देखीं। उन्होंने दक्खिन कालेन की अपनी यात्रा का विस्तृत विवरण अकारण ही नहीं दिया है। उनकी डायरी इन जैन पांडुलिपियों की कहानी ही नहीं बताती, बल्कि भारतीय विद्वानों के प्रति एक रूसी के रुख की भी साक्षी है। "मैंने जैन पांडुलिपियां देखीं, एक चुनी, उसकी नक़ल पाना चाहता था और इस बात को लेकर कालेज के प्रिंसिपल से मेरी दिलचस्प बातचीत हुई ; उसका आग्रह था कि मैं जैनों के बारे में जानकारी डा० ब्यूलर से पाऊं। जब मैंने कहा कि वही जानकारी मुझे स्थानीय विद्वान भी दे सकते हैं, तो प्रिंसिपल इसे मानने को तैयार नहीं हुए। हमारी बातचीत के समय उपस्थित दस्तूर को यह टिप्पणी बहुत अखरी। जब हम प्रिंसिपल के कमरे से बाहर निकले, तो दस्तूर ने कहा: 'ये अंग्रेज़ कुछ नहीं समझते'।" मिनायेव द्वारा इस प्रसंग को डायरी में दर्ज किया जाना उल्लेखनीय है: दक्खिन कालेज के प्रिंसिपल आर० जे० ऑक्सनहेम प्राचीन हस्तलिपियों के प्रश्न पर भारतीय विद्वानों की योग्यता को स्वीकार नहीं करते थे, जबकि मिनायेव उनके ज्ञान का स्तर ऊंचा मानते थे। मिनायेव प्राचीन भारत के धार्मिक ग्रंथों के विश्वप्रसिद्ध अध्येताओं में गिने जाते थे और इसमें कोई संदेह नहीं कि जॉर्ज ब्यूलर की रचनाओं से वे अच्छी तरह परिचित थे। दिलचस्प बात यह है कि मिनायेव के विचार प्रायः भारतीय विद्वानों के विचारों के समान ही होते थे, सो यह अकारण ही नहीं कि दक्खिन कालेज के अध्यापक हुसानजी जमशेदजी दस्तूर ने मिनायेव को ही क़रीबी दोस्त के नाते अपने मन की वह बात कही, जो तब भारतीय जनमत के प्रगतिशील हलक़ों को उद्वेलित कर रही थी: "ये अंग्रेज़ कुछ नहीं समझते।"

कलकत्ता में भी मिनायेव के अनेक अच्छे मित्र बने। जनवरी १८८६ में मिनायेव वहां गये थे। उन दिनों बंगाल ब्रिटिशविरोधी भावनाओं का केंद्र था, भारतीयो में राष्ट्रीय स्वतंत्रता की चेतना बढ़ रही थी। रूसी विद्वान ने भारतीयों की आकांक्षाओं और उनके दृष्टिकोण की गहरी समझ दिखाई, उनकी ओर बहुत ध्यान दिया और उनके प्रति सद्‌भावना का परिचय दिया। मिनायेव की डायरियों में हम उन्हें एक विद्वान के रूप में ही नहीं, बल्कि प्रगतिशील राजनीतिक विचारों वाले व्यक्ति के रूप में, भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के समर्थक के रूप में भी देखते हैं। वैज्ञानिक विषयों पर उनकी वार्ताएं प्रायः सदा ही देश की राजनीतिक स्थिति के मूल्यांकन के साथ समाप्त होती थीं। राजनीतिक विषयों पर वार्ताओं में मिनायेव श्रोता मात्र नहीं रहते थे, बल्कि सक्रिय और निष्पक्ष रूप से वाद-विवाद में भाग लेते थे। उच्च वैज्ञानिक प्रतिष्ठा और प्रगतिशील राजनीतिक दृष्टिकोण से ही उन्होंने भारतीय विद्वानों का सौहार्द पाया। भारतीय समाज के विभिन्न सामाजिक वर्गों के प्रतिनिधि

भी उनका आदर करते थे। कलकत्ता प्रवास के दौरान मिनायेव की अनेक जाने-माने भारतीय विद्वानों से भेंटें हुईं। इनमें उनके लिए सबसे अधिक स्मरणीय थीं – सुविख्यात वाङमीमांसक, संस्कृतविद, बंगला साहित्य के एक प्रमुखतम जानकार महेशचन्द्र न्यायरत्न, लेखक, इतिहासकार और बौद्ध धर्म के अध्येता हरप्रसाद शास्त्री, पाली साहित्य के प्रसिद्ध अध्येता हरिदास शास्त्री, प्रमुखतम संस्कृतविद, विशाल संस्कृत शब्दकोश के प्रकाशक जीवानन्द विद्यासागर तथा तिब्बती-अंग्रेज़ी शब्दकोश के संकलनकर्त्ता, तिब्बत की यात्राओं के लिए प्रसिद्ध शरतचन्द्र दास के साथ भेंटें।

४ मार्च १८८६ को मिनायेव को एशियेटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल की सभा में निमंत्रित किया गया था। भारतीय विद्वानों ने मिनायेव का हार्दिक स्वागत किया। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा: "सभा में मेरा अभिवादन किया गया। मुझे सदा इस बात पर आश्चर्य होता है कि बंगाली लोग मेरे साथ कितना सौहार्दपूर्ण बर्ताव करते हैं, उनका यह सौहार्द रूसियों के प्रति है, मात्र मेरे प्रति ही नहीं।" हरिदास शास्त्री के साथ भेंट के बाद उन्होंने अपनी डायरी में लिखा: बंगाली लोग "मेरे प्रति बड़ा सौहार्द दिखाते हैं। मैं सोचता हूं कि हर रूसी के साथ उनका व्यवहार इतना ही सौहार्दमय होगा।"

भारतीय विद्वानों के साथ भेंटों के दौरान मिनायेव उनकी राष्ट्रीय स्वतंत्रता की भावना का समर्थन करते थे, उनका आह्वान करते थे कि वे स्वयं अपने देश में विद्याओं का विकास करें। हरिदास शास्त्री और शरतचन्द्र दास से मिलने के बाद उन्होंने अपनी डायरी में लिखा: "... हरिदास शास्त्री के यहां भी और उसके पहले दास दा के यहां भी बातचीत में यूरोपीय विद्वानों के प्रति अविश्वास झलका था – यह शुभ लक्षण है!" भारत में स्वतंत्र इतिहासविद्या के विकास का समर्थक होने के साथ-साथ मिनायेव भली-भांति यह समझते थे कि उन दिनों भारत में काम कर रहे यूरोपीय विद्वानों में अपने विषय में निष्ठा रखने वाले विशेषज्ञ भी कई थे, जो भारत की सांस्कृतिक धरोहर का वस्तुगत मूल्यांकन करने की चेष्टा करते थे। कतिपय प्रमुख भारतविदों, उदाहरणतः, रुडोल्फ़ होर्नले से मिनायेव की भेंट भारत में ही हुई। लेकिन साथ ही उनकी डायरी में हम उन अंग्रेज़ भारतविदों की कटु आलोचना भी पाते हैं, जो ब्रिटिश प्रशासन के अधिकारी होने के नाते ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रणाली के हित व्यक्त करते थे। पश्चिम में भारतविद्या के विज्ञानसम्मत विकास पर एल्फ़्रेड लायल के कार्यों का नकारात्मक प्रभाव पड़ा। एल्फ़्रेड लायल का दृष्टिकोण नितांत रूढ़िवादी था। मिनायेव की तीसरी भारत यात्रा के समय वे आगरा और अवध के गवर्नर थे। मिनायेव एल्फ़्रेड लायल की रचनाओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखते थे, वह जानते थे कि भारतीय विद्वानों का लायल के प्रति रुख नकारात्मक है। अपनी डायरी में उन्होंने लिखा: "यहां के उदार विचारों वाले विद्वानों को सर लायल पसंद नहीं हैं।" यह ब्रिटिश अधिकारी देश में मरणोन्मुख परम्पराओं को बनाये रखने के हक में था और यह बात ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति

के हित में थी। मिनायेव ने लिखा कि एल्फ्रेड लायल के लेख "रूढ़िवादी हिंदुओं" के प्रति उनकी सहभावना के साक्षी हैं।

बौद्ध धर्म के अध्येता के नाते मिनायेव की रुचि न केवल भारत, अपितु तिब्बत, नेपाल, सिक्किम में भी बौद्ध धर्म के भाग्य में थी। शरतचन्द्र दास ने मिनायेव को तिब्बत के बारे में और संस्कृत की पांडुलिपियों के बारे में, जिनमें ताड़पत्र ग्रंथ भी थे, बताया। तिब्बती संस्कृति की प्राचीन परम्पराओं से परिचित होने के लिए मिनायेव दार्जिलिंग की यात्रा पर गये। उन्होंने तिब्बती विद्यालय, बौद्ध मठ और स्तूप देखे, लेकिन सबसे अधिक रुचि उन्होंने "स्थानीय नृजाति वर्णन" में ली। उनकी डायरी में हम पढ़ते हैं: "इन सभी जातियों का, जो यहां क़दम-क़दम पर पाई जाती हैं, बहुत कम अध्ययन हुआ है और इनका कोई संतोषजनक विवरण उपलब्ध नहीं है।" मिनायेव संसार भर के भारतविदों में से उन पहले लोगों में थे, जिन्होंने एशिया के इस इलाक़े का नृजातिवर्णन की दृष्टि से अध्ययन करने की आवश्यकता की ओर ध्यान दिलाया। इस सिलसिले में मिनायेव की एक उल्लेखनीय पुस्तक है: '१८७५ में कुमायू में एकत्रित भारतीय लोककथाएं और किंवदंतियां'। १८८६ में कलकत्ता में मिनायेव का परिचय सुविख्यात बंगला लेखक बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय से हुआ। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या संकाय के पुस्तकालय में बंगला लेखक द्वारा मिनायेव को भेंट की गयी पुस्तकें संरक्षित हैं।

भारतीय संस्कृति के अग्रणी कर्मियों तथा राष्ट्रीय आंदोलन के प्रतिनिधियों, जैसे कि के० टी० तेलंग और डब्ल्यू० सी० बैनर्जी, से सम्पर्क में आने पर रूसी विद्वान को एक बार फिर इस बात का यक़ीन हुआ कि उसका ब्रिटिशविरोधी रुख़ सही है। मिनायेव की डायरियों से यह पता चलता है कि वासुदेव बलवंत फड़के के नेतृत्व में फैले किसान आंदोलन के भाग्य में वे गहरी रुचि लेते रहे थे। ३१ जनवरी १८८० को के० टी० तेलंग से मिलने के बाद उन्होंने फड़के की जीवनी से संबंधित तथ्य अपनी डायरी में नोट किये। मिनायेव अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ मराठों के संघर्ष का उच्च मूल्यांकन करते थे। उन्होंने लिखा: "फड़के का ध्येय पवित्र और उदात्त था, उसकी असफलता की भविष्यवाणी कर पाना कठिन नहीं था।" ये शब्द तब लिखे गये थे, जब औपनिवेशिक शासन विद्रोहियों का निर्मम दमन कर रहा था, जब फड़के को पकड़कर उन्हें उम्र क़ैद की सज़ा सुनाई जा चुकी थी।

पूना में बाल गंगाधर तिलक द्वारा स्थापित पाठशाला के अध्यापकों से मिनायेव की भेंट भी उल्लेखनीय थी।

भारत से मिनायेव बर्मा की यात्रा पर गये। बौद्ध धर्म के अध्येता के नाते उनके लिए "जीवित" बौद्ध धर्म से परिचित होना आवश्यक था। वे उन बौद्ध ग्रंथों की जानकारी पाना चाहते थे, जो बर्मा के बौद्ध मंदिरों, पुस्तकालयों तथा निजी संग्रहों में बड़ी संख्या में थे। रूसी विद्वान ने बर्मा की यात्रा १८८५ के अंत – १८८६ के शुरू में की। यह इस देश के लिए कठिन समय था, अंग्रेज़ों से इसकी तीसरी

लड़ाई चल रही थी। भारत की ही भांति यहां भी मिनायेव पूर्वी जनगण के पक्ष में थे, अंग्रेज़ों की दासता से बचने के लिए बर्मा के लोगों के संघर्ष का वे पूरी तरह समर्थन करते थे। १८८७ में प्रकाशित 'बर्मा में अंग्रेज़' शीर्षक अपने लेख में उन्होंने बर्मा में अंग्रेज़ों की नीति के सच्चे लक्ष्यों का पर्दाफ़ाश किया और बर्मी लोगों का आह्वान किया कि वे विदेशियों के खिलाफ़ संघर्ष जारी रखें।

मिनायेव के बौद्ध धर्म से संबंधित अध्ययनों के लिए बर्मा में बिताया अल्प समय (कुल ५० दिन) भी अत्यंत लाभदायक और फलप्रद रहा। उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में पाली ग्रंथ जमा किये। इस काम में बर्मी विद्वानों और बौद्ध भिक्षुओं से उन्हें बहुत सहायता मिली। मिनायेव के इस संग्रह का महत्त्व असाधारण है, क्योंकि वे अद्वितीय बौद्ध ग्रंथों को बचाने में सफल रहे। इस देश में जटिल राजनीतिक स्थिति का परिणाम यह हो रहा था कि अनेक प्राचीन ग्रंथ नष्ट किये जा रहे थे। इस बर्बरता पर मिनायेव ने सख्त विरोध प्रकट किया और तब अंग्रेज़ अधिकारियों को हस्तलिखित संग्रहों का हिसाब-किताब रखने की दिशा में क़दम उठाने पड़े। इस मामले में रूसी प्राच्यविद ने न केवल एक विलक्षण विशेषज्ञ के रूप में, बल्कि पूरब के जनगण की सांस्कृतिक धरोहर के रक्षक के रूप में भी काम किया।

बर्मा में मिनायेव ने मठों की पाठशालाओं तथा अन्य पाठशालाओं में शिक्षा प्रणाली का भी परिचय पाया। वे इस बात में विशेष रुचि लेते थे कि वहां किन ग्रंथों का अध्ययन होता है, प्राचीन संस्कृति की परम्पराओं को कैसे संजोया जाता है। उन्हें यह देखकर चिंता हुई कि इस देश में बौद्ध धर्म और पाली साहित्य का अध्ययन नहीं हो रहा। स्थानीय विद्वानों और बौद्ध भिक्षुओं से भेंटों में वे पाली और संस्कृत में वार्तालाप करते थे। बौद्ध धर्म के इतिहास एवं सिद्धांतों के अध्ययन के लिए आवश्यक विरले ग्रंथों की उन्होंने खोज की। उन्होंने हस्तलिखित ग्रंथों के निजी और राजकीय संग्रह देखे (खेदवश, उस समय तक अनेक अद्वितीय ग्रंथ या तो नष्ट हो चुके थे या खो गये थे)। तो भी मिनायेव ने पाली व्याकरण और काव्यशास्त्र, आदि पर कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें खोज लीं।

मिनायेव से जो कोई भी मिला, वह उनकी विद्वता से प्रभावित हुए बिना न रह सका। २६ जनवरी १८८६ को अपनी डायरी में मिनायेव ने लिखा: "इन पुस्तकों (अर्थात राजमहल के पुस्तकालय में पाली ग्रंथों) की मेरी विवेचना से सभी प्रभावित हुए। अंग्रेज़ हड़बड़ा गये। वे लज्जित हैं कि उनके साथ ऐसा विद्वान नहीं, जो पाली समझ सके।" रूसी विद्वान का कार्य काफ़ी कठिन था – हस्तलिपियां संदूकों में बेतरतीब भरी हुई थीं, उनकी कोई सूची नहीं थी। सौभाग्य ने मिनायेव का साथ दिया और वे कुछ अमूल्य ग्रंथ ढूंढ़ पाने में सफल रहे। हस्तलिखित ग्रंथों का एक संग्रह देखते हुए उन्होंने लिखा: "एक स्थान पर इतनी बड़ी संख्या में जमा पाली ग्रंथ मैंने यूरोप के एक भी पुस्तकालय में नहीं देखे हैं।" "यदि इस संग्रह को अधिक विस्तार से देखने पर इसमें ऐसे ग्रंथ निकल आयें, जिनका यूरोप के

विद्वानों ने नाम तक नहीं सुना है, तो मुझे ज़रा भी आश्चर्य नहीं होगा।" मिनायेव यहां पाली के जो ग्रंथ हासिल करने में सफल रहे, उनमें से कुछ उन्होंने स्वदेश लौटकर प्रकाशित किये। मिनायेव ने पाली और संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथों का ज़ो संग्रह जमा किया, उससे रूसी भारतविदों द्वारा मूल पाठ संबंधी अध्ययनों की नींव पड़ी।

मिनायेव की असाधारणतः विविध वैज्ञानिक धरोहर पर गौर करते हुए, रूस में तथा विश्व भर में भारतविद्या में उनके योगदान का मूल्यांकन करते हुए उनकी सर्वप्रथम बौद्ध धर्म के अध्येता के रूप में चर्चा की जानी चाहिए। इसका कारण केवल यही नहीं कि मिनायेव अपने समय के प्रमुखतम प्राच्यविद और रूस में भारत-विद्या के संस्थापक थे, उनकी रचनाओं में से अधिकांश एशिया में प्राचीन और समसामयिक बौद्ध धर्म के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन को समर्पित थीं, बल्कि यह भी कि वे पूरब के सांस्कृतिक-ऐतिहासिक विकास में बौद्ध धर्म की विशाल भूमिका को समझते और उस पर निरंतर बल देते थे, लोक कला, साहित्य, धर्मों और भाषाओं पर अपने शोधकार्यों में बौद्ध सामग्री का व्यापक उपयोग करते थे। मिनायेव को रूस में बौद्ध धर्म के अध्ययन का एक संस्थापक कहना सर्वथा उचित है, जिसका विश्व भर में इन अध्ययनों में महत्त्वपूर्ण योगदान है। सेर्गेई ओल्देनबुर्ग और फ्योदोर श्चेर्बात्स्की जैसे विलक्षण विद्वानों ने, जिनकी चर्चा हम अगले अध्यायों में करेंगे मिनायेव से शिक्षा पायी और उनके निदेशन में ही बौद्ध ग्रंथों पर चिंतन-मनन किया। इस बात का उनके वैज्ञानिक कार्यकलापों की दिशा निर्धारित करने पर बहुत प्रभाव पड़ा।

मिनायेव ने बौद्ध धर्म पर शोधकार्य पिछली सदी के आठवें और नौवें दशकों में किया। यह वह समय था, जब पश्चिमी जगत निरंतर बढ़ते ध्यान के साथ पूरब की आत्मिक संस्कृति की गहराइयों में पैठने के, उसके दार्शनिक और धार्मिक मतों को समझने के प्रयत्न कर रहा था, जब विश्व सभ्यता में पूरब के जनगण के योगदान को नई दृष्टि से देखा और समझा जा रहा था। इन्हीं दिनों तब तक अज्ञात अनेक बौद्ध ग्रंथ प्रकाश में आये, बौद्ध मत के इतिहास पर पहली विशद रचनाएं लिखी गईं। बौद्ध धर्म के अध्येताओं का ध्यान मुख्यतः दक्षिणी संप्रदाय के थेरवादियों के पाली ग्रंथों पर ही केंद्रित था।

१८३७ में सुविख्यात ब्रिटिश भारतविद जे० टर्नर ने श्रीलंका के प्राचीन पाली इतिवृत्त 'महावंश' का प्रकाशन किया। १८५५ में डेनमार्क के लब्धप्रतिष्ठ संस्कृतविद वी० फ़ौसबेल ने बौद्ध मत का एक सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथ 'धम्मपद' प्रकाशित किया और दो साल बाद उन्होंने पाली जातकों का, शाक्यमुनि बुद्ध के बारे में लोक रचनाओं का प्रकाशन शुरू किया। जर्मन विद्वान हेर्मन ओल्डनबर्ग ने १८७९में अनेक खण्डों में 'विनयपिटक' प्रकाशित किया। पाली साहित्य में असाधारण रुचि को देखते हुए पाली भाषा एवं साहित्य अध्ययन समाज की स्थापना की गयी।

शनैः-शनैः न केवल हीनयान के पाली ग्रंथ, जिनका विद्वज्जगत आदी हो रहा था, बल्कि महायान के ग्रंथ भी वैज्ञानिक कार्य के क्षेत्र में लाये जाने लगे। बौद्ध धर्म के विलक्षण अंग्रेज अध्येता और हस्तलिखित ग्रंथों के जानकार ब्रायन एच० हॉजसन के प्रयासों से नेपाल में बौद्ध ग्रंथों के विशाल संग्रहों का पता चला। हंगेरियाई शोधकर्त्ता चोमा दे क्योरोश उन पहले विद्वानों में थे, जिन्होंने तिब्बत के धार्मिक और ऐतिहासिक साहित्य की ओर अनुसंधानकर्त्ताओं का ध्यान दिलाया, जबकि जापानी शोधकर्त्ता बुन्यू नान्जो द्वारा बनाई गई त्रिपिटक से संबंधित चीनी ग्रंथों की सूची से चीन के अनूदित और मौलिक बौद्ध साहित्य का अध्ययन शुरू हुआ।

महायान के ग्रंथों के अध्ययन के फलस्वरूप विद्वानों को कतिपय परम्परागत अवधारणाओं पर पुनर्विचार करना पड़ा, उनके सम्मुख कई नई समस्याएं प्रस्तुत हुईं, जैसे कि बुद्ध की आदि शिक्षा का स्वरूप, बौद्ध मत के सिद्धांत-ग्रंथों के बनने का काल और पथ, बौद्ध मत की जन्म भूमि भारत में तथा उसके बाहर भी इस मत के विभिन्न संप्रदायों के दार्शनिक और धार्मिक चिंतन का विकास।

बौद्ध मत के अध्ययन के सभी उपरोक्त पक्षों पर मिनायेव ने कार्य किया। फ़्रांस के बुर्नूफ़, जर्मनी के ओल्डनबर्ग, इंगलैंड के रीस डेविड्स, हालैंड के केर्न, फ़्रांस के सेनार के साथ ही रूस के मिनायेव का नाम भी १९वीं सदी में बौद्ध धर्म के विश्वविख्यात अध्येताओं में गिना जाता है।

बौद्ध मत से संबंधित मिनायेव की विशाल धरोहर में हम बौद्ध ग्रंथों के प्रकाशन और अनुवाद से संबंधित रचनाएं भी पाते हैं तथा बौद्ध शिक्षा के और उसके विकास के चरणों के अध्ययन को समर्पित सैद्धांतिक रचनाएं भी।

मिनायेव की सर्वप्रमुख रचना, जिससे पूर्व उन्होंने कुछ लेख तथा मूल बौद्ध ग्रंथ प्रकाशित किये, 'बौद्ध धर्म। अनुसंधान और सामग्रियां' थी, जो १८८७ में छपी। खेदवश, अपने असामयिक निधन के कारण मिनायेव यह शोध ग्रंथ पूरा नहीं कर सके, हालांकि इसके प्रथम खण्ड का प्रकाशन ही बौद्ध धर्म के अध्ययन में विश्व-व्यापी महत्त्व की घटना बन गया था। इसका एक प्रमाण है इसका तुरंत ही फ़्रांसीसी अनुवाद छापा जाना। फ़्रांसीसी संस्करण की भूमिका लब्धप्रतिष्ठ भारतविद एमील सेनार ने लिखी। उन्होंने रूसी विद्वान की रचना की मौलिकता तथा अपार वैज्ञानिक महत्त्व पर ज़ोर दिया।

स्वयं मिनायेव ने अपने ग्रंथ की भूमिका में लिखा कि उनके कार्य का ध्येय "सम-सामयिक विद्वानों में प्रचलित प्रस्थापनाओं और निष्कर्षों को परखना" था।

बात यह है कि मिनायेव के जीवन काल में बौद्ध धर्म के अध्येताओं का यह दृष्टिकोण बन गया था कि यह मत एक ही समय पर प्रकट हुई धार्मिक-नैतिक शिक्षा है, जिसमें इसके अस्तित्व के दीर्घकाल में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं आया। इसके साथ ही 'त्रिपिटक' को प्राचीनतम बौद्ध शिक्षा का पूर्ण और सुव्यवस्थित पाठ माना

जाता था। १९वीं सदी के अधिसंख्य शोधकर्त्ता दक्षिणी सम्प्रदाय के इस ग्रंथ में तथा इसके बाद के भाष्यों में दी गई बौद्ध धर्म के इतिहास की घटनाओं के बारे में जानकारी को यथावत् ही, आलोचनात्मक दृष्टि से देखे बिना स्वीकार कर लेते थे। विभिन्न बौद्ध ग्रंथों का रचना काल तथा बौद्ध समुदाय के इतिहास का कालक्रम तय करते हुए ये विद्वान पाली ग्रंथों की परम्परा का ही पूर्णतः अनुकरण करते थे। विद्वज्जनों को जिन प्रस्थापनाओं पर कोई संदेह नहीं होता था, उनका विरोध करने के लिए बौद्ध स्रोतों का चहुंमुखी और गहनतम ज्ञान, वैज्ञानिक साहस और सूक्ष्म अंतर्ज्ञान होना चाहिए था।

मिनायेव का कहना था कि बौद्ध मत का चहुंमुखी अध्ययन किया जाना चाहिए। वे इसे एक व्यापक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक और सामाजिक परिघटना मानते थे, जिसका पूरब के जनगण के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर गहरा प्रभाव पड़ा। वे उन पहले लोगों में थे, जिन्होंने बौद्ध धर्म के इतिहास की ठोस घटनाओं का भारत के राजनीतिक इतिहास के निश्चित मोड़ों के साथ सहसंबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया। मिनायेव प्रायः इस बात पर ज़ोर देते थे कि बौद्ध धर्म के मर्म को केवल तभी समझा जा सकता है, जबकि भारत के आत्मिक जीवन का समग्र रूप में अध्ययन किया जाये, ब्राह्मण, जैन और हिंदू, आदि धर्मों का भी साथ-साथ अध्ययन किया जाये।

अपनी पुस्तक में मिनायेव ने बौद्ध संगीतियों और उनसे संबद्ध पाली ग्रंथों (त्रिपिटक) की रचना के इतिहास की ओर विशेष ध्यान दिया। पाली, संस्कृत, चीनी और तिब्बती रचनाओं का विश्लेषण करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बौद्ध संगीतियां, जिन्हें कि सार्विक, अखिल भारतीय माना जाता था, वास्तव में विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों की ही संगीतियां थीं। मिनायेव का यह निष्कर्ष कि संगीतियों का संबंध अलग-अलग सम्प्रदायों से था तथा यह कि परवर्ती बौद्ध सम्प्रदायों में इससे संबंधित सूचनाएं परिवर्तित कर दी गईं, बौद्ध धर्म के अध्येताओं में बहुत ज़ोरदार और बरसों तक चली बहस का विषय बने। कुछ शोधकर्त्ता हेर्मन ओल्डनबर्ग के इस मत को ही सही मानते थे कि आदि बौद्ध संगीतियां वास्तव में हुई थीं। बहुत बाद में ही फ्रांसीसी विद्वान लुई दे ला वाले-पुसें ने आदि बौद्ध मत के इतिहास पर अपनी रचनाओं में यह सिद्ध कर दिखाया कि मिनायेव के निष्कर्ष सही थे।

मिनायेव ने यह सर्वथा उचित अनुमान भी व्यक्त किया था कि ये संगीतियां समुदाय के मामलों का निबटारा करने का काम करती थीं, न कि साहित्यिक-धार्मिक कार्यकलाप। इस निष्कर्ष के आधार पर उन्होंने उन दिनों 'त्रिपिटक' का जो काल-क्रम सर्वमान्य था, उस पर पुनर्विचार किया। उनका विचार यह था कि न 'विनयपिटक' ही और न ही 'सूत्रपिटक' उस रूप में जिसमें यूरोपीय विद्वानों ने उन्हें पाया, पहली संगीति के दिनों में ही नहीं, जैसा कि परम्परा के अनुसार माना जाता था, बल्कि उससे कई सदी बाद तक भी नहीं बन पाये थे। इस निष्कर्ष

की पुष्टि के लिए साहित्यिक रचनाओं से उपलब्ध जानकारी का ही नहीं, बल्कि अशोक के वैराट शिलालेख का तथा मशहूर भरहुत स्तूप के उद्भृत चित्रों का भी विश्लेषण किया। मिनायेव के शब्दों में ग्रेनाइट पर उत्कीर्णित बौद्ध धर्म का यह सार-संग्रह, कतिपय शोधकर्त्ताओं के मत के विपरीत, न केवल इस बात की पुष्टि नही करता कि उन दिनों पाली सिद्धांत ग्रंथ 'त्रिपिटक' रचा जा चुका था, बल्कि यह तो इस बात के ही अधिक प्रमाण प्रस्तुत करता है कि पाली सिद्धांत-ग्रंथ से भिन्न कोई अन्य आचार संहिता तब विद्यमान थी। थेरवादियों के पाली ग्रंथ से भिन्न ऐसी आचार संहिताएं, मिनायेव के विचार में, कई एक थी: प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक धारा का अपना सिद्धांत ग्रंथ, अपनी रचनाएं थीं, जिन्हें वे बुद्ध की सच्ची, आदि शिक्षा घोषित करते थे। मिनायेव के शब्दों में, "विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों की रचनाओं के आधार पर किन्हीं निश्चित सिद्धांतों का उनके क्रमिक विकास में तुलनात्मक अध्ययन करते हुए ही हम सिद्धांत-ग्रंथ के इतिहास का पता लगा सकते हैं।" उन्होंने लिखा: "इस कार्य में सफलता पाने के लिए हमें इस अत्यंत प्रचलित, किंतु सर्वथा मिथ्या और पूर्वाग्रहपूर्ण मान्यता से बिल्कुल विमुख होना होगा कि पाली सिद्धांत-ग्रंथ ही प्राचीनतम है।"

इस प्रकार मिनायेव उन पहले लोगों में थे, जिन्होंने यह कहा और अपनी रचनाओं में सिद्ध कर दिखाया कि पाली त्रिपिटक का अंतिम पाठभेद बहुत बाद में बना। इस प्रसंग में मिनायेव महायान की रचनाओं को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनका विचार था कि इन रचनाओं में बौद्धों के प्राचीनतम विश्वासों को पाया जा सकता है, जो कि हीनयान के पाली ग्रंथों में नहीं बने रहे। मिनायेव आज से सौ साल पहले इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि श्रीलंका में पाली में ग्रंथ बाद में रचे गये, कि विभिन्न सम्प्रदायों के अपने ग्रंथ थे और यह कि बौद्ध धर्म के आदि स्वरूप का पता लगाने के लिए महायान साहित्य अपार महत्त्व रखता है, लेकिन आज भी इन निष्कर्षों का वैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं हुआ है। मिनायेव ने जो सवाल उठाये थे, वे आज खास तौर पर महत्त्वपूर्ण हैं, जब विद्वानों को महायान और हीनयान के विविधतम ग्रंथ कहीं अधिक बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। इन स्रोतों के आधार पर सिद्धांत ग्रंथों के लेखन के पूर्व की परम्परा का पता लगाने के प्रश्न को नये दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। हीनयान और महायान के स्रोतों की भूमिका तथा बुद्ध की आदि शिक्षाओं से उनके संबंध के प्रश्न पर आज भी विवाद चल रहा है। अपने दिनों में वसीली वसील्येव और इवान मिनायेव ने और हालैंड के हेंड्रिक केर्न ने इस विवाद में भाग लिया, बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक में लुई दे ला वाले-पुसें, फ्योदोर श्चेर्बात्स्की, जर्मन भारतविद हेनरिख लुडेर्स ने और फिर आस्ट्रियाई विद्वान एरिख फ्राउवाल्नर, फ्रांस के ए० बरो ने तथा नीलकंठ दत्त, पांडे, आदि अनेक जाने-माने भारतीय विद्वानों ने यह विवाद जारी रखा है।

बौद्ध धर्म के इतिहास की मूलभूत समस्याओं का विश्लेषण मिनायेव ने विभिन्न

स्रोतों – लिखित दस्तावेज़ों, किंवदंतियों, कलाकृतियों, आदि – में निहित तथ्य-सामग्री की पूर्ण जानकारी के आधार पर किया।

अपनी सूक्ष्म अतर्दृष्टि के बल पर वे उस विशाल सामग्री में से जिसका अध्ययन कम हुआ होता या बिल्कुल ही नहीं, शोध की आवश्यक वस्तु ढूंढ़ लेते थे। उदाहरणत: मिनायेव उन पहले लोगों में से थे, जिन्होंने जातकों जैसी रोचक रचना की ओर ध्यान दिया। उन दिनों इनका प्रकाशन नहीं हुआ था और मिनायेव ने जातक कथाएं विभिन्न हस्तलिखित ग्रंथों में ही पढ़ीं। जातक कथाओं के बारे में लेख-माला में बौद्ध धर्म और उसके साहित्य के अध्ययन के प्रति मिनायेव का सामान्य ऐतिहासिक-सांस्कृतिक रुख विशेषत: स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हुआ। मिनायेव जातक कथाओं को सर्वप्रथम लोक सृजन के नमूनों के रूप में देखते थे, जो लोक साहित्य की रचनाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, न कि केवल बौद्ध मत के नैतिक सिद्धांतों का सारतत्व पेश करने वाली रचनाओं के रूप में ही। उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म, साहित्य और कला के इतिहास का अध्ययन करते हुए मिनायेव इस सांस्कृतिक सम्पदा के निर्माण में जन समूहों की भूमिका को विशेषत: महत्त्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने "प्राय: बीस से अधिक सदियों तक जन सृजन के विलक्षण इतिहास" की चर्चा की। साहित्यिक और कलाकृतियों का अध्ययन करते हुए वे "प्राचीन जनता के बौद्धिक एवं आत्मिक जीवन की जीती-जागती गाथा" पढ़ते थे।

मिनायेव पाठ-विश्लेषण के विलक्षण जानकार थे। उन्हें कतिपय अमूल्य बौद्ध ग्रंथों के प्रकाशन का श्रेय प्राप्त है, जिनमें कुछ तो अद्वितीय हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पूरबी देशों की अपनी यात्राओं के दौरान मिनायेव ने भारत, श्रीलंका, नेपाल, बर्मा के हस्तलिखित संग्रह बहुत बडी संख्या में जमा किये, जो लेनिनग्राद के सल्तिकोव-श्चेद्रिन पुस्तकालय की हस्तलिपि निधि में सरक्षित है। श्रीलंका और बर्मा में मिनायेव द्वारा जमा किये गये पाली ग्रंथों का संग्रह विशेषत: समृद्ध है। अपने जीवन में वे अपने संग्रह में से कुछेक ग्रंथ ही प्रकाशित कर सके, जैसे कि 'अनागतवंश' तथा कुछ अन्य। लेकिन हस्तलिखित ग्रंथों की इस अमूल्य निधि का बड़ा भाग आज भी अपने शोधकर्त्ता और प्रकाशक की प्रतीक्षा में है। अपने वैज्ञानिक जीवन के आरंभ में ही हस्तलिखित ग्रंथों पर काम करने, प्राचीन ग्रंथों का पाठ विश्लेषण और पुरालिपि अध्ययन का कार्य करने में मिनायेव की रुचि जाग गई थी।

एम० ए० की डिग्री पाने के लिए मिनायेव ने "विनयपिटक' के प्रमुख भाग 'प्रतिमोक्षसूत्र' ('पतिमोक्खसुत्त') का विश्लेषण, अनुवाद और प्रकाशन किया। अपने शोधकार्य के लिए इस ग्रंथ को उन्होंने अकारण ही नहीं चुना, बल्कि इस बात को देखते हुए कि बौद्ध समुदाय के गठन के तथा विभिन्न सम्प्रदायों और धाराओं के बीच संघर्ष के इतिहास के अध्ययन के लिए बौद्ध मत का यह एक प्राचीनतम धर्म-ग्रंथ अपार महत्त्व रखता है। इस प्रकाशन के फलस्वरूप वैज्ञानिक जगत बौद्ध

आचार नियम संहिता के पाली पाठ से परिचित हो पाया, जबकि इससे पहले इन नियमों के अनुवाद ही ज्ञात थे। कुछेक हस्तलिखित ग्रंथों के आधार पर किया गया 'प्रतिमोक्षसूत्र' का प्रकाशन वस्तुतः रूसी भारतविद्या का पहला वैज्ञानिक पाठ-विश्लेषणात्मक कार्य माना जा सकता है, जो मिनायेव के शिष्यों अकादमीशियन फ़्योदोर श्चेर्बात्स्की और अकादमीशियन सेर्गेई ओल्देनबुर्ग द्वारा चालू की गई 'बिब्लिओतेका बुद्दीका' (बौद्ध पुस्तकमाला) के प्रकाशनों का अग्रदूत बना।

मिनायेव द्वारा प्रकाशित पाली ग्रंथों में सर्वाधिक रोचक है 'कथावथुपकरण'। यह बौद्ध दर्शन के विवादास्पद प्रश्नों को तथा विभिन्न अनधिकृत संप्रदायों के प्रतिनिधियों के साथ अधिकृत मत के बौद्धों के संघर्ष को समर्पित रचना है। श्रीलंका के बौद्ध यह मानते थे कि 'कथावथु' के रचयिता तिस्स मोग्गलिपुत्त हैं; जिन्होंने पाटलिपुत्र में हुई तीसरी संगीति में इसे प्रस्तुत किया था। इस रचना का ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए मिनायेव इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इसकी रचना बहुत बाद में हुई, लेकिन उनका कहना था कि इसके बावजूद अनेक सदियों तक बौद्ध मत के विभिन्न सम्प्रदायों के बीच चले संघर्ष के साक्षित्व के नाते इस रचना का महत्त्व ज़रा भी कम नहीं होता। यहां यह भी कहा जाना चाहिए कि मिनायेव उन पहले यूरोपीय विद्वानों में से थे, जिन्होंने बौद्ध मत में फूट और अनधिकृत सम्प्रदायों के इतिहास का गहन अध्ययन शुरू किया।

अपने प्रमुख ग्रंथ 'बौद्ध धर्म। अध्ययन और सामग्रियां' के दूसरे अंक में मिनायेव ने बौद्ध शब्दों का कोश – 'महाव्युत्पत्ति' – प्रकाशित किया। नौवीं सदी के आरंभ में लिखी गई यह पुस्तक बौद्ध जगत में बहुत लोकप्रिय थी और इसके तिब्बती, चीनी, मंगोल और मंचूरियाई भाषाओं में अनुवाद मिले हैं।

अपने प्रकाशन के लिए मिनायेव ने उपरोक्त सभी रूपांतरों का उपयोग किया। कालांतर में, १९१०-१९११ में 'बौद्ध पुस्तकमाला' के १३वें खण्ड में 'महाव्युत्पत्ति' पुनः प्रकाशित की गई। आज तक यह बौद्ध ग्रंथों की मिश्र संस्कृत के शब्द-विवेचन के लिए अद्वितीय स्रोत है।

१८८९ में मिनायेव ने महायान की एक सर्वोत्कृष्ट कृति, सातवीं सदी के भिक्षु-दार्शनिक शांतिदेव द्वारा रचित काव्य 'बोधचर्या-अवतार' का प्रकाशन किया। यह ग्रंथ इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि यह महायान की दार्शनिक प्रस्थापनाओं का सार-संग्रह है। इसे महायान की किसी एक धारा-विशेष का नहीं माना जा सकता, क्योंकि सर्वास्तिवादियों से लेकर योगाचारों तक विभिन्नतम धाराओं के प्रतिनिधि इस काव्य को अपनी एक प्रमुख रचना मानते थे। यह कहा जा सकता है कि 'बोधिचर्या-अवतार' जैसे स्रोत का प्रकाशन मिनायेव के बौद्ध मत संबंधी शोधकार्यों में अगले चरण की शुरूआत था। अपने वैज्ञानिक कार्य के पहले चरण में मिनायेव की रुचि मुख्यतः बौद्ध धर्म के और बौद्ध समुदायों – संघों – के इतिहास में, संगीतियों, फूट और अनधिकृत सम्प्रदायों में थी। लेकिन कालांतर में वे शांतिदेव की रचना की

ओर उन्मुख हुए, जो भारत में महायान के विचारों के विकास की उत्तरावस्था प्रतिबिम्बित करने वाला दार्शनिक ग्रंथ है। यह तथ्य इस बात का साक्षी है कि मिनायेव अब बौद्ध धर्म के दूसरे पक्ष – उसके दार्शनिक अंतर्य – में रुचि लेने लगे।

मिनायेव की वैज्ञानिक धरोहर में पाली भाषा और साहित्य पर उनकी रचनाओं का अपना विशिष्ट स्थान है। १८७२ में प्रकाशित उनका डाक्टरेट का शोध ग्रंथ 'पाली भाषा के स्वनविचार और रूपविचार की रूपरेखा' विज्ञान मे उनका अपार योगदान था। इससे पहले लिखे गये पाली के व्याकरणो से यह रचना इस बात मे भिन्न थी कि यह पाली पाठों के बर्षों के अध्ययन के आधार पर लिखा गया था और इसमें स्वनविज्ञान की रूपरेखा दी गई थी, जिसमें प्राचीन भारतीय रूप और उनके पाली समरूप दिये गये थे। १८७४ में इस पुस्तक का फ़्रांसीसी में और १८७५ में अंग्रेज़ी में अनुवाद हुआ। यह व्याकरण इतने उच्च वैज्ञानिक स्तर पर लिखा गया था कि भारत और बर्मा में पाली के अध्ययन के लिए प्रमुख पाठ्य-पुस्तक बन गया।

पाली ग्रंथों पर शोधकार्य के साथ-साथ मिनायेव संस्कृत साहित्य के अध्ययन की ओर भी बहुत ध्यान देते थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचनाओं पर सिंहावलोकनात्मक पुस्तक लिखी, जो रूसी में प्राचीन भारतीय साहित्य पर पहली इतनी विस्तृत संदर्भ रचना था। इस पुस्तक में मिनायेव ने वैदिक, बौद्ध और महाकाव्य साहित्य का, शास्त्रीय काव्य, लोक साहित्य और नाटक का विषय-सार दिया।

भारतीय वाङ्मय के अध्ययन के प्रति मिनायेव के चहुंमुखी रुख से रूसी और सोवियत संस्कृतविदों के लिए भारतविद्या के इस क्षेत्र में फलप्रद कार्य का आधार बना।

१८९० में मिनायेव का देहांत हो गया। हम नहीं जानते कि किन भावी शोध-कार्यों की योजनाएं उनके साथ चली गईं। हां, उनके काग़ज़ातों से यह पता चलता है कि योजनाएं बहुत विशाल थीं। मिनायेव की कुछ रचनाएं उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुईं। इन्हें उनके शिष्य सेर्गेई ओल्देनबुर्ग ने प्रकाशन के लिए तैयार किया था। इनमें पाली ग्रंथों 'पेतवत्थु', 'सुत्तनिपात' और 'महावग्ग' के अनुवाद भी थे। गुरु और शिष्य में प्रगाढ़ मैत्री बंधन थे। मिनायेव के काग़ज़ातों में लगभग ५० पत्र हैं, जो विदेश में अध्ययन के लिए गये ओल्देनबुर्ग ने अपने गुरु को लिखे थे। मिनायेव ओल्देनबुर्ग की प्रतिभा की क़द्र करते थे। बौद्ध धर्म के अध्ययन में भी तथा पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्ययन में भी अकादमीशियन फ़्योदोर श्चेर्बात्स्की ने मिनायेव का कार्य जारी रखा।

रूस में भारतविद्या की प्रबल परम्परा का सूत्रपात करने का श्रेय इवान मिनायेव को ही है।

३. १९वीं सदी के अंत और २०वीं सदी के आरंभ में रूस में भारतविद्या संबंधी अनुसंधान

१९वीं सदी के अंत और २०वीं सदी के आरंभ में रूस में भारतविद्या संबंधी अनुसंधान कई दिशाओं में हो रहे थे। प्राचीन भारतीय संस्कृति के बौद्ध धर्म से संबद्ध क्षेत्र में अनुसंधान कार्यों का प्रमुख केंद्र तब पीटर्सबर्ग था, जहां एशियाई संग्रहालय में और पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में मिनायेव के विलक्षण शिष्य ओल्देनबुर्ग और श्चेर्बात्स्की काम कर रहे थे। उनके कार्य को, जो सोवियत काल में भी जारी रहा, समर्पित विशेष अध्याय इस पुस्तक मे आगे दिये गये हैं। संस्कृतविद्या के क्षेत्र में कार्य मुख्यतः भाषाविदों ने, तुलनात्मक भाषाविज्ञान के विशेषज्ञों ने ही किया, जो देश के कई विश्वविद्यालयों में काम कर रहे थे।

मास्को में पावेल पेत्रोव के कुछ शिष्य वैज्ञानिक कार्यों में रत थे। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय योगदान रूस के एक सबसे बड़े भाषाविद अकादमीशियन **फ़िलीप्प फ़ोर्तुनातोव** (१८४८-१९१४) का है। मास्को विश्वविद्यालय की पढ़ाई पूरी करने के पश्चात १८७२-७३ में उन्होंने यूरोप के जाने-माने संस्कृतविदों – ट्यूबिंगन में रोथ, बर्लिन में वेबेर, पेरिस में बेर्गेन – से शिक्षा पाई। मध्ययुगीन भारतीय भाषाओं का भी उन्होंने अध्ययन किया। १८७५ में प्रकाशित उनका शोधकार्य 'सामवेद-आरण्यक-संहिता' के पाठ का प्रकाशन था, जिसके साथ रूसी अनुवाद, व्यापक टिप्पणियां, अनुसंधान कार्य तथा भारोपीय भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण की कुछ समस्याओं पर परिशिष्ट भी था। यूरोप में 'सामवेद' सदा उसके 'आरण्यकों' के बिना छापा जाता था। इस प्रकार फ़ोर्तुनातोव 'सामवेद' के 'आरण्यकों' के पहले प्रकाशक थे। रूसी विद्वान की पुस्तक ठोस, गहन अनुसंधान कार्य थी, जिसमें वैदिक साहित्य का सिंहावलोकन तथा इसके इतिहास के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर ग़ौर किया गया था, विशेषतः वैदिक साहित्य, यजुओं और यज्ञ-कृत्यों के बीच सहसंबंध के प्रश्न पर। लेखक ने यह विचार व्यक्त किया कि यज्ञ-कृत्य सदा ही उच्चारित मंत्रों से अधिक पुराने नहीं होते थे, उलटे कतिपय कृत्यों की व्याख्या वैदिक पाठों के आधार पर ही की जा सकती है। लेखक ने 'सामवेद' की टीकाओं और उसके भाष्यों की ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने यह इंगित किया कि कुछ मामलों में 'सामवेद' के मंत्र (पाठभेद) ऋग्वेद के मंत्रों से अधिक पुराने हैं। व्यापक तुलनात्मक सामग्री के आधार पर फ़ोर्तुनातोव ने पारिभाषिक शब्दों के अर्थों का विश्लेषण किया। ऐसा करते हुए उन्होंने संस्कृत शब्दकोशों में दी गई व्याख्या में संशोधन किये। उनके पाठ-विश्लेषण संबंधी कार्य के सिद्धांत रोचक हैं। रोथ तथा अन्य अधिकांश जर्मन विद्वानों के विपरीत फ़ोर्तुनातोव संस्कृत शब्दों के अर्थों में एकरूपता लाने की कोशिश कर रहे थे। वे मूल पाठों में संस्कृत के प्रामाणिक व्याकरण के मानकों के अनुसार

अपेक्षित संशोधन करने से बचते थे, कतिपय हस्तलिपियो में पाई जाने वाली नक़ल-नवीसो की ग़लतियो और सभी हस्तलिपियो में पाई जाने वाली व स्वय मूल पाठ मे निहित "गलतियो" के बीच भेद करते थे। फ़ोर्तुनातोव ने यह सिद्धांत निम्न शब्दो में निरूपित किया : "वर्तमान समय मे वैदिक ग्रंथो के प्रकाशक का कार्यभार उस पाठ को प्रस्तुत करना है, जो वास्तव में है और जहा तक हम पता लगा सकते हैं, प्राचीन युग में भी अस्तित्व में था।" पाठ विश्लेषण की फ़ोर्तुनातोव की विधि रोथ और उनके अनुयायियों की उग्र सुधारवादी विधि की अपेक्षा आधुनिक विधि के कहीं अधिक समीप थी। फ़ोर्तुनातोव के समसामयिको मे से यह विधि फ्रांसीसी संस्कृतविद बेर्गेन की विधि के समीप थी, लेकिन इस विद्वान की पुस्तक तब तक प्रकाशित नही हुई थी।

इसके विपरीत फ़ोर्तुनातोव वैदिक पाठो की व्याख्या में विल्सन और गोल्दश्तुकर के विचारो को न मानते हुए, यह मानते थे कि स्वय वैदिक परम्परा को, मध्ययुगीन भाष्यकार सायण की टीकाओं को प्रस्थान बिंदु नहीं मानना चाहिए, बल्कि पाठों मे समान स्थानों की तुलना और वैज्ञानिक निरुक्ति को ही। फ़ोर्तुनातोव ने लिखा : "बेशक भाष्यकारो को नज़रंदाज़ नहीं करना चाहिए और उनकी रचनाओं का सहायक ग्रथो में से एक के नाते आवश्यक उपयोग करना चाहिए। हां, यह हमारा अधिकार रहता है कि उनकी रचनाओं को भी हम वैसे ही आलोचनात्मक दृष्टि से देखें, जैसे कि यूरोपीय विद्वानो की व्याख्याओ को देखते हैं।" रूसी संस्कृतविद ने अपना शोधकार्य उच्चतम स्तर पर किया। भारोपीय भाषाओ के तुलनात्मक स्वन-विज्ञान और रूपविज्ञान पर उनकी रचनाओ मे प्राचीन भारतीय भाषाओ की ओर बहुत ध्यान दिया गया। फ़ोर्तुनातोव ने प्राचीन भारतीय भाषाओं की स्वनप्रणाली पर विशेष कृति भी लिखी, जिसका जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ और यूरोपीय संस्कृत-विदों ने इसमें गहरी रुचि दिखाई।

अकादमीशियन **व्सेवोलोद मिल्लेर** (१८४८-१९१३) भी पेत्रोव के शिष्य थे। उन्होंने अपनी शिक्षा बर्लिन मे वेबेर के और ट्यूबिंगन में रोथ के निदेशन मे वेदों और 'अवेस्ता' का अध्ययन करते हुए जारी रखी। प्राग में काम कर रहे ऋग्वेद के प्रसिद्ध विशेषज्ञ अल्फ़ेड लुडविग के साथ उनके विशेषत: घनिष्ठ संबंध बने। १८७६ में मिल्लेर का शोधप्रबंध छपा, इसका शीर्षक था : 'आर्य मिथक और प्राचीन-तम संस्कृति के साथ उनका संबंध। एक रूपरेखा। भाग १। अश्विनीकुमार-डायास्कूरी'। इस ग्रंथ की योजना बहुत व्यापक थी। इसमें न केवल वैदिक साहित्य और मिथको पर, बल्कि वैदिक समाज पर भी सामग्री थी। कुछ हद तक मिल्लेर का यह ग्रंथ जर्मन विद्वान हेनरिख़ ज़ीम्मर की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्राचीन भारतीय जीवन' की पूर्वगामी थी। रूसी विद्वान ने वैदिक पाठों के आधार पर आर्यों के सामाजिक जीवन का, उनके परिवार, शिल्पों, शस्त्रास्त्रों, आदि का विवरण दिया। वेदों में प्रतिबिम्बित अवधारणाओ पर उन्होंने यूनानी, रोमन और ईरानी मिथकों से तुलना

करते हुए ग़ौर किया। लेखक ने प्राचीन रूस में ईसाई धर्म अपनाये जाने के पूर्व के मिथकों से संबंधित जो सामग्री अपनी पुस्तक में प्रयुक्त की, वह विशेषत: रोचक और मौलिक थी। मिल्लेर ने उन दिनों वैज्ञानिक साहित्य में प्रचलित मैक्स मूलर और एडल्बर्ट कून की अवधारणाओं की इस बात के लिए आलोचना की कि वे मिथक प्रणालियों की सारी विविधता को सूर्य और वज्र देवों की उपासना तक ही सीमित करते हैं। मिल्लेर का मत था कि इन सिद्धांतों के पक्षधर अपनी धारणाओं की पुष्टि के लिए विभिन्न जनगण से और विभिन्न काल में ली गई सामग्री का उपयोग आलोचनात्मक ढंग से नहीं करते हैं। उन्होंने मिथकों के तुलनात्मक अध्ययन की अधिक कड़ी ऐतिहासिक विधि ढूंढ़ने की कोशिश की। पुस्तक में इस बात को विस्तार-पूर्वक प्रमाणित किया गया कि भारोपीय जातियों में उनके दूर देशों में फैलने से पूर्व युग्म-देव पूजा प्रचलित थी। मिल्लेर ने इस पूजा का आरंभिक अर्थ समझने की चेष्टा की। इस विषय पर आज भी वैज्ञानिक बहुत ध्यान दे रहे हैं।

मिल्लेर के ग्रंथ में कतिपय वैदिक श्लोकों का अनुवाद और विवेचना दी गई थी; दूसरे प्रकाशनों में भी उनके अनुवाद छपे थे। संस्कृत पर उन्होंने कतिपय भाषा-वैज्ञानिक रचनाएं भी लिखीं। अनेक वर्षों तक मिल्लेर मास्को विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाते रहे। फ्योदोर क्नौएर के साथ मिलकर उन्होंने संस्कृत की पाठ्य-पुस्तक लिखी। मास्को विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग खुलवाने के मिल्लेर के प्रयास सफल नहीं हुए, तथापि नौवें दशक में संस्कृत भाषा एवं साहित्य के सभी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य विषय बन गई। मिल्लेर के निदेशन में भावी भाषाविद संस्कृत ही नहीं, प्राकृत भी पढ़ते थे।

मिल्लेर ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य लोक साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन तथा साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में किया। इस प्रसंग में ओसेतियाई भाषा और लोक साहित्य पर उनका अनुसंधान कार्य उल्लेखनीय है। उत्तरी काकेशिया के चेचेन इलाक़े में उन्हें एक ऐसी लोक कथा मिली, जिसका मूल भारत की वेताल कथाओं से संबंधित है। तब एक विशेष लेख में उन्होंने इस भारतीय लोक कथा के देश-देश में फैलने की समस्या पर प्रकाश डाला, इसके लिए भारतीय कथा की तातार, कबरदी और मंगोल रूपांतरों से तुलना की। अकादमीशियन मिल्लेर के कार्यकलापों की इस दिशा को सेर्गेई ओल्देनबुर्ग, बोरीस व्लादीमिर्त्सेव, रोज़ालिया शोर तथा अन्य रूसी प्राच्यविदों ने अपने अनुसंधानों से जारी रखा।

मास्को विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर, अकादमीशियन फ़्योदोर कोर्श (१८४३-१९१५) चहुंमुखी प्रतिभा के धनी भाषाविद थे, जिन्हें अनेक प्राच्य भाषाओं और बोलियों का ज्ञान था। इस दृष्टि से वे अपने शिक्षक पेत्रोव की सबसे अधिक याद दिलाते थे, यद्यपि सैद्धांतिक प्रशिक्षण इन्होंने उनसे भी अधिक गहरा पाया था। कोर्श का संस्कृत पर पूरा अधिकार था और वे इस भाषा में कविता भी करते थे। उनके समसामयिकों के संस्मरणों से हम यह जानते हैं कि पूरब की मृत भाषाओं

में बोलते हुए वे असाधारण वाक्पटुता का परिचय देते थे। भारतविद्या संबंधी सामग्री का उपयोग उन्होंने सामान्य वाङमीमांसा पर अपनी रचनाओं में किया। भारतीय छंद पद्धति पर उन्होंने एक विशद रचना तैयार की थी, जिसका प्रकाशन नहीं हो पाया। इसका एक अंश – श्लोकों के छंद पर शोधकार्य – एक रूसी पत्रिका में प्रकाशित हुआ था।

पिछली सदी में रूस के विश्वविद्यालयों में प्रायः तुलनात्मक भाषाविज्ञान और संस्कृत का विभाग होता था। सो सभी प्रमुख रूसी भाषाविद, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के विशेषज्ञ साथ ही संस्कृतविद भी होते थे। उनमें से कुछ संस्कृत का अधिक गहराई से अध्ययन करते थे और विशेष शोधकृतियां प्रकाशित करते थे। विलक्षण उक्राइनी भाषाविद अफ़ानासी पोतेब्न्या ने सातवें दशक के आरंभ में बर्लिन में संस्कृत का अध्ययन किया। उन्हीं दिनों पेत्रोव के शिष्य भाषाविद अलेक्सान्द्र दुवेर्नुआ ने संस्कृत पर विशेष लेख तथा 'मुंडक उपनिषद' का अनुवाद प्रकाशित किया। सुविख्यात स्लावविद इ० यागिच ओदेस्सा में संस्कृत पढ़ाते थे, जबकि कज़ान और देर्प्त में लब्धप्रतिष्ठ भाषाविद इवान बोदुएन दे कुर्तेने ने संस्कृत पढ़ाई। बोदुएन दे कुर्तेने के एक शिष्य और साथी, युवा प्रतिभावान विद्वान निकोलाई क्रुशेव्स्की ने ऋग्वेद के कुछ मंत्रों का अनुवाद छापा और संस्कृत के स्वनों पर कुछ लेख तैयार किये। भाषाविद के सुयोग्य कार्य के लिए, विशेषतः तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में काम कर रहे विशेषज्ञ के लिए संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य माना जाता था। रूसी भाषाविदों के लिए प्रायः यह वैज्ञानिक प्रशिक्षण का पहला चरण होता था। फ़ोर्तुनातोव, बोदुएन दे कुर्तेने और पोतेब्न्या की प्रमुख उपलब्धियां संस्कृतविद्या के क्षेत्र में नहीं हैं, यद्यपि संस्कृत भाषा और साहित्य का अध्ययन करते हुए उन्होंने वैज्ञानिक शिक्षा पाई। इसके अलावा इससे भाषाविज्ञान और संस्कृतविद्या के क्षेत्रों में उच्चस्तरीय कार्य की परम्परा बनी, जो अनेक दशकों तक क़ायम रही।

खार्कोव विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर **विकेन्ती शेर्त्सल** (१८४३-१९०६) ने संस्कृत-विद्या के क्षेत्र में अधिक गहन शोधकार्य किया। संस्कृत और ज़ेंद भाषाओं की आरंभिक शिक्षा उन्होंने पीटर्सबर्ग में कोसोविच से पाई, फिर लंदन में भारतीय भाषाओं तथा चीनी और जापानी का अध्ययन किया। १८७२-१८७३ में खार्कोव में शेर्त्सल ने संस्कृत पाठों का संकलन प्रकाशित किया। उन्होंने इस प्राचीन भारतीय भाषा के वाक्य-विन्यास पर शोध रचना लिखी और पुरुषवाचक सर्वनामों पर लेख तैयार किया। उनके भाई रोबर्ट शेर्त्सल (१८५५-१८८०) ने भी संस्कृत पर काम किया। व० शेर्त्सल के शिष्य युवा संस्कृतविद अ० पोपोव (१८५५-१८८०) थे। वे छोटी उम्र में ही चल बसे, लेकिन विशेषज्ञों के अनुसार संस्कृत के वाक्य-विन्यास पर उनका कार्य उनके असाधारणतः व्यापक ज्ञान, कर्मठता और वैज्ञानिक कार्य के प्रति निष्ठा का साक्षी था। १९वीं सदी के अंत में उक्राइना का एक और नगर – कीयेव – भी, जहां फ्योदोर क्नौएर पढ़ाते थे, संस्कृतविद्या का केंद्र बना।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान और संस्कृतविद्या का एक पुराना केंद्र देर्प्त नगर (तार्तू) भी था। यहां संस्कृत का अध्यापन १८३७ से ही शुरू हो गया था। कार्ल केइल (१८१२-१८६५) यहा संस्कृत पढाते थे। १८६५ से १८६८ तक क्लासिकीय वाङ्-मीमांसा और तुलनात्मक व्याकरण के विशेषज्ञ लेओ मेयेर ने संस्कृत पढ़ाई। उनके सर्वाधिक सफल शिष्य थे **लेओपोल्ड वान श्रेडेर** (१८५१-१६२०)।

श्रेडेर का जन्म १८५१ में देर्प्त में हुआ। यहीं उन्होंने माध्यमिक और उच्च शिक्षा पाई। १८७३ में देर्प्त विश्वविद्यालय की पढ़ाई पूरी करके उन्होंने लाइपज़िग में हेनरिख ब्रोकहाउस और एडल्बर्ट कून से, येना में डेल्ब्रुक और कपेलेर से, ट्यू-बिंगेन में रोथ से संस्कृत की शिक्षा पाई। ओट्टो बोटलिंग ने भी युवा संस्कृतविद की सहायता की। १८७७ में श्रेडेर ने होमेर की भाषा में बलाघात की वैदिक भाषा से तुलना के विषय पर पी-एच० डी० के शोधप्रबंध का मण्डन किया और १८७६ में देर्प्त में डी० फिल० के लिए वैदिक साहित्य की महत्त्वपूर्ण रचना 'मैत्रायणीय-संहिता' पर शोधप्रबंध का मण्डन किया। रूसी विज्ञान अकादमी ने श्रेडेर से 'मैत्रा-यणीय-संहिता' प्रकाशित करने का अनुरोध किया और इसके लिए साधन प्रदान किये (हाल ही में श्रेडेर के इस प्रकाशन का जर्मन संघात्मक गणराज्य में नया संस्करण निकला है)। श्रेडेर को रूसी विज्ञान अकादमी से सदा पूर्ण समर्थन और सहायता मिलती रही। श्रेडेर के वैज्ञानिक और अध्यापन कार्य का पहला चरण देर्प्त से ही संबंधित है। १८९४ से वे वियेना में रहने लगे, जहां उन्होंने सुविख्यात विद्वान जार्ज ब्यूलर के कार्य को आगे बढ़ाया। अपने दीर्घ जीवन में श्रेडेर ने प्राचीन भारत की भाषाओं, साहित्य और धर्मों पर अनेक ग्रंथ लिखे। रूस से उनके संबंध कभी नहीं टूटे। बाल्टिक तटीय क्षेत्र के विभिन्न वैज्ञानिक समाजो (एस्तोनियाई वैज्ञानिक समाज, रीगा नगर वैज्ञानिक समाज, आदि) के वे सदस्य थे। इस क्षेत्र से संबंधों का उनकी वैज्ञानिक अभिरुचियों पर भी प्रभाव पड़ा। उन्होंने एस्त जाति के तथा दूसरी यूग्रियाई-फ़िन जातियों के रीति-रिवाजों, विशेषतः विवाह की रस्मों का अध्ययन किया और सुदूर अतीत में भारोपीय, आर्य क़बीलों के साथ इनके सम्पर्कों के प्रमाण पाये। मेयेर और श्रेडेर के शिष्यों में कीयेव विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर फ़्योदोर क्नौएर भी थे।

फ़्योदोर क्नौएर (१८४९-१९१७) का जन्म बेस्साराबिया में आ बसे एक जर्मन परिवार में हुआ था। बेर्द्यान्स्क नगर में उन्होंने काम किया। जीवन की विभिन्न कठिनाइयों को पार करते हुए अततः वे देर्प्त विश्वविद्यालय के इतिहास एवं वाङ्मय संकाय में दाख़िला पाने में सफल रहे। यहां उन्होंने मेयेर और श्रेडेर से संस्कृत सीखी। ऋग्वेद और यूनानी भाषा में बलाघात पर क्नौएर के पहले लेख में श्रेडेर का प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। युवा विद्वान ने संस्कृत का अध्ययन येना में बेर्टोल्ड डेल्ब्रुक और कार्ल कपेलेर के यहां जारी रखा। डेल्ब्रुक के परामर्श पर क्नौएर ने संस्कृत शब्दों के आघातन पर विशाल शोधकार्य किया, जिससे पीटर्सबर्ग शब्दकोशों में कतिपय संशोधन किये जा सके। ट्यूबिंगेन में रोथ के निदेशन में क्नौएर ने वेदों और 'अवेस्ता'

का अध्ययन किया। रोथ ने उन्हे गोभिल-गृह्यसूत्र पर काम करने का परामर्श दिया। १८८२ में देर्प्त विश्वविद्यालय में क्नौएर ने इस ग्रंथ के प्रकाशन और जर्मन अनुवाद को शोधकार्य के रूप में प्रस्तुत किया। १८८४ मे उन्होंने देर्प्त में अध्ययन कार्य किया और फिर उन्हे कीयेव विश्वविद्यालय में निमंत्रित किया गया। यहां अनेक वर्षों तक क्नौएर ने अत्यत रोचक और जटिल ग्रथों मानव गृह्यसूत्र और मानव श्रौतसूत्र के प्रकाशन पर काम किया। रूस में प्रकाशित ये ग्रंथ उत्तरवैदिक पाठों और कर्मकाण्ड में रुचि लेने वाले सभी संस्कृतविदों के लिए अद्वितीय सहायक पुस्तकें हैं। क्नौएर द्वारा मिल्लेर के साथ मिलकर लिखी गई संस्कृत की पाठ्य-पुस्तक का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। क्नौएर ने संस्कृत की एक और पाठ्य-पुस्तक रूसी भाषा मे भी लिखी, जो १९०८ में लाइपज़िग में प्रकाशित हुई। इसके साथ दिये गये पाठ-संकलन में गृह्य और श्रौत सूत्र भी थे। क्नौएर से शिक्षा पाने वालों में अलेक्सेई बरान्निकोव, बोरिस लारिन, गेओर्गी अख्व्लेदियानी भी थे, जो कालांतर में जाने-माने सोवियत भारतविद और भाषाविद बने।

नौवें दशक में रूसी भाषाविद, समीक्षक, साहित्य के इतिहासकार और सामाजिक कार्यकर्त्ता **द्मीत्री ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की** (१८५३-१९२०) ने वैदिक साहित्य के क्षेत्र में काम किया। ओदेस्सा में इ० यागिच से और कुछ समय के लिए पीटर्सबर्ग में मिनायेव से तथा तदुपरांत पेरिस में बेर्गेन से उन्होंने संस्कृत सीखी। यूरोप में उन्होंने 'अवेस्ता' का भी अध्ययन किया। ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की खार्कोव विश्व-विद्यालय में संस्कृत पढाते थे। उनकी पहली पुस्तक के रूप में एक छोटा सा शोध-कार्य छपा, जिसका शीर्षक था: 'सोम पुष्प लाने वाले गरुड का वैदिक मिथक: वाणी और उन्माद की अवधारणा के प्रसंग में'। अपनी अगली पुस्तक में लेखक ने अपने विचारों को अधिक पूर्ण रूप में प्रस्तुत किया। यह पुस्तक थी – 'भारोपीय युग के सुरादेवोपासना पंथों के अध्ययन का प्रयास, समाज के विकास के आरंभिक चरणों में उन्माद की भूमिका के प्रसंग में', भाग १, 'प्राचीन भारत में वैदिक युग में सोमदेव की उपासना', ओदेस्सा, १८८४। इस पुस्तक मे वैदिक सोमदेव की ईरानी पंथों के हओम (होम) और यूनानी डायोनिशस की उपासना से व्यापक तुलना की गई थी तथा मिथकों के अध्ययन में सौर तथा ऋतु संबंधी धाराओं के प्रमुख प्रतिनिधियों के दृष्टिकोणों की आलोचना की गई थी। इस दृष्टि से यह पुस्तक मिल्लेर की पुस्तक की याद दिलाती थी। रूसी विद्वान का मत था कि प्रकृति के दैवीकरण से संबंधित पथो तथा मुख्यतः सामाजिक उत्पत्ति के पंथों में सिद्धांततः भेद किया जाना चाहिए। उनका विचार था कि इन अंतिम तरह के पंथों में ही सोम की उपासना भी आती है, जिसका स्वरूप उन्मादमूलक था। लेखक की रुचि उन्मादजन्य पंथों के सामाजिक-मानसिक सार में थी। वे धार्मिक उन्माद को अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानते थे, उसे मानव समुदाय को "एक सूत्र में बांधने वाला नया तत्व" मानते थे, "जिसने चिंतन के कार्य को, कल्पना की उड़ान को, मानसिक

कार्यशीलता के विकास को सशक्त आवेग प्रदान किया।" ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की के मत में मानव समाज का विकास ही मनुष्य के लिए आवश्यक तीव्र उन्माद से शुरू हुआ। उन्होंने ऋचाओं की रचना और पाठ के बारे में तथा सोमपान के बारे मे वेदों में निहित जानकारी का विश्लेषण किया। वे यह मानते थे कि सोमपान तथा ऋचाओं का पाठ एक दूसरे से संबंधित थे, और सोमपान से उत्पन्न उन्माद लयबद्ध पाठ द्वारा श्रोताओं तक पहुचता था। सगीत, अनुष्ठान और पुरोधा की वाणी एक अटूट समग्रता थे। वैदिक ऋचाओं में वाणी अपनी लयबद्धता के कारण द्रव सी प्रवाहित होती थी। लयबद्ध वाणी का आदिम मानव के मानस पर प्रबल प्रभाव पड़ता था और इससे उसका चिंतन व सृजनशक्ति जागते थे। आद्य धार्मिक उन्माद में ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की कालांतर के धार्मिक रहस्यवाद और ऐहिक उन्माद का स्रोत ढूंढ़ते थे। उनका कहना था कि इसी आधार पर ही सदियां बीतने पर मिथक तथा धार्मिक-रहस्यवादी प्रणालियां बनीं। ऋग्वेद की ऋचाओं के भाषावैज्ञानिक विश्लेषण की सहायता से उन्होंने पुरातन भाषा और चिंतन की विशिष्टताओं का पता लगाने की चेष्टा की। इस समस्या पर कार्य में उनका दृष्टिकोण अपने समसामयिक फ्रांसीसी नृजातिविज्ञानियो के समीप था। आद्य चिंतन और प्राचीन मानव के मानस के तथा कविता, वाणी और अनुष्ठान के संबध के सामान्य प्रश्नों का महत्त्व भी विज्ञान मे कम नहीं हुआ है।

१८८७ में ओदेस्सा में ही ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की की एक और पुस्तक प्रकाशित, जिसका शीर्षक था: 'वैदिक युग में हिंदुओं की अग्निपूजा के इतिहास पर कुछ विचार'। उन्होंने वेदों में अग्नि के तीन रूप निर्धारित किये: गृहपति, विशपति और वैश्वानर। उनके विचार में यह विभेदन केवल मिथकीय लक्षणों के अनुसार नहीं हुआ, बल्कि इसका सामाजिक आधार था – गृहपति एक अलग परिवार के गृह का अग्निदेव था, विशपति – ग्राम का, समुदाय का और वैश्वानर समुदायों के संघ का। वैदिक शब्दावली के जाने-माने अध्येता, जर्मन भारतविद हेर्मन ग्रासमन के साथ तर्क-वितर्क करते हुए रूसी संस्कृतविद ने आश्वस्तकारी ढंग से यह सिद्ध किया कि "विश" शब्द का अर्थ "समुदाय" ही समझा जाना चाहिए (ग्रासमन ने इसका अर्थ "गृह" बताया है)। पुस्तक का जो भाग तीन अग्नियों की पूजा को समर्पित है, उसका मुख्य निष्कर्ष यह है कि पंथों और धार्मिक अवधारणाओं का विकास आर्यों के नागरिक गठन के विकास के साथ-साथ ही हुआ। सामाजिक पहलू में तथा धर्म पर सामाजिक संस्थाओं के विकास के प्रभाव की समस्या में रुचि का संबंध प्रत्यक्षत: ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की के सामाजिक दृष्टिकोण और कार्यकलापों से है। युवावस्था में उन्होंने समाजवादी मंडलियों में सक्रिय रूप से भाग लिया, अवैध पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे, मार्क्स और उनके अनुयायियों की रचनाओं का अध्ययन किया।

ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की की पुस्तक के दूसरे भाग में वैदिक साहित्य में अग्नि

की उपमाओं की सूची दी गई है। लेखक ने ८०० ऐसी उपमाएं संकलित कीं। उनके साथ सही-सही उद्धरण, ईरानी सामग्री के साथ तुलना तथा निरुक्ति और मिथक संबंधी व्याख्याएं भी दीं। इस व्यापक सामग्री की बदौलत वैदिक धर्म और साहित्य में अग्नि के महत्त्व, कार्यों और लक्षणों का सही-सही पता लगाया जा सकता है। रूसी संस्कृतविद के इस ग्रंथ का फ्रांसीसी अनुवाद पेरिस में छपा।

ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की के शिष्य थे **पावेल रित्तेर** (१८७२-१९३९), जिन्होंने खार्कोव विश्वविद्यालय के स्लाव-रूसी संकाय में शिक्षा पाई। संस्कृतविद्या के क्षेत्र में उनका पहला कार्य था विष्णु को समर्पित ऋग्वेद की ऋचाओं का अध्ययन। रित्तेर ने जर्मनी में ऋग्वेद के प्रसिद्ध ज्ञाता कार्ल गेल्डनर से आगे शिक्षा पाई। संस्कृत के अलावा उन्होंने पाली और बंगला भी सीखी। रित्तेर की वैज्ञानिक रुचि मुख्यत: संस्कृत साहित्य के अध्ययन पर ही केंद्रित थी। विदेश में अध्ययन के परिणाम के रूप में उन्होंने दंडी कृत 'दशकुमारचरित' के एक अंश का अनुवाद तथा इस कृति पर अपना लेख प्रस्तुत किये। यह लेख १८९८ में प्रकाशित हुआ था। दंडी की विशिष्टताओं की चर्चा करते हुए उन्होंने इस रचनाकार के "प्रत्यक्ष यथार्थ-वाद" की ओर विशेष ध्यान दिलाया। शीघ्र ही रित्तेर ने 'दशकुमारचरित' का पूरा अनुवाद भी तैयार कर लिया, लेकिन वह सोवियत काल में ही प्रकाशित हो पाया। यह अनुवाद १९०३ में प्रकाशित जोहान्न जैकब मेयेर के जर्मन अनुवाद से पहले ही कर लिया गया था। रित्तेर खार्कोव विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाते थे। क्रांतिपूर्व वर्षों में उनका 'संक्षिप्त संस्कृत व्याकरण' चार बार छपा। उन्होंने का-लिदास के 'मेघदूत' का भी रूसी में अनुवाद किया। १९१७ की अक्तूबर क्रांति के बाद उन्होंने 'मेघदूत' और 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' का उक्राइनी भाषा में अनुवाद छापा और इस तरह संस्कृत से उक्राइनी भाषा में अनुवादों की परम्परा का सूत्रपात किया।

बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक में रित्तेर ने सोवियत उक्राइना में प्राच्यविद्या संबंधी कार्यों के संगठन में सक्रिय भाग लिया, संस्कृत साहित्य की रचनाओं के अनुवाद प्रकाशित किये, लेख छापे और व्याख्यान दिये। नूतन भारतीय साहित्य में उनकी रुचि विशेषत: उल्लेखनीय है। उन्होंने संस्कृत, पाली और बंगला भाषाओं की रचनाओ से भारतीय साहित्य का संकलन तैयार किया। इसमे ऋग्वेद से लेकर बीसवीं सदी के बंगला कवियों तक की रचनाओं का अनुवाद था। उन्होंने इस सारे भारतीय साहित्य को एक श्रृंखला में जोडने वाले सूत्र खोजे, उदाहरणत:, यह दिखाया कि किस तरह रवीन्द्रनाथ ठाकुर का सृजन प्राचीन भारतीय शास्त्रीय काव्य से संबंधित है। इस दिशा में उन्होंने दूसरे सोवियत भारतविदों और साहित्य विशेषज्ञों (अकाद-मीशियन बरान्निकोव, अकादमीशियन बेलेत्स्की, आदि) से सहयोग किया। क्रांति के बाद के वर्षों में न केवल लेनिनग्राद* में, जहां ओल्देनबुर्ग, श्चेर्बात्स्की और उनके

* १८(३१) अगस्त १९१४ तक यह नगर सेंट पीटर्सबर्ग (या पीटर्सबर्ग) कहलाता था और २६ जनवरी १९२४ तक इसका नाम पेत्रोग्राद रहा।

शिष्य काम कर रहे थे, बल्कि मास्को, खार्कोव, कज़ान तथा अन्य कुछ विश्व-विद्यालयों में भी जहां संस्कृत और भारतीय संस्कृति का अध्ययन हो रहा था, वैज्ञानिक और शैक्षिक कार्य की परम्पराओं का नैरंतर्य बना रहा।

पीटर्सबर्ग में संस्कृतविद्या के क्षेत्र में काम कर रहे मिनायेव के शिष्यों में एक थे निकोलाई मिरोनोव। उनकी प्रकाशित कृतियों में सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं – एशियाई संग्रहालय में भारतीय पांडुलिपियों का सूचीपत्र तथा रूसी जन पुस्तकालय में भारतीय पांडुलिपियों का सूचीपत्र। उन्होंने वैदिक भाषा और बौद्ध धर्म पर भी कुछ लेख लिखे। मिरोनोव की रचनाएं इंगलैंड और भारत में भी अंग्रेज़ी भाषा में छपी।

द्मीत्री कुद्र्याव्स्की (१८६७-१९२०) ने भी शुरू में पीटर्सबर्ग में मिनायेव से शिक्षा पाई और फिर येना में डेल्ब्रुक से। १८९६ से वे यूर्येव नगर (भूतपूर्व देर्प्त) में संस्कृत और सामान्य भाषाविज्ञान पढ़ाने लगे। भाषाविज्ञान पर व्याख्यान-माला तैयार करने के अलावा उन्होंने संस्कृतविद्या के लिए भी विशेष कार्य किया – संस्कृत की पाठ्य-पुस्तक, जिसमें शब्दकोश और व्याकरण की रूपरेखा भी थी (१९०३), 'संस्कृत प्रवेशिका' (१९१७) तथा 'हितोपदेश' का अनुवाद। उनकी प्रमुख रचनाएं गृह्यसूत्रों को समर्पित हैं। प्राचीन भारतीय सूत्र साहित्य का अध्ययन करते हुए कुद्र्-याव्स्की ने श्रेडेर और क्नौएर की परम्पराएं जारी रखीं। उन्होंने प्राचीन हिंदुओं के जीवन चरणों – आश्रमों – पर तथा प्राचीन भारतीय लोगों के दैनंदिन जीवन इतिहास के स्रोतों के नाते गृह्यसूत्रों की विशिष्टता के विषय पर लेख लिखे।

प्राचीन भारत के घरेलू अनुष्ठानों के बारे में कुद्र्याव्स्की की पुस्तक में दो अनुष्ठानों – अतिथि-सत्कार और उपनयन – का विश्लेषण किया गया है। यहीं पर अश्वलायण और कौशिक के गृह्यसूत्रों से तत्संबंधी उद्धरणों का अनुवाद दिया गया है। कुद्र्याव्स्की ने संस्कृत ग्रंथो का अध्ययन भारोपीय संस्कृति की दृष्टि से दूसरे, सबंधी जनगण की सामग्री से (सर्वप्रथम होमर के काव्यों में निहित जानकारी से) तुलना करते हुए किया। उन्होंने विभिन्न संस्कृत ग्रंथो और उनके पाठभेदों के आधार पर दोनों अनुष्ठानों का विस्तृत विवरण दिया। तुलनात्मक नृजातिविज्ञान की समस्याओं के अध्ययन में अपनी समसामयिक प्रवृत्तियों का (इसमें विशेषतः मोरिस विंटर-नित्ज़ की रचनाएं आती हैं) अनुसरण करते हुए कुद्र्याव्स्की ने वैज्ञानिक विश्लेषण की विधि निर्धारित करने का प्रयास किया। उन्होंने अनुष्ठानों और सामाजिक संस्थाओं के सार का विश्लेषण प्रायः आदिमयुगीन जीवन जी रहे क़बीलों के नृजातिवर्णन संबंधी सामग्री की सहायता से किया। उदाहरणतः, प्राचीन भारतीय आश्रमव्यवस्था की व्याख्या करने के लिए उन्होंने आस्ट्रेलियाई क़बीलों में आज भी पाई जाने वाली वय-श्रेणियों की प्रणाली को प्रस्थान बिंदु बनाया। कुल जमा कुद्र्याव्स्की के वैज्ञानिक कार्यकलाप के लिए तुलनात्मक नृजातिवर्णन और आदिमयुगीन इतिहास में रुचि लाक्षणिक है। आदिमयुगीन इतिहास पर उनकी लोकप्रिय पुस्तक के क्रांति से पहले भी और बाद में भी कई संस्करण निकले। यह पुस्तक एंगेल्स की 'परिवार,

निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति' नामक पुस्तक के विचारों के प्रभाव में लिखी गई थी।

रूसी विज्ञान अकादमी ने बौद्ध धर्म के अध्ययन के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण काम किया। १८९७ में ओल्देनबुर्ग की पहलक़दमी पर 'बौद्ध पुस्तकमाला। मूल और अनूदित बौद्ध ग्रंथों का संग्रह।' प्रकाशित होने लगी। इसका ध्येय बौद्ध धर्म की उत्तरी शाखा के अध्ययन में सहयोग प्रदान करना था, जबकि विलक्षण ब्रिटिश विद्वान टी० रीस-डेविड्ज़ और उनके सहयोगी दक्षिणी शाखा का अध्ययन कर रहे थे। उत्तरी शाखा की ओर विशेष ध्यान रूस में बौद्ध धर्म के अध्ययन की वैज्ञानिक परम्परा थी, जिसका सूत्रपात मिनायेव और वसील्येव की रचनाओं से हुआ। 'बौद्ध पुस्तक-माला' एक अंतर्राष्ट्रीय परियोजना थी, जिसमें यूरोप और एशिया के कतिपय देशों के विद्वानों के प्रयास संगठित हुए। उल्लेखनीय है कि रूसी विज्ञान अकादमी विदेशी प्राच्यविदों और विशेषतः भारतविदों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रखती थी। प्रायः सभी रूसी संस्कृतविदों को जर्मनी, फ्रांस, इंगलैंड के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों से शिक्षा पाने का, यूरोप के श्रेष्ठतम पुस्तकालयों और संग्रहालयों में काम करने का अवसर मिलता था। १९वीं सदी और २०वीं सदी के पूर्वार्ध के अनेक जाने-माने यूरोपीय भारतविद रूसी विज्ञान अकादमी के सदस्य थे। आगस्त श्लेगेल और हेनरी थॉमस कोल्ब्रुक, होरेस विल्सन, फ्रांज़ बोप्प, जार्ज ब्यूलर, हेर्मन जैकोबी, एमिल सेनार तथा अन्य अनेक स्वनामधन्य विद्वान इस अकादमी के सदस्य, मानद सदस्य या सहसदस्य थे। सोवियत काल में एम० वल्लेज़ेर और सिल्वेन लेवी, लुई फ़िनो, ए० फ़ूशे, औरेल स्टेन, आदि भारतविद सोवियत विज्ञान अकादमी के सदस्य थे। १८५६ में ही राधाकांत देव रूसी अकादमी के मानद सदस्य बन गये। १८८८ से रामकृष्ण गोपाल भंडारकर भी, जिनकी रूसी विद्वान बहुत क़द्र करते थे, रूसी विज्ञान अकादमी के सहसदस्य रहे।

१८९९ में रोम में हुई प्राच्यविदों की १२वीं अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में रूसी प्राच्यविद राद्लोव और ओल्देनबुर्ग ने मध्य और पूर्वी एशिया के अध्ययन का अंतर्राष्ट्रीय संघ गठित करने का प्रस्ताव रखा। उन्होंने सुझाया कि इस संघ का संगठन केंद्र पीटर्सबर्ग में हो। १९०३ में हैम्बर्ग में हुई १३वीं कांग्रेस में यह योजना स्वीकृत हुई। तभी इस संघ की रूसी समिति भी गठित हुई। इसमें विज्ञान अकादमी, पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय का प्राच्य भाषा संकाय, पुरातत्व आयोग, रूसी भूगोल समाज, आदि वैज्ञानिक प्रतिष्ठान शामिल हुए। रूसी समिति ने कतिपय विशेष ग्रंथ प्रकाशित किये। यह समिति इतिहासकारों, पुराविदों, भाषाविदों और नृजातिवर्णनकारों के सहयोग से किये जाने वाले "अंतरविषयी" कार्यों की ओर विशेष ध्यान देती थी। मध्य और पूर्वी एशिया का अध्ययन रूसी प्राच्यविदों का विशेष कार्य था। पीटर्सबर्ग में केंद्रित अंतर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना इस क्षेत्र में उनकी सेवाओं की मान्यता का ही कार्य था।

१८९० से पूर्वी तुर्किस्तान में संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथ मिलने लगे। प्रसिद्ध रूसी विद्वान, यात्री और क्रांतिकारी द्मीत्री क्लेमेंत्स के इस इलाक़े में अभियान के परिणाम सनसनीखेज़ थे। इनको देखकर ही जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन, जापान को पूर्वी तुर्किस्तान में अपने अभियान दल भेजने की प्रेरणा मिली। इन दलों का कार्य बहुत फलप्रद रहा। रूसी समिति को अभियान दल भेजने का अवसर काफ़ी बाद में मिला। ओल्देनबुर्ग के नेतृत्व में अभियान दल १९०९-१९१० में तुर्फ़ान और १९१४-१९१५ में तुङ्हुआन गये। इन दलों के कार्य के वैज्ञानिक परिणाम बहुत महत्त्वपूर्ण थे। ओल्देन-बुर्ग द्वारा प्राप्त सामग्रियों का अभी तक अध्ययन हो रहा। इन अभियानों के फलस्वरूप हर्मिताज में केंद्रीय एशिया की कलाकृतियों के संग्रह तथा प्राच्यविद्या संस्थान में केंद्रीय एशिया की पांडुलिपियों के संग्रह में बहुत वृद्धि हुई। यहां यह भी उल्लेख-नीय है कि ओल्देनबुर्ग अभियानों के दौरान मिले प्राचीन स्मारकों और कलाकृतियों को संजोकर रखने की ओर बहुत ध्यान देते थे, सो उन्होंने केंद्रीय एशिया में आये कतिपय पश्चिमी अभियान दलों द्वारा की गई लूट-खसोट पर गहरा आक्रोश व्यक्त किया। ओल्देनबुर्ग इस बात के समर्थक थे कि जिन प्राचीन वस्तुओं को संजोये रखने के लिए उन्हें उनकी प्राप्ति के स्थान से ले जाने की आवश्यकता नहीं है, उन्हे छुआ न जाये। प्राप्ति के स्थानों पर छोड़ दी गई कलाकृतियों का यूरोपीय विद्वान अध्ययन कर सकें, इस ध्येय से ओल्देनबुर्ग ने छायाचित्रों का व्यापक उपयोग किया।

बीसवीं सदी के आरंभ में कई अभियान दल पूर्वी देशों को भेजे गये थे। १९०३-१९०४ में श्चेर्बात्स्की के एक निकटतम सहयोगी स्ताल-गोल्स्तैन भारत गये। उन्होंने संस्कृत, तिब्बती और चीनी ग्रंथों से बौद्ध धर्म का अध्ययन किया तथा केंद्रीय एशियाई लिपि पर और उन्हीं दिनों खोजी गई तोखार भाषा पर कतिपय शोध रचनाएं लिखीं। १९१०-१९११ में श्चेर्बात्स्की भारत गये। त्सीबिकोव, बरादीन और दूसरे विद्वान तिब्बत गये। पहला विश्वयुद्ध छिड़ने से कुछ समय पूर्व श्चेर्बात्स्की के युवा प्रतिभावान शिष्य ओ० रोज़ेनबर्ग जापान में बौद्ध धर्म का अध्ययन करने गये, जबकि **अलेक्सान्द्र और ल्युद्मीला मेर्वार्त** भारत व श्रीलंका गये। मेर्वार्त दम्पति के अभियान की विस्तार से चर्चा की जानी चाहिए। इस अभियान का प्रमुख ध्येय तो था पीटर्सबर्ग के नृविज्ञान और नृजातिवर्णन संग्रहालय के लिए दक्षिणी एशिया के देशों में नृजातिवर्णन संबंधी वस्तुएं जमा करना। मेर्वार्त दम्पति के सम्मुख भारत के नृजाति-वर्णन और रहन-सहन का तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन का भी कार्यभार रखा गया था। उन्हें दक्षिणी भारत की ओर विशेष ध्यान देना था, क्योंकि तब तक इस अत्यंत रोचक क्षेत्र में रूसी विद्वानों ने कोई काम नहीं किया था। यहां यह भी कहा जाना चाहिए कि उन दिनों सारे यूरोप में ही भारतविद्या संस्कृत-विद्या तक ही सीमित थी और प्राचीन भारतीय संस्कृति में द्रविड़ जनगण के योगदान का उचित मूल्यांकन नहीं किया जाता था।

मेर्वार्त दम्पति पहले काफ़ी समय तक श्रीलंका में रहे। यहां उन्होंने सिंहली और तामिल भाषाएं सीखी, सामुदायिक संबंधो और ग्रामीण प्रथाओं का अध्ययन किया। उनके कार्य की एक महत्त्वपूर्ण दिशा थी – मठों में पढ़ाये जाने वाले बौद्ध सिद्धांतों तथा आम लोगों के धार्मिक व्यवहार की तुलना। इसके बाद रूसी भारतविदों ने दो साल भारतवर्ष में बिताये। उन्होंने मद्रास और त्रावणकोर, बंगलौर और मैसूर, कश्मीर और लाहौर, बनारस, कलकत्ता और असम में काम किया। अनन्त कृष्ण अय्यर की मदद से उन्होंने मलाबार तट के निवासियों का अध्ययन किया। सुब्रह्मण्य अय्यर की सहायता से उन्होंने प्राचीन तामिल काव्य 'मनिमेकलाह' का अनुवाद किया। त्रिवेंद्रम में उन्होंने सुविख्यात भारतविद गणपति शास्त्री और गोपीनाथ राव के साथ सम्पर्क स्थापित किया। अलेक्सान्द्र मेर्वार्त ने उन्हीं दिनों मिले भास के संस्कृत नाटकों का रूसी में अनुवाद किया तथा कत्थकली का अध्ययन किया। यह भारत के प्राचीन तथा लोक नाट्यकला के इतिहास पर उनके विशाल कार्य की शुरूआत थी। मेर्वार्त दम्पति ने कश्मीरी आभूषणों के संकेतार्थ का अध्ययन किया, गांधार में पुरातत्वीय खोजें देखीं, भारतीय वाद्यों का अत्यंत रोचक संग्रह जमा किया। अलेक्सान्द्र मेर्वार्त एशियेटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल के सदस्य निर्वाचित हुए, इसके काम में उन्होंने सक्रिय भाग लिया, कलकत्ता के एक कालेज में अध्ययन कार्य किया, संग्रहालय में नृजातिवर्णन विभाग के अध्यक्ष रहे। उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत साहित्य पर व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया गया। रूस लौटने के समय तक मेर्वार्त दम्पति भारतीय जन-जीवन और शिल्पों की लगभग ६ हज़ार वस्तुएं, प्रायः ८०० पुस्तकें और कई हज़ार छायाचित्र जमा कर चुके थे। १९१८ में इस विशाल संग्रह को स्वदेश पहुंचाना और स्वयं भी वहां लौटना बहुत कठिन था, क्योंकि रूस में गृहयुद्ध चल रहा था। १९२२ में ही वे पेत्रोग्राद पहुंच सके। उनका संग्रह लेनिनग्राद के नृविज्ञान और नृजातिवर्णन संग्रहालय के भारतीय संग्रह का आधार बना। सोवियत काल में भी मेर्वार्त दम्पति ने सक्रिय काम किया, विशेषतः भारतीय नाट्यकला के अध्ययन तथा द्रविड़ भाषाओं के अध्यापन के क्षेत्र में।

१९वीं और २०वीं सदियों के संधिकाल में रूस में भारत में, उसके साहित्य, धर्म और दर्शन में गहरी रुचि ली जा रही थी। अनेक वैज्ञानिक शोधकार्य व्यापक लोकप्रियता और मान्यता पा रहे थे। रुचि के क्षेत्र तथा भारतीय संस्कृति का मूल्यांकन भिन्न-भिन्न थे। प्रसिद्ध रूसी दार्शनिक व्लादीमिर सोलोव्योव और सेर्गेई त्रुबेत्स्कोई भारतीय दर्शन का अध्ययन कर रहे थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं के रूसी रूपांतर अनेक बार छप चुके थे। रूसी प्रतीकवादी कवि ठाकुर को ऐसा कवि मानते थे, जिसका भावजगत उनके लिए क़रीबी था। मशहूर रूसी कवि व्लादीमिर ब्र्युसोव ने ठाकुर का तथा संस्कृत के कवि अमरू का अनुकरण करते हुए उनकी शैली में कविताएं लिखीं। कवि कोन्स्तान्तीन बालमोंत ने अश्वघोष और कालिदास का अनुवाद

किया, उन्होंने कालिदास पर एक लेख लिखा। रूसी कवि आन्नेन्स्की ने मिनायेव से संस्कृत सीखी।

महान रूसी लेखक **लेव तोलस्तोय** के जीवन में भारत का क्या स्थान था, इसकी अलग से चर्चा की जानी चाहिए। पिछली सदी के नौवें दशक में ही लेव तोलस्तोय अपने धार्मिक-नैतिक अन्वेषण के सिलसिले में बौद्ध धर्म में रुचि लेने लगे थे। इस विषय पर अपनी जिज्ञासा पूरी करने के लिए उन्होंने मिनायेव से प्रश्न पूछे, उनकी पुस्तक का अध्ययन किया और कालांतर में ओल्देनबुर्ग से भी मिले। 'ललितविस्तर' से वे अत्यंत प्रभावित हुए। बौद्ध धर्म का अधिक गहन परिचय पाने के लिए उन्होंने बुर्नूफ़ की पुस्तक पढ़ी। तोलस्तोय के समसामयिकों के संस्मरणों के अनुसार जर्मन भारतविद ओल्डनबर्ग की पुस्तक 'बुद्ध। जीवन, शिक्षा और संघ' उन कुछेक पुस्तकों में थी, जिन्हें तोलस्तोय सदा अपनी मेज़ पर रखते थे। उन्हें मिनायेव द्वारा प्रकाशित भारतीय लोककथाएं भी पसंद थीं। उनमें वे "आश्चर्य-जनक बातें" पाते थे। कुछ भारतीय लोककथाओं और बौद्ध ग्रंथों के कुछ कथानकों को तोलस्तोय ने अपनी रीडरों में शामिल किया। कुछ को तो उन्होंने रूसी पाठकों के लिए बदला भी। तोलस्तोय की यह कामना थी कि रूस में भारत के बारे में ज्ञान फैले और वे इस देश के बारे में पुस्तकें प्रकाशित करने का सदा आग्रह करते थे। तोलस्तोय के पुस्तकालय में भारत में प्रकाशित और भारत के बारे में कई सौ पुस्तकें थीं। जीवन के अंतिम वर्षों में वे बुद्ध के बारे में पुस्तक लिखने की तैयारी कर रहे थे। अपने अनुयायी प० बुलांझे की पुस्तक – 'सिद्धार्थ गौतम का, जो बुद्ध कहलाये। जीवन और शिक्षा', मास्को, १९११ – का उन्होंने सम्पादन किया।

हिंदू धर्म में भी तोलस्तोय रुचि लेते थे। भगवद्गीता का वे उच्च मूल्यांकन करते थे। शंकर के दर्शन का उन्होंने अध्ययन किया। नूतन युग के भारतीय दार्श-निकों में वे रामकृष्ण परमहंस में विशेष रुचि लेते थे, जिन्हें उन्होंने एक स्थान पर "अद्‌भुत मनीषी" कहा है। स्वामी विवेकानन्द की पुस्तकों में भी तोलस्तोय ने महत्त्वपूर्ण विचार पाये। अभेदानन्द की रचनाओं का वे रूसी अनुवाद छापना चाहते थे। बहुत सी ऐसी बातें थीं जो महान रूसी लेखक को भारतीय दार्शनिकों के समीप लाती थीं, इनमें सर्वोपरि थी – मानवीयता तथा पूरब व पश्चिम के दर्शनों का संश्लेषण प्रस्तुत करने की अभिलाषा। तोलस्तोय की रचनाओं पर भारत में व्यापक प्रतिक्रिया हुई। कई भारतीय लेखकों और पत्रकारों से उनका पत्रव्यवहार होता था। १९०८ में लिखा उनका 'एक हिंदू के नाम पत्र' बहुत लोकप्रिय हुआ। तारकनाथ दास के पत्र का उत्तर देते हुए रूसी लेखक ने भारतीय लोगों का आह्वान किया कि वे "प्रशासन के अत्याचारों में, दुष्टता में भाग न लें", तब "संसार में कोई भी आपको दास नहीं बना सकता ...।" भारत के महान स्वतंत्रता सेनानी महात्मा गांधी अपने को तोलस्तोय का अनुयायी कहते थे। गांधीजी के पत्र और उनको भेजी पुस्तक तोलस्तोय को बहुत पसंद आई।

पिछली सदी के अंतिम दशक में प्रायः हर साल भारतीय साहित्य की रचनाओं के रूसी अनुवाद (मुख्यतः पश्चिमी भाषाओं से पुनरनुवाद), भारत के बारे में यूरोपीय विद्वानों की रचनाएं, भांति-भांति के पुनर्कथन और संग्रह छपते थे। बौद्ध धर्म पर ओल्डनबर्ग की पुस्तक के रूसी अनुवाद के पांच संस्करण निकले, रीस डेविड्स, रिचर्ड पिशेल, ऐड्विन आर्नोल्ड की पुस्तकों के भी कुछेक संस्करण निकले। रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, अभेदानन्द जैसे भारतीय दार्शनिकों की रचनाएं भी काफ़ी लोकप्रिय थीं। 'मनुस्मृति', 'धम्मपद', 'भगवद्गीता', 'सुत्तनिपात', अश्वघोष का 'बुद्धचरित' और कालिदास के नाटकों जैसी भारतीय साहित्य, दर्शन और धर्म की कृतियों का भी अनुवाद हुआ। भारत के इतिहास पर कई संकलन और सिंहावलोकनात्मक पुस्तकें भी छपीं। भारतीय साहित्य की रचनाओं के अनुवादों तथा भारत पर पुस्तकों का प्रकाशन पीटर्सबर्ग और मास्को में ही नहीं, अन्य कई नगरों में भी होता था। क्रांतिपूर्व वर्षों में रूस के जनगण की अनेक भाषाओं में भी भारत के बारे में साहित्य प्रकट हुआ। विलक्षण उक्राइनी लेखकों इवान फ्रांको और लेस्या उक्राईन्का ने भारतीय मिथक उक्राइनी भाषा में प्रस्तुत किये। भारतीय लोक कथाओं और किंवदंतियों का जार्जियाई भाषा में अनुवाद हुआ।

भारतीय संस्कृति में व्यापक रुचि जागी। यह रुचि वैज्ञानिकों, भारतविदों को उनके काम में प्रेरणा देती थी। साथ ही यह भी कहा जाना चाहिए कि उन दिनों रूसी बुद्धिजीवियों में भारतीय संस्कृति के प्रति रुचि कुछ हद तक एकतरफ़ा और प्रायः सतही ही होती थी। विद्वजनों के शोधकार्यों और पाठकों की मांगों के बीच प्रत्यक्ष खाई थी। भारत में रुचि मुख्यतः अनूदित साहित्य से तथा विभिन्न विदेशी संकलनों से, जो विशेषज्ञों द्वारा नहीं तैयार किये गये होते थे, पूरी की जाती थी। प्राचीन भारतीय साहित्य की अमर रचनाओं के अनुवाद का काम और इन पर अच्छे विशेषज्ञों द्वारा सिंहावलोकनात्मक पुस्तकें लिखने का काम क्रांतिपूर्व वर्षों में शुरू ही हो रहा था।

* * *

१९वीं सदी के अंत तथा २०वीं सदी के आरंभ में भारतविद्या के क्षेत्र में काम में रूस संसार के प्रमुख देशों में एक था। श्चेर्बात्स्की और ओल्देनबुर्ग जैसे प्राच्यविद एशियाई जनगण के प्रति गहरा आदर रखते थे, विश्व सभ्यता की सम्पदा में उनकी प्राचीन संस्कृतियों के विशाल योगदान को स्वीकार करते थे। इन विद्वानों की श्रेष्ठ-तम रचनाओं में प्राचीन भारत की सांस्कृतिक धरोहर के प्रति ऐतिहासिक रुख के साथ-साथ हम यह विचार भी पाते हैं कि पूरब की संस्कृति आधुनिक मानव की समझ में आती है, उसके लिए क़रीबी है और यही नहीं, उसके लिए आवश्यक

भी है। प्राचीन भारतीय संस्कृति में वे गहन मानवीय अंतर्य पाते थे, गहरी रुचि और सद्भावना के साथ एशिया का जागरण देख रहे थे।

साथ ही क्रांतिपूर्व रूस में भारतविद्या में कुछ कमियां भी थीं। भारत की केवल संस्कृति का ही अध्ययन किया जाता था। उसके सामाजिक और राजनीतिक इतिहास को प्रायः नज़रंदाज़ किया जाता था। संस्कृति के क्षेत्र में भी मुख्यतः बौद्ध धर्म पर ही ध्यान केंद्रित था। वैज्ञानिक शोधकार्यों में समसामयिक भारत की ओर तो बहुत कम ध्यान दिया जाता था।

अध्याय ३

सेर्गेई ओल्देनबुर्ग – विलक्षण भारतविद तथा वैज्ञानिक कार्यों के संगठनकर्त्ता

रूसी और सोवियत भारतविद्या के इतिहास में अकादमीशियन सेर्गेई फ़्योदोरोविच ओल्देनबुर्ग (१८६३-१९३४) का अपना विशिष्ट और अत्यंत सम्मानजनक स्थान है। उनके कार्यकलाप स्पष्टतः यह दिखाते हैं कि किस तरह प्राच्यविदों की पुरानी और नई पीढ़ी के बीच एक नैरन्तर्य बना रहा, तथा यह भी कि महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति ने देश में प्राच्यविद्या के विकास के लिए कैसी असीम संभावनाओं के द्वार खोले और किस प्रकार सार्वभौमिक ऐतिहासिक महत्त्व की इस घटना ने पूरब के जनगण के इतिहास और संस्कृति के अध्ययन के प्रति दृष्टिकोण को एक नई गुणात्मक दिशा प्रदान की।

ओल्देनबुर्ग का जन्म एक पुराने अभिजात घराने में हुआ था उनके पिता ज़ार के जनरल थे, तिस पर भी ओल्देनबुर्ग ने सोवियत सत्ता का पक्ष लिया और फिर देश में प्राच्यविद्या के विकास के लिए एक विद्वान और संगठनकर्त्ता के नाते अपनी सारी प्रतिभा समर्पित कर दी।

एक भारतविद के नाते ओल्देनबुर्ग के कार्यकलाप उनके शिक्षक मिनायेव के कार्यकलापों की ही भांति अत्यंत विविधतापूर्ण थे। वे अद्वितीय वाङ्मीमांसक, लोक साहित्य के जानकार, बौद्ध धर्म के अध्येता, पुराविद, प्राचीन भारत के इतिहास पर रूस के एक पहले विशेषज्ञ, केंद्रीय एशिया में भारतीय पुरावस्तुओं के अध्येता तथा रूस में भारतविद्या की एक नई शाखा – अपने देश में भारत-विद्या के इतिहास – के प्रवर्तक थे। असाधारणतः व्यापक और गहन ज्ञान तथा वैज्ञानिक अभिरुचियों की व्यापकता उनकी विशिष्टता थी। यहां यह भी कहा जाना चाहिए कि भारत के इतिहास और सस्कृति के अध्ययन में उनका
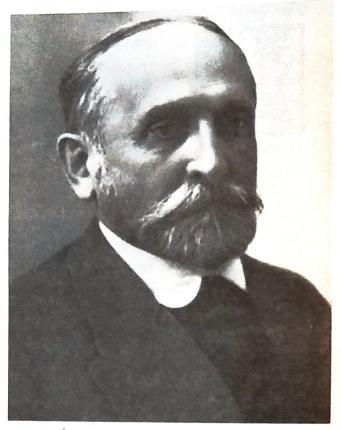
सेर्गेई ओल्देनबुर्ग

रुख सदा निष्पक्षतापूर्ण होता था, भारत के जनगण के प्रति उनके हृदय में अपार आदर था और वे विश्व सभ्यता में उनके योगदान का उच्च मूल्यांकन करते थे। ओल्देनबुर्ग ने रूसी भारतविद्या की श्रेष्ठ परम्पराओं का विकास किया। अपनी रचनाओं, भाषणों, रिपोर्टों में वे सदा यूरोप केंद्रीयतावाद और अहंमन्यता का विरोध करते थे, जो पश्चिमी यूरोप के भारतविदों की अधिसंख्य रचनाओं के लिए लाक्षणिक था। ओल्देनबुर्ग पश्चिमी यूरोपीय भारतविद्या की इन कमियों को अन्य सभी लोगों से अधिक अच्छी तरह देखते थे : भारतविद्या के इतिहास का उन्हें पूर्ण ज्ञान था, यूरोपीय भारतविदों के पूरे नक्षत्रमंडल से परिचित थे, इन विद्वानों की जीवनियां उन्होंने लिखीं, इसके अलावा रूस में भारतविद्या के इतिहास की भी उन्हें बहुत अच्छी जानकारी थी।

पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में शिक्षा पाने के पश्चात ओल्देनबुर्ग १८८७ से १८८९ तक पेरिस, लंदन और कैम्ब्रिज में रहे। अतः वे पश्चिमी यूरोप में भारतविद्या की अवस्था और विशिष्टता से भली-भांति परिचित थे। अनेक वर्षों तक उन्होंने कई पश्चिमी यूरोपीय भारतविदों के साथ घनिष्ठ वैज्ञानिक सम्पर्क बनाये रखे, लेकिन भारतविद्या में उनके योगदान का उच्च मूल्यांकन करने के साथ-साथ वे पश्चिम में प्राच्यविद्या की कमियों की खुले आम आलोचना भी करते थे और अपने देश

में इस विद्या के क्षेत्र में सिद्धांततः नये कार्यभार रखते थे। विदेश प्रवास के दौरान उन्होंने यह इंगित किया कि वहां भारतविद्या में "व्यक्तिगत रुचियों का बोलबाला है और संगठन का प्रायः पूर्ण अभाव है"। उनके विचार में इन कमियों का कारण "जीवन से अपर्याप्त सामीप्य" था। पुरानी रूसी प्राच्यविद्या की सफलताओं को यथोचित श्रेय देने के साथ-साथ वे पुरानी रूसी प्राच्यविद्या और क्रांति के बाद की प्राच्यविद्या में सैद्धांतिक अंतर पर बल देते थे। पुरानी रूसी प्राच्यविद्या में अध्ययन कार्य बिना किसी योजना और प्रणाली के किये जाते थे। प्राचीन युग के अध्ययन में विद्वानों की एक "संकीर्ण मंडली" ही मुख्यतः भाग लेती थी। उधर नई प्राच्यविद्या ने पूरब को उसकी समग्रता में, उसके आधुनिक युग समेत अध्ययन का विषय बनाया था। "यह स्वाभाविक ही था कि क्रांति के साथ नये प्राच्यविद का जन्म होता," ओल्देनबुर्ग ने लिखा।

भारतविदों के जीवन और कृतित्व पर अपनी शब्दचित्र-माला में ओल्देनबुर्ग ने ब्यूलर, बार्ट, वाले-पुसें, केर्न, लेवी, पिशेल, फ़ूशे, जैकोबी तथा मिनायेव और वसील्येव की रचनाओं का मूल्यांकन प्रस्तुत किया।

१८वीं सदी से यूरोप में भारतविद्या के विकास पर ग़ौर करते हुए ओल्देनबुर्ग ने लिखा कि कुछ विद्वान, "यह मानते रहे हैं और अब भी मानते हैं कि प्राच्य संस्कृतियों की सारी रोचकता के बावजूद वे इस दृष्टि से पाश्चात्य संस्कृतियों से सर्वथा भिन्न हैं कि उनमें परिशुद्ध विज्ञान, वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं है, जो पश्चिम की संस्कृतियों की लाक्षणिकता है। इसीलिए इन प्राच्यविदों ने पूरब की वैज्ञानिक परम्परा को, इस परम्परा के अनुसार की जाने वाली प्राच्य ग्रंथो की व्याख्या को कभी भी यथोचित महत्त्व प्रदान नहीं किया, इसके मुक़ाबले में पश्चिमी व्याख्या को ही एकमात्र सही व्याख्या के रूप में रखते रहे, क्योंकि यह व्याख्या ही उनके मत में अध्ययन की एकमात्र सही विधियों पर आधारित थी। दूसरे विद्वान यह मानते रहे हैं और अब भी मानते हैं कि प्रत्येक सभ्य जनगण की, चाहे वह प्राच्य हो या पाश्चात्य, अपनी संस्कृति की अपनी समझ होती है, जिसे ध्यान में रखना और बहुत से मामलों में तो उसे आधार बनाना, प्रत्येक उस व्यक्ति का कर्त्तव्य है, जिसने इस संस्कृति के वैज्ञानिक अध्ययन को अपना ध्येय माना है।" निस्संदेह स्वयं सेर्गेई ओल्देनबुर्ग "दूसरी क़िस्म" के विद्वानों में आते थे। यही नहीं, वे सदा सार्वभौमिक ऐतिहासिक प्रक्रिया के एकत्व पर बल देते थे तथा पश्चिम और पूरब को एक दूसरे के विरुद्ध रखने का विरोध करते थे। ओल्देनबुर्ग ने ही ये शब्द लिखे थे, जो उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण सुस्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं और एक भारत-विद के नाते उनके सारे कार्यकलापों का मर्म भी जिनमें प्रकट हुआ कहा जा सकता है: "पूरब और पश्चिम में निर्विवाद भेदों के बावजूद पूरब ने अपने आत्मिक जीवन का निर्माण पश्चिम की ही भांति सारी मानवजाति के लिए सामान्य मूलभूत नियमो के आधार पर किया है और आज भी कर रहा है। वह ऐतिहासिक विकास के

10-900

उन्हीं नियमों के अनुसार जी रहा है, जो सारी मानवजाति के लिए समान हैं।" वे पूरब के इतिहास और संस्कृति के वस्तुगत अध्ययन का आह्वान करते थे तथा इकतरफ़ा दृष्टिकोण के लिए पश्चिमी विद्वानों की कटु आलोचना करते थे। ओल्देनबुर्ग का कहना था कि पश्चिमी व्यक्ति पाश्चात्य सभ्यता की उपलब्धियों के प्रभाव में पूरब को ठीक से समझता नहीं और इसलिए उसकी महान व आश्चर्यजनक संस्कृति के प्रति अंधा रहता है। यूरोप केंद्रीयतावाद के विरुद्ध संघर्ष करते हुए वे अतिराष्ट्रीयतावाद का भी विरोध करते थे, जो भारत के प्राचीन इतिहास और संस्कृति पर कतिपय भारतीय विद्वानों की रचनाओं के लिए लाक्षणिक था।

भारत में ओल्देनबुर्ग की रुचि छोटी उम्र में ही जाग गई थी। बचपन में उन्होंने पूरब के बारे में अनेक पुस्तकें पढ़ीं और संस्कृत सीखने का निश्चय किया, ताकि भारत जा सकें और "मानवजाति के सुदूर अतीत को जान सकें।" विश्वविद्यालय में ओल्देनबुर्ग ने प्राच्यविद्या की श्रेष्ठतम शिक्षा पाई – उन्होंने संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, चीनी और तिब्बती भाषाएं सीखीं। विश्वविद्यालय में ही वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि "भारतीय संस्कृति विलक्षणतम मानव संस्कृतियों में एक है।" वे अपने शिक्षकों – भारतविद मिनायेव, अरबविद रोज़ेन, चीनविद और बौद्धधर्मविद वसील्येव तथा अपने समय के अद्वितीय साहित्यविद वेसेलोव्स्की – को सदा साभार याद करते थे। वसील्येव की मृत्यु पर प्रकाशित शोक-सूचना में ओल्देनबुर्ग ने अपने शिक्षकों बारे में लिखा: "ये वे लोग थे, जिन्होंने प्राच्यविद्या का सृजन किया, जिन्होंने विज्ञान में एक नया, असीम क्षेत्र खोला।" अपने शिक्षकों के निदेशन में ओल्देनबुर्ग ने भारत के लोक साहित्य का अध्ययन आरंभ किया। एक भारतविद और प्राच्यविद के नाते ओल्देनबुर्ग के वैज्ञानिक कार्यकलापों की एक प्रमुख दिशा साहित्य का अध्ययन ही रहा। भारत के इतिहास और संस्कृति के अध्ययन के प्रति ओल्देनबुर्ग का रुख बहुत हद तक नवीनतापूर्ण था। उन दिनों यूरोप में भारत का संस्कृत साहित्य ही भारतविदों के अध्ययन का मुख्य विषय था। लेकिन ओल्देनबुर्ग जब अध्ययन के लिए विदेश गये, तो उन्होंने भारतीय गल्प-संग्रहों, भारतीय लोक साहित्य तथा बौद्ध "लोक" साहित्य (मुख्यत: नेपाल के हस्तलिखित बौद्ध ग्रंथों) पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया। हस्तलिखित ग्रंथ-संग्रहों पर नियमित काम के फलस्वरूप ओल्देनबुर्ग पुरालिपिशास्त्र जैसे कठिन क्षेत्र में दक्षता पा सके; कालांतर में उन्होंने पूर्वी तुर्किस्तान में मिले ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में लिखे भारतीय ग्रंथों पर अपने अत्युत्तम शोधकार्य प्रकाशित किये। "मूल ग्रंथों का सारा महत्त्व समझते हुए पेरिस और लंदन में मैं हस्तलिखित ग्रंथों को पढ़ने में जुट गया। इस काम से बहुत कुछ मिलता है, जो तुम पढ़ते हो उसके अंतर्य से भी तथा भांति-भांति की हस्त-लिपियां समझने का अभ्यास पाकर भी। संस्कृति के एक सबसे सशक्त साधन – मानव लिपि – के इतिहास के प्रश्नों को समझने के लिए यह अभ्यास पाना नितांत आवश्यक है।" पीटर्सबर्ग लौटकर ओल्देनबुर्ग प्राचीन भारतीय साहित्य पर अपनी

एक प्रमुख रचना – 'बौद्ध आख्यान' – लिखने लगे। १८६४ में इस रचना का उन्होंने एम० ए० की डिग्री के लिए शोधप्रबंध के नाते मण्डन किया। ओल्देनबुर्ग बौद्ध अनुश्रुतियों से संबधित भारतीय साहित्य (उत्तर के संस्कृत-प्राकृत तथा दक्षिण के पाली साहित्यों) का सिंहावलोकन करना चाहते थे। वे अपनी रचना का केवल पहला भाग ही प्रकाशित कर पाये, जिसमें 'भद्रकल्पावदान' और 'जातकमाला' का अध्ययन शामिल था। ज्ञात है कि ओल्देनबुर्ग दूसरे भाग में 'अशोकावदानमाला' और 'विचित्रकर्णिकावदान' रखना चाहते थे। अपना कार्य उन्होंने 'भद्रकल्पावदान' से आरभ किया, जो बौद्ध आख्यानों का सबसे बड़ा संग्रह है। काल की दृष्टि से भी यह बहुत पुराना संग्रह है, किंतु तब तक वैज्ञानिक जगत इससे प्रायः अपरिचित ही था। ओल्दुनबुर्ग का कार्य पेरिस के राष्ट्रीय पुस्तकालय की पांडुलिपियों तथा एशियेटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल की पांडुलिपि पर आधारित था। इनके पाठ का विश्लेषण करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुचे कि संग्रह ने अपना यह रूप नेपाल में १४वीं सदी के अंत में पाया और इसमें विभिन्न बौद्ध कथा रचनाओं ('दिव्यावदान', जातकों, 'महावस्तु') की कथाओं का समावेश हुआ। हस्तलिखित ग्रंथों के और सारे बौद्ध साहित्य के ही अनुपम ज्ञान के आधार पर ओल्देनबुर्ग बौद्ध कथा साहित्य की कई रचनाओं को वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में ला सके। उनकी पुस्तक का एक विशेष अध्याय संस्कृत के सुविख्यात लेखक आर्यशूर की रचना 'जातकमाला' को समर्पित था। अपने प्रकाशन के लिए ओल्देनबुर्ग ने उन दिनों ज्ञात इस रचना की सभी पांडुलिपियों का उपयोग किया – उन तीन पांडुलिपियों का भी, जिनके आधार पर केर्न ने इस रचना का पहला संस्करण छापा था, तथा दो नई पांडुलिपियां भी, जो पीटर्सबर्ग में संरक्षित थीं। ओल्देनबुर्ग का पाली पर पूरा अधिकार था और उन्हें पाली साहित्य का अद्वितीय ज्ञान था। उन्होंने पाली और संस्कृत जातकों का तुलनात्मक अध्ययन किया। अपने शिक्षक मिनायेव की ही भांति उन्होंने भी जातकों की ओर विशेष ध्यान दिया, यह मानते हुए कि साहित्यिक दृष्टि से बौद्ध आख्यानों में उनकी स्थिति विशिष्ट है। आल्देनबुर्ग 'महावस्तु' में भी जातकों के अनेक कथानक खोज पाने में सफल रहे, तथा इन कथानकों के न केवल बौद्ध, अपितु जैन समरूप खोजने मे भी। ओल्देनबुर्ग विश्व भर के उन इने-गिने भारतविदों में थे, जिन्होंने न केवल संस्कृत-प्राकृत ग्रंथों का, बल्कि तिब्बती और चीनी ग्रंथों का भी विशद अध्ययन किया। इसके फलस्वरूप वे 'जातकमाला' के अध्ययन में पहली बार इस रचना के तिब्बती और चीनी अनुवादों का भी उपयोग कर सके। ओल्देनबुर्ग द्वारा 'जातकमाला' पर शुरू किया गया काम सोवियत भारतविदों ने जारी रखा। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में अकादमीशियन अ० बरान्निकोव ने इस रचना का रूसी में अनुवाद करना शुरू किया, कालांतर में उनकी शिष्य ओ० वोल्कोवा ने इस रचना पर काम पूरा किया। १९६२ में 'जातकमाला' का रूसी अनुवाद छपा। सातवें दशक में ओ० वोल्कोवा और ग्रिगोरी बोंगार्द-लेविन ने एक

और अत्यंत रोचक रचना, जिसका अध्ययन करने की योजना ओल्देनबुर्ग बना रहे थे – 'अशोकावदानमाला' – की पांडुलिपि पर शोधकार्य शुरू किया। उन्होंने कुणाल को समर्पित भाग का प्रकाशन और अनुवाद किया। वोल्कोवा और बोगार्द-लेविन ने इस रचना का विस्तृत विवेचन किया तथा बौद्ध साहित्य और मौर्य वंश के इतिहास के अध्ययन के लिए इस ग्रंथ का महत्त्व दर्शाया। इस रचना के महत्त्व को देखते हुए वोल्कोवा और बोगार्द-लेविन का यह कार्य भारत में 'सोवियत इंडोलोजिकल सीरिज़' में छपा, जिसके प्रकाशक जाने-माने भारतीय विद्वान देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय हैं।

बौद्ध "गल्प" साहित्य का अध्ययन करते हुए ओल्देनबुर्ग इस महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुंचे कि मध्य युग में पश्चिमी देशों के साहित्य में गल्पों और कथाओं की उत्पत्ति पूरब के प्रभाव में ही हुई, लेकिन साथ ही उन्होंने जर्मन विद्वान बेन्फ़े के इस विचार का भी खंडन किया कि इस साहित्य का आधार भारतीय है। ओल्देनबुर्ग गुणाढ्य कृत 'बृहत्कथा' का अध्ययन करने वाले पहले भारतविदों में थे। यह रचना कालांतर में अनेक कथा संग्रहों का, जैसे कि सोमदेव और क्षेमेन्द्र की रचनाओं का आधार बनी। उन्होंने अपने अध्ययन के लिए अनेक नये हस्तलिखित पाठभेदों का उपयोग किया और पहली बार यह इंगित किया कि 'बृहत्कथा' की रचना के इतिहास को समझने के लिए तिब्बती स्रोत कितने महत्त्वपूर्ण हैं। १८८८ में ओल्देनबुर्ग ने यह लक्ष्य निर्धारित किया था कि "ऐसी सामग्रियां जमा की जानी चाहिए, जिनसे 'बृहत्कथा' का पूर्ण और सविस्तार अध्ययन संभव हो पाये।" पिछले कुछ दशकों में सोवियत भारतविदों ने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सफलतापूर्वक काम किया है। 'बृहत्कथा' तथा उसके आधार पर कालांतर में बनी रचनाओं पर (प्रो० ई० सेरेब्र्याकोव के शोधकार्य के संबंध में अध्याय पांच देखिये।) 'बौद्ध आख्यान' नामक पुस्तक के प्रकाशन के बाद ओल्देनबुर्ग ने बौद्ध लोक साहित्य का अध्ययन जारी रखा। यही नहीं, इस विषय के माध्यम से ही वे अंततः बौद्ध कला और समस्त बौद्ध संस्कृति के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए।

'बौद्ध आख्यान और बौद्ध धर्म' शीर्षक से १८९६ में छपे लेख में ओल्देनबुर्ग ने बौद्ध आख्यानमूलक रचनाओं की "भावना" तथा धार्मिक सिद्धांतों के बीच भेद का निष्कर्ष निकाला। उन्होंने लिखा: "बौद्ध आख्यानों की यदि हम बौद्ध सिद्धांतों से निरंतर तुलना करें तो हम यह देखेंगे कि किस तरह बौद्ध धर्म ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड के विरुद्ध संघर्ष का प्रयास करते हुए बहुत शीघ्र ही स्वयं भी उस स्थिति में पहुंच गया, जिसके विरुद्ध वह संघर्ष कर रहा था – उसने संघ की स्थापना की और इस संघ ने उसे अनिवार्यतः निश्चित अनुष्ठानों से जोड़ दिया।" इस निष्कर्ष में उस परिवर्तन का सार व्यक्त हुआ, जो बौद्ध धर्म की उत्पत्ति से लेकर महायान युग तक उसमें आते रहे। धार्मिक अनुष्ठान बौद्ध धर्म में भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन बैठे, यद्यपि उसके आरंभिक नियमों के लिए वे न केवल लाक्षणिक नहीं थे, बल्कि उनके द्वारा निषिद्ध ही थे। इसके साथ ही ओल्देनबुर्ग बौद्ध आख्यानों को प्राचीन भारतीय समाज

के आत्मिक जीवन के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक स्रोत के रूप में अत्यंत मूल्यवान मानते थे। "धर्म के इतिहासकार के लिए आख्यान विशेष अर्थ रखते हैं, वह उन्हें कथा साहित्य की रचना मात्र के रूप में नहीं, बल्कि धार्मिक साहित्य की ऐसी रचनाओं के रूप मे देखता है, जिनमें जनता के धार्मिक, पारलौकिक और नैतिक आदर्श अभिव्यक्त हुए, जिनमें उसने धार्मिक सिद्धांतों और संघ के आचार नियमों की अपनी व्याख्या प्रस्तुत की।" ओल्देनबुर्ग साहित्य की रचनाओं का विश्लेषण इतिहासकार और समाजविज्ञानी के दृष्टिकोण से करने की चेष्टा करते थे। उनकी कृतियों की, जिनमें साहित्यिक विश्लेषण संबंधी रचनाएं भी आती हैं, लाक्षणिकता थी सुसंगत ऐतिहासिक रुख। सभी सांस्कृतिक परिघटनाओं का उनके लिए कोई अमूर्त महत्त्व नहीं था, वे तो ऐतिहासिक विकास के सामान्य क्रम से उनके संबंध को ध्यान में रखते हुए ही उन पर ग़ौर करते थे। 'सिंहल गल्प संग्रह। गल्पों को संकलित, लिपिबद्ध तथा प्रकाशित करने के कुछ प्रश्न' नामक अपनी पुस्तक (१६३१) में ओल्देनबुर्ग ने सामाजिक इतिहास के अध्ययन के लिए गल्पों के महत्त्व पर, विशेषतः 'कथासरित्सागर' जैसे संग्रह के महत्त्व पर ज़ोर दिया। उन्होंने लिखा: "साहित्य की अन्य किसी भी विधा की तुलना में शायद गल्प ही वर्ग संघर्ष का, उसके सभी जटिल रूपों में, सबसे अधिक सजीव वर्णन प्रस्तुत करता है।" बौद्ध कला के अध्ययन में भी ओल्देनबुर्ग ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण के नियमों का सुसंगत रूप से अनुकरण किया। भारतविद्या के इस क्षेत्र में उन्होंने विशेषतः अधिक काम किया। इस क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा असाधारणतः उच्च थी, इन कार्यों से उन्हें अंतर्राष्ट्रीय मान्यता मिली। 'बौद्ध कला पर टिप्पणियां' नामक रचना में उन्होंने जातक कथाओं पर आधारित मूर्तियों और चित्रों का विश्लेषण किया तथा बौद्ध शिक्षा के साथ बौद्ध कला के संबंध की अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्या पेश की। कलाकृतियां अपने आप में इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, उनका महत्त्व तो सर्वप्रथम इस बात में है कि वे संस्कृति के विकास की सामान्य प्रक्रियाओं को प्रतिबिम्बित करती हैं। प्राचीन ग्रंथों का गहरा ज्ञान तो ओल्देनबुर्ग को था ही, सो कला पर अपनी रचनाओ में वे सदा इन ग्रंथों को तुलना का आधार बनाते थे: भरहुत की तुलना उन्होंने जातकों में निहित जानकारी से की और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भरहुत की मूर्तियों में सिद्धांत ग्रंथ नहीं, बल्कि लोक परम्परा प्रतिबिम्बित है, अजन्ता के भित्तिचित्रों पर ग़ौर करने के लिए उन्होंने पुरालेखों, अवदानों तथा 'महावंश' की सूचनाओं को पृष्ठभूमि बनाया, खोतान की ताम्रमूर्तियों (न० पेत्रोव्स्की का संग्रह) का अध्ययन उन्होंने बौद्ध और हिंदू साहित्य से इनका संबंध जोडकर किया। ओल्देनबुर्ग को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने कलकत्ता के इंडियन म्यूज़ियम में रखी एक गांधार चित्रवल्लरी पर अंकित सम्राट अशोक के बारे में किंवदंती की सही व्याख्या की: इस रचना का सही अर्थ समझने के लिए उन्होंने 'दिव्यावदान' की बौद्ध कथाओं का सहारा लिया। ओल्देनबुर्ग ही सर्वप्रथम

रूसी संग्रहों की अमूल्य बौद्ध कलाकृतियों को वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में लाये ('बौद्ध देवचित्रों पर सामग्री', सेंट पीटर्सबर्ग, १९०१ तथा 'कज़ान आध्यात्मिक अकादमी के बौद्ध चित्रों का एल्बम', सेंट पीटर्सबर्ग, १९०३)। बौद्ध कला का उच्च मूल्यांकन करते हुए वे इसकी अति प्रशंसा का भी विरोध करते थे। १९वीं सदी के अंत में बौद्ध स्मारकों की खोज के बाद अनेक पश्चिमी यूरोपीय विद्वान बौद्ध कला की प्राचीनता को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने लगे थे, यह मानते हुए कि बौद्ध कला समस्त प्राचीन भारतीय कला से पूर्ववर्ती है, तथा इसकी उत्पत्ति के इतिहास को वे हिंदू कला के मुक़ाबले में रखने लगे थे (जर्मन विद्वान एल्बर्ट ग्रुनवेडेल ने अपनी पुस्तक 'भारत में बौद्धकला', बर्लिन, १९००, में यह दृष्टिकोण सर्वाधिक सुसंगत रूप से प्रस्तुत किया था)। १९०१ में विज्ञान अकादमी के इतिहास एवं वाङ्मीमांसा विभाग की बैठक में अपनी रिपोर्ट में ओल्देनबुर्ग ने ऐसे सिद्धातों की तीव्र आलोचना की तथा भारतीय कला की उत्पत्ति और विकास पर अपने विचार व्यक्त किये। ग्रुनवेडेल के विपरीत ओल्देनबुर्ग इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बौद्ध कला हिंदू कला पर आधारित है। ओल्देनबुर्ग ने यह भी कहा कि यह निष्कर्ष किसी भी तरह एक विश्व धर्म के नाते तथा भारत से बाहर भारतीय सभ्यता के वाहक के नाते बौद्ध धर्म के महत्त्व को क़तई कम नहीं करता। साथ ही उन्होंने बौद्ध धर्म को भारतीय धर्मों में से एक माना और उसे भारतीय संस्कृति के सारे विकासक्रम के विरुद्ध नहीं रखा। ओल्देनबुर्ग ने दृढ़तापूर्वक इस दृष्टिकोण का खंडन किया कि भारतीय कला का आरंभ अशोक के शासनकाल से होता है। यहा यह भी बता दें कि इस प्रश्न पर विवाद आज भी जारी है और इस सदी के आरंभ के रूसी विद्वान ने जो तर्क पेश किये थे, उनका महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ है, बल्कि, उल्टे, नवीनतम सामग्रियों से इन तर्कों की पुष्टि ही हुई है।

ओल्देनबुर्ग ने तब लिखा था: "अशोक काल के स्मारकों में विकास का जो उच्च स्तर हम पाते हैं, तथा उनमें प्रत्यक्षतः राष्ट्रीय तत्वों का जो प्राधान्य है, उसे देखते हुए हमें भारतीय कला का आरंभ इस काल से कुछ सदी पूर्व ही मानना होगा।" भारत के प्राचीनतम कला स्मारकों का संबंध वे वैदिक युग से जोड़ते थे, यह मानते हुए कि उस समय की कला व्यापकतम अर्थ में हिंदू कला थी और महाकाव्यों में वर्णित देवगण तथा स्थानीय देवी-देवताओं के आधार पर विकसित हुई थी। उनका विचार था कि बौद्ध और जैन कला का उद्‌गम भी यही है (ओल्देनबुर्ग ने ये विचार हड़प्पा सभ्यता के स्मारकों की खोज से काफ़ी पहले व्यक्त किये थे, बाद में उन्होंने कालानुक्रम में काफ़ी परिवर्तन किये)। इस प्रसंग में उन्होंने भरहुत जैसे प्रसिद्ध बौद्ध स्मारक का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भरहुत स्पष्टतः यह दिखाता है कि "बौद्ध धर्म ने आरंभ से ही सारे भारत में प्रचलित देवी-देवताओं और अर्धदेवताओं को कितने बड़े पैमाने पर ग्रहण किया।"

भारतीय कला के विकास पर यूरोपीय विद्वानों के पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टिकोणों का

विरोध करते हुए ओल्देनबुर्ग भारतीय विद्वानों की उपलब्धियों का उच्च मूल्यांकन करते थे। उदाहरणत:, सुविख्यात भारतीय कलाविद आनन्द के० कुमारस्वामी की रचनाओ पर वे सदा आदरपूर्ण सम्मति व्यक्त करते थे। कुमारस्वामी की पुस्तक 'भारतीय कला की भूमिका' (१९२३) की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा: "आनन्द के० कुमारस्वामी को भारतीय कला में व्यापक रुचि जगाने का अपार श्रेय प्राप्त है। उनके अनेक अनुपम प्रकाशनों, उनके द्वारा प्रकाशित सामग्री की प्रचुरता, अपने काम में उनकी अद्वितीय लगन तथा अपने विषय में रुचि जगाने की विरली योग्यता – इस सब ने उन्हें उचित ही भारतीय कला के नये शोधकर्त्ताओं की पहली पांत में ला खड़ा किया है।"

साथ ही ओल्देनबुर्ग कुमारस्वामी के राष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण की, उनके इन विचारों की कि भारतीय कला का स्वरूप शुद्धत: धार्मिक था, कि वह अनामिक थी, आलोचना करते थे। ओल्देनबुर्ग भारतीय विद्वान के इस मत से भी सहमत नही थे कि भारतीय सभ्यता बिल्कुल ही अद्वितीय है। वे इस बात पर ज़ोर देते थे कि भारत केवल देने वाला ही नहीं, ग्रहण करने वाला पक्ष भी था, यानी उस पर भी दूसरी प्राचीन संस्कृतियों का प्रभाव पड़ता रहा था। यही नहीं, ओल्देनबुर्ग भारतीय कला में और बौद्ध कला में भी सारी मानवजाति के लिए सामान्य मूल-तत्व देखते थे और सार्वभौमिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया के साथ इसका संबंध इंगित करते थे। उन्होंने लिखा: "हम भारतीय कला का जितना ही अधिक अध्ययन करते हैं उतना ही अधिक हम यह पाते हैं कि यह सारी मानवजाति के लिए सामान्य कला है तथा यह भी कि इसके विकास के नियम हमें दूसरे देशों में कला के विकास की याद दिलाते हैं।" ओल्देनबुर्ग इस बात पर ज़ोर देते थे कि "बौद्ध स्मारकों का अध्ययन हमें यह बताता है: बौद्ध धर्म सदा सामूहिक पूजा पद्धतियों के निकट था और इस पर भी सभी धर्मों के विकास एव पतन के नियम लागू होते हैं।"

ओल्देनबुर्ग संसार के उन पहले भारतविदों में से थे, जिन्होंने गांधार कला के गहन अध्ययन की आवश्यकता और महत्त्व की ओर ध्यान दिया। बीसवीं सदी के आरंभ में ही उन्होंने अपनी रचनाओं में यह समस्या उठाई और फिर बाद के दशकों में कई बार इस पर विचार किया। बात यह है कि गांधार कला के स्मारकों की खोज के साथ विद्वानों के बीच तीव्र वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ, जिसके दौरान भारतीय कला के मूल के सामान्य प्रश्न भी उठाये गये। उन दिनों अधिसंख्य विद्वानों का यह मत था कि गांधार कला यूनानी-रोमन कला का आंचलिक रूप थी, जबकि भारत और उसकी सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रभाव को वे या तो कम आंकते थे या उसे बिल्कुल ही अस्वीकार करते थे। ऐसा रुख न केवल यूरोपीय बल्कि कुछ भारतीय शोधकर्त्ताओं ने भी अपनाया था। ओल्देनबुर्ग ने भारतीय कला पर हैलेनिस्टिक (यूनान-प्रभावित) और रोमन कला के प्रभाव को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने के लिए ग्रुनवेडेल की आलोचना की। ओल्देनबुर्ग ने लिखा कि यदि ऐसे दृष्टिकोण को माना जाये,

तो "भारतीय कला अपनी स्वतंत्रता प्रायः पूर्णतः खो बैठती है और वह यूनान-प्रभावित कला की संतति मात्र रह जाती है।" कुमारस्वामी की रचनाओं में भी यही कमी थी, उन्होंने यह मानते हुए कि गांधार स्मारक भारतीय नहीं, यूनान-प्रभावित हैं, उनका वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं किया। यही नहीं, वे गांधार कला के भारत पर प्रभाव तक को नकारते थे। ऐसे दृष्टिकोणों की आलोचना करते हुए ओल्देनबुर्ग न केवल भारतीय कला के, बल्कि नेपाल, तिब्बत, पूर्वी तुर्किस्तान, मध्य तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया की संस्कृति के इतिहास में गांधार शैली की विशाल भूमिका पर बल देते थे। बौद्ध कला के अध्ययन के कार्यभार निर्धारित करते हुए उन्होंने गांधार कला की रचनाओं को प्रकाश में लाने की आवश्यकता पर बल दिया। वे शोधकर्त्ताओं का आह्वान करते थे कि वे इन सामग्रियों के अपार महत्त्व को देखते हुए इनकी ओर विशेष ध्यान दें। गांधार कला का सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक अध्ययन, जो आजकल इतने बड़े पैमाने पर हो रहा है, बीसवीं सदी के आरंभ में शुरू ही हो रहा था, सो ओल्देनबुर्ग का आह्वान बिल्कुल सुसामयिक था। १६०१ में उन्होंने लिखा था: "गांधार कला की प्रचुर सामग्री की अभी प्राथमिक खोजबीन ही की जानी है, ताकि इससे वह सब पाया जा सके, जो यह भारतीय कला के इतिहास के लिए दे सकती है।"

इन्हीं दिनों ओल्देनबुर्ग ने भारतीय कला के अध्ययन का व्यापक कार्यक्रम निर्धारित किया: गांधार कलाकृतियों के साथ-साथ उन्होंने "कालानुक्रम निर्धारित करने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण" पुरालेखों वाली मूर्तियों और भितिचित्रों के एल्बम सुव्यवस्थित रूप से पुनः प्रकाशित करने का आह्वान किया; संग्रहालयों में रखे गांधारेतर तथा गांधारोपरांत कलाकृतियों के चित्रों को शिलालेखों के साथ प्रकाशित करने की आवश्यकता इंगित की तथा जैन कलाकृतियों के चित्र भी, "क्योंकि ये (कलाकृतियां) प्रायः बौद्ध कलाकृतियों से मिलती-जुलती होती हैं और उन्हें समझने में सहायक होती हैं।" "इसके बाद नेपाली और बंगाली सूक्ष्मचित्रों की बारी आती है," उन्होंने लिखा।

ओल्देनबुर्ग पुरातत्वीय अनुसंधानों का महत्त्व भली-भांति समझते थे और इसलिए भारतीय विद्वानों का आह्वान करते थे कि वे बड़े पैमाने पर पुरातत्वीय खुदाई करें। उनका कहना था: "भारतीय कला का अध्ययन तभी सुदृढ़ नींव पर खड़ा होगा, जबकि प्राचीन भारतीय राजधानियों और मंदिरों के स्थानों पर सुव्यवस्थित रूप से खुदाई की जायेगी।" अपनी बाद की रचनाओं में भी ओल्देनबुर्ग ने कई बार इस समस्या पर ग़ौर किया, और हर बार इसमें कुछ नया जोड़ा। १६३१ में प्रकाशित उनकी रचना 'भारत में ललित कलाओं और उनकी विधियों के अध्ययन की समसामयिक स्थिति' विशेषतः रोचक है। भारतीय कला के अध्ययन की विधियों तथा परिप्रेक्ष्यों के प्रश्न को ओल्देनबुर्ग विज्ञान अकादमी के कार्यों की योजना से जोड़ते थे और इस विषय को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने भारतीय कला का कालानु-

क्रम निर्धारित किया। उल्लेखनीय है कि इसमें ओल्देनबुर्ग ने हड़प्पा सभ्यता के युग को पहला चरण माना। वस्तुत: वे संसार के पहले भारतविदों में से एक तथा सोवियत संघ के पहले भारतविद थे, जिन्होंने भारतीय उपमहाद्वीप के जनगण के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकास के चरणों का पता लगाने के लिए सिंधु की घाटी में भारतीय पुराविदों के उत्खनन के महत्त्व को उचित रूप से आंका। मौर्य पूर्व काल की कला संबंधी सामग्री की अपर्याप्तता को इंगित करते हुए ओल्देनबुर्ग ने ई० पू० छठी-चौथी सदियों के स्मारकों की योजनाबद्ध खुदाई के महत्त्व पर ज़ोर दिया, ताकि प्राचीन भारतीय सभ्यता के उद्विकास को क्रमिक रूप से देखा जा सके।

भारतीय कला की उत्पत्ति की समस्या की ओर भी ओल्देनबुर्ग ने ध्यान देना नहीं छोड़ा। उन्होंने जॉन मार्शल और विंसेंट स्मिथ की नई रचनाओं का विस्तार से विश्लेषण किया। ओल्देनबुर्ग ने उन दिनों प्रचलित इन सिद्धांतों का डटकर विरोध किया कि ई० पू० चौथी-तीसरी सदियों की भारतीय कला विदेशी मूल की है। इस सिलसिले में उन्होंने ब्रिटिश इतिहासकारों से अपनी धारणाओं पर पुनर्विचार करने को कहा। उनका विचार था कि ई० पू० चौथी-तीसरी सदियों के स्मारक "सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की लंबी शृंखला की अपेक्षाकृत बाद की कड़ियां हैं।" ओल्देनबुर्ग के सृजनात्मक कार्यों के लिए लाक्षणिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण इस काल की उनकी रचनाओं में विशेषत: स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ। वे प्राचीन भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना की समस्याओं पर ग़ौर करने वाले पहले सोवियत भारतविदों में थे। उन्होंने संस्कृति के इतिहास को सारे सामाजिक विकास की प्रक्रिया से जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने लिखा: "सही समाजवैज्ञानिक रुख का अभाव अभी तक भारतीय कला के विकासक्रम का सही-सही पता लगाने में भी बाधक बना हुआ है।" 'अर्थशास्त्र', 'अष्टाध्यायी' और जातकों में निहित जानकारी के आधार पर ओल्देनबुर्ग इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि प्राचीन भारत में काफ़ी विकसित नगर-संस्कृति थी तथा वहां नानाविध उत्पादन और शिल्पों का अस्तित्व था। बौद्ध कला के स्मारकों में ओल्देनबुर्ग केवल धार्मिक और कलात्मक रचनाओं के नाते ही नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन की परिघटनाओं को समझने में सहायक स्रोतों के नाते भी रुचि लेते थे। "बौद्ध भौतिक संस्कृति की रचनाएं, उनकी उचित व्याख्या की जाने पर, हमें धर्म के – और केवल बौद्ध धर्म के ही नहीं – इस दैनंदिन जीवन से गहनत: जुड़े पहलू का पता लगाने के लिए प्रचुर सामग्री प्रदान करती हैं। हम यह देखते हैं कि धर्म चाहे अमूर्तता के कितने भी ऊंचे शिखर पर पहुचने की चेष्टा क्यों न करे, तो भी सारत: दैनंदिन जीवन का उस पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है।"

ओल्देनबुर्ग पश्चिम में प्रचलित इस दृष्टिकोण का दृढ़तापूर्वक खण्डन करते थे कि भारतीय संस्कृति शुद्धत: आध्यात्मिक है, कि भारतीय लोगों की धार्मिकता सर्वव्यापी है, कि वे इहलौकिक आकांक्षाओं से मुक्त हैं। अनेक भारतीय विद्वान भी भारतीय समाज के विकास में सारी मानवजाति के इतिहास के लक्षण नहीं, बल्कि भारतीय

संस्कृति की अद्वितीयता, उसकी विशिष्ट आध्यात्मिकता दिखाने की चेष्टा में इस दृष्टिकोण को मानते थे। ओल्देनबुर्ग अपने उपागम में सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक और वस्तुगत दृष्टिकोण व्यक्त करते थे: प्राचीन भारतीय समाज के जीवन में धर्म की महती भूमिका पर बल देने के साथ-साथ वे प्राचीन भारत को ऐतिहासिक विकास के सामान्य नियमों की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने लिखा: "इस कपोलकल्पना को बहुत पहले ही ख़त्म कर देना चाहिए था कि भारत विशेषत: धर्म का देश है: बेशक, इस बात में कोई संदेह नही कि इस क्षेत्र में भारत ने विराट सृजन किया है, लेकिन यह बात भी इतनी ही निर्विवाद है कि दूसरे जनगण की भांति भारतीयों का भी जटिल सामाजिक जीवन था, कि कृषि, ग्रामीण शिल्प व उद्योग तथा शहरी व्यापार भारत के जीवन में दूसरे देशों से क़तई कम महत्त्व नही रखते थे, कि भारत के आर्थिक जीवन को जाने और समझे बिना हम कभी भी भारत को, उसके जटिल इतिहास को नही समझ पायेंगे।" इस प्रसंग में ओल्देनबुर्ग ने पुरालेखों तथा शास्त्रों की सामग्री की ओर विशेष ध्यान दिया। अशोक के शिलालेखों की अपनी व्याख्या में वे व्यापक जनसामान्य को संबोधित "उद्घोषणाओं" के नाते उनके महत्त्व पर ज़ोर देते थे, ईसवी संवत् की पहली सदियों के शिलालेखों में उन्होंने आरंभिक सामंतयुगीन भारत के इतिहास की विपुल सामग्री पाई। ओल्देनबुर्ग ने दक्षिणी भारत के कदम्ब वंश के कतिपय शिलालेखों का अनुवाद तथा भेंट पत्रों का विश्लेषण किया। वे प्राचीन भारत की सामाजिक-आर्थिक पद्धति के अध्ययन के लिए कामकाजी दस्तावेज़ों की महत्ता पर बल देते थे। उन्होंने यह आह्वान किया कि भारतीय दस्तावेज़ों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के उनके "क्रमिक विकास को देखते हुए और जैसे वे भारत के अलग-अलग भागों में पाये जाते हैं," संकलन बनाये जाएं। उनके विचार में ऐसी सामग्री "भारत की अर्थव्यवस्था तथा वर्गों के संघर्ष के इतिहास के लिए समृद्ध स्रोत" होगी। ओल्देनबुर्ग उन पहले सोवियत भारतविदों में से थे, जिन्होंने प्राचीन भारत में प्रचलित सामाजिक-आर्थिक संबंधों का चित्र प्रस्तुत करने के लिए 'अर्थशास्त्र' के महत्त्व को बहुत ऊंचा आंका। उनकी पहलक़दमी पर १९३० में सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान में, जिसका वे तब संचालन कर रहे थे, 'अर्थशास्त्र' का रूसी भाषा में अनुवाद करने का कार्य आरंभ हुआ। श्चेर्बात्स्की के निदेशन में एक विशेष दल बनाया गया, जिसने १९३२ में अनुवाद का मुख्य भाग पूरा कर लिया। इस ग्रंथ के प्रथम परिच्छेद का अनुवाद स्वयं ओल्देनबुर्ग ने ही किया था।

'अर्थशास्त्र' के आधार पर राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक पारिभाषिक शब्दों का कोश बनाने का काम संस्थान के शोधकार्यों की योजना में रखा गया। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत के सामाजिक-आर्थिक विकास की समस्याओं के अनुसंधान को बहुत ज़रूरी मानते हुए ओल्देनबुर्ग इस क्षेत्र में भारतीय विद्वानों के कार्यों पर सदा नज़र रखते थे, उनकी समीक्षा करते थे। वे इन समस्याओं के अध्ययन में

भारतीय विद्वानों के योगदान का उच्च मूल्यांकन करते थे और इस बात पर ज़ोर देते थे कि अर्थव्यवस्था और इतिहास के कुछ प्रश्नों का भारत में और भारतीय विद्वानों द्वारा ही अध्ययन किया जा सकता है।"

'बौद्ध पुस्तकमाला' जैसा अंतर्राष्ट्रीय कार्य भी ओल्देनबुर्ग के नाम से संबद्ध है। श्चेर्बात्स्की के शब्दों में "पूर्णत: उनकी पहलक़दमी और प्रयासों के बल पर ही" यह कार्य संपन्न किया जा सका। इस पुस्तकमाला का प्रकाशन १८९७ में आरंभ हुआ था और इसका ध्येय था बौद्ध धर्म की उत्तरी शाखा से संबंधित मौलिक और अनूदित ग्रंथों का प्रकाशन करना। इसका नाम भी यही था: 'मूल और अनूदित बौद्ध ग्रंथो का संग्रह'। ओल्देनबुर्ग ने उत्तरी बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन में अपने शिक्षकों मिनायेव और वसील्येव की परम्पराओं को जारी रखा लेकिन इस अनुष्ठान को उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान कर दिया। संसार भर में बौद्ध धर्म के जाने-माने अध्येताओं– बेडाल, फ़िनो, श्रयेर, दे ला वाले-पुसें, केर्न, नांत्सो, श्चेर्बात्स्की, आदि को उन्होंने इस कार्य में भाग लेने को निमंत्रित किया। दक्षिणी, पाली परम्परा के समर्थकों (रीस डेविड्स और उनके साथियों) के विपरीत बौद्ध धर्म के रूसी अध्येता संस्कृत में रचे गये बौद्ध साहित्य को विशेष महत्त्व प्रदान करते थे, क्योंकि "यही एशिया भर में फैले बौद्ध मत का आधार बना था"। "अखिल एशियाई बौद्ध मत का अध्ययन भारतविद्या का एक तात्कालिक कार्यभार है।" ओल्देनबुर्ग की पहलक़दमी पर संस्थापित 'बौद्ध पुस्तकमाला' ने बौद्ध धर्म के रूसी व सोवियत अध्येताओं को अंतर्राष्ट्रीय मान्यता दिलाई। १९२७ में ही ओल्देनबुर्ग, श्चेर्बात्स्की और तुब्यान्स्की पूरे विश्वास के साथ कह सके: "अपनी उपलब्धियों के कुलयोग की दृष्टि से रूस में बौद्ध धर्म का अध्ययन यूरोप के दूसरे देशों में इस अध्ययन के क्रम में प्रथम स्थान पर रखा जाना चाहिए।"

ओल्देनबुर्ग की वैज्ञानिक धरोहर में केंद्रीय एशिया के, इस क्षेत्र के बौद्ध ग्रंथों और कला स्मारकों के अध्ययन का विशेष स्थान है। प्राच्यविद्या के इस क्षेत्र में ओल्देनबुर्ग विज्ञान की नई शाखाओं – केंद्रीय एशियाई वाङ्मीमांसा तथा पुरालिपि अध्ययन – के प्रवर्तक बने। ओल्देनबुर्ग के संचालन में वैज्ञानिक अभियान दलों का पूर्वी तुर्किस्तान जाना संसार भर में भारतविद्या और बौद्ध अध्ययनों की महत्त्वपूर्ण घटना बना। ओल्देनबुर्ग के सुप्रयासों से ही सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान के एशियाई संग्रहालय में आज केंद्रीय एशिया में मिले हस्तलिखित ग्रंथों का संसार में सबसे बड़ा संग्रह है।

१९वीं सदी के अंत और २०वीं सदी के आरंभ में केंद्रीय एशिया में अत्यंत सनसनीख़ेज़ वैज्ञानिक खोजें हुईं। खोतान के रेगिस्तान में और पश्चिमी हान-सू की गुफ़ाओं में लाजवाब कलाकृतियां, नाना हस्तलिखित ग्रंथ तथा भौतिक संस्कृति की वस्तुएं मिलीं। पूर्वी तुर्किस्तान की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक सम्पदा तथा उसके अध्ययन की आवश्यकता की ओर ध्यान देने वाले एक पहले व्यक्ति थे विलक्षण रूसी

यात्री निकोलाई प्रभेवाल्स्की। ग्रुम्म-ग्रभिमाइलो बंधुओं ने भी पूर्वी तुर्किस्तान की यात्रा की और इस इलाक़े के प्राचीन स्थालों व वस्तुओं का वर्णन किया। केंद्रीय एशिया के स्मारकों के अध्ययन में रूसी विद्वानों में से सबसे अधिक योगदान ओल्देन-बुर्ग का तथा काशगर में रूसी वाणिज्यदूत न० पेत्रोव्स्की का था। पेत्रोव्स्की ने न केवल इस इलाक़े की यात्रा की और यहां पुरातत्वीय तथा नृजातिवर्णन संबंधी वैज्ञानिक कार्यों में सहयोग प्रदान किया, बल्कि प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ खोजने के लिए भी अथक प्रयत्न किये। ओल्देनबुर्ग को लिखे पत्रों में उन्होंने बारंबार भारत और केंद्रीय एशिया की लिखित धरोहर का व्यापक अध्ययन शुरू करने का आग्रह किया। १९वीं सदी के नौवें दशक के अंत में ही पेत्रोव्स्की ने ओल्देनबुर्ग को एक हस्तलिखित ग्रंथ का पृष्ठ भेजा, जो उन्होंने स्थानीय निवासियों से ख़रीदा था। इस प्रकार एशियाई संग्रहालय की केंद्रीय एशियाई निधि की नींव पड़ी। १८९२ में ओल्देनबुर्ग ने इस पाठ की अनुलिपि और लिप्यांतरण छपवाये। उन्होंने यह इंगित किया कि यह पाठ संस्कृत में नहीं लिखा हुआ है। कालांतर में यह निर्धारित किया गया कि यह खोतान-शक भाषा है। ओल्देनबुर्ग तुरंत ही समझ गये कि केंद्रीय एशिया में कितनी विशाल वैज्ञानिक सम्पदा निहित है और यहां के स्मारकों की खुदाई से भारतविद्या में तथा बौद्ध धर्म के अध्ययन में कितने भव्य परिप्रेक्ष्य खुल सकते हैं। १८९१ में उन्होंने पेत्रोव्स्की को पत्र लिखकर पूछा कि क्या कूचा में तथा काशगर प्रांत दूसरे स्थानों में प्राचीन आवशेषों के बारे में उन्हें विस्तृत जानकारी उपलब्ध है और क्या वहां वैज्ञानिक अभियान दल भेजा जा सकता है। ओल्देनबुर्ग समझते थे कि इन योजनाओं के क्रियान्वयन में वित्तीय और राजनीतिक दोनों ही तरह की कठिनाइयां आ सकती हैं – ज़ारशाही सरकार विज्ञान के विकास के लिए आवश्यक साधन नहीं देती थी, उधर चीनी शासक इस क्षेत्र में रूसियों को न आने देने की हर संभव कोशिश करते थे। ओल्देनबुर्ग ने अपने पत्र में रूसी वाणिज्यदूत से पूछा था कि चीनी अधिकारी रूसी वैज्ञानिक अभियान दल के आने में बाधा तो नहीं डालेंगे। उनकी आशंकाएं सही निकलीं। पेत्रोव्स्की ने अपने उत्तर में लिखा: "बौद्ध स्मारक सारे पूर्वी तुर्किस्तान में फैले हुए हैं। मुझे संदेह है कि स्थानीय चीनी अधिकारी और पीकिंग सरकार अभियान दल को आवश्यक खुदाई की इजाज़त देंगे।" लेकिन ओल्देनबुर्ग ने अपना इरादा नहीं छोड़ा, उन्होंने पेत्रोव्स्की द्वारा भेजे गये पाठ प्रकाशित किये और तुर्किस्तान के प्राचीन अवशेषों के अपार महत्त्व की चर्चा करके विदेशी विद्वानों का ध्यान इन खोजों की ओर आकर्षित किया।

१८९२-१८९३ के शरद व जाड़ों में पेत्रोव्स्की ने ओल्देनबुर्ग को कूचा, कूर्म और अक्सु से प्राप्त पांडुलिपियों के १०० से अधिक पन्ने और अंश भेजे। ये ब्राह्मी के केंद्रीय एशियाई रूपांतर में लिखे हुए थे। ओल्देनबुर्ग ने नियमित रूप से इन पाठों को प्रकाशित किया, इनकी अनुलिपि के साथ लातिनी में लिप्यांतरण भी दिया।

तब केवल कुछ अंशों के बारे में ही यह तय किया जा सका था कि ये क्या हैं (मुख्यतः ये मंत्र थे)। "काशगर संस्कृतविद्या मे बहुत बड़ी भूमिका अदा करेगा," ओल्देनबुर्ग ने लिखा। १८९७ में उन्होंने काशगर में मिले खरोष्ठी लिपि में भोजपत्र पर लिखे ग्रंथ की फ़ोटोकापी अलग से प्रकाशित की। इस पांडुलिपि में 'धम्मपद' का प्राकृत पाठ था। ओल्देनबुर्ग ने इसका लेखन काल प्रथम सदी ईसवी बताया और इसकी भाषा भी सही-सही निर्धारित की – प्राकृत, जो शहबाज़गढ़ी के अशोक के शिलालेखों की भाषा से मिलती-जुलती है। आल्देनबुर्ग ने इस पाठ की रचना का अनुमानित क्षेत्र – गांधार – भी इंगित किया। इस ग्रंथ के प्रकाशन ने बौद्ध ग्रंथों के पाठ-अध्ययन के विकास में बहुत बड़ी भूमिका अदा की और ओल्देनबुर्ग को विश्वव्यापी ख्याति प्रदान की। केंद्रीय एशिया के पुरातत्वीय अध्ययन के लिए ओल्देनबुर्ग के प्रयास अंततः सफल हुए। १८९८ में रूसी भूगोल समाज की पूर्वी साइबेरियाई शाखा द्वारा संगठित एक अभियान दल द्मीत्री क्लेमेंत्स के नेतृत्व में तूर्फ़ान गया और वहां उसने भारतीय संस्कृति के समृद्ध स्मारकों का पता लगाया। क्लेमेंत्स संस्कृत की कुछ काष्ठफलक मुद्रित पुस्तकें लाये। अभियान दल के कार्य के परिणामों के बारे में लिखते हुए ओल्देनबुर्ग ने यह इंगित किया कि तूर्फ़ान के आस-पास बहुत से भित्तिचित्र मिले हैं, जिन पर केंद्रीय एशियाई ब्राह्मी में पुरालेख अंकित हैं। उन्होंने नये अभियानों की योजनाएं बनाई, लेकिन रूसी अध्येता उन दिनों इन्हें क्रियान्वित करने में असफल रहे। ओल्देनबुर्ग ने सरकार को यह प्रस्ताव भेजा कि एक वैज्ञानिक अभियान दल तुर्किस्तान भेजा जाये, लेकिन उनका प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। १९०० में रोम में प्राच्यविदों की अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में अकादमीशियन राद्लोव ने तुर्किस्तान में हुई खोजों के बारे में एक रिपोर्ट पेश की। रूसी विद्वान की इस रिपोर्ट से विद्वज्जगत में इतनी गहरी रुचि जागी कि अनेक यूरोपीय देशों में पूर्वी तुर्किस्तान के पुरातत्वीय अध्ययन के लिए विशेष समितियां गठित की गईं। इससे पहले कि १९०९ में अंततः ओल्देनबुर्ग का स्वप्न पूरा होता और वे अभियान पर निकलते, कुछ यूरोपीय अभियान दल केंद्रीय एशिया में हो आये। ओल्देनबुर्ग के अभियान का प्रबंध मध्य एवं पूर्वी एशिया के अध्ययन की रूसी समिति ने किया। ओल्देनबुर्ग जब अंततः पूर्वी तुर्किस्तान पहुंचे तो पता चला कि यूरोपीय अभियान दल इस इलाक़े की जांच कर चुके हैं और श्चेर्बात्स्की के शब्दों में "पुरातत्वीय खोज के लिए उन्होंने यहां कुछ छोड़ा ही नहीं था।" अनेक अद्वितीय पांडुलिपियां यूरोप ले जाई जा चुकी थीं। ओल्देनबुर्ग बड़ी कठिनाई से स्थानीय निवासियों से संस्कृत के ग्रंथों के कुछ अंश ख़रीद पाये। पीटर्सबर्ग लौटकर उन्होंने रूसी समिति की बैठक में अपने कार्य की रिपोर्ट दी और यह बताया कि वे कौन सी पांडुलिपियां और कलाकृतियां प्राप्त करने में सफल रहे हैं। ओल्देनबुर्ग ने एक बार फिर रूस के विद्वज्जगत का ध्यान केंद्रीय एशिया में व्यापक अनुसंधान करने की आवश्यकता की ओर दिलाया। १९१४ में ओल्देनबुर्ग ने १९०९-१९१० के रूसी तुर्किस्तान अभियान की संक्षिप्त रिपोर्ट

छापी। इसमें बौद्ध संस्कृति के सभी स्मारकों की विस्तृत सूची दी गई थी, गुफाओं, मूर्तियों, भित्तिचित्रों आदि का विवरण भी दिया गया था।

ओल्देनबुर्ग का दूसरा अभियान (१९१४-१९१५) अत्यंत सफल रहा: उन्होंने सहस्रबुद्ध गुफाओं का सर्वेक्षण किया तथा अनेक संस्कृत और चीनी हस्तलिखित ग्रंथ खोजे।

पेत्रोव्स्की के साथ ओल्देनबुर्ग के पत्रव्यवहार से यह पता चलता है कि केंद्रीय एशिया की संस्कृति के अध्ययन की उनकी वैज्ञानिक योजनाएं बहुत व्यापक थीं। वे केंद्रीय एशियाई ग्रंथों के पुरालिपि-अध्ययन पर विशेष शोध ग्रंथ लिखने की सोच रहे थे, जिसमें वे विभिन्न लिपियों के सभी रूपांतरो की पूर्ण वंशानुक्रमी तालिका देना चाहते थे और पेत्रोव्स्की के संग्रह के सभी ग्रंथों को पाठ-विश्लेषण, लिप्यांतरण और अनुवाद सहित प्रकाशित करने का इरादा रखते थे। खेदवश इन इरादों को पूरा होना बदा नहीं था। ओल्देनबुर्ग द्वारा आरंभ किये गये कार्य को उनके सहयोगियों ने और फिर सोवियत भारतविदों की नई पीढ़ी ने जारी रखा।

परंतु ओल्देनबुर्ग केंद्रीय एशिया के अध्ययन में जो कुछ कर पाये उसका ही अपार वैज्ञानिक महत्त्व है। भारतीय संस्कृति के लिखित चिन्हों की खोजों तथा पुरातत्वीय खुदाइयों से यह पता चला कि कम से कम प्रथम शती ईसवी से आरंभ करके १०वीं-११वीं सदी ईसवी तक यह सारा इलाका भारतीय बौद्ध सांस्कृतिक जगत विशाल प्रभाव में था। और जब भारत में बौद्ध धर्म प्रमुख नहीं रह गया था, तब केंद्रीय एशिया में ही भारतीय बौद्ध संस्कृति ने अपनी परम्पराएं बनाये रखीं और विकसित होती रही। भारतीय बौद्ध संस्कृति के महत्त्व को आंकते हुए ओल्देनबुर्ग ने अपने सहयोगियों श्चेर्बात्स्की और तुब्यान्स्की के साथ १९२७ में लिखा: "इस विशाल इलाक़े के लिए भारतीय बौद्ध संस्कृति वही अर्थ रखती है, जो कि यूरोप के लिए भूमध्यसागर प्रांत की प्राचीन यूनानी-रोमन संस्कृति।... मध्य और पूर्वी एशिया की भारतीय बौद्ध संस्कृति का अध्ययन विश्व संस्कृति के इतिहास का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और रोचक क्षेत्र है।"

ओल्देनबुर्ग के सृजनात्मक कार्यकलापों की एक लाक्षणिकता थी नागरिक भावना तथा पूरब के जनगण की अथाह संभावनाओं में उनका विश्वास। यही बात उन्हें उन किताबी विद्वानों से अलग करती थी, जो अपने विषय की सीमा से बाहर न निकल सकते थे, न निकलना चाहते थे। युवावस्था में ही जब वे फ़्रांस में वहां पर प्राच्यविद्या संबंधी कार्यों के संगठन से परिचित हो रहे थे, तभी वे रूस में प्राच्यविद्या का विस्तार करने की सोचने लगे थे। उन्होंने रूस के लिए पूरब के अध्ययन के अपार महत्त्व का उल्लेख किया। १८९८ में उन्होंने लिखा: "अब पूरब का व्यावहारिक अध्ययन पहले स्थान पर आता है, जिसे उन सब नये कार्यभारों की पूर्ति में सहायक होना चाहिए, जो रूस के हिस्से में आये हैं।... संभवतः रूस को ही अन्य किसी भी देश की तुलना में पूरब का सैद्धांतिक ज्ञान पाने की अधिक

आवश्यकता है।" ओल्देनबुर्ग ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि रूस में प्राच्य-विद्या का अभी आवश्यक विस्तार नहीं हुआ है, और यह आशा व्यक्त की कि ये शोधकार्य बड़े पैमाने पर होने लगेंगे। "आज जबकि दूसरे देश पूरब के अध्ययन की ओर अधिकाधिक ध्यान दे रहे हैं, हम यह सोचना चाहेंगे कि रूस भी इन चेष्टाओं में कम से कम पीछे नहीं रहेगा।"

लेकिन अग्रणी रूसी विद्वान के इन स्वप्नों को महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद ही पूरा होना था।

ओल्देनबुर्ग पुरानी अकादमी के उन पहले रूसी विद्वानों में थे, जिन्होंने सोवियत सत्ता का उत्साहपूर्वक स्वागत किया। वे बड़े जोश से समाजवाद के निर्माण की आवश्यकताओं के लिए अकादमी के, नवोदित सोवियत जनतंत्र के सारे वैज्ञानिक और शैक्षिक कार्य के पुनर्गठन में जुट गये। विज्ञान अकादमी के स्थायी सचिव के नाते ओल्देनबुर्ग ने वैज्ञानिक अनुसंधानों को तेज़ी से पुनर्गठित करने में सहयोग प्रदान किया, अपनी प्रतिष्ठा, अनुभव और ज्ञान से नई पद्धति के निर्माण में मदद की। ओल्देनबुर्ग का यह रुख बहुत लाक्षणिक था, खास तौर पर यदि यह ध्यान में रखा जाये कि अनेक पुराने विद्वान देश में हो रहे परिवर्तनों का सारा महत्त्व तुरंत ही नही समझ पाये थे और कठिनाई से ही नव जीवन के निर्माण में शामिल हो रहे थे। क्रांति के बाद पहले दिनों से ही सोवियत सरकार और स्वय लेनिन सोवियत देश में विज्ञान के विकास की ओर विशेष ध्यान देने लगे थे। रूस के वैज्ञानिक प्रतिष्ठानो को समाजवाद के निर्माण में भाग लेने के लिए प्रवृत्त करने की आवश्यकता संबंधी लेनिन के रुख ने इस सच्चे अर्थों में क्रांतिकारी प्रक्रिया में विशाल भूमिका अदा की। विज्ञान के प्रति, वैज्ञानिक सृजन के प्रति, जीवन की आवश्यकताओं के साथ वैज्ञानिको के घनिष्ठ संबंध के प्रति यह रुख अकादमी के प्रति ज़ारशाही सरकार के रुख के बिल्कुल विपरीत था। ज़ारशाही के दिनों में तो विज्ञान अकादमी को साम्राज्य का "वैज्ञानिक आभूषण" ही माना जाता था। ओल्देनबुर्ग ने लिखा था : "ज़ारशाही सरकार का विज्ञान और वैज्ञानिकों के प्रति रुख अविश्वासपूर्ण था, अधिकांश मामलों में वह उन्हें ऐसे प्रश्नों पर काम करने देती थी, जिनका राजकीय निर्माण से कोई संबध नही होता था।" क्रांति के तुरंत बाद ही वैज्ञानिको ने यह देखा कि पहले की उदासीनता तथा वैज्ञानिकों के इरादों के विरोध का स्थान सहायता, सच्चे समर्थन और रुचि ने ले लिया है। सोवियत सत्ता के पहले वर्षों के दस्तावेजों, राजनीतिक और सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ तथा वैज्ञानिको के संस्मरणो से उन तूफ़ानी दिनों का वातावरण जाना जा सकता है, जब सोवियत सरकार की नीति ने पुनर्गठन के मार्ग पर बढ़ने तथा समाजवाद के निर्माण के भव्य कार्यभारों की पूर्ति में सक्रिय भाग लेने में विज्ञान अकादमी की मदद की। इन दस्तावेजों के पृष्ठों से ओल्देनबुर्ग की आकृति उभरती है। सोवियत विज्ञान के एक प्रमुख संचालक के नाते उनके सारे कार्यकलाप नागरिकता की भावना से

ओतप्रोत थे। लेनिन ने अकादमी की बहुत सहायता की, ओल्देनबुर्ग उनसे कई बार मिले। क्रांति के नेता के साथ इन भेंटों की ओल्देनबुर्ग पर गहरी छाप पड़ी, उनके आगे के वैज्ञानिक और संगठनात्मक कार्य भी बहुत हद तक इस भेंट से निर्धारित हुए।

लेनिन से ओल्देनबुर्ग की पहली भेंट १८८७ में हुई थी, जब व्लादीमिर इल्यीच के बड़े भाई अलेक्सान्द्र इल्यीच उल्यानोव को फांसी हुई थी। अलेक्सान्द्र इल्यीच ज़ारविरोधी संगठन 'नरोद्नया वोल्या' (जन संकल्प) के सक्रिय सदस्य थे। मार्च १८८७ में ज़ार की हत्या के असफल प्रयास के बाद उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया और उसी साल मई में फांसी दे दी गई। पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में शिक्षा के वर्षों में ओल्देनबुर्ग अलेक्सान्द्र उल्यानोव के समीप आ गये थे। भाई की मृत्यु पर शोकग्रस्त लेनिन ओल्देनबुर्ग से मिलने आये, जिन्होंने तब अनुसंधानकर्ता की ख्याति पा ली थी। लेनिन एक ऐसे व्यक्ति से अपने भाई के बारे में कुछ और विस्तार से जानना चाहते थे, जो उसे अच्छी तरह जानता था और एक प्रगतिशील विचारों वाला विद्वान माना जाता था। अलेक्सान्द्र उल्यानोव के व्यक्तित्व से ओल्देनबुर्ग को लेनिन को भी अधिक गहराई में समझने में मदद मिली। कालांतर में उन्होंने लिखा: "अलेक्सान्द्र इल्यीच से मेरा जो निकट परिचय रहा था उससे मुझे व्लादीमिर इल्यीच में भी बहुत कुछ समझने में मदद मिली – विज्ञान के प्रति गहरी निष्ठा और विशाल राजनीतिक कार्य का सुमेल, जो, जैसा कि सुविदित है, विरले ही देखने में आता है, और वह भी प्रत्यक्षत: केवल बिल्कुल असाधारण लोगों में ही।" ओल्देनबुर्ग ने लेनिन के साथ अपनी इस भेंट को कई बार याद किया। उन्होंने अपने संस्मरणों में लिखा: "इस भेंट के बाद कई साल बीत गये, क्रांति आई, हमारे देश का जीवन आमूल बदल गया, हम, बौद्धिक श्रम के लोग भी आमूल बदल गये, हम नये, महान, समाजवादी निर्माण कार्य में भाग लेने लगे। हम समझ गये कि निर्माण के इस महान कार्य में सभी को शामिल करके ही सचमुच नया जीवन बनाया जा सकता है, उस जीवन से भिन्न, जो मानवजाति को वह सब नहीं दे सका, जिसकी उसे सचमुच आवश्यकता है। इस नये मार्ग पर हमारे नेता और निर्माता बने व्लादीमिर इल्यीच, वह व्यक्ति, जिसकी गहरी मानवीयता हमारी पहली भेंट में ही मेरे लिए स्पष्ट हो गई थी, जब महान क्रांतिकारी बिल्कुल नौजवान ही था।"

१९१८ में लेनिन के साथ हुई भेंट का ओल्देनबुर्ग के इसके बाद के सारे कार्य-कलापों पर बहुत प्रभाव पड़ा। नवोदित सोवियत जनतंत्र के लिए उस कठिन समय के बावजूद क्रांति के नेता और सोवियत सरकार के प्रधान वैज्ञानिक अनुसंधानों में, भारतविद्या संबंधी शोधकार्यों में भी, गहरी रुचि लेते थे और वैज्ञानिकों का आह्वान करते थे कि वे जनसमूहों के अधिक निकट आयें, उन्हें वैज्ञानिक योजनाओं और सृजनात्मक विचारों के बारे में बताये। ओल्देनबुर्ग के साथ बातचीत में लेनिन ने इस विलक्षण भारतविद से कहा: "आप अपना विषय ही लीजिये – वह हमसे दूर

लगता है, लेकिन हमारे समीप भी है। ... आप जनता में, मज़दूरों के बीच जाइये, उन्हें भारत के इतिहास के बारे में, अंग्रेज़ों द्वारा दासता की बेड़ियों में जकड़े और उत्पीड़ित इन कोटि-कोटि जन की सदियों की यातनाओं के बारे में बताइये और आप देखेंगे कि हमारे मज़दूर जन समूहों में कैसी सजीव प्रतिक्रिया होती है। और स्वयं आपको भी नई खोजों, नये अनुसंधानों, अपार महत्त्व के नये कार्यों की प्रेरणा मिलेगी।" समसामयिकों के संस्मरणों के अनुसार इस भेंट के बाद ओल्देनबुर्ग ने लेनिन के बारे में कहा था : "वह शक्ति के अवतार हैं। ... इनका जन्म मानो 'अपनी वाणी से लोगों के हृदय प्रज्वलित करने के लिए हुआ है'।" लेनिन की गहन दूर-दृष्टि, रूस के लिए इतने विकट समय में भी वैज्ञानिक कार्यों के प्रति उनकी असाधारण रुचि देखकर आश्चर्य होता है। गृहयुद्ध हो रहा था, विदेशी साम्राज्यवादी देश की आंतरिक प्रतिक्रांतिकारी ताक़तों के साथ मिलकर नवोदित सोवियत जनतंत्र को नष्ट करने, ज़मींदारों और पूंजीपतियों की सत्ता बहाल करने पर तुले हुए थे। देश की सारी शक्ति सोवियत सत्ता की रक्षा में लगी हुई थी। लेनिन ने जनता के नाम अपील जारी की – "मातृभूमि संकट में है।" लेकिन ऐसे संकटमय दिनों में भी लेनिन वैज्ञानिकों और कलाकर्मियों से मिलने के लिए समय निकाल लेते थे, उन्हें रूस में विज्ञान के भविष्य की असीम संभावनाओं में विश्वास था, वे उन दिनों भी वैज्ञानिक अनुसंधानों को अधिक व्यापक बनाने की सोचा करते थे।

देश के अन्य अनेक बड़े-बड़े विद्वानों की ही भांति ओल्देनबुर्ग भी अकादमी के पुनर्गठन में जुट गये। जनवरी १९१८ में अकादमी की आम सभा में नये राजकीय कार्यभारों के प्रसंग में वैज्ञानिक कार्य के प्रश्न पर विचार किया गया। ओल्देनबुर्ग के संचालन में इन योजनाओं के क्रियान्वयन की संभावनाओं को आंकने के लिए एक विशेष आयोग गठित किया गया। फ़रवरी १९१८ में आयोग ने अपना वह निर्णय स्वीकार किया, जिसने नवराज्य के निर्माण की आवश्यकताओं के लिए वैज्ञानिकों को कार्यप्रवृत्त करने में नितांत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस निर्णय में कहा गया था : "विज्ञान अकादमी यह मानती है कि अधिकांश कार्यभार स्वयं जीवन ही प्रस्तुत करता है, और अकादमी जीवन व राज्य की मांग पर राज्य-निर्माण की आवश्यकताओं द्वारा प्रस्तुत अलग-अलग कार्यभारों की पूर्ति के लिए यथाशक्ति वैज्ञानिक और सैद्धांतिक कार्य करने को तत्पर है। ऐसा करते हुए अकादमी देश की वैज्ञानिक शक्तियों को कार्यप्रवृत्त करने और संगठित करने वाले केंद्र का काम करती है।

सोवियत सरकार के मास्को चले आने के पश्चात ओल्देनबुर्ग दूसरे अकादमीशियनों के साथ यह निर्णय लेकर क्रेमलिन गये।

लेनिन के नेतृत्व में सोवियत सरकार ने अकादमी को वित्तीय सहायता प्रदान की, वैज्ञानिकों के जीवन की हितचिंता की। इस काल में भारतविद्या से संबंधित वैज्ञानिक परियोजनाएं भी पूरी की गईं। उदाहरणतः, १९१८ में इतिहास और वाङमीमांसा विभाग ने जन कमिसार परिषद द्वारा वैज्ञानिक कार्यों के समर्थन के बारे

में ओल्देनबुर्ग की सूचना के प्रत्युत्तर में १९१४ में भारत भेजे गये नृजातिवर्णन अभियान दलों को सहायता प्रदान करने का निश्चय किया। सोवियत विज्ञान अकादमी के अभिलेखागार में सरक्षित एक अत्यंत रोचक दस्तावेज़ से इस बारे में पता चलता है। इसमें बताया गया है कि ९ अप्रैल १९१८ को जन कमिसार परिषद और उसके अध्यक्ष लेनिन के निर्देश पर परिषद का सचिव ओल्देनबुर्ग से मिलने आया और उसने उन्हें बताया कि जन कमिसार परिषद "अकादमी की वैज्ञानिक परियोजनाओ के यथासभव व्यापक विकास को अत्यंत वांछनीय मानती है और अकादमी को निमंत्रित करती है कि वह अभियानो, कार्यों और प्रकाशनों से संबंधित अपने प्रस्तावों से परिषद को अवगत कराये, ताकि शीघ्रातिशीघ्र उन्हें सहयोग प्रदान किया जा सके।" लेनिन के प्रस्ताव पर विज्ञान से संबंधित जो कार्यभार निर्धारित किये गये थे, उनकी पूर्ति के काम में ओल्देनबुर्ग भी लगे। अकादमी का सचिव होने के नाते ओल्देनबुर्ग ने न केवल प्राच्यविद्या, बल्कि सभी मानविकी विज्ञानो के विकास में रुचि ली और भूविज्ञान, ऊर्जाविज्ञान, औद्योगिक रासायनिकी, भौतिकी तथा अन्य वैज्ञानिक क्षेत्रों में भी कार्य के संगठन में सहयोग प्रदान किया।

अकादमी की वैज्ञानिक योजनाए कितनी विशाल थी और किस तरह सोवियत सरकार पूरब से संबंधित सभी अनुसधानों में हर तरह से सहायता प्रदान करती थी इसका अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि १९१९ मे पेत्रोग्राद में पहली बौद्ध प्रदर्शनी आयोजित की गई। इस प्रदर्शनी के आयोजक भली-भांति समझते थे कि यह अत्यत कठिन दिनों में आयोजित की जा रही है, तो भी उन्होंने इसका अधिकाधिक प्रचार करने और जनता में भारत तथा समस्त पूरब मे रुचि जगाने का प्रयास किया। इस प्रदर्शनी की विवरणिका मे ओल्देनबुर्ग ने लिखा : "आधुनिक मानवजाति के लिए, जो अभी विश्व बंधुत्व के क्षीण और बेढब प्रयास ही कर रही है, यह आवश्यक है कि इस क्षेत्र में मानवजाति द्वारा अब तक जो कुछ किया जा चुका है उससे यथासंभव अधिक अच्छी तरह परिचित हो। यही कारण है कि हमारे लिए बौद्ध जगत का अध्ययन करना और उसे समझना इतना महत्त्वपूर्ण है। हमें आशा है कि यह प्रदर्शनी इस में सहायक होगी।" अकादमीशियन ओल्देनबुर्ग, व्लादीमित्र्सेव और श्चेर्बात्स्की ने इस प्रदर्शनी में भाषण दिये। उन्होंने भारत और बौद्ध धर्म के अध्ययन के महत्त्व पर ज़ोर दिया, भारतीय संस्कृति की धरोहर का गहन अध्ययन करने का आह्वान किया।

इस प्रदर्शनी के आयोजकों के हृदय में जो आशाएं हिलोरें ले रही थीं, जो अद्वितीय उत्साह था, उस पर आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। स्मरण रहे कि यह नवोदित सोवियत जनतंत्र के इतिहास में विकटतम काल था, अग्नि परीक्षा का समय था, नई सत्ता के गठन की दिशा में पहले क़दम रखे जा रहे थे। प्रदर्शनी अत्यंत सफल रही। लेनिन के परामर्श का पालन करते हुए वैज्ञानिक भारत के बारे में उसकी प्राचीन संस्कृति और इतिहास की जानकारी सामान्य जनता तक

पहुचा रहे थे। जनता बड़ी रुचि से इस ज्ञान को ग्रहण कर रही थी, पूरब की विलक्षण संस्कृति से परिचित हो रही थी। ओल्देनबुर्ग द्वारा प्रदर्शनी के लिए लिखे गये ये शब्द उल्लेखनीय हैं: "शायद पृथ्वी पर और कहीं भी लोगो ने जीवन और मृत्यु के, ज़ीवन के ध्येय और अर्थ के प्रश्नों के उत्तर इतने बल और यत्न से नहीं खोजे, जितने कि दूरवर्ती देश भारत में, जहां मुख्यत: हमारी संबंधी जातियां बसी हुई हैं, जिनकी भाषाएं और रीति-रिवाज बहुत हद तक हमसे मिलते-जुलते हैं।" यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि व्यापक जन समूहों को संबोधित करते हुए अकादमीशियन ने भारतीय जनता के विवेक पर, भारतीय और रूसी संस्कृति के सामीप्य पर बल दिया – यह वह विषय था, जिसका महत्त्व उन कठिन दिनों में भी कम नहीं हुआ था। लेकिन इस विद्वान के विचार सुदूर अतीत की ओर नहीं, भविष्य की ओर उन्मुख थे और प्रदर्शनी को इसी ध्येय की पूर्ति करनी थी, उसे भारत के बारे में ज्ञान को मेहनतकशों के लिए बोधगम्य बनाना था। ओल्देनबुर्ग ने लिखा: "भारत का इतिहास सारी मानवजाति के इतिहास को समझने के लिए नितांत महत्त्वपूर्ण है, और इस इतिहास की आवश्यकता हमें यथार्थ जीवन को उचित रूप में समझने के लिए है।"

प्रदर्शनी में भारत, मंगोलिया और पूर्वी तुर्किस्तान की बौद्ध कला की वे वस्तुएं थीं, जो रूस के संग्रहालयों में संरक्षित थीं। ओल्देनबुर्ग ने लिखा: "सभी बौद्ध वस्तुएं एक ही धर्म की वस्तुएं हैं और ऐसे धर्म की, जिसका उद्गम एक ही है – भारतवर्ष।" प्रदर्शनी में अनेक ऐसी वस्तुएं थीं, जो रूसी यात्री और विद्वान अपने साथ रूस लाये थे। एशिया के देशों की यात्रा करते हुए उन्होंने संग्रहालयों को मूल्यवान सामग्री से समृद्ध किया। ओल्देनबुर्ग के संचालन में गये अभियान दल जो वस्तुएं लाये थे, उनका वैज्ञानिक मूल्य अपार था। उनके शब्दों में तुङहुआन की गुफाओं में मिले चित्र यह दिखाते हैं कि "चीन ने बौद्ध धर्म के ज़रिए भारत से कितना कुछ ग्रहण किया।" यहा फिर उनका प्रमुख विचार स्पष्ट है: जनता को पूरब की महान संस्कृति से, विश्व सभ्यता के अमूल्य रत्नों से परिचित कराते हुए उसमें औपनिवेशिक शासकों द्वारा उत्पीड़ित पूर्वी जनगण के प्रति रुचि जगाना।

विषयवस्तु की विविधता के बावजूद प्रदर्शनी भारत पर ही केंद्रित थी। और यह संयोग मात्र नहीं था। यहां रूसी विद्वानों की भारत में परम्परागत रुचि प्रकट हुई।

जनवरी १९२१ में ओल्देनबुर्ग अकादमीशियनों के एक दल के साथ फिर से लेनिन से मिले। इस बातचीत में मक्सिम गोर्की भी उपस्थित थे। वैज्ञानिको और सोवियत राज्य के नेता ने विज्ञान के विकास से संबंधित अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार-विमर्श किया: अकादमी के अंतर्राष्ट्रीय संबंध, प्रकाशन, साहित्य का आदान-प्रदान, वैज्ञानिकों के जीवन की परिस्थितियों में सुधार, आदि। अत्यधिक व्यस्तता के बावजूद लेनिन ने विद्वानों से अनुरोध किया कि उन्हें जो समस्याएं उद्विग्न

करती हैं, उनके सिलसिले में वे उनसे मिल सकते हैं। इस भेंट को याद करते हुए ओल्देनबुर्ग ने लिखा था: "व्लादीमिर इल्यीच ने हमसे हमारे नाना कार्यों के बारे में विस्तार से पूछा। यह स्पष्ट था कि वे अपने कंधो पर इतने विराट निर्माण कार्य का बोझ होने के बावजूद अलग-अलग वैज्ञानिकों के उस कार्य के बारे में सोचने और याद रखने का समय निकाल ही लेते हैं, जिसे वे हमारे निर्माण कार्य के लिए विशेषत: महत्त्वपूर्ण मानते हैं। व्लादीमिर इल्यीच की बातें सुनते हुए हम यह जानते थे कि वे अपने आदेशों की पूर्ति की जांच करने के अपने नियम का पालन करते हुए इस बात के लिए क़दम उठायेंगे कि सदा यह जान सकें कि क्या कुछ कर लिया गया है और क्या नहीं किया गया और क्यो नहीं किया गया। सोवियत विज्ञान के इतिहास में लेनिन की विज्ञान जगत के प्रतिनिधियों से यह भेंट सदा स्मरणीय रहेगी: लेनिन ने जो दिलचस्पी ली उसकी बदौलत हमारे सोवियत क्रांतिकारी विज्ञान के इतिहास में १९२० और १९२१ के साल आमूल परिवर्तन के साल बन गये।"

महान नेता की मृत्यु के पश्चात हुई सोवियतो की दूसरी अखिल संघीय कांग्रेस में ३१ जनवरी १९२४ को ओल्देनबुर्ग ने भाषण दिया। उन्होंने कहा: "...वे सारे महान विचार, सारे विशाल कार्य, जो उन्होंने किये, सदा बने रहेंगे, उन पर मृत्यु का वश नही है। चूंकि भावी पीढ़िया जीयेंगी, तो यह सब भी हमारे साथ बना रहेगा।... हम एक शक्ति का, अपार शक्ति का अनुभव करते हैं, हम जानते हैं कि इस महापुरुष ने जो जीवन जिया, वह कितना महान था।... उनमें सचमुच मनीषी के गुण थे। हम बूढ़े-जवान सभी लोगो के जीवन में एक महान पुरुष आया और इसलिए हममें से प्रत्येक को चेतना में जीवन अधिक समृद्ध, अधिक उज्ज्वल, अधिक सशक्त प्रतीत हुआ, क्योंकि जो जीवन ऐसे महापुरुषों का निर्माण करता है, वही सचमुच प्रबल, सशक्त और अनुपम जीवन है।"

जीवनपर्यंत ओल्देनबुर्ग ने सोवियत विज्ञान के पुनर्गठन के बारे में लेनिन के परामर्शों का पालन किया, उन्होंने अनेक वैज्ञानिक परियोजनाओ को, जिनमें प्राच्यविद्या संबंधी कार्य भी थे, शुरू करवाने में पहलक़दमी की। सोवियत संघ में प्राच्यविद्या का, भारतविद्या का गठन सेर्गेई ओल्देनबुर्ग के नाम से जुड़ा हुआ है। वे सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान के पहले डायरेक्टर बने (१९३० में) और जीवन के अंतिम दिन तक इस पद पर रहे। ओल्देनबुर्ग के प्रयासों की बदौलत प्राच्यविदों ने अपने कार्य को सोवियत विज्ञान के सामान्य ध्येयों के अनुरूप ढाला, उसमें सोवियत मध्य एशियाई जनतंत्रों में आर्थिक और सांस्कृतिक निर्माण के व्यावहारिक कार्यभारों तथा सोवियत संघ की शांतिपूर्ण नीति के अनुरूप परिवर्तन किये।

आकदमीशियन श्चेर्बात्स्की और प्रो० तुब्यान्स्की के साथ मिलकर ओल्देनबुर्ग ने बौद्ध संस्कृति संस्थान की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया। सोवियत विज्ञान

अकादमी के अन्तर्गत बौद्ध संस्कृति संस्थान की स्थापना की परियोजना पर व्याख्यात्मक टिप्पणी में उन्होंने लिखा: "पूरब में सर्वत्र शोधकार्य के विकास को देखते हुए यह आवश्यक है कि हमारे बौद्ध धर्म-अध्येता पुरानी सामग्री के साथ-साथ नई सामग्री को ध्यान में रखें, उसका सिंहावलोकन और उपयोग करें तथा बहुभाषीय पूरब में हो रहे महत्त्वपूर्ण कार्यों की ओर पूरा ध्यान दें और वहां के विद्वानों तथा शोध संस्थानों के साथ सीधे सम्पर्क बढ़ायें। हमारे विद्वानों ने बौद्ध धर्म के अध्ययन में जो अग्रणी भूमिका पा ली है, उसे बनाये रखने, अपनी स्थिति को सुदृढ़ और व्यापक करने के लिए यह आवश्यक है कि एक वैज्ञानिक संस्थान के अधीन इस क्षेत्र के सभी विद्वानों के प्रयासों और संसाधनों को एकजुट किया जाये। इस संस्थान का ध्येय होगा – बौद्ध धर्म के अध्ययन संबंधी कार्यों को अधिक दृढ़ और सुव्यवस्थित रूप में संगठित करना तथा पूरब में इस क्षेत्र में हो रहे समसामयिक कार्य के साथ सम्पर्क स्थापित एवं विकसित करना।"

ओल्देनबुर्ग उन पहले सोवियत प्राच्यविदों-भारतविदों में से थे, जिन्होंने समसामयिक पूरब के अध्ययन के असाधारण महत्त्व को, परम्परागत भारतविद्या के विषय को व्यापक बनाने की आवश्यकता को समझा। इसी में वे सोवियत प्राच्यविद्या का भविष्य देखते थे। ओल्देनबुर्ग इस बात के उत्साही समर्थक थे कि प्राच्यविद्या संस्थान मध्य एशिया के सोवियत जनतंत्रों के साथ संबंध बढ़ाये। उन्होंने इन जनतंत्रों की भाषाओं तथा सोवियत संघ के पूर्वी जनगण की संस्कृतियों के अध्ययन के लिए अभियान दल भिजवाये। वे सदा इस बात पर ज़ोर देते थे कि "हमारे देश के पूरब में नव जीवन के निर्माण के लिए सारे पूरब के नूतन और नवीनतम इतिहास का सुस्पष्ट ज्ञान होना आवश्यक है।" इस सबको वे "प्राच्यविद्या संबंधी एक ही कार्य-शृंखला की कड़ियां" कहते थे। ओल्देनबुर्ग को पूरब की अथाह शक्ति में विश्वास था, वहां के जीवन में वे नये अंकुर फूटते देखते थे और इस बात के लिए उत्सुक थे कि पूरब के जनगण शीघ्रातिशीघ्र औपनिवेशिक शोषण से मुक्त हों। १९२२ में उन्होंने लिखा था: "हम यह महसूस करते हैं कि नये पूरब में विशाल शक्ति निहित है। हम सचेत रूसी जन समूहों को पूरब से परिचित कराना चाहते हैं, पूरब को उनके समीप लाना चाहते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि पुराने पूरब ने, संस्कृति के क्षेत्र में इस महान सृजनकर्त्ता ने हमें ऐसी अमर कृतियां प्रदान की हैं, जिनका महत्त्व मनुष्य के लिए कभी भी कम नहीं होगा और जो कभी भी फिर से इस रूप में प्रस्तुत नहीं की जायेंगी। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि नया पूरब भी महान संभावनाओं से परिपूर्ण है, पुरातन शिक्षा यहां मृत नहीं हुई है, लेकिन पूरब को इसे नये बिंबों में मूर्तित करना है, नई उपलब्धियां पानी हैं।"

१९३१ में प्रकाशित 'विज्ञान अकादमी में प्राच्यविद्या नई राहों पर' नामक लेख में ओल्देनबुर्ग ने वस्तुतः सोवियत संघ में प्राच्यविद्या के विकास का अनेक वर्षों का कार्यक्रम प्रस्तुत किया और यह दिखाया कि सोवियत संघ में प्राच्यविद्या

पश्चिम में इस विद्या से किन बातों में भिन्न है। "विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद अपने सारे काम को नई पटरी पर लाने, उसे देश के जीवन के समीप लाने और समाज के निर्माण से उसका संबंध जोड़ने के लिए जो विशाल कार्य कर रहे हैं, उसे ग़ौर से देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि विज्ञान अकादमी में प्राच्यविद्या नई दिशा में चल पड़ी है और चल रही है।" ओल्देनबुर्ग ने पुरानी, क्रांतिपूर्व, बुर्जुआ प्राच्यविद्या और नई प्राच्यविद्या के बीच भेद पर ज़ोर दिया। इससे पहले तो वैज्ञानिक जगत में इस विचार का प्रभुत्व था कि पश्चिम और पूरब दो अलग-अलग संसार हैं, इसके साथ ही शोधकर्त्ता पश्चिमी संस्कृति को प्राच्य संस्कृति से अधिक श्रेष्ठ सिद्ध करने की कोशिशें करते थे। ओल्देनबुर्ग का कहना था कि ऐसे विचार पश्चिमी यूरोपीय विद्वानों के यूरोप-केंद्रीयतावादी दृष्टिकोण को ही नहीं, बल्कि सर्वप्रथम पूरब के प्रति पश्चिमी शक्तियों की औपनिवेशिक नीति को प्रतिबिम्बित करते थे। उन्होंने लिखा: "क्रांति के बाद जातीय नीति के प्रति रुख में आये आमूल परिवर्तन से निस्संदेह विज्ञान अकादमी में प्राच्यविद्या का मूलभूत सिद्धांत भी बदलना ही था।" "'समाजवाद के निर्माण की सेवा में विज्ञान' के नारे ने हमारे प्राच्यविदों को अपने पुराने उसूलों और विषयों पर पुनर्विचार करने पर बाध्य किया है," ओल्देनबुर्ग ने कहा। इस आह्वान का अनुसरण करते हुए उन्होंने इंगित किया कि नये पूरब का भी अध्ययन करना अत्यत आवश्यक है। वे यह मानते थे कि प्राचीन पूरब के अध्ययन के साथ-साथ अब "पूरब के सभी देशों की अर्थव्यवस्था के प्रश्न प्रथम स्थान पर हैं, जिनके ज्ञान के बिना इन देशों का सच्चा ज्ञान पाना अकल्पनीय है।" उन्होंने लिखा: "हमारे जातीय जनतंत्रों के जीवन ने लातिनीकरण और साहित्यिक भाषाओं के निर्माण* जैसे प्रश्न विशेषत: उग्र रूप से हमारे सम्मुख रखे हैं। सुविदित है कि पुराने शासक अलग-अलग जातियों के उभरने का हर तरह से विरोध करते थे और इस तरह से उन्होंने अनेक भाषाओं और साहित्यों के विकास में बाधा डाली थी।" ओल्देनबुर्ग ने क्रांति द्वारा सोवियत प्राच्यविदों से की जा रही अपेक्षाएं इंगित की। पुरानी प्राच्यविद्या की एक कमी यह थी कि उसमें पूरब के सामाजिक-आर्थिक विकास की समस्याओं को, वर्ग संरचना के तथा आधुनिक और समकालिक इतिहास के प्रश्नों को नज़रंदाज़ किया जाता था। उन्होंने लिखा: "हमारे सोवियत प्राच्यविद तुरंत ही यह समझ गये कि यदि वे सचमुच समाजवाद के निर्माताओं की पंक्तियों में शामिल होना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम उन्हें समसामयिक पूरब का चहुं-

---

* अक्तूबर क्रांति के बाद रूस की अनेक जातियों के लिए, जिनकी अपनी लिपि नहीं थी, लिपियां बनाई गई, लिखित साहित्य बना और बोलचाल की भाषाओं के आधार पर साहित्यिक भाषाएं बनीं। इन जनगण को विश्व सभ्यता की उपलब्धियों के क़रीब लाने के ध्येय से इनकी भाषाओं के लिए पहले लातिनी और फिर रूसी वर्णमाला के आधार पर लिपियां बनाई गईं। – अनु०

मुखी अध्ययन शुरू करना चाहिए और अतीत के संबंध में सामाजिक-आर्थिक प्रश्नों के अध्ययन को सर्वोपरि महत्त्व देना चाहिए।"

ओल्देनबुर्ग प्राच्यविदों का आह्वान करते थे कि वे नई विधि अपनायें। मार्क्सवादी भारतविद्या के गठन में ओल्देनबुर्ग की भूमिका बहुत बड़ी थी।

ओल्देनबुर्ग ने लिखा: "क्रांति का वैज्ञानिक कार्य पर, इस कार्य के प्रति रुख पर और सबसे बडी बात, इस कार्य की **विधि** पर बहुत प्रभाव पड़ा। बेशक, इसका सर्वप्रथम एक सामान्य कारण है – क्रांति और समाजवाद के निर्माण की यह अपेक्षा कि विज्ञान जीवन के निकट आये।" 'विश्व विज्ञान में हमारे देश के विज्ञान की स्थिति' शीर्षक लेख में ओल्देनबुर्ग ने सगर्व यह इंगित किया कि "जीवन निर्माण की नई समझ के साथ घनिष्ठ सम्पर्क में वैज्ञानिक कार्यों की विधि की दिशा में हमारा चिंतन असाधारणतः तीव्र गति से कार्यरत है।" ओल्देनबुर्ग ने अनेक बार सोवियत सत्ता के वर्षों में सोवियत प्राच्यविदों और भारतविदो द्वारा प्राप्त भारी सफलताओं पर संतोष प्रकट किया। १९३३ में 'वैज्ञानिक सृजन पर कुछ विचार' शीर्षक लेख में उन्होंने ज़ोर देकर कहा: "यह असाधारणतः महत्त्वपूर्ण सृजनकार्य जिस विराट पैमाने पर आज हमारे यहां हो रहा है, उस पैमाने पर पहले कभी भी नही हुआ था।" ओल्देनबुर्ग के वैज्ञानिक कार्यकलापों को अंतर्राष्ट्रीय मान्यता मिली। पश्चिमी यूरोप के कई वैज्ञानिक समाजो के तथा "भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण" के वे मानद सदस्य चुने गये।

तीसरे-चौथे दशक में तथा उसके बाद की अवधि में सोवियत संघ में भारतविद्या संबंधी शोधकार्यों का सच्चे अर्थों में भव्य परिमाण बहुत हद तक विलक्षण भारत-विद, वैज्ञानिक कार्यों के प्रतिभावान संगठनकर्त्ता, सच्चे मानवतावादी और देशभक्त सेर्गेई ओल्देनबुर्ग के प्रयासों का ही सुफल था।

फ़्योदोर श्चेर्बात्स्की का वैज्ञानिक कार्यकलाप– बौद्ध धर्म के अध्ययन में एक नया युग

भारतविद्या में और बौद्ध धर्म के अध्ययन में इवान मिनायेव की यशस्वी परम्पराओं को उनके शिष्य अकादमीशियन फ़्योदोर इप्पोलितोविच श्चेर्बात्स्की (१८६६-१९४२) ने जारी रखा। उनका वैज्ञानिक कार्यकलाप संसार भर में बौद्ध धर्म के अध्ययन के क्षेत्र में एक पूरे युग का प्रतिनिधित्व करता है। इस महान विद्वान का निधन हुए चालीस वर्ष से अधिक बीत गये हैं, लेकिन उनकी कृतियों का वैज्ञानिक महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ है, इनके नये-नये संस्करण विभिन्न देशों मे निकलते रहते हैं, ससार के सभी भारतविद और बौद्ध धर्म के अध्येता उनका नाम गहरे आदर से लेते हैं। भारत में भी श्चेर्बात्स्की की रचनाएं सुज्ञात हैं। डा० राजेन्द्रप्रसाद और सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने सोवियत संघ की अपनी यात्राओं के दौरान श्चेर्बात्स्की की सेवाओं की बडे आदर से चर्चा की थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर से श्चेर्बात्स्की का पत्रव्यवहार था। राहुल सांकृत्यायन ने अपने द्वारा संपादित धर्मकीर्ति की रचना 'प्रमाणवार्त्तिक' श्चेर्बात्स्की को समर्पित की और सोवियत विद्वान को महानतम प्राच्यविद कहा। भारतीय दार्शनिक धर्मेंद्रनाथ शास्त्री ने लिखा: "भारतीय दार्शनिक चिंतन के विकास में अमूल्य योगदान के लिए हमें इस महान विद्वान का और सोवियत देश का, जो उनकी जन्मभूमि है, गहरा आभार मानना चाहिए।" श्चेर्बात्स्की की रचनाओ के अंग्रेज़ी संस्करण की विस्तृत भूमिका में भारत के एक प्रमुख दार्शनिक देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने संसार में भारतविद्या और बौद्ध धर्म के अध्ययन मे सोवियत विद्वान के अपार योगदान का उल्लेख करते हुए लिखा है: "श्चेर्बात्स्की का प्रमुख योगदान यह है कि उनकी रचनाओं के बाद से भारतीय दर्शन

फ्योदोर श्चेर्बात्स्की

की समस्याओं पर उचित स्तर पर विचार-विमर्श इन रचनाओं से परिचित हुए बिना करना असभव हो गया है।" श्चेर्बात्स्की के काग़ज़ात से पता चलता है कि भारत के अनेक जाने-माने विद्वानो जैसे कि डी० आर० भंडारकर, एस० एन० दासगुप्त, डी० कोशाम्बी, बी० सी० ला, जी० झा, रघुवीर, एन० दत्त, सुनीतिकुमार चटर्जी, आदि के साथ उनके सृजनात्मक सम्पर्क थे।

१८८४ में पीटर्सबर्ग की उपनगरी त्सार्स्कोये सेलो में श्चेर्बात्स्की ने माध्यमिक शिक्षालय की पढ़ाई पूरी की। (यह रूस का एक सबसे प्रसिद्ध शिक्षालय था और अनेक महान रूसियों ने, जिनमें अलेक्सान्द्र पुश्किन भी थे, यहां शिक्षा पाई थी।) इसी वर्ष श्चेर्बात्स्की ने पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के इतिहास एवं वाङमीमांसा संकाय में दाखिला लिया। विश्वविद्यालय में पढ़ाई के आरंभ से ही भारतीय संस्कृति और तुलनात्मक भाषाविज्ञान उनके प्रिय विषय थे। उनके शिक्षकों मे मिनायेव और ओल्देनबुर्ग जैसे विलक्षण भारतविद थे, जिन्होंने अपने शिष्य को न केवल संस्कृत और प्राचीन भारतीय संस्कृति का अपना ज्ञान प्रदान किया, बल्कि उसके हृदय में भारत की जनता के प्रति गहरा आदर तथा विज्ञान की सेवा के उच्च आदर्शों में निष्ठा भी जगाई। विश्वविद्यालय में ही एक भाषाविद, संस्कृति के इतिहासकार और दार्शनिक के नाते श्चेर्बात्स्की की असाधारण योग्यता प्रकट हुई और जब उन्होंने

अपना शोधप्रबध 'भारोपीय भाषाओं में श्वासद्वारीय स्वनो के दो वर्ग' लिखा, तो उसने इस क्षेत्र के बड़े-बड़े विद्वानों का ध्यान तुरंत ही आकर्षित कर लिया। श्चेर्बात्स्की को विश्वविद्यालय में ही प्रोफ़ेसर पद की तैयारी के लिए रखा गया। १८८९ में उन्हें शोधकार्य के लिए वियेना भेजा गया, जहां उन दिनों जाने-माने आस्ट्रियाई भारतविद, प्राचीन भारतीय साहित्य, काव्यशास्त्र, शिलालेखो और पुरालेखों के अद्वितीय जानकार जार्ज ब्यूलर काम कर रहे थे। वियेना में श्चेर्बात्स्की ने बडी लगन और अध्यवसाय से काव्यशास्त्र, शिलालेखों और व्याकरण ग्रंथों (सर्वप्रथम पाणिनि के व्याकरण) का और शास्त्रों का अध्ययन किया, दार्शनिक ग्रंथों के विश्लेषण में जुटे। इन पाठों से बहुत हद तक युवा संस्कृतविद की वैज्ञानिक अभि-रुचियों का क्षेत्र निर्धारित हुआ, उनका यह विश्वास दृढ़ हुआ कि संस्कृत ग्रंथों का बारीकी से पाठ-विश्लेषण करके ही दार्शनिक रचनाओं का शोध करना चाहिए। वियेना में श्चेर्बात्स्की के मार्गदर्शक प्रो० ब्यूलर अनेक वर्षो तक भारत में रहे थे और यूरोपीय विश्वविद्यालयों में संस्कृत के अध्यापन में उन्होंने बहुत सी नई बातो का समावेश किया था, वे संस्कृत के अध्यापन की परम्परागत भारतीय विधियों की ओर विशेष ध्यान देते थे। प्राचीन भारतीय भाषा का श्रेष्ठ ज्ञान पाकर श्चेर्बात्स्की काव्यशास्त्र, तर्कशास्त्र तथा कालांतर में बौद्ध दर्शन के जटिलतम ग्रंथों का अध्ययन कर पाये।

ब्यूलर के पाठों का श्चेर्बात्स्की के पहले अनुसंधान कार्यों की दिशा पर प्रभाव पड़ा: १९०० में उन्होंने ऐतिहासिक काव्य 'हैहयेन्द्रचरित' का टीका और जर्मन अनुवाद सहित प्रकाशन किया, १९०२ मे एक विशद लेख 'भारत में काव्यशास्त्र' छपाया। पुरालेखों में रुचि की बदौलत वे सातवीं सदी के सम्राट शिलादित्य के शिलालेखों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए।

भारत में काव्यशास्त्र के इतिहास पर श्चेर्बात्स्की की रचना विशेषत: महत्त्वपूर्ण थी। वे ध्वनि सिद्धांत का विवरण प्रस्तुत करने वाले पहले यूरोपीय विद्वानों में से थे। ('जन शिक्षा मत्रालय की पत्रिका' में १९०२ में प्रकाशित यह लेख १९६२ में 'रूसी भारतविदो की संकलित रचनाएं' नामक ग्रंथ में पुन: मुद्रित हुआ और १९६९ में कलकत्ता में प्रकाशित ग्रंथ 'श्चेर्बात्स्की रचना संग्रह' में इस लेख का अंग्रेज़ी अनुवाद छपा। इस ग्रंथ के संपादक देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय थे और लेख के अनुवादक हर्ष गुप्त।) उल्लेखनीय है कि श्चेर्बात्स्की का यह लेख जर्मनी में भारतविद्या के एक संस्थापक हेर्मन जैकोबी की प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र पर विशेष रचना के प्रकाशित होने से पहले ही छप चुका था। श्चेर्बात्स्की ने उचित ही भारत में काव्य-शास्त्र के उच्च स्तर पर ज़ोर दिया। उन्होंने लिखा: "प्राचीन भारत में जो विद्याएं फल-फूल रही थीं, उनमें दर्शन, व्याकरण, खगोलविद्या और विधिशास्त्र के साथ-साथ काव्यशास्त्र को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।" श्चेर्बात्स्की ने इस तथ्य का उल्लेख मात्र नहीं किया, बल्कि काव्यशास्त्र के इतिहास में प्रमुख चरणों का पता

लगाने का भी प्रयास किया। ऐसा करते हुए उन्होंने भारत के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास के तथ्यों को भी ध्यान में रखा। बहुत हद तक यह एक नया दृष्टिकोण था, लेकिन यह रूसी भारतविदो के बुनियादी उसूलों को प्रतिबिम्बित करता था, जो प्राचीन भारत के आत्मिक जीवन की विभिन्न परिघटनाओं का मूल्यांकन सुसंगत ऐतिहासिक दृष्टिकोण से करते थे। श्चेर्बात्स्की ने काव्यशास्त्र के विभिन्न पहलुओं – रस, शैली, आदि का विस्तार से विश्लेषण किया। काव्यशास्त्र को समर्पित श्चेर्बात्स्की की इस आरंभिक रचना में ही दर्शन के प्रति उनकी विशेष रुचि स्पष्टतः देखी जा सकती है। शीघ्र ही दर्शन उनके सारे कार्य का केंद्र बन गया। रस के प्रश्न पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा: "प्रत्येक रचनाकार भारत में प्रचलित दार्शनिक मतों में से किसी एक के संदर्भ में ही इस कठिन प्रश्न की विवेचना करता है।" इस लेख में श्चेर्बात्स्की की अनुसंधान विधि का एक और विशिष्ट लक्षण प्रतिबिम्बित हुआ – प्राचीन भारत में सारी संस्कृति के विकास की ही भांति, काव्यशास्त्र के विकास पर भी, उन्होंने केवल भारत की सीमाओं में नहीं, बल्कि अधिक व्यापक रूप से – विश्व सभ्यता के विकास की पृष्ठभूमि में, सर्वप्रथम प्राचीन रोम और यूनान के विकास की पृष्ठभूमि में ग़ौर किया। अपने लेख के अंत में श्चे-र्बात्स्की ने लिखा: "भारत में काव्य के ऐतिहासिक विकास में हम यूनान और रोम में इसके विकास से समानता के लक्षण भी पाते हैं और साथ ही विशाल मौलिकता के लक्षण भी, जिनसे यह काव्य हमारे ध्यान का उससे कम अधिकारी नहीं रहता, जितना कि अब तक हम यूनान और रोम के काव्य की ओर देते आये हैं।" श्चेर्बात्स्की का विचार स्पष्ट था: भारत के काव्यशास्त्र की मौलिकता और विशिष्टता के बावजूद उसकी प्राचीन यूनान और रोम के काव्यशास्त्र से प्ररूपात्मक दृष्टि से तुलना की जानी चाहिए और ऐसा दोनों के बीच समानता दिखाने के ध्येय से ही नहीं, बल्कि प्राचीन भारतीय संस्कृति की ओर ग़ौर से ध्यान दिलाने के लिए भी किया जाना चाहिए, क्योंकि पश्चिमी विद्वान इसका अध्ययन पर्याप्त गहराई में नहीं कर रहे थे और साथ ही उनका अध्ययन नितांत पूर्वाग्रहपूर्ण होता था।

दर्शन में विशाल रुचि दिखाते हुए श्चेर्बात्स्की जैकोबी के साथ दार्शनिक ग्रंथो पर काम करने के लिए १८८९ में बोन गये। यहां न्यायशास्त्र के ग्रंथों की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया। (बाद में उनकी अभिरुचियों के क्षेत्र में यह एक प्रमुख विषय बन गया)। पीटर्सबर्ग लौटकर वे विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाने लगे। साथ ही उन्होंने दर्शन और न्याय के ग्रंथों का गूढ़ अध्ययन भी जारी रखा और इन समस्या-ओं पर अपनी पहली बड़ी रचनाएं पूरी की। १९०२ मे उनकी आकार में अपेक्षाकृत छोटी, किंतु अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृति 'प्राचीन भारत मे न्याय' प्रकाशित हुई। व० वसील्येव के विचारों को आगे बढ़ाते हुए श्चेर्बात्स्की ने बौद्ध धर्म के विकास में तीन काल इंगित किये, लेकिन न्याय की ओर विशेष ध्यान दिया। उनका कहना था कि न्याय की ओर बौद्धों के उन्मुख होने का कारण केवल बौद्ध चिंतन का विकास ही

नहीं था, बल्कि भारत के राजनीतिक वातावरण में आये परिवर्तन, सारे सांस्कृतिक, आत्मिक जीवन में आये परिवर्तन भी इसका कारण थे। उनके विचार में गुप्त काल में, जब ब्राह्मण धर्म का उत्कर्ष हो रहा था और गुप्त सम्राट रूढ़िपंथी धाराओं को विशेष प्रश्रय दे रहे थे, तब बौद्धों ने ब्राह्मणों से वादानुवाद में न्याय का सहारा लिया। श्चेर्बात्स्की यह मानते थे कि न्याय और द्वंद्व वह अस्त्र थे, जिनसे बौद्ध दार्शनिकों ने अपने विरोधियों का सामना किया। अपनी कृति में श्चेर्बात्स्की ने कतिपय पश्चिमी यूरोपीय विद्वानों के इस विचार का विरोध किया कि भारत में न्यायशास्त्र यूनानी तर्कशास्त्र पर आधारित था और उससे इसने कई लाक्षणिक विशिष्टताएं ग्रहण कीं। उन्होंने लिखा: "भारत में दर्शन और न्याय का विकास केवल भारतीय आधार पर ही हुआ और ये भारतीय चिंतन का स्वतंत्र परिणाम थे।"

रोम में हुई प्राच्यविदों की अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस ने श्चेर्बात्स्की के वैज्ञानिक जीवन में बहुत बड़ी भूमिका अदा की। इस कांग्रेस में बौद्ध धर्म की उत्तरी शाखा तथा केंद्रीय एशिया की संस्कृति के अध्ययन में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग करने का निर्णय किया गया था। इन योजनाओं से प्रेरित श्चेर्बात्स्की ने बड़े उत्साह से तिब्बती भाषा और साहित्य का अध्ययन जारी रखा, ताकि बौद्ध धर्म और बौद्ध दर्शन के विश्लेषण में इन स्रोतों का व्यापक उपयोग कर सकें। पूर्वी तुर्किस्तान में बौद्ध साहित्य के ग्रंथों की नई खोजों से श्चेर्बात्स्की का यह विश्वास सुदृढ़ हुआ कि महायान की रचनाओं का अध्ययन तिब्बती अनुवादों का उपयोग करते हुए किया जाना चाहिए। उन्होंने अपने शिक्षक व० वसील्येव के दृष्टिकोण का सक्रिय समर्थन किया। वसील्येव बुर्नूफ़ के साथ अपने वाद-विवाद में सदा इस बात पर ज़ोर देते रहे थे कि "पाली धारा" के प्रतिनिधियों की कृतियों का मूल्यांकन करते समय आलोचनात्मक रुख अपनाना और साथ ही भारतीय स्रोतों के अलावा तिब्बती, चीनी व मंगोल स्रोतों का भी व्यापक उपयोग करना अनिवार्य है।

श्चेर्बात्स्की की दो खण्डों में प्रकाशित पुस्तक 'उत्तरकालीन बौद्ध विद्वानों की शिक्षा में विज्ञान (संज्ञान) और न्याय सिद्धांत' ने श्चेर्बात्स्की को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्रदान की। १९०३ में छपे पहले खण्ड में बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति (सातवीं सदी ई०) की संस्कृत में लिखी रचना 'न्यायबिंदु' का तथा धर्मोत्तर कृत 'न्याय-बिंदुटीका' का अनुवाद शामिल था। १९०९ में छपे दूसरे खण्ड का अपना अनुसंधानात्मक महत्त्व भी था। श्चेर्बात्स्की की इस कृति के उच्च मूल्यांकन का पता इस तथ्य से भी लगता है कि इसका तुरंत ही जर्मन और फ़्रांसीसी भाषाओं में अनुवाद हो गया।

श्चेर्बात्स्की की इस कृति का महत्त्व बहुत अधिक था, खास तौर पर यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि यह ऐसे समय में लिखी गई, जब भारतीय न्यायशास्त्र का अध्ययन शुरू ही हो रहा था और पश्चिमी यूरोप में प्रायः प्राचीन भारत की

सांस्कृतिक धरोहर का एकतरफ़ा मूल्यांकन होता था। अनेक विद्वान तब हेगेल के इस विचार को मानते थे कि पूरब के दर्शन को "दर्शन के इतिहास में स्थान नहीं मिलना चाहिए"। इस तरह श्चेर्बात्स्की की कृति भारतीय दार्शनिक चिंतन के अध्ययन में यूरोप-केंद्रीयतावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध भी लक्षित थी, हालांकि उन्होंने स्वयं भारतीय दर्शन की यूरोपीय दर्शन से (उन दिनों यूरोप में विशेषत: प्रचलित कांट के दर्शन से भी) तुलना करने की चेष्टा की थी। लेकिन श्चेर्बात्स्की ने कांट से तुलना यह दिखाने के लिए की थी कि प्राचीन भारत के दार्शनिकों द्वारा, जिनमें प्रसिद्ध बौद्ध न्याय-दार्शनिक दिङ्नाग और धर्मकीर्ति भी हैं, व्यक्त किये गये विचार बहुत बाद में दूसरे ही ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिवेश में आधुनिक युग के पश्चिमी यूरोपीय दार्शनिकों द्वारा प्रकट किये गये। यही नहीं, श्चेर्बात्स्की भारतीय चितकों और यूरोपीय दार्शनिकों के विचारों में सैद्धांतिक भेद उजागर करने को भी बहुत उत्सुक थे। अपनी पुस्तक में उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया कि "बौद्ध दार्शनिकों की रचनाओं में ऐंद्रिय ज्ञान और चिंतन की प्रत्यास्थापना का जो स्वरूप है, वह सारे कांट-पूर्व (पश्चिमी) दर्शन में पायी जाने वाली प्रत्यास्थापना से भिन्न है।" कांट के दर्शन की चर्चा करते हुए भी श्चेर्बात्स्की ने इस बात पर ज़ोर दिया कि पाठक को "उन सब बातों से बचना चाहिए, जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि हम धर्मकीर्ति से कांट की समानता के प्रश्न को पूर्वनिश्चित करने की इच्छा रखते हैं।" (भारतीय और यूरोपीय दार्शनिक परम्पराओं की अधिक विस्तार से तुलना श्चेर्बात्स्की ने 'बौद्ध न्याय' नामक पुस्तक में की, जो उन्होंने बहुत बाद में लिखी।) अपने ग्रंथ में श्चेर्बात्स्की ने जर्मन दार्शनिक शोपनहावर के दृष्टिकोण का भी विरोध किया। श्चेर्बात्स्की के शब्दों में शोपनहावर को "भ्रम था कि उन्हें जो प्रबोध हुआ है, वही भारतीय मनीषियों को भी हुआ था।"

श्चेर्बात्स्की को यह पता लगाने का श्रेय है कि धर्मकीर्ति की रचना में न्याय की व्याख्या विज्ञान-सिद्धांत के प्रसंग में की गई है। इस तथ्य से वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भारतीय दार्शनिक चिंतन की सभी धाराओं पर न्याय का प्रभाव पड़ा। उन्होंने लिखा: "भारतीय दर्शन के इतिहास में धर्मकीर्ति के महत्त्व को पूर्णत: प्रकट करने का अर्थ है भारतीय दर्शन का इतिहास लिखना।" यह बात बहुत मानी रखती है कि इस आरंभिक कृति में ही आत्मिक जीवन की प्रक्रियाओं के अध्ययन के प्रति श्चेर्बात्स्की का ऐतिहासिक और सामाजिक रुख पूरी तरह उजागर हुआ। भारतीय दर्शन की विभिन्न धाराओं के बीच संघर्ष के आधार में वे विचारों का अनुक्रमिक विकास और विखंडन नहीं देखते थे, विभिन्न अवधारणाओं की प्रत्यास्थापना नहीं देखते थे, बल्कि इन विचारों को व्यक्त करने वालो का संघर्ष, सामाजिक वर्गों का टकराव देखते थे। उन्होंने लिखा: "दार्शनिक संघर्ष के पीछे, निस्संदेह, लोगों का, इन विचारों के वाहक लोगों का जीवन संघर्ष था।" श्चेर्बात्स्की की कृति में एक और जो महत्त्वपूर्ण विचार सर्वत्र पाया जाता है, वह इस प्रस्थापना की पुष्टि

में है कि भारतीय दर्शन में विभिन्न मतों के विवाद, वितंडा और संघर्ष दो मुख्य धाराओं – यथार्थवादी (दूसरे शब्दों में भौतिकवादी) और प्रत्ययवादी धाराओं – का संघर्ष प्रतिबिम्बित करते हैं। श्चेर्बात्स्की ने ज़ोर देकर कहा : "इतिहासकार गहरी रुचि से विचारों के क्षेत्र में इस उग्र विवाद के उतार-चढ़ावों, मोड़ों-घुमावों पर नज़र रखता है, क्योंकि वह इनमें शाश्वत विचारों का, प्रत्ययवाद के साथ यथार्थ-वाद का संघर्ष देखता है।" उल्लेखनीय है कि अपने वैज्ञानिक कार्य के आरंभिक काल में ही श्चेर्बात्स्की ने भारतीय दर्शन में भौतिकवादी प्रवृत्तियों की ओर विशेष ध्यान दिया और फिर यह विषय इस विद्वान के लिए गंभीर शोध का विषय बना। श्चेर्बात्स्की ने बौद्ध विज्ञान-सिद्धांत का इसलिए भी उच्च मूल्यांकन किया कि बौद्ध नैयायिकों ने द्वंद्ववाद के तत्व निरूपित किये। सचमुच ही यह बौद्ध दार्शनिकों की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी और यह अकारण ही नहीं कि एंगेल्स ने भी बौद्धों के "स्वतः-स्फूर्त द्वंद्वात्मक चिंतन" की चर्चा की थी।

प्राचीन भारतीय संस्कृति के अपने अनुपम ज्ञान के बल पर श्चेर्बात्स्की धर्मकीर्ति की रचना का अध्ययन करते हुए ऐसे दूसरे लक्षणों का भी पता लगा सके, जो सारे प्राचीन भारत में आध्यात्मिक जीवन के विकास से भी संबंध रखते हैं। उनका यह निष्कर्ष विशेषतः उल्लेखनीय है कि दार्शनिक अवधारणाओं और धार्मिक शिक्षाओं में मेल नहीं बिठाया जा सकता है, हालांकि श्चेर्बात्स्की भली-भांति यह समझते थे कि प्राचीन भारत की विशिष्ट परिस्थितियों में दार्शनिकों और धार्मिक उपदेशकों के बहुत से विचार प्रायः परस्पर संबंधित होते थे और समान रूपों में व्यक्त होते थे। श्चेर्बात्स्की ने लिखा : "वैज्ञानिक दर्शन का, विशेषतः संज्ञान के वैज्ञानिक सिद्धांत पर आधारित दर्शन का धार्मिक विश्वासों के साथ कोई मेल नहीं हो सकता।" इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण उसूल के आधार पर श्चेर्बात्स्की न केवल प्राचीन भारत में दर्शन और धर्म के विकास के समान क्रम की विशिष्टताओं को ही प्रकाश में लाये, बल्कि उन्होंने यह इंगित किया कि भारत और यूरोप में आत्मिक जीवन की इन परिघटनाओं के परस्पर संबंध का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। उन्होंने कहा कि "भारतीय धर्मों में, बौद्ध धर्म के पूर्ववर्ती धर्मों में भी धार्मिक विश्वासों और दार्शनिक चिंतन के परस्पर संबंधों के बारे में दृष्टिकोण वह नहीं था, जो यूरोप में था।" प्राचीन भारतीय दार्शनिक ग्रंथों के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर निकाला गया श्चेर्बात्स्की का यह निष्कर्ष केवल भारतविद्या के लिए ही नहीं, बल्कि विश्व दार्शनिक चिंतन से संबंधित समस्याओं के कहीं अधिक बड़े दायरे के लिए भी महत्त्वपूर्ण था। अनेक पश्चिमी यूरोपीय विद्वान अपने उन निष्कर्षों को, जिन पर वे प्राचीन यूनानी दार्शनिकों की रचनाओं का अध्ययन करते हुए पहुंचे थे, यंत्रवत भारत पर लागू करते थे, यहां तक कि कुछ तो प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के विचारों और अवधारणाओं में कोई मौलिकता स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। इसके परले छोर पर प्राचीन भारतीय संस्कृति के वे विशेषज्ञ थे (कुछ भारतीय विद्वानों समेत), जो यह कहते

थे कि भारत में दर्शन और धर्म का पूर्ण विलय हुआ, दोनों पूर्णतः समरूप हो गये, कि भारतीय दार्शनिक धाराओं में रहस्यवाद और अध्यात्मवाद सर्वव्यापी थे। हम देखते हैं कि रूसी विद्वान का रुख सिद्धांततः भिन्न था और प्राचीन भारत के सांस्कृतिक विकास का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता था। भारत में दर्शन और धर्म के सहअस्तित्व की विशिष्टता के बारे में श्चेर्बात्स्की के निष्कर्ष के महत्त्व पर आज भी सोवियत भारतविद ज़ोर देते हैं। उदाहरणतः, प्रो० अ० लितमन 'भारतीय दर्शन के अध्ययन में श्चेर्बात्स्की का योगदान' नामक अपने लेख में कहते हैं: "यह निष्कर्ष भारतीय दर्शन के अध्ययन की विधि के लिए नितांत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसकी यह विशिष्टता आधुनिक और समकालिक युग की दार्शनिक धाराओं में भी पाई जाती है।"

बीसवीं सदी के बिल्कुल आरंभ में ही प्रकाशित श्चेर्बात्स्की की इस रचना की बदौलत भारतविद और बौद्ध धर्म के अध्येता तथा आम पाठक भी पहली बार प्राचीन भारतीय नैयायिकों की उपलब्धि से, भारत के विलक्षण चिंतक दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के सृजन से परिचित हो सके। प्राचीन भारत के नये दार्शनिक ग्रंथों को वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में लाने के महत्त्व को समझते हुए श्चेर्बात्स्की इस बात का आह्वान करते थे कि इस ध्येय से दार्शनिक और वाङ्मीमांसक मिलकर काम करें। वे समझते थे कि प्राचीन भारतीय दार्शनिकों की रचनाओं के संस्कृत और तिब्बती भाषाओं से अनुवाद करके ही विश्व संस्कृति के विकास में प्राचीन भारत के अपार योगदान का पूरी तरह से पता लगाया जा सकेगा, और इस मिथ्या कथन का खंडन किया जा सकेगा कि प्राचीन यूनानी और रोमन चितन ही प्राचीन दर्शन के विचारों, खोजों और उपलब्धियों की सारी विविधता निर्धारित करता था। श्चेर्बात्स्की ने लिखा: "हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि दार्शनिकों और वाङ्मीमांसकों के संयुक्त परिश्रम से ही प्राचीन बौद्ध साहित्य में छिपी दार्शनिक चिंतन की अथाह सम्पदा की देर-सवेर इस हद तक गवेषणा करनी संभव होगी कि इसे आधुनिक शिक्षा का अंग बनाया जा सके और दिङ्नाग व धर्मकीर्ति के नाम हमारे लिए उतने ही परिचित व प्रिय हो सकें, जितने प्लेटो और अरस्तू के या कांट और शोपनहावर के नाम हैं।" बौद्ध संस्कृत ग्रंथों और उनके तिब्बती अनुवादों पर गहन कार्य के फलस्वरूप श्चेर्बात्स्की इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उन्हें तिब्बती साहित्य और मौखिक तिब्बती परम्परा से परिचित होने के लिए, केंद्रीय एशिया में भारत के सांस्कृतिक प्रभाव के प्रश्न का अध्ययन करने के लिए मंगोलिया तथा बाइकाल-पार जाना चाहिए। ये इलाक़े "जीवित बौद्ध धर्म" और हस्तलिखित ग्रंथों, सर्वप्रथम तिब्बती ग्रंथों के अध्ययन के लिए अनुपम प्रयोगशाला थे। १९०५ में 'मध्य और पूर्वी एशिया के अध्ययन की रूसी समिति' की ओर से श्चेर्बात्स्की मंगोलिया गये, यहां उन्होंने बौद्ध मठों में रखे ग्रंथों का अध्ययन किया, विरल हस्तलिखित ग्रंथ देखे, तिब्बती भाषा में बोलचाल का अभ्यास किया। उन्हें वहां भारतीय दर्शन के जानकारों से

मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उन्होंने तिब्बती से संस्कृत में अनुवाद करने का अभ्यास किया। उन्होंने लिखा : "मंगोलिया जीता-जागता भारत है।" श्चेर्बात्स्की ने तिब्बत के भी वैज्ञानिक अभियान पर जाने की योजना बनाई, लेकिन इसे कार्यान्वित नहीं कर पाये – ज़ारशाही सरकार ने उन्हें अनुमति नहीं दी।

तिब्बती साहित्य और भाषा का अध्ययन जारी रखने के लिए श्चेर्बात्स्की बाइकाल-पार इलाक़े में गये। यहां वे लामाओं से मिले, मठों में गये, यहां बनी रही भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं की उन्होंने खोज की। १६०७ में ओल्देनबुर्ग के नाम अपने पत्र में उन्होंने भारतविदों के लिए इस क्षेत्र की संस्कृति के अध्ययन के महत्त्व पर ख़ास ज़ोर दिया। "यहां, आगा में" (बुर्यातिया का आगा मठ, जहां आज भी धार्मिक अनुष्ठान होते हैं – ले०) "जो कुछ होता है, वह सभवत: उस की पूरी-पूरी नक़ल है, जो सातवीं सदी में नालंदा में होता था। भारत का प्रभाव लोक साहित्य पर भी छा गया है ..., साहित्य के साथ-साथ यहां हम उस जीवन को भी देख सकते हैं, जिसका अनुमान हमें साहित्य से लगाना होता। इस आधार पर हमें न्याय और दर्शन के अलावा कालचक्र और योग प्रणालियों का भी अध्ययन करना है।"

श्चेर्बात्स्की अपने देश में भारत और बौद्ध धर्म के अध्ययन के भविष्य के बारे में भी सोचते थे, वे रूस में इन विषयों के विकास के लिए प्रयत्न करते थे। विज्ञान अकादमी के स्थायी सचिव ओल्देनबुर्ग के नाम पत्र में उन्होंने लिखा : "पता नहीं, शायद मुझमें एक संकीर्ण विशेषज्ञ बोल रहा है, लेकिन मैं सोचता हूं कि इर्कूत्स्क में बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए संस्कृत विभाग खोला जाना नितांत वांछनीय है।" इसी पत्र में श्चेर्बात्स्की ने उस विषय की भी चर्चा की, जो उन्हें सदा उद्विग्न करता था। यह था – भारत की सांस्कृतिक धरोहर का चहुंमुखी अध्ययन, ताकि उन दिनों के वैज्ञानिक जगत में प्रचलित इस पुराने भ्रम को दूर किया जा सके कि प्राचीन यूनान और रोम ही मानवजाति की प्राचीन संस्कृति का एकमात्र जन्म स्थल थे। "सारे बौद्ध साहित्य का विश्लेषण करके हम ऐसी वाङ्मीमांसा बनायेंगे, जो अपेक्षाकृत नई होने के नाते यूनानी-लातिनी वाङ्मीमांसा से अधिक श्रेष्ठ होगी, और हम भारत को यूनान व रोम से ऊंचा उठायेंगे, जिसका उसे पूरा अधिकार है।"

श्चेर्बात्स्की की मंगोलिया और बाइकाल-पार की यात्रा ने उनके सृजन-कार्य में बहुत बड़ी भूमिका अदा की, लेकिन भारत की उनकी १६१० की यात्रा का महत्त्व इससे भी अधिक था। यहां वे साल भर से कम ही रहे, लेकिन इस अल्पावधि में ही बौद्ध दर्शन के इतिहास पर अपने कार्य के लिए अत्यंत मूल्यवान सामग्री जमा कर ली, बौद्ध धर्म की जन्म भूमि में प्राचीन स्मारक देखे, जो वैज्ञानिक समस्याएं उन्हें उद्विग्न कर रही थीं, उन पर नये सिरे से चिंतन-मनन किया। भारत यात्रा की अपनी रिपोर्ट में इस यात्रा के कार्यभारों के बारे में उन्होंने लिखा : "भारत की यात्रा का मेरा ध्येय इस देश से सामान्यत: परिचित होने के अलावा सर्वप्रथम

यह था कि मैं बौद्ध वैज्ञानिक साहित्य के अवशेष स्वयं बौद्ध ग्रथों में भी तथा ब्राह्मण और जैन ग्रथों में भी खोजू, क्योकि इन दूसरे ग्रथों में बौद्ध सभ्यता के इतिहास में बौद्ध उत्कर्ष का युग (५वी-१०वीं सदी ई०) किसी न किसी रूप में प्रतिबिम्बित हुआ है। इसके साथ ही मैं यह भी जानना चाहता था कि स्वयं भारत में संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन की, विशेषत साहित्य की उन शाखाओं के अध्ययन की स्थिति क्या है, जिनकी व्याख्या करने में यूरोपीय विद्वान अब तक असमर्थ रहे हैं और जो उनके लिए कमोबेश रहस्य ही रहे हैं।" भारतविद्या और बौद्ध अध्ययन के क्षेत्र में श्चेर्बात्स्की अब तक अपनी प्रतिष्ठा बना चुके थे, मगर यहां उन्होंने एक तरह से नये सिरे से दार्शनिक ग्रथों के अध्ययन की परम्परागत प्रणाली को देखा, समझा, आत्मसात किया। संस्कृत के अनुपम ज्ञान की बदौलत वे स्थानीय पडितो के साथ विभिन्न दार्शनिक धाराओं और मतों की जटिलतम समस्याओं पर विचार कर सके। उनके शब्दों में, वे प्रभात से संध्या तक वाद-विवाद में ही समय बिताते थे। उन्होंने न्याय और मीमांसा ग्रथों का अध्ययन किया, पांडित्य के सुविख्यात केंद्रों – बनारस, पूना, कलकत्ता, बम्बई, आदि – में गये। अप्रैल १६१० में ओल्देनबुर्ग को लिखे श्चेर्बात्स्की के पत्र से यह साफ़ पता चलता है कि कितनी लगन और अध्यवसाय से उन्होंने संस्कृत का और दार्शनिक शास्त्रों का अध्ययन किया "यूरोप में मै यह समझता था कि मुझे न्याय का बुरा ज्ञान नहीं है, लेकिन यहां आकर देखा कि सब कुछ फिर से सीखना चाहिए, कि मीमांसा के ज्ञान के बिना न्याय का अच्छा ज्ञान पाना असंभव है। मैंने तुरत ही मिथिला के दो पडितों को पकड़ लिया, सच्चे अर्थो में वे शास्त्री हैं, उनमें एक संन्यासी है। उनकी सहायता से न्याय की पूरी शिक्षा पा रहा हूं, वैसे ही जैसे स्वयं शास्त्री पढ़ाते हैं। ये बिल्कुल प्राचीन रूप के सच्चे हिंदू गुरु हैं, बेशक, अंग्रेज़ी का एक शब्द भी ये नहीं जानते। ... मैं यह मानता था कि मेरा प्रमुख ध्येय शास्त्रों का अध्ययन है, भारत-दर्शन गौण ही है, सो अपने शास्त्रियों से पूर्ण लाभ उठाने के लिए मैंने सब कुछ करने का निश्चय किया है। शीघ्र ही चार महीने होने वाले हैं – प्रति दिन १६ घंटे मैं न्याय का अध्ययन कर रहा हूं और अभी भी यह नहीं कह सकता कि इसमें गहरा पैठ रहा हूं।... न्याय पर पुस्तको और हस्तलिखित ग्रथों का अच्छा खासा संग्रह मेरे पास बन गया है।"

अपने शिक्षक मिनायेव के परामर्श पर श्चेर्बात्स्की ने भारत में उन रचनाओ के मूल संस्कृत पाठ ढूंढ़ने की ओर विशेष ध्यान दिया, जिनसे तिब्बती, चीनी और मगोल भाषाओं में अनुवाद किये गये थे। उन्होंने जैन ग्रथो का भी विस्तार से अध्ययन किया, ताकि भारत की धार्मिक-दार्शनिक धाराओं के विकास के सामान्य क्रम का अधिक पूर्ण चित्र पा सकें। श्चेर्बात्स्की ने लिखा कि आर० जी० भडारकर से भेंट में उन्होंने जैन धर्म और दर्शन की समस्याओ पर विचार-विमर्श किया। मिनायेव की ही भांति श्चेर्बात्स्की दार्जिलिंग भी गये, जहां तिब्बती संस्कृति के जानकारों

से मिले और हस्तलिखित तिब्बती ग्रंथ देखे। उन्होंने दलाईलामा से, जिन्होंने उस समय भारत में शरण ली हुई थी, भेंट की और तिब्बत आने का निमंत्रण पाया, ताकि वहां संस्कृत और तिब्बती ग्रंथों का अध्ययन कर सकें, लेकिन चीनी सरकार ने रूसी विद्वान को वहां जाने की अनुमति नहीं दी।

कुल जमा श्चेर्बात्स्की का भारत प्रवास अत्यंत फलप्रद रहा, उन्हें भारतीय दर्शन के इतिहास के बारे में नई जानकारी मिली। वे एक तरह से भारतीय यथार्थ को अंदर से देख और अनुभव कर सके, अपने पहले के दृष्टिकोणों में वे संशोधन और पुनर्विचार कर सके। श्चेर्बात्स्की ने भारत के प्रमुख संस्कृतविदों, दार्शनिकों और बौद्ध धर्म के जानकारों से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लिये, और फिर उनसे पत्र-व्यवहार करते हुए बरसों तक अच्छे संबंध बनाये रखे। संस्कृत का उन्हें अद्भुत ज्ञान था, पंडितों के साथ उन्होंने दार्शनिक सिद्धांतों के जटिलतम प्रश्नों पर संस्कृत में शास्त्रार्थ किया। अपने चहुंमुखी ज्ञान के बल पर उन्होंने भारतीय विद्वानों का गहरा आदर पा लिया। कलकत्ता में पंडितों ने उन्हें तर्कशास्त्र में पांडित्य के लिए "तर्कभूषण" की उपाधि से विभूषित किया।

नये ज्ञान से समृद्ध होकर श्चेर्बात्स्की स्वदेश लौटे और पूरी तरह अपने वैज्ञानिक कार्य में जुट गये। साथ ही विश्वविद्यालय में भारतविद्या संबंधी विषयों का अध्यापन भी वे कर रहे थे।

पहले की ही भांति बौद्ध धर्म व दर्शन उनकी वैज्ञानिक अभिरुचियों का केंद्र था। इस काल में उन्होंने प्रमुखतम बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु के सृजन की ओर विशेष ध्यान दिया, जो परम्परानुसार "द्वितीय बुद्ध" माने जाते थे। बौद्ध अध्ययनों के लिए वसुबंधु के ग्रंथ 'अभिधर्मकोश' के अपार महत्त्व को समझते हुए श्चेर्बात्स्की ने इस ग्रंथ के विभिन्न पाठभेदों के अध्ययन और शोधन हेतु अंतर्राष्ट्रीय परियोजना तैयार करने के लिए क़दम उठाये। ए० स्टेन द्वारा पूर्वी तुर्किस्तान में 'अभिधर्मकोश' के उइगूर पाठभेद की खोज किये जाने के बाद सुप्रसिद्ध फ़्रांसीसी भारतविद एस० लेवी इस पाठभेद पर कार्य करने लगे थे। १९१२ में पेरिस में श्चेर्बात्स्की लेवी से मिले और उनके साथ वसुबंधु के ग्रंथ के अध्ययन के लिए अंतर्राष्ट्रीय परियोजना पर विचार किया। इस कार्य में बेल्जियम के दे ला वाले-पुसें और इंगलैंड के डेनिसन रॉस्स, जिनसे श्चेर्बात्स्की भारत में मिले थे, तथा जापान के वोगिहारा जैसे विद्वान भी शामिल किये गये। इस परियोजना का प्रमुख ध्येय था उन दिनों तक ज्ञात 'अभिधर्मकोश' के सभी पाठभेदों का टीका सहित प्रकाशन करना। "इस तरह रूसी विद्वान की पहलक़दमी पर शुरू किये गये और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर किये जा रहे इस कार्य से बौद्ध दर्शन और बौद्ध धर्म के योजनाबद्ध अध्ययन के लिए सुदृढ़ आधार बना," ओल्देनबुर्ग ने लिखा। यहां यह भी बता दें कि श्चेर्बात्स्की की इन योजनाओं को आजकल सोवियत विद्वान सफलतापूर्वक क्रियान्वित कर रहे हैं। हाल ही में उनके एक शिष्य बोरिस सेमिचोव ने मिखाईल ब्रियान्स्की के साथ मिलकर

'अभिधर्मकोश' का तिब्बती रूपांतर और इसका रूसी अनुवाद प्रकाशित किया है, जबकि लेनिनग्राद के युवा बौद्ध धर्म अध्येता वलेरी रुदोई ने 'अभिधर्मकोश' के मूल संस्कृत पाठ और तिब्बती तथा चीनी अनुवादो के आधार पर इस ग्रंथ के पारि-भाषिक शब्दावली संबंधी विश्लेषण पर शोधप्रबंध लिखा है, जिसका मंडन करने पर उन्हें पी-एच० डी० की डिग्री मिली है।

सोवियत सत्ता की स्थापना के बाद श्चेर्बात्स्की के सृजनात्मक कार्यकलापों का गुणात्मक दृष्टि से नया चरण शुरू हुआ। १९१८ में वे विज्ञान अकादमी के सदस्य (अकादमीशियन) निर्वाचित हुए। ओल्देनबुर्ग के साथ श्चेर्बात्स्की ने सोवियत प्राच्यविद्या के निर्माण में सक्रिय भाग लिया, १९२८ में वे बौद्ध संस्कृति संस्थान के डायरेक्टर नियुक्त हुए। १९२० से बौद्ध धर्म पर श्चेर्बात्स्की के प्रमुख ग्रंथ प्रकाशित होने लगे, वे अपने समय के सबसे बड़े बौद्ध धर्म अध्येता बन गये। श्चेर्बात्स्की को लदन की रायल एशियेटिक सोसाइटी, पेरिस के एशिया समाज, बर्लिन के प्राच्यविद समाज, आदि का मानद सदस्य होने का सम्मान मिला।

श्चेर्बात्स्की ने १९वीं सदी की वैज्ञानिक परम्पराओं में शिक्षा पाई थी, लेकिन वे उनके ही बंदी नहीं बने रहे। उन्होंने अपने सृजनात्मक कार्य में उन वैज्ञानिक खोजों को भी प्रतिबिम्बित किया, जो बीसवीं सदी का तीसरा दशक अपने साथ लाया था। उन्होंने न केवल दर्शन के अद्वितीय ज्ञान का परिचय दिया, बल्कि मनो-विज्ञान, तर्कशास्त्र और परिशुद्ध विज्ञानों के क्षेत्र में नई प्रवृत्तियों में भी गहरी रुचि दिखाई। इसके फलस्वरूप उनका उन यूरोपीय और भारतीय विद्वानों जैसा हश्र नही हुआ, जो परम्परागत रुख के बंधनों को नहीं तोड़ सके थे। श्चेर्बात्स्की ने भारतीय दर्शन और तर्कशास्त्र के विकास को विश्व दर्शन के दृष्टिकोण से, २०वीं सदी के मानव की नज़रों से देखा, बौद्ध चिंतन की जटिल प्रणाली को यूरोपीय विद्या की परिचित भाषा में रूपांतरित किया। इस प्रकार यह एक नया दृष्टिकोण, नया रुख था, जो न तो भारतीय जगत और उसके दर्शन को पश्चिम के विरुद्ध रखने के और न ही उन्हें कृत्रिम से निकट लाने के विचार से प्रेरित था।

श्चेर्बात्स्की बौद्ध दर्शन और न्यायशास्त्र के अध्ययन के प्रति यह नया रुख अपनाने वाले संसार के पहले अध्येताओं में थे। वे बौद्ध धर्म का एक व्यापक ऐतिहासिक-सास्कृतिक परिघटना के रूप में अध्ययन करने को बहुत महत्त्वपूर्ण समझते थे, ऐसी परिघटना के रूप में, जो अपनी मौलिकता में अद्वितीय थी, बहुमुखी और जटिल थी, जिसका एशिया के अनेक जनगण के विकास पर अपार प्रभाव पड़ा। उनके शब्दों में, बौद्ध धर्म "अपने साथ भारतीय विद्या की दस शताब्दियों की सभी उपलब्धियां लिये था, इनमें भारतीय विद्या के स्वर्ण युग की वे तीन शताब्दियां भी थीं, जब भारत में विज्ञान, साहित्य और शिल्पों का पूरब के तब तक के इतिहास में अभूतपूर्व विकास हुआ था।"

श्चेर्बात्स्की के लिए बौद्ध शिक्षा केवल नैतिक, धार्मिक या दार्शनिक शिक्षा नहीं थी, ऐसी शिक्षा नहीं थी, जो अपने इतिहास के विभिन्न चरणों में और विभिन्न देशों में सदा एक-सी और जड़ रही। श्चेर्बात्स्की इस बात पर ज़ोर देते थे कि बौद्ध शिक्षा का, उसके प्रवर्गों और विचारों का निरंतर विकास होता रहा, कि उसकी प्रत्येक शाखा, मत और सम्प्रदाय की अपनी विशिष्टता थी। साथ ही बौद्ध धर्म में कुछ ऐसे निश्चित विचार भी फैले थे, जो उसके सभी रूपों में एक समान हैं। उन्होंने लिखा: "इन समान आधारों को न देखकर कुछ पल्लवग्राही प्रेक्षकों ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि उत्तरी देशों में बौद्ध धर्म का 'अपकर्ष' हुआ और यहां यह बिल्कुल दूसरा ही धर्म बन गया है।" इसलिए वे यह आग्रह करते थे कि "बौद्ध धर्म में और उन विभिन्न सिद्धांतों में, जो अपनी भावना में बौद्ध धर्म के लिए पराये हैं, उन रहस्यवादी और यहां तक कि बर्बर सिद्धांतों में, जो समय के साथ बौद्ध धर्म के सम्पर्क मे आते रहे और उसमें जुड़ते रहे, भेद करना चाहिए।"

श्चेर्बात्स्की की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि वे बौद्ध धर्म को बाहर से या अनेक पश्चिमी अध्येताओं की भांति ईसाई विचारधारा के दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि अंदर से, स्वयं बौद्ध परम्परा के अंतर्गत बनी प्रणालियों को आधार बनाकर ही देखने की चेष्टा करते थे। यह अकारण ही नहीं कि पूरब और पश्चिम के अनेक विद्वान श्चेर्बात्स्की को बौद्ध धर्म का महान अध्येता ही नहीं, बल्कि स्वयं बौद्ध दर्शन के इतिहास में भी एक बहुत बड़ी हस्ती मानते हैं।

बीसवीं सदी के आरंभ में भी यूरोप के विद्वज्जगत में बौद्ध धर्म को ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा एक गौण परिघटना माना जाता था। श्चेर्बात्स्की ने इस परम्परागत और भ्रांतिपूर्ण दृष्टिकोण को आमूल बदला। "हम गहरे संतोष के साथ यह कह सकते हैं कि फ्योदोर श्चेर्बात्स्की की बौद्ध दर्शन संबंधी रचनाओं का प्रभाव उनके शिक्षकों प्रो० ब्यूलर और प्रो० जैकोबी पर भी पड़ा है। इसमे कोई संदेह नहीं कि श्चेर्बात्स्की ने जो नई वैज्ञानिक सामग्री खोजकर उस पर शोधकार्य किया, उसके प्रभाव से उनके शिक्षकों ने बौद्ध धर्म को भारतीय संस्कृति में एक गौण परिघटना मानने का अपना 'ब्राह्मणवादी' रुख काफ़ी हद तक बदल डाला। उन्हें और दूसरे भारतविदों को यह मानना पड़ा कि भारतीय संस्कृति में, उसके दर्शन में बौद्ध धर्म ने अद्वितीय स्थान ग्रहण किया और बौद्ध धर्म के बाद ब्राह्मण दर्शन दूसरा ही हो गया – उस पर बौद्ध धर्म का इतना गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा," सुविख्यात सोवियत प्राच्यविद अकादमीशियन सेर्गेई ओल्देनबुर्ग, पावेल कोकोव्त्सेव, निकोलाई मार्र और वसीली बर्तोल्द ने लिखा।

श्चेर्बात्स्की के लिए बौद्ध धर्म के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य भारतीय संस्कृति की गहरी समझ पाना था। किंतु यह किताबी विद्वान जैसी कोरी पंडिताऊ दिलचस्पी नहीं थी, बल्कि सोवियत संघ में भारतविद्या को नये स्तर पर उठाने का, दोनों देशों के जनगण के बीच मैत्री और सहयोग सुदृढ़ करने का सामाजिक उत्साह था,

उद्यम था। श्चेर्बात्स्की ने लिखा : "बौद्ध धर्म के ज़रिए भारत बाइकाल से वोल्गा के मुहाने तक हमारी सारी एशियाई सीमा पर हमारा पड़ोसी बन जाता है।" वे विश्व सभ्यता में भारत के योगदान पर ज़ोर देते थे। "इसकी उपलब्धियां खगोलविद्या, गणित, आयुर्वेद के क्षेत्र में महान हैं, विधिशास्त्र के क्षेत्र में विलक्षण हैं, काव्य के क्षेत्र में विमुग्धकारी हैं, काव्यात्मक सृजन के क्षेत्र में अद्वितीय हैं, लेकिन उनका उच्चतम शिखर दर्शन और धर्म के क्षेत्र में ही दिखायी देगा।"

श्चेर्बात्स्की की आकार में छोटी सी, किंतु अत्यंत मूल्यवान पुस्तक 'बौद्ध धर्म की केंद्रीय अवधारणा "धर्म" और इस शब्द का अर्थ' (अंग्रेज़ी में) उनके सृजनात्मक जीवन में भी और संसार में बौद्ध अध्ययन के विकास में भी एक असाधारणतः महत्त्वपूर्ण घटना बनी। श्चेर्बात्स्की ने लिखा : "धर्म की अवधारणा ही बौद्ध शिक्षा का केंद्रबिंदु है।"

बौद्ध धर्म के यूरोपीय अध्येता केवल दक्षिणी परम्परा के सहारे, आरंभिक पाली सिद्धांत ग्रंथों के आधार पर, बुद्ध को मात्र नैतिकतावादी मानते हुए इस अवधारणा के अंतर्य विषयक प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ रहे थे। धर्म का दार्शनिक पहलू, अस्तित्व के तत्त्व के रूप में उसका महत्त्व उनके दृष्टि-क्षेत्र से बाहर रह गया था। ऐसा एकतरफ़ा दृष्टिकोण बौद्ध धर्म का विकृत चित्र प्रस्तुत करता था, यह जटिल बहुरूपी प्रणाली एक ऐसी सीधी-सादी धार्मिक-नैतिक और सांप्रदायिक शिक्षा तक सीमित होकर रह जाती थी, जिसका दार्शनिक अंतर्य केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही रोचक हो सकता है। श्चेर्बात्स्की ने सर्वास्तिवादी संप्रदाय के विचारक वसुबंधु की रचना 'अभिधर्मकोश' का विस्तार से अध्ययन किया। यह अकारण ही नहीं कि वे इस संप्रदाय के ग्रंथों की ओर उन्मुख हुए। उनके शब्दों में, "यह संप्रदाय बौद्ध संप्रदायों में सबसे पहला नहीं तो सबसे पहलों में से एक है।" "इस धारा के दृष्टिकोणों का विषय-सार प्रस्तुत करके हम इस शब्द (धर्म) के वास्तविक अर्थों का अनुशीलन करने का सर्वश्रेष्ठ अवसर पाते हैं," श्चेर्बात्स्की ने लिखा। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि धर्मों को अस्तित्व के अंगों का, जो बौद्धों के लिए एकमात्र यथार्थ हैं, पर्याय ही माना जाना चाहिए। बौद्धों के लिए जीवन की सभी प्रक्रियाएं, जिनमें आत्मा की अवस्थाएं भी आती हैं, धर्म ही हैं। इसके साथ ही वे ब्राह्मण दर्शन में आत्मा की जो अवधारणा है, उसे पूर्णतः नकारते हैं।

श्चेर्बात्स्की ने अपने शोधकार्य में यह दिखाया कि धर्म की ऐसी समझ सारी बौद्ध शिक्षा का लक्षण है, हालांकि आरंभिक शिक्षा में प्रायः नैतिक सिद्धांत, नैतिक दायित्व के अर्थ में भी धर्म शब्द का प्रयोग होता था। हीनयान और महायान के सभी संप्रदायों में, विशेषतः उत्तर काल में, इस सिद्धांत की गवेषणा की गई और धर्म को अस्तित्व के अंगों के रूप में ही देखा गया। "इस अवधारणा के प्रकाश में बौद्ध धर्म एक अधिभूतवादी सिद्धांत के रूप में प्रकट होता है, जो एक मूलभूत

विचार से विकसित हुआ, इस विचार से कि सत्त्व (अस्तित्व) भूतद्रव्य, आत्मा और शक्तियों के सूक्ष्म, पूर्ण और अंतिम तत्त्वों की अन्योन्यक्रिया है।"

इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद बीते छह दशकों में निस्संदेह बौद्ध धर्म की उत्तरी और दक्षिणी शाखाओं के विभिन्न संप्रदायों के इतिहास और सिद्धांतों को हम अधिक अच्छी तरह समझने लगे हैं, लेकिन श्चेर्बात्स्की के मूल निष्कर्षों का महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ है। नये अनुसंधानों से बौद्ध दर्शन के क्षेत्र में श्चेर्बात्स्की की गवेषणाओं की गहनता की पुष्टि ही हुई है, यह सिद्ध हुआ है कि इस शिक्षा के प्रमुख प्रवर्गों, इतिहास और भाग्य के बारे में उनके निष्कर्ष सही थे।

बौद्ध धर्म के अध्ययन में श्चेर्बात्स्की के कार्य का अगला महत्त्वपूर्ण चरण था निर्वाण की समस्या का अनुशीलन। इस कार्य के बारे में जर्मन जनवादी जनतंत्र के लब्धप्रतिष्ठ भारतविद वाल्टर रूबेन का यह कहना सर्वथा सही है कि यह कार्य "यूरोपीय या भारतीय विद्वानों में से कोई भी नहीं कर सकता था।" बात यह है कि दीर्घ काल से बौद्ध धर्म के अध्ययन के बावजूद अध्येता बौद्ध धर्म के इस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रवर्ग के बारे में किसी न्यूनाधिक स्पष्ट निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाये थे। ऐसा दृष्टिकोण भी व्याप्त था कि निर्वाण की व्याख्या करना असंभव है। उदाहरणतः, लुई दे ला वाले-पुसें ने लिखाः "बौद्ध निर्वाण की अवधारणा हमारे प्रवर्गों से परे है।" भारतीय विद्वान एन० दत्त ने इससे भी अधिक चरम रुख धारण किया। उनका कहना था कि "इस शब्द का अर्थ ढूंढ़ने का प्रयास ही व्यर्थ है।"

१९२७ में श्चेर्बात्स्की की पुस्तक 'बौद्ध निर्वाण की अवधारणा' (अंग्रेज़ी में) प्रकाशित हुई। श्चेर्बात्स्की ने ही सबसे पहले निर्वाण की दार्शनिक व्याख्या की और यह देखा कि बौद्ध धर्म के इतिहास के विभिन्न कालों में और हीनयान व महायान के विभिन्न संप्रदायों द्वारा निरूपण के दौरान इस अवधारणा में काफ़ी परिवर्तन आये हैं। नागार्जुन की 'माध्यमिक-कारिका' और चंद्रकीर्ति की टीका के आधार पर श्चेर्बात्स्की ने महायान में निर्वाण की अवधारणा को सुसंगत और स्पष्ट रूप से उजागर किया और हीनयान में इसकी व्याख्या से भेद भी दिखाया। अपने अनेक पूर्ववर्तियों के विपरीत, जिनकी रुचि निर्वाण की शिक्षा के केवल नैतिक पहलू में ही थी, जो बौद्ध धर्म के विकास के आरंभिक चरण को प्रतिबिम्बित करता था, श्चेर्बात्स्की ने इस प्रवर्ग के दार्शनिक पक्ष की ओर ध्यान दिया और इसके फलस्वरूप वे पूर्ण प्रणाली की विशिष्टताओं के मूल्यांकन में भिन्न रुख अपना सके।

उन्होंने यह दिखाया कि निर्वाण के सिद्धांत का निरूपण बौद्ध धर्म के उदय काल की अपेक्षा बहुत बाद के काल में हुआ और यह नागार्जुन व उनके शिष्यों की महायान धारा से संबंधित है। इसलिए आदि बौद्ध धर्म में निर्वाण की अवधारणा का अर्थ और सार उत्तर बौद्ध धर्म से बहुत भिन्न है। इस पुस्तक में श्चेर्बात्स्की ने बौद्ध धर्म को एक निरंतर परिवर्तनशील शिक्षा के रूप में दिखाया, जिसमें एक ही प्रणाली के अंतर्गत प्रायः परस्परविरोधी प्रवर्ग और विचार पाये जाते हैं।

यहां उन्होंने उन विद्वानों का (सर्वप्रथम लुई दे ला वाले-पुसे और अंग्रेज़ संस्कृत-विद आर्थर कीथ का) विरोध किया, जो निर्वाण को "अभिचार से उत्पन्न विश्वास और योग द्वारा प्राप्त आनंदमय अवस्था" मानते थे। श्चेर्बात्स्की उन दिनों प्रचलित इस विचार के भी दृढ़ विरोधी थे कि रहस्यवाद बौद्ध दर्शन समेत सारे ही भारतीय दर्शन का प्रमुख लक्षण है। उन्होंने लिखा, "जैसे यूरोपीय बुद्धि रहस्यवाद से पूर्णतः और सदा स्वतंत्र नहीं है, ठीक वैसे ही भारतीय बुद्धि अनिवार्यतः उससे ग्रस्त नहीं है।" अपनी अन्य रचनाओं की भांति इसमें भी श्चेर्बात्स्की ने उन पश्चिमी यूरोपीय विद्वानों की कटु आलोचना की, जो भारतीय दर्शन को दार्शनिक चिंतन के विकास के सामान्य क्रम के विपरीत रखते थे, यह मानते थे कि यूरोपीय दर्शन के साथ उसकी तुलना नहीं की जा सकती, यह कहते थे कि भारतीयों का चिंतन अलग ही है। श्चेर्बात्स्की ने लिखा : "कुछ विद्वान हताश होकर यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि भारत की धार्मिक और दार्शनिक चिंतन की प्रणाली यूरोप से बिल्कुल अलग ही है, कि उस पर सुस्पष्ट रूप से निरूपित तर्क-धारा लागू नहीं होती और वह सदा ऐसी अमूर्त कल्पनाओं से परिपूर्ण है, जिनकी सार्थकता के बारे में स्वयं रचना-कार भी आश्वस्त नहीं।"

श्चेर्बात्स्की उन पहले विद्वानों में से थे, जिन्होंने पूरी महायान शाखा के सिद्धांत का सार उघाड़ा और महायान के संप्रदायों के गठन के दौरान बौद्ध धर्म में आये परिवर्तन इंगित किये। "कभी भी पूर्णतः यह नहीं समझा गया है कि ईसवी संवत् की पहली शताब्दियों में वह नई भावना, जो तब तक गुप्तावस्था में थी, जब अपने पूर्ण वैभव के साथ प्रकट हुई, तो बौद्ध धर्म में कैसा आमूल क्रांतिकारी परिवर्तन आया," उन्होंने लिखा। नागार्जुन के सापेक्षतावाद ("प्रतीत्यभाव") की बदौलत "आदि बौद्ध धर्म के सारे भवन की नींव खोखली हो गई, वह ढह गया। हीनयानियों का निर्वाण, उनके बुद्ध, उनकी सत्तामीमांसा और नैतिक दर्शन, यथार्थ और कार्य-कारण की उनकी अवधारणा का परित्याग कर दिया गया।"

यह बात भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि श्चेर्बात्स्की बौद्ध शिक्षा के विकास को एक पृथक प्रक्रिया के रूप में नहीं देखते थे। वे हीनयान के बहुलवाद से महायान के एक-वाद की ओर, जिसमें बुद्ध को ही परम सत्त्व माना गया, संक्रमण के मूल सारतत्व को समझने में सफल रहे। नागार्जुन के सिद्धांत का सार समझकर श्चेर्बात्स्की ने यह दिखाया कि "हीनयान का परम सत्त्व वैसा ही सापेक्षिक हो जाता है, जैसे कि इस प्रणाली के अन्य सभी सत्त्व।"

पुस्तक में नागार्जुन की रचना 'माध्यमिक-कारिका' के पहले और तीसवें अध्याय का तथा चंद्रकीर्ति की टीका 'प्रसन्नपदा' का अनुवाद भी दिया गया था। इन रचनाओं को श्चेर्बात्स्की "महायान की आधारशिला" मानते थे।

श्चेर्बात्स्की के जीवन काल में इतने उग्र रूप से होता रहा निर्वाण पर वाद-विवाद आज भी समाप्त नहीं हुआ है, बल्कि यह अधिक उग्र ही हुआ है और बौद्ध

धर्म के अध्ययन के विकास से निर्वाण के बारे में श्चेर्बात्स्की के निष्कर्षों की कुल जमा पुष्टि ही करता है। उल्लेखनीय है कि १९५७ में इस पुस्तक का जापानी भाषा में अनुवाद किया गया।

बौद्ध दर्शन और न्यायशास्त्र पर वर्षों के शोधकार्य के परिणामस्वरूप श्चेर्बात्स्की ने दो खण्डों का ग्रंथ 'बौद्ध न्यायशास्त्र' तैयार किया। १९३०-१९३२ में यह ग्रंथ छपा। धर्मेंद्रनाथ शास्त्री के शब्दों में, यह "पिछले २५० वर्षों में भारतीय दर्शन की महानतम रचना है"। सुप्रसिद्ध ब्रिटिश अध्येता ए० कोंज़े ने भी, 'बौद्ध न्याय शास्त्र' को "सर्वोच्च कोटि की रचना" कहा था।

अपने इस ग्रंथ में श्चेर्बात्स्की ने बौद्ध धर्म और बौद्ध दार्शनिक चिंतन के इतिहास में तीन काल इंगित किये: पहला – पांचवी सदी ई० पू० से ईसवी संवत् के आरंभ तक, दूसरा – महायान के प्रसार का काल (पांचवी-छठी ई० तक) और तीसरा काल, जो असंग, वसुबंधु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति से संबंधित है। आज भी संसार भर में बौद्ध धर्म के अनेक अध्येता इस कालानुक्रम को मानते हैं। श्चेर्बात्स्की ने इन तीनों कालों का विवरण दिया, लेकिन मुख्यत: दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के दृष्टिकोणों की ओर ही ध्यान दिया। "न्याय की ओर तीव्र रुचि ही, जिसने इस काल के अंत तक वस्तुत: बौद्ध सिद्धांत के अन्य सभी पहलुओं को पृष्ठभूमि में धकेल दिया, बौद्ध दर्शन के इतिहास के तीसरे काल की प्रथम लाक्षणिक विशिष्टता है।" उनका यह निष्कर्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण था कि "बौद्ध न्यायशास्त्र प्रणाली को तर्कशास्त्र की ज्ञानमीमांसात्मक प्रणाली कहा जा सकता है।"

इस ग्रंथ की रचना में श्चेर्बात्स्की ने अनेक स्रोतों का उपयोग किया। उन्होंने लिखा: "पहले जहां 'न्यायबिंदु' ही हमारा एकमात्र स्रोत था, वहीं अब इस विषय में हमारा ज्ञान बहुत अधिक बढ़ गया है। अब 'न्यायबिंदु' अज्ञात जगत में एकाकी शिला नहीं है।"

श्चेर्बात्स्की ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के सप्रदाय की शिक्षा के सभी पहलुओं (अधिभूतवाद, ज्ञानमीमांसा, तर्कशास्त्र) पर बौद्ध और अ-बौद्ध भारतीय दर्शन के विभिन्न मतों के विकास की पृष्ठभूमि में विचार किया। उन्होंने भारतीय दर्शन की सभी महत्त्वपूर्ण धाराओं और मतों (भौतिकवाद, सांख्य, योग, वेदांत, मीमांसा, न्याय-वैशेषिक, जैन, इत्यादि) का आलोचनात्मक सिंहावलोकन किया, लेकिन ख़ास ध्यान योगाचारों और न्याय-वैशेषिकों के विवाद की ओर दिया। उनकी रुचि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की तर्क धारा के मूल में, भारतीय दर्शन के विकास के इतिहास में थी। श्चेर्बात्स्की ने न केवल बौद्ध धर्म के और बौद्ध दार्शनिक ग्रंथों के, बल्कि सारे भारतीय दर्शन के अनुपम ज्ञान का परिचय दिया। उनके ज्ञान की गहराई और व्यापकता पर विस्मय-विमुग्ध हुए बिना नहीं रहा जा सकता। जैसा कि धर्मेंद्रनाथ शास्त्री ने लिखा है: "यद्यपि पश्चिमी विद्वानों ने बौद्ध शिक्षा के धार्मिक पहलू पर और बौद्ध पाली साहित्य पर विराट कार्य किया है और दे ला वाले-पुसें,

सिल्वेन लेवी, प्रो० और श्रीमती रीस डेविड्स जैसे विद्वानों ने बौद्ध अधिभूतवाद पर अमूल्य योगदान किया है, तथापि श्चेर्बात्स्की का भारतीय दर्शन के इतिहास में विशिष्ट स्थान है – न केवल दिङ्नाग मत के शोधकर्त्ता के नाते, बल्कि बौद्ध अधिभूतवाद की दूसरी शाखाओं के जानकार और व्याख्याकार के नाते भी। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि एक भी पश्चिमी विद्वान को और भारतीय विद्वान को भी न्याय-वैशेषिक दर्शन का इतना पूर्ण और परिष्कृत ज्ञान नहीं था, जितना श्चेर्बात्स्की को।'' बौद्ध दर्शन और न्यायशास्त्र के अध्ययन मे श्चेर्बात्स्की का ऐतिहासिक दृष्टि-कोण नितांत महत्त्वपूर्ण था, उनका मूल्यांकन वे ऐतिहासिक विकास के नियमों के आधार पर करते थे। उन्होंने लिखा: ''बौद्ध तर्कशास्त्र दर्शन के इतिहास के लंबे विकास के चरम बिंदु के रूप में प्रकट होता है। इसका उद्‌भव, उत्कर्ष और पतन भारतीय सभ्यता के उद्‌भव, उत्कर्ष और पतन के समांतर ही है।''

अपनी पहले की रचनाओं की भांति इस ग्रंथ में भी श्चेर्बात्स्की ने भारतीय और यूरोपीय दर्शन के सहसंबंध का महत्त्वपूर्ण प्रश्न प्रतिपादित किया, उनके विकास मे समानताएं और भिन्नताएं इंगित करने की चेष्टा की। उन्होंने लिखा: ''इस ग्रंथ में मैंने मूल स्रोतों के आधार पर भारतीय तर्कशास्त्र का, जैसा वह उसकी प्रमुख बौद्ध शाखा में मिलता है, अध्ययन किया है और ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसका सुव्यवस्थित चित्र प्रस्तुत करने की भी चेष्टा की है। मैंने अपरिचित भारतीय सिद्धांतों को वैषम्य द्वारा, तत्संबंधी यूरोपीय सिद्धांतों के साथ उनकी समानता और भेद दर्शाते हुए बोधगम्य बनाने का प्रयास किया है।'' श्चेर्बात्स्की ने इस ग्रंथ में एक मौलिक युक्ति का उपयोग किया, उन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन यूरोपीय तथा भारतीय दार्शनिकों के मुंह से तर्क-वितर्क कहलवाये। पुस्तक में पार्मेनिडस, डेमोक्रीटस, एपिकूरस, लुक्रेशियस, स्पिनोज़ा, कांट, हेगेल, नागार्जुन, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, वसुबंधु, कमलशील और जैन चिंतक मुख्य प्रश्नों पर अपने विचार व्यक्त करते हैं।

श्चेर्बात्स्की का मूल निष्कर्ष यही दिखाता है कि सभी समानताओं के बावजूद बौद्ध न्यायशास्त्र ''तर्कशास्त्र ही है, लेकिन अरस्तू का तर्कशास्त्र नहीं। यह संज्ञान सिद्धांत से संबंधित है, लेकिन कांट का तर्कशास्त्र नहीं है।''

कालांतर में 'मध्यांत-विभंग' के प्रकाशन की अपनी भूमिका में भारतीय दर्शन की मौलिकता की चर्चा करते हुए श्चेर्बात्स्की ने एक बार फिर भारतीय और यूरोपीय दर्शन के विकास के आधारभूत लक्षणों की समानता पर बल दिया। उन्होंने लिखा: ''मेरे विचार में भारतीय दर्शन विकास के बहुत ऊंचे स्तर पर उठा और इस विकास की प्रमुख रेखाएं उन रेखाओं के समांतर ही हैं, जो हम यूरोपीय दर्शन में पाते हैं।''

बौद्ध न्यायशास्त्र पर श्चेर्बात्स्की के ग्रंथ का प्रकाशन संसार भर में बौद्ध धर्म के अध्ययन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना बन गया। यद्यपि श्चेर्बात्स्की से पहले भी विद्वान न्यायशास्त्र की रचनाओं में दिलचस्पी लेते रहे थे (रूस में श्चेर्बात्स्की

के शिक्षक वसील्येव, पश्चिमी यूरोप में लेवी और दे ला वाले-पुसें, भारतीय विद्वानों में सतीशचन्द्र विद्याभूषण का सबसे बड़ा योगदान है), तथापि श्चेर्बात्स्की का ग्रंथ ऐतिहासिक, दार्शनिक और पाठ-विश्लेषण के सिद्धांततः नये, अधिक ऊंचे स्तर पर लिखा गया था, उनके निष्कर्ष अधिक साधार और महत्त्वपूर्ण थे, और अध्ययनाधीन सामग्री अधिक व्यापक व विविधतापूर्ण। धर्मेंद्रनाथ शास्त्री लिखते हैं: "श्चेर्बात्स्की की रचनाएं पढ़ते हुए भारतीय दार्शनिक मतों के उनके ज्ञान तथा उनकी तीव्र आलोचनात्मक अंतःदृष्टि पर विस्मय होता है ... लेनिनग्राद के स्व० प्रोफ़ेसर श्चेर्बात्स्की का 'बौद्ध न्यायशास्त्र' विलक्षण ग्रंथ सिद्ध हुआ है। इसने संसार को न केवल दिङ्नाग के दार्शनिक मत के अभी तक अज्ञात अमूल्य रत्नों से परिचित कराया, बल्कि उद्योतकर, वाचस्पतिमिश्र, जयंत, श्रीधर, उदयन, आदि रचनाकारों की मूल कृतियों के आलोचनात्मक अध्ययन का उदाहरण भी प्रस्तुत किया।"

संस्कृत और तिब्बती भाषाओं के प्रतिभाशाली जानकार, अनुभवी पाठ-विश्लेषण-कर्त्ता और मर्मज्ञ अनुवादक श्चेर्बात्स्की ने बौद्ध संस्कृति के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन करके बौद्ध धर्म के अध्ययन में अमूल्य योगदान किया। उनके द्वारा प्रकाशित संस्कृत और तिब्बती ग्रंथ इस बात के साक्षी हैं कि उन्होंने कितना विराट कार्य किया।

बरसों तक श्चेर्बात्स्की ने वसुबंधु के 'अभिधर्मकोश' का अध्ययन किया और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस कार्य में कई जाने-माने विदेशी विद्वानों को भी शामिल किया। इस सृजनात्मक सहयोग के अद्वितीय परिणाम हुए। श्चेर्बात्स्की ने 'अभिधर्मकोश' के तिब्बती अनुवाद छपवाये, इस ग्रंथ पर यशोमित्र की टीका के प्रथम भाग का लेवी के साथ मिलकर और द्वितीय भाग का वोगिहारा के साथ मिलकर प्रकाशन किया। इन प्रकाशनों की बदौलत बौद्ध धर्म के अध्येता कतिपय नई मूलभूत समस्याओं के अनुशीलन में रत हो सके। ओल्देनबुर्ग के शब्दों में, "श्चेर्बात्स्की और उनके साथियों द्वारा क्रियान्वित योजना के साथ ही बौद्ध धर्म का प्रणालीबद्ध और योजनाबद्ध अध्ययन शुरू हुआ।"

श्चेर्बात्स्की संसार के उन पहले बौद्ध धर्म अध्येताओं मे थे, जिन्होंने प्रज्ञापारमिता विषयक साहित्य का अध्ययन आरंभ किया। अपने शिष्य येव्गेनी ओबेरमिल्लेर के साथ उन्होंने योगाचार मत के प्रमुख ग्रंथ 'अभिसमयालंकार-प्रज्ञापारमिता-उपदेश-शास्त्र' के, जो मैत्रेय द्वारा रचित माना जाता है, संस्कृत और तिब्बती पाठ तथा उनके अनुवाद प्रकाशित किये। यह ग्रंथ एक तरह से प्रज्ञापारमिता के मूल ग्रंथ की टीका था। इससे इस सारी शिक्षा के मूलभूत सिद्धांत समझने में मदद मिली।

योगाचारों के सिद्धांत में रुचि का ही परिणाम था परम सत्त्व के बारे में एक नितांत विलक्षण रचना 'मध्यांत-विभंग' का अनुवाद। इस रचना में बौद्ध शिक्षा की प्रमुख अवधारणाओं की व्याख्या में योगाचारों और माध्यमिकों के बीच मतभेदों पर प्रकाश डाला गया है।

श्चेर्बात्स्की और ओबेरमिल्लेर के बाद बौद्ध धर्म के अध्येता प्रज्ञापारमिता विषयक साहित्य मे गंभीर रुचि लेने लगे, जो उत्तर महायान संप्रदायों की शिक्षा में आये परिवर्तनो को समझने के लिए इतना आवश्यक था।

एक और रचना के, जो नागार्जुन की रची हुई मानी जाती है, मूल संस्कृत पाठ और तिब्बती अनुवाद का भी प्रकाशन श्चेर्बात्स्की ने किया। यह रचना है– 'ईश्वरकर्तृत्वनिराकरण विष्णोःएककर्तृत्वनिराकरण'।

अनुवादों में भारतीय और तिब्बती दार्शनिक रचनाओं की कठिनतम अवधारणाओं को अभिव्यक्त करने के काम के प्रति श्चेर्बात्स्की का रुख विशिष्ट था। वे यह चेष्टा नही करते थे कि शब्दों का अनुवाद अक्षरशः सही हो, बल्कि इस बात का प्रयत्न करते थे कि मूल का भावार्थ अनुवाद में पूर्ण रूप से आये। इस काम में उन्हें गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा–उन्हें उन मूल पाठों को, जिनके अंतर्य को यूरोप में बौद्ध धर्म के अध्येता अनेक दशकों से बूझ नहीं पाये थे, सही-सही समझना था। उन्होंने लिखा: "अनुवाद का काम ऐसे भयभीत करता था, जैसे कि घोर अंधकार में कुछ खोज रहे हों। बेशक, इसका कारण उन विचारों से तथा उनके विशिष्ट अर्थों से अपर्याप्त परिचय था, जो एक बौद्ध के लिए उसके अभ्यासजन्य स्वभाव का अंग होते हैं।"

श्चेर्बात्स्की के अनेक अनुवाद और प्रकाशन 'बौद्ध पुस्तकमाला' में प्रकट हुए। ओल्देनबुर्ग के साथ वे इस विश्वविख्यात पुस्तकमाला के संस्थापकों में से एक थे।

श्चेर्बात्स्की ने भारतविद्या के दूसरे क्षेत्रों में भी काम किया। उन्होंने दंडी के 'दशकुमारचरित' का रूसी में अनुवाद किया और 'अर्थशास्त्र' के कुछ अध्यायों का भी। इस दूसरे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का अध्ययन और अनुवाद करने के लिए बनाये गये दल के वे संचालक थे। श्चेर्बात्स्की के काग़ज़ात में वरदराज के व्याकरण 'लघु-सिद्धांत-कौमुदी' का अनुवाद भी मिला है। उन्होंने 'प्राचीन भारत की वैज्ञानिक उपलब्धियां' शीर्षक से एक अत्यंत रोचक लेखक १९२४ में लिखा था। इसमें विभिन्न विद्याओं के विकास में भारतीयों की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का सिंहावलोकन किया गया और प्राचीन भारतीय संस्कृति के स्वरूप के बारे में विचार प्रकट किये गये। श्चेर्बात्स्की ने दर्शन का विशेष विकास इंगित किया और उसके चहुंमुखी अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने लिखा: "भारतीय विद्या का सबसे सशक्त पहलू उसका दर्शन ही है। इस क्षेत्र की पूरी जानकारी पाना अभी बहुत दूर की बात है। यहां तक कहा जा सकता है कि भारतीय दार्शनिक चिंतन की अथाह सम्पदा पर पड़े पर्दे का एक कोना ही उठाया गया है।" श्चेर्बात्स्की ने विश्वोत्पत्ति विषयक विभिन्न प्रणालियों का विश्लेषण किया, जो क्रमशः "मिथकी अवधारणाओं से मौलिक वैज्ञानिक अवधारणाओं की ओर संक्रमित होती हैं।" सांख्य दर्शन को उन्होंने वैज्ञानिक प्रणाली माना और विश्व की संरचना के बारे में उसके चिंतकों के प्रमुख

विचारों का वर्णन किया। श्चेर्बात्स्की ने सांख्य दर्शन में भौतिकवादी तत्वों पर विशेषतः बल दिया, इस दर्शन के अनुसार "क्रमविकास की सारी जटिल प्रक्रिया भूतद्रव्य स्वयं अपनी शक्ति से करता है, बाहर से किसी चेतन शक्ति के हस्तक्षेप या संचालन के बिना ही।" प्राचीन भारतीयों के अणु-सिद्धांतों की ओर उनका ध्यान विशेषतः आकर्षित हुआ। उन्होंने वैशेषिकों की प्रणाली पर भी बारीकी से ग़ौर किया, जिसमें अणुवाद का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है, और जैनों व बौद्धों के अणुवाद का भी सविस्तार अध्ययन किया। इस लेख में प्राचीन भारत में आयुर्वेद, रसायन, वनस्पतिशास्त्र, गणित और खगोलविद्या के विकास के बारे में भी रोचक जानकारी दी गई है। श्चेर्बात्स्की ने भारतीय मनीषियों की ऐसी कई महत्त्वपूर्ण खोजें इंगित कीं, जिनमें कई मामलों में उन निष्कर्षों का पूर्वाभास था, जिन पर यूरोपीय विद्वान आधुनिक युग में ही पहुंचे। उन्होंने लिखा: "गणित के क्षेत्र में भारतीयों की उपलब्धियां समस्त विश्व में सर्वोच्च हैं।"

१९२७ में प्रकाशित श्चेर्बात्स्की के लेख 'भारत में भौतिकवाद का इतिहास' का वैज्ञानिक महत्त्व आज तक बना हुआ है। यह इस विषय पर सोवियत भारतविद का पहला लेख था और इससे इस प्रश्न पर आगे कार्य की नींव पड़ी। श्चेर्बात्स्की ने लिखा: "अन्य सभी भारतीय शिक्षाओं की भांति भारतीय भौतिकवाद भी एक निश्चित संप्रदाय की थाती था, जो इसकी परम्पराओं को बनाये रखता था, इसकी शिक्षा को विकसित करता तथा जीवन में क्रियान्वित करता था।" इस लेख में भारतीय दर्शन में अध्यात्मवाद के सर्वव्यापी होने के विचार का विरोध किया गया था। श्चेर्बात्स्की उन विद्वानों से बिल्कुल सहमत नहीं थे, जो भौतिकवाद को भारतीय दर्शन में एक सांयोगिक और अलाक्षणिक परिघटना मानते थे। "शायद संसार में और कहीं भी परम्परागत नैतिकता और उससे संबंधित धर्म की बेड़ियों के विरुद्ध आक्रोश और प्रतिवाद की भावना इतने ज्वलंत रूप में प्रकट नहीं हुई, जितनी भारतीय भौतिकवादियों के बीच।" श्चेर्बात्स्की ने न केवल भौतिकवादियों की मूलभूत अवधारणाओं का सारतत्व प्रस्तुत किया, बल्कि वे मूल रचनाए भी उद्धृत कीं, जिनसे इस मत के प्रसार और प्रभाव का पता चलता था। यही नहीं, वे भौतिकवादियों की रचनाओं के तब तक अज्ञात अंशों का भी पता लगा सके (जयंतभट्ट की 'न्यायमंजरी' में तथा 'न्यायसूत्र' पर वाचस्पतिमिश्र की टीका में)। श्चेर्बात्स्की की अन्य कृतियों की भांति इसमें भी भारतीय संस्कृति की परिघटनाओं के अनुशीलन के प्रति उनका ऐतिहासिक रुख़ और सामाजिक विकास की प्रक्रियाओं के सार में पैठने की उनकी क्षमता स्पष्ट रूप से प्रकट हुई। श्चेर्बात्स्की की कृतियों का मूल्यांकन करते हुए ओल्देनबुर्ग ने लिखा था कि "श्चेर्बात्स्की ने बड़े आश्वस्तकारी ढंग से यह दिखाया कि भारतीय संस्कृति को ऐतिहासिक दृष्टि से वंचित स्वप्नद्रष्टाओं की देन बताना कितना ग़लत है। श्चेर्बात्स्की अपनी सभी रचनाओं में इस बात के अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि जब भारतीय विद्वान अपने देश के विभिन्न कालों के

सामाजिक-वर्गीय संबंधों को अपनी शिक्षाओं में प्रतिबिम्बित करते हैं, तो उनका चिंतन कितना तर्कसंगत और तथ्यपरक होता है।"

श्चेर्बात्स्की न केवल उच्चतम कोटि के शोधकर्त्ता थे, बल्कि अनुपम शिक्षक भी। संस्कृत के अध्यापन की उनकी प्रणाली अच्छी तरह तैयार की गई। थी। विश्व-विद्यालय में संस्कृत सीख रहे भावी भारतविदों का पाठ्यक्रम यह था – प्रथम वर्ष में वे ब्यूलर की पाठ्यपुस्तक से संस्कृत सीखते थे, इस पुस्तक का रूसी संस्करण स्वयं श्चेर्बात्स्की ने तैयार किया था, द्वितीय वर्ष में विद्यार्थी कालिदास का 'मेघदूत' और उस पर मल्लिनाथ की टीका पढ़ते थे, तृतीय वर्ष में 'शाकुंतलम्' तथा दार्शनिक ग्रंथ 'तर्कभाषा' और पाणिनि का व्याकरण तथा चतुर्थ वर्ष में 'दशकुमारचरित' और बाण कृत 'कादम्बरी'।

श्चेर्बात्स्की ने अनेक सुप्रशिक्षित भारतविद और बौद्ध धर्म अध्येता तैयार किये। येव्गेनी ओबेरमिल्लेर, मिख़ाईल तुब्यान्स्की, आन्द्रेई वोस्त्रिकोव, बोरिस सेमिचोव जैसे जाने-माने विद्वान उनके शिष्य थे। लेनिनग्राद में श्चेर्बात्स्की के शिष्य व्लादीमिर कल्यानोव प्राचीन भारतीय महाकाव्यों पर सफलतापूर्वक कार्य जारी रखे हुए हैं। आज की बड़ी पीढ़ी के कई सोवियत भारतविदों को श्चेर्बात्स्की के लेक्चर सुनने और उनसे संस्कृत सीखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। भारतविद्या के विकास में श्चेर्बात्स्की के योगदान की चर्चा करते हुए देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने उनके कार्यकलाप के इस पहलू – विशेषज्ञों के एक पूरे दल को प्रशिक्षित करने – को ही उनकी विशेषतः महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना है। "श्चेर्बात्स्की ने बेजोड़ विद्वानों की एक पूरी पीढ़ी प्रशिक्षित की, जिन्होंने उनके शोधकार्यों को जारी रखा, जबकि भारत में वस्तुतः कोई इतना बड़ा विशेषज्ञ नहीं हुआ, जो विद्याभूषण के कार्य को जारी रखता, कम से कम इतने बड़े पैमाने पर।"

सोवियत संघ में भारतविद्या संबंधी अनुसंधानों के विस्तार की श्चेर्बात्स्की की योजनाएं व्यापक और बहुस्तरीय थीं। भारतीय दार्शनिक चिंतन और पूरब के दर्शन के अध्ययन को वे विशेषतः महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनके काग़ज़ातों में वह नोट भी मिला है, जो अपने अंतिम दिनों में उन्होंने सोवियत विज्ञान अकादमी के अध्यक्षमंडल को भेजा था। इसमें कहा गया है: "पूरब के दार्शनिक सर्वेक्षण की योजना में, पूरब के सभी देशों के लिए सामान्य दार्शनिक सांस्कृतिक धरोहर के अध्ययन की योजना में प्राच्यविद्या के हमारे सभी विभागों को संगठित होना चाहिए।... सारे पूरब के दार्शनिक विचारों का स्रोत भारत को माना जाना चाहिए। यहां से समय-समय पर चिंतन की आवर्ती तरंगें उठती रही हैं और पूरब व पश्चिम में फैलती रही हैं।... अब समय आ गया है कि हम इस सशक्त गति का सिंहावलोकन करें तथा एक ओर इसका इतिहास तैयार करने की तथा दूसरी ओर इसकी सूची, अर्थात स्पष्टतः सूत्रबद्ध उन दार्शनिक विचारों की संदर्भसूची तैयार करने की चेष्टा करें, जो विभिन्न कालों और युगों में पूरब के जनगण के मस्तिष्कों पर छाये रहे हैं।"

मृत्यु ने श्चेर्बात्स्की को उनकी अनेक योजनाएं पूरी नहीं करने दीं। १९४२ में उत्तरी कज़ाखस्तान में उनका देहांत हो गया। जून १९४१ में फ़ासिस्ट जर्मनी द्वारा सोवियत संघ पर हमला किये जाने के पश्चात अनेक विद्वानों को मोर्चे से दूर कज़ाखस्तान भेज दिया गया था। श्चेर्बात्स्की के शोधकार्यों को, उनकी योजनाओं को सोवियत भारतविदों की नई पीढ़ी ने जारी रखा है। उनकी जन्म-शताब्दी पर मास्को और लेनिनग्राद में जयंती बैठकें हुईं, जिनकी सामग्री 'भारतीय संस्कृति और बौद्ध धर्म' नामक लेख-संग्रह (रूसी में) के रूप में प्रकाशित की गई।

श्चेर्बात्स्की ने भारतीय संस्कृति की धरोहर के अध्ययन को अपना सारा जीवन अर्पित किया ; आगामी अनेक वर्षों और दशकों तक विशेषज्ञ भी और इस धरोहर में रुचि रखने वाले अन्य सभी लोग भी श्चेर्बात्स्की की रचनाओं की ओर उन्मुख होते रहेंगे। उनकी समाधि पर अंकित निम्न शब्दों में उनके सृजन का मर्म अभिव्यक्त है : "उन्होंने अपने देश को भारत के प्राचीन चिंतकों का विवेक समझाया।"

अध्याय ५

सोवियत संघ में भारतविद्या संबंधी अनुसंधानों की प्रमुख दिशाएं

१९१७-१९२० का काल

१९१७-१९२० के काल को सोवियत देश के ही नहीं, उसके वैज्ञानिक कार्यों के भी इतिहास में सच्चे अर्थों में वीरतापूर्ण काल कहा जा सकता है। प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१९१७) के तीन वर्षों के पश्चात रूस की अर्थव्यवस्था बिल्कुल बेदम हो गई थी और अथाह गर्त के कगार पर खड़ी थी। देश के काफ़ी बड़े भाग पर हस्तक्षेपकारियों का क़ब्ज़ा था। फ़रवरी और अक्तूबर १९१७ की दो क्रांतियों के दौरान राजकीय संचालन के पुराने निकाय पूर्णतः नष्ट हो गये थे, रूस में उग्र वर्ग संघर्ष चल रहा था, परम्परागत मूल्यों में आस्था डगमगा गई थी और संस्कृति गहरे संकट में थी। सोवियत सत्ता के सम्मुख देश में साक्षरता फैलाने का कार्यभार था, देश को न केवल बच्चों, बल्कि बड़ों के लिए भी ककहरों की सख़्त ज़रूरत थी। गृहयुद्ध और उसके बाद की तबाह-हाली के दिनों में काग़ज़ की तंगी थी, दीवारी काग़ज़ पर किताबें छापी जाती थीं। तो भी देश में वैज्ञानिक चिंतन पल भर को भी नहीं रुका, सांस्कृतिक जीवन नहीं थमा। सुविख्यात अंग्रेज़ लेखक एच० जी० वेल्स ने गृहयुद्ध की समाप्ति पर सोवियत रूस की यात्रा की और 'अंधकार में डूबा रूस' नामक पुस्तक लिखी। उन्होंने यह इंगित किया कि यहां जटिलतम परिस्थितियों में भी संस्कृति को बनाये रखा गया है। यह देखकर वे विशेषतः प्रभावित हुए कि सोवियत सरकार की, रूसी लेखकों और विद्वानों की योजनाएं और मंसूबे कितने भव्य हैं, सांस्कृतिक सृजन कितने बड़े पैमाने पर हो रहा है।

समाजवादी क्रांति के बाद सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा का प्रश्न उठा और इसलिए सोवियत सत्ता के पहले क़ानूनों में एक थी लेनिन द्वारा हस्ताक्षरित प्राचीन स्मारकों

की रक्षा संबंधी आज्ञप्ति। अक्तूबर क्रांति के कुछ समय पश्चात ही शिक्षा जन-कमिसारियत के अंतर्गत संग्रहालयों तथा कला-वस्तुओं एवं प्राचीन स्मारकों की रक्षा संबंधी आयोग गठित किया गया। देश के जाने-माने प्राच्यविद इस आयोग के सदस्य थे, इनमें भारतविद सेर्गेई ओल्देनबुर्ग भी थे। देश भर में जगह-जगह कला-वस्तुओं और प्राचीन स्मारकों की रक्षा की समितियां बनाई गईं – ये समितियां संस्कृति के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण केंद्र थीं। मास्को में १९१८ में एक नया संग्रहालय – प्राच्य कला संग्रहालय – खोलने का निश्चय किया गया। इसका उद्‌घाटन २२ सितंबर १९१९ को हुआ। यह सारे देश में पूरी तरह पूरब को समर्पित एकमात्र संग्रहालय था। सोवियत रूस में भारतविद्या संबंधी उन पुरानी रचनाओं का प्रकाशन जारी रहा, जो क्रांति से पहले तैयार की गई थीं तथा उन रचनाओं का भी जिन पर काम गृहयुद्ध के दिनों में शुरू हुआ था। १९१८ में पेत्रोग्राद में 'बौद्ध पुस्तकमाला' के नये खण्ड छपे: 'न्यायबिंदु। बौद्ध न्यायशास्त्र की पाठ्यपुस्तक, धर्मकीर्ति द्वारा रचित तथा धर्मोत्तर कृत व्याख्या न्यायबिंदुटीका', जिसके संस्कृत पाठ का संपादन श्चेर्बात्स्की ने किया था, और यशोमित्र कृत 'स्फुटार्थाभिधर्मकोशव्याख्या', जिसके मूलपाठ का संपादन श्चेर्बात्स्की ने फ्रांसीसी भारतविद लेवी के साथ मिलकर किया था। तिफ़लिस (वर्तमान त्बिलिसी) विश्वविद्यालय ने १९२० में ग० अख़्व्लेदियानी की पुस्तक 'संस्कृत। संक्षिप्त व्याकरण और लौकिक संस्कृत की रचनाओं तथा ऋग्वेद के अंश' प्रकाशित की। यह हमारे देश में क्रांति के बाद संस्कृतविद्या पर पहला प्रकाशन था। १९१८ में रूसी पब्लिक लाइब्रेरी के संग्रह में मौजूद भारतीय हस्तलिखित ग्रंथों की संदर्भ-सूची छपी, जो न० मिरोनोव ने तैयार की थी। एशियाई संग्रहालय ने अपनी शताब्दी (१८१८-१९१८) पर जो 'स्मृति पत्र' प्रकाशित किया उसमें संग्रहालय के प्राच्य हस्तलिखित ग्रंथों का सर्वेक्षण दिया गया था। इनमें केंद्रीय एशिया से लाये गये भारतीय हस्तलिखित ग्रंथों के महत्त्व पर विशेष ज़ोर दिया गया था और इनके वैज्ञानिक अध्ययन का कार्यभार रखा गया था। १९१८ में ही ओ० रोज़ेनबर्ग के विशाल शोध ग्रंथ 'जापानी और चीनी स्रोतों के आधार पर बौद्ध धर्म के अध्ययन की प्रवेश-पुस्तक' के पहले दो खण्ड प्रकाशित हुए। इस रचना में बौद्ध दर्शन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलुओं की गवेषणा की गई थी, उसकी मूलभूत अवधारणाओं का मौलिक ढंग से और गहराई से विवेचन किया गया था, बौद्ध धर्म के इतिहास के प्रति नये दृष्टिकोण और उसके अध्ययन की नई विधि संबंधी सुझाव रखे गये थे। रोज़ेनबर्ग की पुस्तक के साथ बौद्ध धर्म के अध्ययन में एक नये चरण का श्रीगणेश हुआ। किंतु युवा विद्वान के असामयिक निधन के कारण तीसरा खण्ड, जो बौद्ध साहित्य को समर्पित था, अप्रकाशित ही रह गया।

बौद्ध ग्रंथों पर शोध रचनाएं और उनके अनुवाद विज्ञान अकादमी के प्रकाशनों में ही नहीं, बल्कि साहित्यिक संग्रहों और संकलनों में भी छपते थे। यह इस बात का साक्षी है कि व्यापक बुद्धिजीवी हलक़ों में प्राच्यविद्या, भारतविद्या और बौद्ध

अध्ययनों में रुचि कितनी बढ़ गई थी और इस बात का भी कि देश के लिए कठिन उन दिनों में सोवियत विज्ञान के संचालक देश में प्राच्यविद्या की यशस्वी परम्पराओं को जारी रखने के लिए कितना कुछ कर रहे थे। लेनिन की अध्यक्षता में सोवियत सरकार उन दिनों विद्वानों को भारतविद्या संबंधी कार्य बड़े पैमाने पर करने के लिए निरंतर सहायता देती थी।

उन दिनों के वैज्ञानिक और पत्रकारिता साहित्य में तथा ललित साहित्य में भी भारतीय शब्द, नाम और बिम्ब लोकप्रिय हो गये। रूसी संस्कृति के अनेक प्रतिनिधि पूरब के आध्यात्मिक और कलात्मक साहित्य में विशेष रुचि लेते थे, कुछ तो पूरी तरह इस क्षेत्र में रम गये। विलक्षण रूसी चित्रकार निकोलाई रेरिख गृहयुद्ध के दिनों में विदेश में थे, लेकिन उनके सृजन और सामाजिक कार्यकलापों को रूसी कला के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। १६२० में रेरिख ने 'पूरब के स्वप्न' नामक चित्र-माला पर काम किया। उनकी यह उत्कट अभिलाषा थी कि भारत जा सकें। पूरब और विशेषतः भारत में रेरिख की रुचि बौद्ध धर्म के रूसी अध्येताओं के साथ संबंधों और उनके कार्यों की जानकारी के फलस्वरूप ही पोषित हुई व बनी रही।

१६१७ के बाद पूरब के जागरण के साथ-साथ अपनी प्राचीन धरोहर में, अपनी परम्परागत, जातीय संस्कृति के प्रति विशेष रुचि जागी। अक्तूबर क्रांति ने रूस के जनगण को निरकुश शासन के उत्पीड़न से, बलात रूसीकरण और धर्म-परिवर्तन से मुक्ति दिलाई। क्रांति के बाद के पहले वर्षों में रूस के एशियाई भाग के जातीय मुक्ति तथा धार्मिक नवीकरण आंदोलनों में उत्थान आया। यह नवीकरण उन इलाक़ों में भी हुआ, जहां बौद्ध धर्म प्रचलित था (कल्मीकिया और बुर्यातिया)। इसका एक उदाहरण है कल्मीक ब० बोवायेव के कार्यकलाप, जिन्होंने तिब्बत में शिक्षा पाई थी और १६१७-१६१८ में अस्त्राख़ान में बौद्ध दर्शन पर लेक्चर दिये थे। उन्होंने कल्मीकिया में बौद्ध दर्शन संकाय खुलवाने की चेष्टा भी की।

ज़ारशाही सरकार की अल्पसंख्यक जातियों के उत्पीड़न की नीति के विपरीत सोवियत सरकार ने जातीय और नस्ली समानता का व्यापक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। विद्वानों के सम्मुख रूस की अल्पसंख्यक जातियों में, जो तब पिछड़ी हुई थीं, साक्षरता फैलाने और उनकी संस्कृति का विकास करने का कार्यभार था। इस कठिन कार्य में प्राच्यविदों ने बहुत सहायता प्रदान की। मध्य एशिया, काकेशिया और बुर्यातिया में जाकर उन्होंने स्थानीय आबादी की परम्पराओं का अध्ययन किया, रूस के पिछड़े इलाक़ों के सांस्कृतिक कायाकल्प के विशाल कार्य में सक्रिय भाग लिया।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है १६१६ में पेत्रोग्राद में पहली बौद्ध प्रदर्शनी आयोजित की गई। इसमें उन देशों के, जहां बौद्ध धर्म प्रचलित था, यानी चीन और जापान, तिब्बत और मंगोलिया, भारत और श्रीलंका के जनगण की कला, धर्म, साहित्य और दैनंदिन जीवन की वस्तुएं दिखाई गईं। प्रदर्शनी के उद्घाटन

पर दो व्याख्यान हुए। सेर्गेई ओल्देनबुर्ग ने अपने व्याख्यान का शीर्षक यह रखा था : 'जीवन के महान शिक्षक गौतम बुद्ध का जीवन'। श्चेर्बात्स्की ने बौद्ध दर्शन पर व्याख्यान दिया। बाद में व्लादीमिरत्सेव ने 'तिब्बत और मंगोलिया में बौद्ध धर्म' तथा रोज़ेनबर्ग ने 'सुदूर पूर्व में समसामयिक बौद्ध धर्म का विश्वदृष्टिकोण' विषयों पर व्याख्यान दिये। प्राचीन स्मारकों और कला-वस्तुओं की रक्षा तथा संग्रहालयों के मामलों के विभाग ने ये व्याख्यान पुस्तिकाओं के रूप में प्रकाशित किये और साथ ही ओल्देनबुर्ग द्वारा किया गया इनका सिंहावलोकन भी 'पीटर्सबर्ग में पहली बौद्ध प्रदर्शनी' शीर्षक से छापा। उन दिनों के वातावरण को ध्यान में रखना बहुत महत्त्वपूर्ण है। अगस्त १९१९ रूस के गृहयुद्ध का एक सबसे जटिल और संकटपूर्ण समय था। सोवियत सत्ता अपेक्षाकृत कम क्षेत्रफल पर ही बनी रही थी। उराल के औद्योगिक केंद्रों को तब सफ़ेद गार्डों से मुक्त कराया ही गया था, लेकिन ज़ारशाही जनरल देनीकिन की फ़ौजों का रूस के यूरोपीय भाग के दक्षिण पर क़ब्ज़ा था, यहां से वे मास्को पर चढ़ाई की तैयारियां कर रही थीं। साथ ही जनरल यूदेनिच की सफ़ेद फ़ौज पेत्रोग्राद पर हमले के लिए ताक़त जुटा रही थी। सोवियत राज्य के लिए संकटपूर्ण इन दिनों में ही पेत्रोग्राद में पहली बौद्ध प्रदर्शनी सफलतापूर्वक हो रही थी, जाने-माने रूसी प्राच्यविद बौद्ध धर्म पर व्याख्यान दे रहे थे। इस प्रदर्शनी के सिलसिले में प्रकाशित पुस्तिकाओं से यह स्पष्टतः पता चलता है कि प्रदर्शनी के आयोजक बौद्ध धर्म को कैसे समझते थे और दर्शकों के लिए प्राचीन भारत का धर्म किस दृष्टि से रोचक हो सकता था। ओल्देनबुर्ग ने बुद्ध के जीवन और शिक्षा विषयक अनुश्रुतियों के बारे में बताते हुए इस बात पर ज़ोर दिया : "मनुष्य के लिए यह समझना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह किसलिए जीता है और समझकर यह जानना कि अपने जीवन-ध्येय की पूर्ति के लिए उसे कैसे जीना चाहिए।" उन्होंने रूस में बौद्ध धर्म के अध्ययन की पुरानी परम्पराओं का उल्लेख किया तथा सारे एशिया की और विशेषतः एशिया के उन भागों की, जो रूस में शामिल हैं, संस्कृति के लिए बौद्ध धर्म के महत्त्व की चर्चा की। उनके व्याख्यान की प्रमुख विशेषता यह थी कि उन्होंने सारी मानवजाति के लिए बौद्ध विचारधारा का महत्त्व इंगित किया। उनके शब्दों में, बुद्ध ने "सचेतना की और मनुष्य व प्रकृति के प्रति चेतनशील प्रेम की शिक्षा दी"। बौद्ध धर्म यह दिखाता है कि लोगों में कितना कुछ समान है, उसमें जनगण के बंधुत्व का विचार निहित है, इसीलिए आधुनिक मानवजाति के लिए, जो स्वयं भी जनगण के बीच बंधुत्व की स्थापना की चेष्टा कर रही है, बौद्ध शिक्षा के मर्म को सही-सही समझना इतना महत्त्वपूर्ण है। श्चेर्बात्स्की ने अपने व्याख्यान में बौद्ध धर्म को ऐसा धर्म बताया, जिसमें भलाई, मानव प्रेम, आत्मिक मुक्ति और नैतिक परिष्कार के उच्चतम आदर्श मूर्तित हुए हैं। यही नहीं, उनका कहना था कि "व्यवहार के क्षेत्र में" भी बौद्ध धर्म में हम "निजी स्वामित्व के अधिकार की अस्वीकृति, जातीय सीमितता की अस्वीकृति, निजी स्वामित्व के अधिकार से

वंचित सभी लोगों का सामान्य बंधुत्व और अंततः हम सब के लिए आवश्यक यह अवश्यंभावी विश्वास पाते हैं कि हम परिष्कार की ओर बढ़ रहे हैं और हमें बढ़ना चाहिए।" रोज़ेनबर्ग के व्याख्यान में बौद्ध धर्म को ऐसी कड़ी बताया गया था जो पूरब और पश्चिम को जोड़ती है तथा यह दिखाती है कि उनके बीच खाई "इतनी गहरी नही है"।

यह देख पाना कठिन नहीं है कि बौद्ध धर्म के प्रति इन सभी वक्ताओं का रुख मोटे तौर पर एक सा ही था, ये सभी बौद्ध धर्म का आदर्शीकरण करते थे। आधुनिक विज्ञान श्चेर्बात्स्की द्वारा की गई बौद्ध दर्शन की इस व्याख्या को पूरी तरह निर्विवाद नहीं मान सकता। लेकिन यहां दूसरी बात अधिक माने रखती है – प्राच्यविदों तथा प्रदर्शनी में उपस्थित बुद्धिजीवियों की पूरब, भारत और बौद्ध धर्म में रुचि कोरी वैज्ञानिक जिज्ञासा कतई नहीं थी। ये लोग बौद्ध धर्म को ऐसी जीती-जागती शिक्षा मानते थे, जो समसामयिक युग के समीप है। अधिकांश विद्वान, लेखक और कलाकार पूरब को इसी दृष्टि से देखते थे। जनगण की एकता और बंधुत्व, पश्चिम और पूरब के भाग्यों की समानता, निजी स्वामित्व की अवर्तमानता के और मानवजाति के परिष्कार के विचार – इन सब बातों ने विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था।

लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि इन प्रस्थापनाओं को जनगण की समानता और बंधुत्व के उदात्त ध्येयों की ही पूर्ति करनी थी। रूस के प्रमुखतम प्राच्यविद, भारतविद और बौद्ध धर्म के अध्येता नवजीवन के सक्रिय निर्माता थे, नये आदर्शों की अभिपुष्टि करने में सहायता प्रदान करते थे।

लेनिन द्वारा की गयी एक पूछताछ के जवाब में शिक्षा मामलों के जनकमिसार अनातोली लुनाचार्स्की ने श्चेर्बात्स्की के बारे में लिखा था कि वह "ऊंचे दर्जे के विद्वान हैं और क्रांति के बाद बौद्ध धर्म के बारे में उन्होंने एक शानदार पुस्तिका लिखी है, जिसमें बौद्ध धर्म की समाजवादी दृष्टिकोण (निजी अहं तथा निजी संपत्ति का त्याग, सामाजिक समानता में ही मानसिक शांति तथा आनंद अनुभव करना) से विवेचना की गयी है।"

क्रांति के बाद के पहले वर्ष सांस्कृतिक नवनिर्माण के उत्साह का, व्यापक और फलप्रद पहलक़दमियों का समय था। १९१८ में पेत्रोग्राद में शिक्षा की जन-कमिसारियत के अधीन 'विश्व साहित्य' नाम का प्रकाशन-गृह खोला गया, जिसका काम विश्व भर के साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं का प्रकाशन करना था। यह प्रकाशन-गृह, जिसकी बागडोर मक्सिम गोर्की को सौंपी गई थी, प्राच्य साहित्य की रचनाएं भी छापता था। ओल्देनबुर्ग इसमें सक्रिय भाग लेते थे। उदाहरणतः उन्होंने १९१९ में प्रकाशित संग्रह 'प्राच्य साहित्य' के लिए भारतीय साहित्य पर लेख लिखा।

गृहयुद्ध के दौरान सोवियत रूस को पश्चिम के बड़े देशों (पहले जर्मनी और फिर ब्रिटेन, फ्रांस व अमरीका) के हस्तक्षेप का भी सामना करना पड़ा, साथ ही उसने जागृत हो रहे औपनिवेशिक पूरब का समर्थन भी किया। उन वर्षों के रूसी साहित्य

में एक बार फिर पूरब और पश्चिम के साथ रूस के संबंध का प्रश्न उठाया गया। यह विचार प्रचलित था कि रूस यूरोपीय इतना नहीं, जितना कि एशियाई है। महाकवि अलेक्सान्द्र ब्लोक ने लिखा: "हां, एशियाई हैं हम!" प्राय: इस बात पर ज़ोर दिया जाता था कि भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टि से यूरोप और एशिया दोनों महाद्वीपों का अंग होने के नाते रूस पश्चिम और पूरब की सांस्कृतिक परम्पराओं के संश्लेषण में, उनके संगठन में विशेष भूमिका अदा करता है।

१९१९ में बुर्यात विद्वान गोंबोज्जाब त्सीबिकोव की क्रांति से पहले ही तैयार हो चुकी पुस्तक 'तिब्बत में बौद्ध तीर्थयात्री' प्रकाशित हुई। लेखक ने रूसी भूगोल समाज की ओर से तीर्थयात्री के रूप में १८९९-१९०२ में तिब्बत की यात्रा की थी। अनेक चित्रों से सुसज्जित यह पुस्तक तिब्बत, उसके स्मारकों, वहां की आबादी के रहन-सहन, रीति-रिवाजों और विश्वासों के पहले विवरणों में से एक थी। इसका वैज्ञानिक महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ है, इसीलिए १९८१ में त्सीबिकोव की अन्य रचनाओं के साथ इसका भी नया संस्करण छपा। सितंबर १९१८ में, सोवियत जनतंत्र के लिए सबसे कठिन महीनों में से एक में (सितंबर के आरंभ में देश में युद्ध स्थिति की घोषणा की गई थी) ओल्देनबुर्ग ने बुर्यात विद्वान की पुस्तक की भूमिका लिखी: "गोंबोज्जाब त्सीबिकोव की पुस्तक अत्यधिक कठिन समय में निकल रही है, जबकि यह लग सकता है कि रूस में किसी को सुदूर देश की तीर्थयात्रा के वर्णनों की सोचने के कोई फ़ुरसत ही कहां। लेकिन हम इस पुस्तक को इन दिनों ही प्रकाशित करना आवश्यक मानते हैं, इस बात का प्रमाण देने के लिए कि सच्चा रूस जीवित है और अपनी आत्मिक शक्ति की, जिसने दसियों जातियों और प्राय: बीस करोड़ लोगों को संगठित किया है व संगठित कर रही है, पूरी चेतना के साथ कार्य कर रहा है। रूसी विश्वविद्यालय में शिक्षित एक बुर्यात की लिखी, एक रूसी द्वारा सम्पादित और 'रूसी भूगोल समाज' द्वारा प्रकाशित त्सीबिकोव की पुस्तक रूस द्वारा एक सामान्य कार्य के आधार पर पश्चिम और पूरब के सांस्कृतिक एकीकरण की ज्वलंत अभिव्यक्ति है।" इस प्रकार प्राच्यविद्या और भारतविद्या से संबंधित अध्ययनों और प्रकाशनों को तब महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय सांस्कृतिक कार्यभार माना जाता था।

तीसरे और चौथे दशक में भारतविद्या

तीसरे दशक में सोवियत रूस में प्राच्यविद्या के सारे संगठन का पुनर्गठन हो रहा था। प्राच्यविद्या का प्रमुख केंद्र पेत्रोग्राद (लेनिनग्राद) का एशियाई संग्रहालय ही था, जो धीरे-धीरे पांडुलिपियों और पुस्तकों के भंडार से अनुसंधान संस्थान में परिवर्तित होता जा रहा था। वर्ष प्रति वर्ष यह प्रतिष्ठान विराट स्वरूप ग्रहण करता

जा रहा था और इसके कार्यभार बदल रहे थे। पेत्रोग्राद विश्वविद्यालय के एशियाई संग्रहालय के साथ घनिष्ठ सबंध थे, क्योंकि वहां प्राच्यविद्या संबंधी विषयों का अध्यापन प्रायः संग्रहालय के कर्मी ही करते थे। भारतविद नृविज्ञान और नृजातिवर्णन संग्रहालय में भी काम करते थे और १९२१ में स्थापित कला-इतिहास संस्थान में भी। यहां भारत और सुदूर पूर्व की संस्कृति पर लेक्चर ओल्देनबुर्ग देते थे। तीसरे दशक के आरंभ में पूरब के जनगण की संस्कृति के इतिहास पर आम जनता के लिए सुबोध व्याख्यान बहुत लोकप्रिय थे। देश के प्रमुख प्राच्यविद ओल्देनबुर्ग, श्चेर्बात्स्की, तुब्यान्स्की, आदि ये व्याख्यान देते थे। पेत्रोग्राद के बुद्धिजीवी पूरब की संस्कृति में दिलचस्पी रखते थे।

रूसी राजकीय पुरातत्व आयोग के आधार पर भौतिक संस्कृति के इतिहास की रूसी अकादमी स्थापित की गई। इसके अध्यक्ष अकादमीशियन निकोलाई मार्र बने (ओल्देनबुर्ग इसके प्रबंधमंडल के सदस्य थे)। यह नवस्थापित वैज्ञानिक प्रतिष्ठान पुराने पुरातत्व आयोग से सिद्धांततः भिन्न था। अकादमी का काम प्राचीन वस्तुओं की खोज और संग्रह तक ही सीमित नहीं था। यह सारी मानवजाति के इतिहास से संबधित कार्यभारों को अग्रभूमि में रखने का यत्न करती थी। अकादमी के अनेक कर्मी सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन की वैज्ञानिक विधि की खोज में मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हुए। यह अकादमी न केवल सोवियत पुराविदों, बल्कि प्राच्यविदों के लिए भी अच्छा विद्यालय था।

संस्कृत का अध्यापन और संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन पेत्रोग्राद के अलावा अन्य कई नगरों में भी होता था – मास्को में पेतेरसन, त्बिलिसी में अख्व्लेदियानी, खार्कोव में रित्तेर यह कार्य कर रहे थे। अधिकांश मामलों में संस्कृत को भारोपीय भाषाओं के तुलनात्मक-ऐतिहासिक अध्ययन के लिए अनिवार्य विषय माना जाता था।

१९२५ में मास्को के प्राच्य कला संग्रहालय का पुनर्गठन हुआ। अब इसका नाम 'प्राच्य संस्कृति संग्रहालय' पड़ा। शीघ्र ही संग्रहालय ने एक अभियान दल तेर्मेज़ भेजा। इस दल के कार्यभारों में एक था बौद्ध स्मारकों का अध्ययन करना। इस दल से ही मध्य एशिया के बौद्ध स्मारकों का पुरातत्वीय अध्ययन शुरू हुआ।

तीसरे दशक में देश के प्रमुख प्राच्यविद, मुख्यतः पेत्रोग्राद अकादमी के सदस्य, प्राच्यविद परिषद में संगठित थे। इसके साथ ही एक और संगठन भी था, जो नई, मार्क्सवादी प्राच्यविद्या का केंद्र बना। यह था – अखिल रूसी (कालांतर में अखिल-संघीय) प्राच्यविद्या वैज्ञानिक संघ। इसकी स्थापना शुरू में जातियों की जन-कमि-सारियत के अधीन हुई थी। ज्ञात है कि लेनिन इस संघ की स्थापना को बहुत महत्त्व-पूर्ण मानते थे। इस संघ को प्राच्यविदो के कार्यकलापों में, सर्वप्रथम तात्कालिक राजनीतिक प्रश्नों के अध्ययन के क्षेत्र में, समन्वय करना और सामान्य समस्याओं को मार्क्सवादी ढंग से हल करने में सहयोग प्रदान करना था। १९२२ से इस संघ का मुखपत्र था 'नया पूरब' नामक पत्रिका। इसमें मुख्यतः एशियाई देशों की सम-

सामयिक स्थिति पर सामग्री और लेख छापे जाते थे। पत्रिका में प्रणालीविज्ञान की समस्याओं पर भी विचार किया जाता था, मार्क्सवादी प्राच्यविद्या की सामान्य अवधारणाओं का गठन इस पत्रिका के पृष्ठों पर ही हुआ।

सुविदित है कि लेनिन उपनिवेशवाद के विरुद्ध एशियाई देशों के संघर्ष को और विशेषतः भारत में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को कितना महत्त्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने दूरदर्शिता से यह इंगित किया कि "एशिया का जागरण और यूरोप के अग्रणी, सर्वहारा द्वारा सत्ता के लिए संघर्ष का आरंभ बीसवीं सदी के शुरू में विश्व इतिहास में नये चरण के आरंभ का द्योतक हैं।" लेनिन ने इस बात पर ज़ोर दिया कि भारत में ब्रिटिश शासन हिंसा और लूटपाट पर आधारित है। वे यह मानते थे कि एशिया के उत्पीड़ित जनगण यूरोप के अग्रणी मज़दूरों के स्वाभाविक साथी हैं। यह रुख ही सोवियत राज्य की नीति के आधार में निहित था, मार्क्सवादी प्राच्यविद्या भी इन्हीं सिद्धांतों पर आधारित थी। प्राच्यविद संघ के कार्यकलापों को 'नया पूरब' के प्रथम अंक के सम्पादकीय में निम्न संदर्भ में देखा गया: "अब वह घड़ी आ गई है जब पूरब का सही तरह से संगठित अध्ययन आरंभ करना पहले से अधिक आवश्यक हो गया है।... समसामयिक रूस – यूरेशिया – सर्वप्रथम आत्मिक और आर्थिक दासता की बेड़ियों में कराहते तथा उज्ज्वल भविष्य के लिए संघर्षरत पूरब का शिक्षक है, नेता है। मास्को सभी पराधीन जनगण का मक्का-मदीना है। और यदि क्रूर क़ब्ज़ावर-अत्याचारी और लोभी सौदागर के लिए किसी देश में अपना प्रभुत्व बनाये रखने के वास्ते उस देश का अध्ययन करना, उसकी आर्थिक और सामाजिक पद्धति तथा शोषित जनगण का सारा रहन-सहन जानना आवश्यक है, तो उस व्यक्ति के लिए तो ऐसा ज्ञान और भी अधिक आवश्यक है, जिस पर इतिहास ने सभी तरह की दासता से मुक्ति के लिए संघर्ष में जनगण का पथप्रदर्शक होने का, शिक्षक होने का भारी दायित्व डाला है।"

सोवियत राज्य के सम्मुख पूरब से संबंधित विराट कार्य थे। एक ओर अपने देश के भीतर, देश के पूरब में यह जातीय नीति को सही-सही लागू करने का कार्यभार था तथा दूसरी ओर अन्य एशियाई राज्यों तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के साथ सम्पर्कों को यथासंभव बढ़ाने का कार्यभार। पूरब के देशों में काम के लिए राजनयज्ञों और विशेषज्ञों को शीघ्र प्रशिक्षित करना, अर्थव्यवस्था, समसामयिक इतिहास तथा क्रांतिकारी और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों का अध्ययन करना आवश्यक था। तीसरे दशक में रूस में एशियाई देशों के, भारत के भी, प्रवासी क्रांतिकारी रहते थे, इन्हें भी सोवियत प्राच्यविद्या के संगठन के कार्य में शामिल करने की चेष्टा की जाती थी। व्यावहारिक प्राच्यविद्या के क्षेत्र में कार्य शून्य से आरंभ करना पड़ रहा था। ज़ारशाही रूस में जाने-माने प्राच्यविदों के अनेकानेक प्रस्तावों के बावजूद नूतन प्राच्य भाषाओं – और उनमें भारतीय भाषाएं भी शामिल हैं – का अध्यापन कार्य शुरू नहीं किया गया था। गृहयुद्ध के दिनों में ही पेत्रोग्राद में जीवित प्राच्य भाषाओं

अलेक्सेई बरान्निकोव

का संस्थान खोल दिया गया (कालांतर में इसका नाम लेनिनग्राद प्राच्य संस्थान पड़ा)। यह एक तरह से प्राच्यविद्या की व्यावहारिक अकादमी थी। संस्थान में भारतविद भी प्रशिक्षण पाते थे। श्चेर्बात्स्की, ओल्देनबुर्ग, बरान्निकोव और दूसरे विलक्षण विद्वान यहां पढ़ाते थे, भारतीय अध्यापकों को भी काम के लिए निमंत्रित किया जाता था। यहां हिंदुस्तानी, बंगला और तमिल भाषाओं का तथा संस्कृत का भी अध्ययन होता था। विभिन्न सामाजिक विषयों के अलावा प्राच्य संस्कृति के इतिहास के तथा पूरब के विभिन्न दार्शनिक मतों के भी पाठ्यक्रम यहां थे। इस प्रकार संस्थान में विद्यार्थियों को प्राच्यविद्या की व्यापक शिक्षा प्रदान करने की चेष्टा की जाती थी। लेनिनग्राद प्राच्य संस्थान सोवियत संघ में भारतविदों के प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गया। यहां बोलचाल की तमिल भाषा और हिंदुस्तानी (उर्दू) की पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित की गईं। श्चेर्बात्स्की की पहलक़दमी पर ब्यूलर की संस्कृत की पाठ्यपुस्तक का रूसी में अनुवाद किया गया, जो आज तक विद्यार्थियों के काम आ रही है।

तीसरे-चौथे दशकों के मार्क्सवादी इतिहासशास्त्र के क्षेत्र में पूरब के इतिहास के प्राचीन काल का अध्ययन आरंभ ही हुआ था। इस सिलसिले में प्रसिद्ध न्यायशास्त्री मिख़ाईल रैस्नर की पुस्तक 'पूरब की विचारधाराएं। पूर्वी धर्मतंत्रों की रूपरेखा'

(१९२७) उल्लेखनीय है। इसमें प्राचीन भारत पर काफ़ी बड़े अध्याय थे। मिखाईल रैस्नर ने प्राच्यविद्या की विशेष शिक्षा नहीं पाई थी (कुछ प्रश्नों पर वे अपने पुत्र ईगोर रैस्नर से परामर्श ले सकते थे, जो आगे चलकर सुविख्यात भारतविद बने)। लेखक ने वर्ण प्रथा का सार, वर्णों और वर्गों का सहसंबंध, वर्णों की उत्पत्ति और भारत की प्राचीन क़बीलाई व्यवस्था से उनका संबंध, बौद्ध धर्म का सामाजिक सार, आदि समस्याओं को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत और हल करने का प्रयास किया। यह पुस्तक मुख्यत: पश्चिमी शोधकार्यों के आधार पर लिखी गई थी, यद्यपि इसमें संस्कृत ग्रंथों के यूरोपीय भाषाओं में हुए अनुवादों का भी अंशत: उपयोग किया गया था। मिखाईल रैस्नर के अनेक विचार आज बहुत ही नादानी भरे लगते हैं, उनका मार्क्सवाद अति सरलीकृत और यहां तक कि विकृत था। इस सबके बावजूद प्राचीन भारत की सामाजिक विचारधारा और सामाजिक संरचना में रैस्नर की रुचि अत्यंत लाक्षणिक है।

१९२८-३० में मार्क्सवादी विद्वानों में पूरब में सामाजिक-आर्थिक ढांचे के प्रश्न पर ज़ोरदार वाद-विवाद चला था। इसमें भारतीय सामग्री का हवाला विरले ही दिया जाता था, क्योंकि तब सोवियत संघ में प्राचीन भारत के इतिहास का अध्ययन पर्याप्त व्यापक रूप से नहीं हो रहा था। तो भी इस वादानुवाद का सोवियत प्राच्य-विद्या की सामान्य अवधारणाओं के गठन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा, तथा आगे चलकर प्राचीन भारत के इतिहास पर विचार करते समय भी सोवियत प्राच्यविद इस विवाद के निष्कर्षों से प्रभावित हुए। विवाद के दौरान सोवियत विद्वानों का ध्यान सामाजिक-आर्थिक विरचना की समस्या पर केंद्रित था। यह स्पष्टत: निर्धारित किया गया कि पूरब के देशों का विकास उन्हीं मार्गों पर हुआ, जिन पर पश्चिम के देशों का। इस दृष्टिकोण का समर्थन केवल मार्क्सवादी ही नहीं करते थे, अकाद-मिक प्राच्यविद भी उससे काफ़ी हद तक सहमत थे।

तीसरे दशक के उत्तरार्ध में 'वोस्तोक' पत्रिका अकादमिक प्राच्यविदों का मुखपत्र थी। पत्रिका की सामान्य दिशा इसके सम्पादक ओल्देनबुर्ग द्वारा निर्धारित की जाती थी। १९२२ में प्रकाशित पत्रिका के पहले अंक में ओल्देनबुर्ग ने पूरब और पश्चिम की समानता और सामीप्य के तथा मानवजाति के इतिहास की एकता के विचार मुखरित किये। उन्होंने लिखा कि "पूरब की उपलब्धियां ... पश्चिम की उपलब्धियों से कम नहीं, बल्कि उनसे बढ़कर ही हैं," कि पूरब ने "मानव आत्मा की असाधारण शक्ति" का परिचय दिया है। लेकिन उनके विचार में इन उपलब्धियों का आधार पश्चिम से भिन्न था। पूरब बाह्य जगत की ओर नहीं, बल्कि मानव आत्मा की ओर ही उन्मुख होता है, प्राकृतिक विज्ञानों की मदद के बिना उसका अध्ययन करता है। पूरब के प्रति ओल्देनबुर्ग का दृष्टिकोण यहां भी वैसा ही है, जैसा कि इससे कुछ वर्ष पहले था, जब उन्होंने बौद्ध प्रदर्शनी में व्याख्यान दिया था। साथ ही इस पत्रिका के सभी लेख पश्चिम के "भौतिकवाद" और पूरब के "भाववाद" की

प्रत्यास्थापना करने वाली तथा मुख्यतः एशिया की प्राचीन आत्मिक संस्कृति के महत्व पर बल देने वाली सामान्य उद्घोषणाओं के रूप में ही नहीं होते थे। भारतविदों की युवा पीढ़ी के प्रतिनिधि तुब्यान्स्की ने हिंदू धर्म पर ग्लाज़ेनाप्प की पुस्तक की समीक्षा में जर्मन विद्वान की इस बात के लिए कटु आलोचना की कि उन्होंने भारत के आत्मिक जीवन में धर्म और रहस्यवाद की भूमिका बहुत बढ़ा-चढ़ाकर दिखाई है। उन्होंने लिखा: "यह घिसा-पिटा वाक्य कि भारत में सभी कुछ "रहस्यवाद से ओत-प्रोत" है, न केवल अपने आप में सरासर ग़लत है और इसलिए भारत से संबंधित उन पुस्तकों में इसका कोई स्थान नहीं होना चाहिए, जो वैज्ञानिकता का दावा करती हैं, बल्कि यह भारतविद्या से संबंधित सभी ठोस तथ्यों की व्याख्या और मूल्यांकन में भी बहुत खतरनाक है।" तुब्यान्स्की ने उन रूसी भारतविदों और भारतीय अध्येताओं की रचनाओं का उच्च मूल्यांकन किया, जिन्होंने दर्शन, विज्ञान और ललित कलाओं के विभिन्न क्षेत्रों में प्राचीन भारत की विशाल उपलब्धियां दर्शाईं। सोवियत भारतविद ने इंगित किया कि इन रचनाओं की बदौलत "रहस्यवाद का कोहरा छंट गया और हम अमूर्त ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में भारतीयों के पूर्णतः तार्किक चिंतन के सहस्राब्दियों तक विराट, सतत कार्य का इतिहास देख पाये।" तुब्यान्स्की पहले सोवियत भारतविद थे, जिन्होंने पाठकों को समसामयिक भारतीय साहित्य से परिचित कराया। 'वोस्तोक' पत्रिका के लिए उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं और बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के 'वंदे मातरम्' का अनुवाद किया।

ओल्देनबुर्ग ने यह विचार प्रकट किया था कि भारत के आर्थिक इतिहास का, उसके जटिल सामाजिक जीवन, कृषि और शिल्पों, नगरों के उद्योगों और व्यापार का अध्ययन किया जाना चाहिए। उनका कहना था कि इस किंवदंती से छुटकारा पाना चाहिए कि भारत धर्म का ही देश है–"भारतीय आर्थिक जीवन को जाने और समझे बिना हम कभी भी भारत को और उसके जटिल इतिहास को समझ नहीं पायेंगे।" यहां स्पष्टतः पूरब के प्रति नया रुख दृष्टिगोचर होता है, जो बाद में सोवियत भारतविद्या में प्रमुख बन गया। प्रत्यक्षतः, पुराने रूसी भारतविदों के एक श्रेष्ठतम प्रतिनिधि ने भारत के सामाजिक-आर्थिक इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता का विचार अकारण ही नहीं व्यक्त किया और इसका कारण केवल मार्क्सवादी विचारों का प्रभाव ही नहीं था। स्वयं वैज्ञानिक सामग्री को देखते हुए उनका इस विचार पर पहुंचना स्वाभाविक था कि पूरब और पश्चिम के किसी भी देश की संस्कृति पर सर्वप्रथम ऐतिहासिक संदर्भ में दृष्टिपात करना चाहिए। इस संदर्भ को समझे बिना, उस समाज को जाने बिना, जो संस्कृति का सृजक था, तर्क-वितर्क पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं रहते, आधुनिकीकरण और आत्मगत रुख प्रकट होने लगता है। तीसरे-चौथे दशकों में सोवियत इतिहासकार ही प्राचीन इतिहास की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं की ओर ध्यान दे रहे हों–ऐसी बात नहीं थी, यूरोपीय देशों के कई विद्वान भी इन समस्याओं पर काम कर रहे थे। यहां यह

भी कहा जाना चाहिए कि भारतीय विद्वानों ने तीसरे दशक में ही इस क्षेत्र में निश्चित सफलताएं पा ली थी। ओल्देनबुर्ग प्राचीन भारत के सामाजिक-आर्थिक इतिहास पर, मजूमदार, प्राणनाथ, बंदोपाध्याय, आदि के प्रकाशनो पर ध्यान से नज़र रखते थे और सोवियत पत्रिकाओं में उनकी रचनाओं का सिंहावलोकन छापते थे।

वैसे, कुल जमा 'वोस्तोक' के लेखकों की रुचि का दायरा अकादमिक प्राच्यविद्या का परम्परागत दायरा ही था। यह था – पूरब की आत्मिक संस्कृति का, उसके "विवेक और सौंदर्य" का अध्ययन, जिनकी "हमारे जीवन में आवश्यकता है"। इस दिशा में पत्रिका ने बहुत कुछ किया और इससे भी अधिक की योजनाएं तैयार कीं। उदाहरणत:, प्राचीन प्राच्य साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं का प्रकाशन उल्लेखनीय है। 'वोस्तोक' में दंडी कृत 'दशकुमारचरित' का श्चेर्बात्स्की द्वारा किया गया अनुवाद प्रकाशित हुआ।

संस्कृत साहित्य के प्रकाशन का कार्य केवल पेत्रोग्राद में ही नहीं होता था और 'वोस्तोक' के लिए लिखने वाले विद्वानों द्वारा ही नहीं। श्चेर्बात्स्की के साथ-साथ खार्कोव नगर के संस्कृतविद प० रित्तेर ने भी तीसरे दशक में 'दशकुमारचरित' का अनुवाद किया। उन्होंने भारतीय काव्य का एक संकलन भी तैयार किया। इसमें संस्कृत, पाली और बंगला कविताओं के अनुवाद थे। अ० बरान्निकोव ने तीसरे दशक में आर्यशूर की 'जातकमाला' का अनुवाद किया, लेकिन यह अनुवाद कुछेक दशक बाद ही छप सका। श्चेर्बात्स्की के दूसरे शिष्य, जो आगे चलकर सुविख्यात भाषाविद बने, ब० लारिन ने तीसरे दशक में भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन किया, वामन की कृति 'काव्यालंकार' का अनुवाद किया और भारतीय काव्य में प्रतीक पर एक शोध रचना छापी।

१९२७ में कला इतिहास संस्थान ने 'पूरब के जनगण का रंगमंच' प्रदर्शनी आयोजित की और फिर 'पूरब का रंगमंच' पुस्तक छापी। भारतीय रंगकला का अध्याय अ० मेर्वार्त ने लिखा, जो इस विषय पर कुछ शोध रचनाएं प्रकाशित कर चुके थे। अ० मेर्वार्त भारतीय शास्त्रीय रंगकला का स्रोत लोक तमाशों में पाते थे और इस संबंध में उनके निष्कर्ष बौद्ध गल्प साहित्य के विकास के बारे में ओल्देनबुर्ग के विचारों से मिलते-जुलते थे। मेर्वार्त द्वारा भारतीय नाट्यकला का अध्ययन मिनायेव द्वारा आरंभ किये गये कार्य की अगली कड़ी था। मिनायेव ने भारत के लोक तमाशों का अध्ययन किया था। मेर्वार्त भारतीय नृजातिवर्णन के क्षेत्र में गिने-चुने सोवियत विशेषज्ञों में से एक थे। १९१४-१९१८ में उन्होंने भारत और श्रीलंका में काम किया। मेर्वार्त और उनकी पत्नी सोवियत संघ में दक्षिणी भारत का अध्ययन आरंभ करने वाले पहले विशेषज्ञ थे। मेर्वार्त ने कई बार इस बात पर ज़ोर दिया था कि प्राचीन भारतीय संस्कृति में द्रविड़ जातियों के योगदान को ध्यान में रखे बिना उसे सही-सही समझ पाना असंभव है।

अकादमीशियन श्चेर्बात्स्की प्रमुखतम सोवियत भारतविद थे। उनके बारे में इस पुस्तक में एक पूरा अध्याय दिया गया है। यहां हम केवल यह बताना चाहते हैं कि श्चेर्बात्स्की न केवल विलक्षण विद्वान, अपितु अनुपम अध्यापक भी थे। तीसरे दशक में उन्होंने कई प्रतिभावान प्राच्यविद शिक्षित किये। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय और प्राच्य संस्थान मे श्चेर्बात्स्की संस्कृत, पाली और तिब्बती भाषाए पढ़ाते थे, भारतीय दर्शन, धर्म और साहित्य के इतिहास के विशेषज्ञ तैयार करते थे। अनेक यूरोपीय संस्कृतविदो से भिन्न श्चेर्बात्स्की परम्परागत भारतीय व्याकरण का तथा भाषा अध्यापन विधि का उच्च मूल्यांकन करते थे। उनका विचार था कि संस्कृत के अध्ययन में, जो कि जीवित परम्परा की भाषा है और जिस पर भारतीय विद्वान पीढ़ी दर पीढ़ी काम करते आये हैं, केवल यूरोपीय तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की उपलब्धियो का आसरा लेना ग़लती है। संस्कृत के अध्यापक के नाते श्चेर्बात्स्की समसामयिक भाषाविज्ञान की उपलब्धियों और भारतीय विद्वानों के परम्परागत रुख दोनों का उपयोग करते थे। यह अकारण ही नहीं कि उन्होंने वरदराज के व्याकरण 'लघुसिद्धांतकौमुदी' का अनुवाद किया। श्चेर्बात्स्की यह मानते थे कि भारतीय परम्परा को (न केवल व्याकरण की, बल्कि सौंदर्यशास्त्र और तर्कशास्त्र की भी) जाने बिना मूल पाठ को सही-सही नहीं समझा जा सकता।

उनके शिष्यो मे ओबेरमिल्लेर, तुब्यान्स्की और वोस्त्रिकोव जैसे भारतीय, तिब्बती और मगोल संस्कृति के प्रकांड सुविज्ञ थे। बौद्ध धर्म और भारतविद्या में इनकी रुचि बहुत हद तक पूरब की आत्मिक संस्कृति में उस सामान्य रुचि द्वारा निर्धारित होती थी, जो क्रांतिपूर्व काल और तीसरे दशक के लिए लाक्षणिक थी। (इस काल का दूरवर्ती प्रभाव तुर्कमान विज्ञान अकादमी के अकादमीशियन ब० स्मिर्नोव द्वारा छठे दशक में प्रकाशित रचनाओं में भी देखा जा सकता है, ब० स्मिर्नोव ने संस्कृत का अध्ययन १६१८ में शुरू किया था)।

१६२८ मे बौद्ध संस्कृति संस्थान की स्थापना का निश्चय किया गया। लेनिनग्राद के बौद्ध धर्म अध्येताओं ने ऐसे संस्थान की आवश्यकता प्रमाणित करने के लिए जो पत्र लिखा था, उसमें इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि एशिया के अनेक जनगण के सामाजिक जीवन को समझने के लिए बौद्ध धर्म का अध्ययन नितांत आवश्यक है। श्चेर्बात्स्की का कहना था कि बौद्ध धर्म के अध्ययन में रूस की विशेष भूमिका होनी चाहिए, क्योंकि "बौद्ध धर्म के ज़रिए बाइकाल से वोल्गा के मुहाने तक की सारी सीमा पर भारत हमारा पड़ोसी बन जाता है।" श्चेर्बात्स्की इस संस्थान के डायरेक्टर नियुक्त हुए थे। इसकी २४ सदस्यों की वैज्ञानिक परिषद गठित की गई। इनमें आधे सदस्य यूरोप और एशिया के जाने-माने बौद्ध धर्म के अध्येता थे। सोवियत विद्वानों का प्रतिनिधित्व यहां चीनविद व० अलेक्सेयेव, मंगोलियाविद ब० व्लादीमित्सॅव, अकादमीशियन सेर्गेई ओल्देनबुर्ग तथा अन्य विलक्षण भारतविद कर रहे थे। बौद्ध संस्कृति संस्थान में 'बौद्ध पुस्तकमाला' के नये अंको, मूल ग्रंथों,

येव्गेनी ओबेरमिल्लेर

अनुवादों और शोधकार्यों के प्रकाशन की व्यापक योजना तैयार की गई थी। संस्थान में दो विभाग थे, एक में भारत, तिब्बत और मंगोलिया का अध्ययन होता था, जबकि दूसरे में चीन व जापान का। यह संस्थान १९३० तक बना रहा, जब विज्ञान अकादमी के सभी प्राच्यविद्या संबंधी प्रतिष्ठानों का एक ही प्राच्यविद्या संस्थान में विलय कर दिया गया।

सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान की स्थापना के साथ हमारे देश में इस विद्या के विकास में एक नये चरण का आरंभ हुआ। पहली बार सारे देश में प्राच्यविद्या संबंधी कार्य के विकास का नियोजन करना संभव हुआ। संस्थान की योजनाओं में आधुनिक और समसामयिक काल में पूरब के देशों के इतिहास व अर्थव्यवस्था के अध्ययन तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के विकास के अध्ययन का विशेष स्थान था, प्राचीन और मध्य युगों में पूरब के देशों के नागरिक इतिहास के अध्ययन की भी समस्या प्रस्तुत की गई। बौद्ध संस्कृति संस्थान जो कार्य कर रहा था, वह श्चेर्बात्स्की के नेतृत्व में अब प्राच्यविद्या संस्थान के भारत-तिब्बत कक्ष में जारी रखा गया, जहां उस संस्थान के कर्मी ही मुख्यतः काम करने लगे थे। प्राच्यविद्या संस्थान के पहले डायरेक्टर ओल्देनबुर्ग इस कक्ष के कार्य में बहुत सहायता प्रदान करते थे।

बौद्ध संस्कृति संस्थान, भारत-तिब्बत विभाग और श्चेर्बात्स्की के युवा शिष्यों व सहयोगियों के कार्य की हम यहां संक्षेप में चर्चा करेंगे। **येव्गेनी ओबेरमिल्लेर** (१९०१-१९३५) के वैज्ञानिक कार्यकलाप सर्वाधिक फलप्रद थे। उन्होंने पेत्रोग्राद विश्वविद्यालय में श्चेर्बात्स्की से संस्कृत सीखी, भारतीय साहित्य और दर्शन के इतिहास पर लेक्चर सुने, काव्य रचनाएं और वैज्ञानिक ग्रंथ पढ़े। बौद्ध धर्म के इतिहास और दर्शन में विशेषज्ञता पाने के लिए उन्होंने तिब्बती और मंगोल भाषाएं भी सीखी। उनका पहला कार्य था धर्मकीर्ति के 'न्यायबिंदु' की संस्कृत-तिब्बती और तिब्बती-संस्कृत शब्दसूची। ओबेरमिल्लेर ने बाइकाल-पार की कई यात्राएं कीं। यहां बुर्यात बौद्ध मठों में उन्हें अद्वितीय बौद्ध ग्रंथ मिले। इन मठों मे ही ओबेरमिल्लेर ने तिब्बती भाषा, भारतीय और तिब्बती साहित्य तथा बौद्ध दर्शन के अपने ज्ञान का परिष्कार किया। १९२८ में वे बौद्ध संस्कृति संस्थान में काम करने लगे, लेकिन दो साल बाद ही एक दुस्साध्य रोग ने उन्हें अपंग बना दिया। १९३५ में अपनी मृत्यु तक वे न केवल चलने-फिरने में, बल्कि लिखने में भी असमर्थ रहे। किंतु ऐसी घोर विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने आठ वर्षों में इतना अधिक कार्य किया कि देखकर आश्चर्य होता है, उन्होंने उच्च कोटि की ३० वैज्ञानिक रचनाएं तैयार कीं, कुछ रचनाए अपूर्ण रह गईं। ओबेरमिल्लेर की प्रकाशित रचनाओं में बूस्तोन की दो खण्डों की तिब्बती पुस्तक 'बौद्ध धर्म का इतिहास' का अनुवाद तथा प्रज्ञापारमिता पर कुछ लेख विशेषत: उल्लेखनीय हैं। श्चेर्बात्स्की के साथ मिलकर उन्होंने 'अभिसमयालकार' के सस्कृत पाठ और तिब्बती अनुवाद का प्रकाशन किया। इस रचना पर शोध ग्रथ कलकत्ता में छपा। उन्होंने कमलशील की रचना 'शवनक्रम' को भी प्रकाशनार्थ तैयार किया था और इस रचना के बारे में आरंभिक सूचना 'जर्नल आफ़ ग्रेटर इडियन सोसाइटी' में छपी थी। कितु प्रकाशन ओबेरमिल्लेर के मरणोपरात १९३६ में ही हो पाया।

ओबेरमिल्लेर भारत में सुविख्यात थे, भारतीय पत्रिकाओं के लिए वे लिखते थे। उदाहरणत:, 'इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली' में 'निर्वाण' और 'शून्यता' की बौद्ध अवधारणाओं के बारे में उनकी शोध रचना छपी थी। 'ग्रेटर इंडियन सोसाइटी' ने, जिसके अध्यक्ष रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे, ओबेरमिल्लेर को अपना सदस्य चुना।

श्चेर्बात्स्की के दूसरे शिष्य **मिखाईल तुब्यान्स्की** (१८९३-१९४३) प्राचीन भारतीय और बगला साहित्य, भारतीय, तिब्बती और मंगोल भाषाविज्ञान, दर्शन के इतिहास और बौद्ध धर्म जैसे प्राच्यविद्या के क्षेत्रों के मर्मज्ञ जानकार थे। तीसरे दशक में वे नूतन भारतीय भाषाओ – बंगला और हिंदी – के पहले अध्यापकों में एक थे। साथ ही वे संस्कृत भी पढ़ाते थे। तुब्यान्स्की की पहली बड़ी वैज्ञानिक कृति 'न्यायप्रवेश' तथा बौद्ध न्याय रचनाओं के अध्ययन से संबधित थी। उन्होंने चीनी और तिब्बती रूपांतरों का उपयोग करते हुए 'न्यायप्रवेश' के मूल संस्कृत पाठ

का प्रकाशन किया। तुब्यान्स्की ने कई वर्षों तक मंगोलिया की वैज्ञानिक अनुसंधान समिति के तिब्बती अध्ययन विभाग में काम किया। मंगोलिया में उन्हें 'चतुःस्तव' का संस्कृत पाठ मिला, जो खो गया माना जाता था। इस ग्रंथ का उन्होंने टीका सहित अनुवाद तैयार किया। तुब्यान्स्की ने सुम्पाखांपो के 'भारत, तिब्बत और मंगोलिया में बौद्ध धर्म का इतिवृत्त' पुस्तक के अनुवाद पर, तिब्बती-मंगोल शब्दकोश पर, आयुर्वेद और तिब्बती चिकित्सा प्रणाली के शब्दकोश-संदर्भग्रंथ पर तथा तिब्बती स्रोतों के आधार पर भारतीय भौतिकवाद के अध्ययन पर काम किया। असामयिक निधन के कारण उनकी रचनाओं का बड़ा भाग अपूर्ण ही रह गया या प्रकाशित नहीं हो पाया।

अ० वोस्त्रिकोव (१९०४-१९४२) मुख्यतः तिब्बतविद्या का ही अध्ययन करते थे, पर भारतविद्या के क्षेत्र में भी उन्होंने काफ़ी कुछ किया। श्चेर्बात्स्की के दूसरे शिष्यों की भांति उन्होंने धर्मकीर्ति के दर्शन के बारे में लिखा, 'इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली में उद्योतकर के 'न्यायवार्त्तिक' और धर्मकीर्ति के 'वादन्याय' के बारे में उनका शोधकार्य छपा। १९३४ में वसुबंधु के न्यायशास्त्र पर वोस्त्रिकोव का वृहद शोध ग्रंथ भारत में प्रकाशन के लिए स्वीकार किया गया। १९३६-१९३७ में उन्होंने श्चेर्बात्स्की के साथ मिलकर संस्कृत के ऐतिहासिक-ज्योतिष ग्रंथ 'कालचक्र' का अध्ययन किया। इस ग्रंथ की दो पांडुलिपियों और तिब्बती अनुवाद के आधार पर वोस्त्रिकोव ने इसका पाठ तो प्रकाशन के लिए तैयार कर दिया, लेकिन रूसी अनुवाद और टिप्पणियां तैयार नही कर पाये।

बोरिस सेमिचोव (१९००-१९८१) ने दार्शनिक ग्रंथ 'कर्मसिद्धि' का मूल पाठ और अनुवाद प्रकाशित किये, भारत और तिब्बत की जडी-बूटियों के बारे में शोध रचना तैयार की। चौथे दशक के अंत से छठे दशक के मध्य तक उनके वैज्ञानिक कार्य में अंतराल रहा और इसके बाद उन्होंने तिब्बती भाषा के प्रश्नों की ओर ही विशेष ध्यान दिया।

प्राच्यविद्या संस्थान की स्थापना के बाद भारत-तिब्बत कक्ष के कार्य की योजना में दर्शन और बौद्ध धर्म के ही नही, इतिहास के प्रश्न भी शामिल किये गये। प्राचीन भारत के सामाजिक इतिहास के अध्ययन का और सर्वप्रथम इस विषय पर सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कृत और पाली ग्रंथों के अनुवाद का कार्यभार निर्धारित किया गया। इन ग्रंथों के रूप में कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और बौद्ध जातक कथाएं चुनी गईं। विद्वानों के एक दल ने, जिसमें श्चेर्बात्स्की, ओल्देनबुर्ग, ओबेरमिल्लेर और सेमिचोव शामिल थे, १९३२ तक 'अर्थशास्त्र' का अनुवाद मुख्यतः पूरा कर लिया था (यह १९५९ में छपा)। ओल्देनबुर्ग ने ही इस कार्य की योजना बनाई थी। वे उचित ही यह मानते थे कि प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था की समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत-ग्रंथों के अनुवाद और विश्लेषण से ही शुरू होना चाहिए।

भारत-तिब्बत कक्ष के कार्य में भारतीय विषयों की भूमिका धीरे-धीरे अधिक व्यापक हो रही थी, लेकिन ऐसा मूलतः आधुनिक भारत से संबंधित विषयों की बदौलत ही हो रहा था। चौथे दशक में इस कक्ष में भारतीय विद्वानों ए० मुखर्जी और चट्टोपाध्याय ने भी काम किया। अकादमीशियन बरान्निकोव नूतन भारतीय भाषाओं और समसामयिक भारतीय साहित्य के अध्ययन के सक्रिय समर्थक थे। १९३६ में उनके संचालन में नूतन भारतीय कक्ष खुला था। शीघ्र ही भारत-तिब्बत कक्ष भी दो भागों – भारतीय और तिब्बती – में बंट गया।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि श्चेर्बात्स्की और उनके अनुयायियों-सहयोगियों द्वारा भारत और उसके सीमावर्ती देशों की संस्कृति के अध्ययन में एकतरफ़ापन था। चौथे दशक में उन्हें उचित ही इस बात का उलाहना दिया जाता था कि वे प्राचीन भारत के इतिहास की, विशेषतः, सामाजिक-आर्थिक इतिहास की समस्याओं की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं देते तथा समसामयिक भारतीय संस्कृति के प्रश्नों को नज़रंदाज़ करते हैं। इन विद्वानों की रचनाओं में प्रायः बौद्ध धर्म का आदर्शीकरण और प्राचीन संस्कृति की समस्याओं के प्रति भाववादी रुख पाया जाता था। तथापि आज, कुछ दशक बीत जाने पर समसामयिक शोधकर्त्ता का ध्यान इस धारा की कमज़ोरियों की ओर नहीं, इसकी उपलब्धियों की ओर ही आकर्षित होता है। स्वयं भारत में और उसके बाहर फैले "उत्तरी" बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए लेनिनग्राद के विद्वानों ने जितना कार्य किया, उतना और किसी भी देश के बौद्ध धर्म अध्येताओं ने नहीं किया। श्चेर्बात्स्की और उनके शिष्यों ने बहुत से नये और अल्पज्ञात ग्रथ खोजे और उन्हें अध्ययन का विषय बनाया। इन विद्वानों ने बौद्ध विश्वदृष्टिकोण और दर्शन की मूलभूत अवधारणाओं के स्पष्टीकरण में बहुत योगदान किया, भारतीय संस्कृति के इतिहास में बौद्ध धर्म का महत्त्व और सारे केंद्रीय व पूर्वी एशिया के आत्मिक जीवन पर भारत का प्रभाव उजागर किया।

भारत से संबंधित कार्य में लगे भाषाविदों में **र० शोर** और **ई० फ़्रांक-कामेनेत्स्की** उल्लेखनीय हैं। र० शोर ने 'पंचतंत्र' (१९३०) और 'वेतालपच्चीसी' (१९३६) का अनुवाद किया। 'वेतालपच्चीसी' के विभिन्न पाठभेदों के सहसंबध का विश्लेषण करते हुए र० शोर इस निष्कर्ष पर पहुंचीं कि छंदबद्ध पाठभेद ही इसका आदि रूप है। उन्होंने इस रचना पर गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' का तथा लोक भाषाओं के लुप्त साहित्य का प्रभाव देखने की चेष्टा की। "कथा के अंदर कथा" वाली रचनाओं को वे मौखिक लोक साहित्य की परम्परा के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा मानती थीं। तीसरे-चौथे दशकों में साहित्य-आलोचक "कथा के अंदर कथा" वाली रचनाओं में कथन की विधि और शैली संबंधी साधनों का पता लगाने तथा पश्चिमी गल्प के साथ प्रारूपात्मक तुलना करने की ओर विशेष ध्यान देते थे। ई० फ़्रांक-कामेनेत्स्की ने भारतीय मिथकों के प्रारूपात्मक विश्लेषण पर कतिपय शोध रचनाएं लिखीं, इनमें एक में उन्होंने आदम और पुरुष के मिथकों की तुलना की थी। काव्य-भाषा

की समस्या के संदर्भ में उन्होंने भारतीय साहित्य की उपमाओं और अलंकारों पर भी ग़ौर किया। फ्राक-कामेनेत्स्की के शोधकार्य की दिशा का तथा उनके कुछ विचारों व प्रेक्षणों का महत्त्व आज तक बना हुआ है।

चौथे दशक मे सोवियत प्राच्यविद्या की सामान्य अवधारणाएं गठित हुईं, जिनमें प्राचीन पूरब के इतिहास से संबंधित अवधारणाए भी थीं। 'सोवियत परिस्थितियों में पूरब और पश्चिम' नामक कृति मे ओल्देनबुर्ग ने १९३१ में ही लिखा था : "हमारे लिए जनगण और देशों का पूरब और पश्चिम में विभाजन नहीं है, ऐसा विभाजन नही है कि इन्हें एक दूसरे के विरुद्ध रखा जाए और इनका अध्ययन अलग-अलग ढंग से किया जाए। पूरब भी हमारे संघ में पश्चिम के समान अधिकारों के साथ समाहित हुआ है और हम इसका अध्ययन उसी मार्क्सवादी रीति से करते हैं, जिससे पश्चिम का। पूरब में भी वर्ग संघर्ष वैसे ही चलता आया है और चल रहा है, जैसे कि पश्चिम में। पूरब के इतिहास में वे ही विरचनाएं बनी हैं, जो कि पश्चिम में।" यह देख पाना कठिन नहीं है कि इस वक्तव्य में एक ओर रूसी प्राच्यविद्या के परम्परागत सिद्धांतों का नैरंतर्य है, तो दूसरी ओर पूरब व पश्चिम की एकता मार्क्सवादी विश्वदृष्टिकोण की भावना में, सामाजिक-आर्थिक विरचनाओं के सिद्धांत के आधार पर निर्धारित की गई है। चौथे दशक के आरंभ में सोवियत विद्वानों ने दृढ़तापूर्वक इस विचार का खंडन कर दिया था कि पूरब के विकास के कोई विशेष मार्ग रहे हैं (तथाकथित "एशियाई उत्पादन विधि", जिसके लक्षण थे असाधारण गतिहीनता, निरंकुशता और भूमि पर निजी स्वामित्व का न होना)। इस अवधारणा की अभिपुष्टि हो गई थी कि पूरब के देश भी उन्हीं सामाजिक-आर्थिक विरचनाओं से गुज़रे हैं, जिनसे पश्चिमी देश। प्राचीन संसार को दासप्रथात्मक विरचना के प्रभुत्व का काल माना जाता था। इस प्रसंग में आरंभ में यह माना जाता रहा कि प्राचीन पूरब के देशों में दासप्रथात्मक संबंधों का प्रभुत्व उन्हीं रूपों में था, जिनमें यह प्राचीन यूनान और रोम में था। प्राचीन भारत को भी प्राचीन पूरब का एक अंश माना जाता था। हां, यहां यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि सोवियत इतिहासवेत्ताओं के लिए प्राचीन पूरब तथाकथित "यूनानप्रभावित पूरब" (निकट पूर्व) ही नहीं है, जैसा कि पश्चिमी इतिहासवेत्ता मानते हैं, बल्कि वे इसमें सुदूर पूर्व और दक्षिणी एशिया के देश भी शामिल करते हैं, यानी प्राचीन युग के सभी देश, सिवाय प्राचीन यूनान और रोम के। यह मत सोवियत इतिहासशास्त्र की सामान्य अवधारणाओं को (सामाजिक-आर्थिक विरचनाओं के सिद्धांत को) प्रतिबिम्बित करता था और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों व पाठ्यपुस्तकों में अभिपुष्ट हुआ था। महान देशभक्ति-पूर्ण युद्ध (१९४१-१९४५) के छिड़ने से कुछ समय पहले प्रकाशित प्राचीन पूरब के इतिहास की पाठ्यपुस्तक में प्राचीन भारत में दासप्रथा के महत्त्व पर बल दिया गया था। यद्यपि उस अध्याय में प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप स्पष्टतः निरूपित नहीं किया गया था, तथापि दूसरे अध्यायों से यह स्पष्ट था कि

प्राचीन पूरब के देशों में भी दासप्रथात्मक उत्पादन विधि का प्रभुत्व रहा था। प्राचीन भारत में दासप्रथा का विशाल महत्त्व प्रमाणित करने के लिए प्राचीन भारतीय शूद्रों को दास (या दासों जैसी स्थिति वाले कामगर) घोषित किया गया था (जैसा कि अनेक पश्चिमी इतिहासकारों की रचनाओं में भी किया जाता था – 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया' तथा भारतीय विद्वान सिन्हा, बैनर्जी, आदि की पुस्तकें देखिये)।

कुल जमा चौथे दशक में सारी सोवियत प्राच्यविद्या के पुनर्गठन का कार्य संपन्न हुआ, वैज्ञानिक कार्य के संगठन में तथा पूरब के इतिहास की मार्क्सवादी समझ का विकास करने में निर्विवाद सफलताएं पाई गईं। चौथे दशक के अंत तक प्राचीन पूरब के, जिसमें भारत भी आता था, सामाजिक इतिहास की सामान्य अवधारणा तैयार कर ली गई। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में भारत का सामाजिक और राजनीतिक इतिहास इस अवधारणा के अनुसार प्रस्तुत किया जाने लगा। लेकिन प्राचीन भारत के ही इतिहास पर विशेषतः कोई शोधकार्य अभी नहीं हुआ था।

युद्धोपरांत वर्ष
(पांचवें दशक के मध्य से छठे दशक के मध्य तक)

युद्धोपरांत पहले वर्षों में ही सोवियत संघ में प्राचीन भारत के इतिहास का विशेषतः अध्ययन होने लगा। यह कार्य मुख्यतः मास्को में ही हो रहा था, लेनिनग्राद में नहीं (युद्ध के बाद प्राच्यविद्या का केंद्र मास्को बन गया था)। विश्वविद्यालयों में विश्व इतिहास के समुचित अध्यापन के लिए एशियाई देशों के इतिहास के पाठ्यक्रम शुरू करना और पाठ्यपुस्तकें तैयार करना आवश्यक था। मास्को विश्वविद्यालय में **अ० ओसिपोव** प्राचीन और मध्ययुगीन भारत के इतिहास पर लेक्चर देते थे। १९४८ में उनकी पुस्तक 'दसवीं सदी तक के भारत के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा' छपी। यह सोवियत इतिहासशास्त्र में इस विषय पर पहली और काफ़ी लंबे समय तक एकमात्र पुस्तक थी। इस छोटी सी पुस्तक में प्राचीन और आदि मध्ययुग में भारत के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास के मुख्य चरणों को चित्रित करने का प्रयास किया गया। १९४८ में भारतविद **द० सुलैकिन** ने भारत के सामाजिक इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक समस्याओं पर एक रिपोर्ट पेश की – 'प्राचीन भारत के इतिहास के काल-विभाजन के मूलभूत प्रश्न' (यह १९४९ में 'प्रशांत महासागर संस्थान के वैज्ञानिक नोट', खण्ड २ में प्रकाशित हुई)। १९५०-५१ में **ग० इल्यीन** के प्राचीन भारत में दासप्रथा पर लेख छपे। इनमें लेखक ने प्राचीन भारतीय स्रोतों, मुख्यतः, धर्मशास्त्रों का विश्लेषण किया था (ये ग्रंथ इल्यीन ने संस्कृत में ही पढ़े थे, संस्कृत उन्होंने म० पेतेरसन से सीखी थी)। इन इतिहासकारों की रचनाओं में

हम समसामयिक इतिहासशास्त्र के ज्ञान की छाप पाते हैं। भारतीय इतिहासकारों की रचनाओं की ओर तो उन्होंने विशेष ध्यान दिया। ऐसा अकारण ही नहीं था और इसका कारण केवल यही नही था कि सोवियत प्राच्यविद सदा ही एशियाई देशों के विद्वानों द्वारा अपने देश के इतिहास पर किये जाने वाले कार्य में दिलचस्पी लेते रहे हैं, बल्कि यह भी कि तीसरे दशक से भारतीय इतिहासवेत्ता प्राचीन भारत में सामाजिक-आर्थिक संबंधों की ओर विशेष ध्यान देने लगे थे। कतिपय सामान्य प्रश्नों पर सोवियत इतिहासकारों ने भारतीय विद्वानों से तर्क-वितर्क किया। उदाहरणतः, द० सुलैकिन ने यह इंगित किया कि भारत के इतिहास का वैज्ञानिक आधार पर निर्धारित काल-विभाजन नही है। भारतीय इतिहासवेत्ताओं (उपेन्द्रनाथ घोषाल, बैनर्जी, आदि) के कतिपय ठोस निष्कर्षों का सोवियत विद्वानों ने उपयोग किया।

पांचवें दशक के अंत में सोवियत इतिहासशास्त्र में कतिपय सामान्य प्रणाली-वैज्ञानिक सिद्धांत निरूपित हो गये। नस्लवादी सिद्धांत से संबंधित अवधारणाएं पूर्णतः अस्वीकार्य सिद्ध हुईं। सभी सोवियत शोधकर्त्ताओं ने एकमत से इस व्याख्या को अस्वीकार किया कि प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था "आर्यों की विजय" के फलस्वरूप बनी। उन्होंने इसका संबंध सामाजिक संस्तरों के बनने की प्रक्रिया से जोड़ा। कतिपय भारतीय विद्वानों के साथ तर्क-वितर्क में सोवियत भारतविदों ने यह विचार व्यक्त किया कि प्राचीन भारत में दासता के प्रश्न को नैतिक नही, बल्कि सामाजिक-आर्थिक मूल्यांकन की दृष्टि से देखना चाहिए। सभी प्राचीन वर्ग समाजों के गठन और विकास में दासप्रथा ने बहुत महत्त्वपूर्ण, प्रगतिशील भूमिका अदा की थी। सोवियत इतिहासवेत्ता यह मानते हैं कि सारे इतिहास का – भारत के भी इतिहास का – क्रम किन्हीं अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा, विचारों या अमूर्त आदर्शों द्वारा, बाहरी प्रभावों या चढ़ाइयों द्वारा नहीं, बल्कि अर्थव्यवस्था और सामाजिक संबंधों के विकास द्वारा निर्धारित हुआ था। सभी सोवियत विद्वान इतिहास की प्रेरक शक्तियों के मूल्यांकन में एकमत थे। अ० ओसिपोव ने अपनी रचना में भारत के भौगोलिक पर्यावरण तथा उत्पादन की भौतिक परिस्थितियों की ओर ध्यान देने के साथ-साथ देश की उत्पादन शक्तियों के, प्राचीन भारतीय राज्य में कृषि, शिल्प और व्यापार के विकास की ओर भी उचित ध्यान दिया। अर्थव्यवस्था के विकास का विश्लेषण करते हुए लेखक ने "पितृसत्ताक-सामुदायिक व्यवस्था" के विघटन तथा वर्ग समाज और राज्य के उद्‌भव के कारण उजागर किये। सोवियत इतिहासकारों के बीच इस प्रश्न पर कोई मतभेद नहीं है कि सामाजिक संबंधों को चरित्रित करने में उत्पादन विधि निर्णायक महत्त्व रखती है, कि वर्ग समाज में राज्य की क्या भूमिका है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सिद्धांत की बदौलत इतिहास अलग-थलग तथ्यों का योगफल, राजवंशों की सूची या किन्ही महान व्यक्तियों की कार्यस्थली, विचारों के विस्तार का क्षेत्र, आदि नहीं रहा – सामाजिक संबंधों का विश्लेषण करके स्वयं जनता के इतिहास का अध्ययन करना संभव हो गया, जिसमें वस्तुगत नियमसंगतियों का पता लग पाता था। सोवियत

इतिहासशास्त्र का एक सामान्य सिद्धांत यह भी था कि जनगण को "ऐतिहासिक" और "अनैतिहासिक" में विभाजित न करके सभी को इतिहास का स्रष्टा माना गया। उदाहरणत:, अ० ओसिपोव ने लिखा कि "भारत के क़बीले और जातियां सांस्कृतिक विकास के स्तर की दृष्टि से एक समान नही थे, लेकिन वे सब किसी न किसी हद तक भारत के इतिहास के स्रष्टा थे।" मार्क्सवादी इतिहासशास्त्र के ये मूलभूत और निर्विवाद सिद्धांत इस बात के साक्षी थे कि सोवियत संघ में प्राचीन भारत के अध्ययन की नई धारा का गठन हो रहा है।

इसके साथ ही साथ भारतविद्या की ठोस समस्याओं पर विचारों में कोई सर्वमान्य आधार नही था। प्राचीन भारत में प्रचलित स्वामित्व और शोषण के रूपों, प्राचीन युग में दासता के विकास के परिमाण और दासता की भूमिका जैसे आधारभूत प्रश्नों पर वादानुवाद हो रहा था। स्रोत ग्रंथों की व्याख्या विभिन्न ढग से की जाती थी, इतिहास की समझ के सैद्धातिक प्रश्नों में भी मतभेद थे। प्राचीन भारतीय स्रोतो के साक्ष्यों के आधार पर तथा भारत के बारे में मार्क्स के लेखों का हवाला देते हुए ओसिपोव भारत के सामाजिक ढांचे में ग्राम समुदाय और संयुक्त परिवार के महत्त्व पर जोर देते थे। उनका मत था कि दासप्रथा ने भारत के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, क्योंकि यह प्रथा सामाजिक विभेदन में और राज्य के गठन में सहायक थी, लेकिन प्राचीन भारत में प्रभुत्वकारी वर्ग मुख्यत: राजस्व के ज़रिए ग्राम समुदायों का शोषण करके ही अपना अस्तित्व बनाये हुए थे। दासों के शोषण का निर्णायक महत्त्व नहीं था। ओसिपोव ने यह इंगित किया कि प्राचीन भारतीय आर्थिक दस्तावेज़ों के अभाव में इन प्रश्नो के अपर्याप्त अध्ययन के कारण प्राचीन भारत की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के बारे में सामान्य निष्कर्ष केवल सोपाधिक ही हो सकते हैं। अत: पूर्ण विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन भारत मे विकसित दासप्रथात्मक उत्पादन विधि अस्तित्व में आ चुकी थी। मौर्य काल में दासप्रथात्मक संबंधो के द्रुत विकास के बावजूद दासप्रथा मुख्यत: घरेलू ही थी और अर्थव्यवस्था के प्रमुख क्षेत्रों मे इसका प्रभुत्व नहीं था। राजस्व को ओसिपोव "शक्तिशाली क्षत्रिय और ब्राह्मण गोत्रों" द्वारा ग्राम समुदायों के सामंतवादी शोषण का आदिम रूप मानते थे। उनके मत में भारत में दासप्रथा ने अपनी प्रगतिशील भूमिका अंत तक नही निभाई, इसने गोत्र संबंध पूर्णत: नष्ट नहीं किये, निजी स्वामित्व के विकास की, श्रम के व्यापक विभाजन की और नगरो के ग्रामों से अलग होने की प्रक्रिया, आदि की नींव नही डाली। प्राचीन युग में भी और मध्ययुग में भी शोषण का मूल रूप जिंसी लगान ही था।

ओसिपोव ने अपनी पुस्तक में भारत की जाति-प्रथा पर विशेषत: विस्तार से विचार किया। उन दिनों अनेक इतिहासकार प्राय: वर्णों और जातियों में सुस्पष्ट भेद नहीं करते थे, उन्हें एक दूसरे के साथ गड्डमड्ड कर देते थे। लेकिन ओसिपोव ने इनमें भेद किया और वर्णों को ऐसी श्रेणियां माना, जो राज्य के गठन की प्रक्रिया

में बनीं, वर्णों की उत्पत्ति को वे "स्वतंत्र आबादी में कार्यों के विभाजन" से संबंधित मानते थे। जातियों को वे उत्पत्ति की दृष्टि से अधिक पुरानी प्रथा मानते थे और उनका संबंध आदिम व्यवस्था के युग में ही विभिन्न गोत्रों के पार्थक्य से जोड़ते थे। शूद्र वर्ण की उत्पत्ति की समस्या पर विचार करते हुए सोवियत भारतविद ने इस प्रक्रिया का सामाजिक-आर्थिक अंतर्य खोजने की चेष्टा की। उनके विचार में, शूद्र आर्थिक अर्थ में दास नही थे, बल्कि ये ऐसी निम्न श्रेणी के लोग थे, जिसे पूर्ण अधिकार नहीं प्राप्त थे। शूद्र वर्ण विभिन्न क़बीलों को जीतकर और उन्हें उत्पादन साधनों से वंचित करके ही नही, बल्कि दूसरे रास्तों से भी उत्पन्न हो सकता था। आर्थिक दृष्टि से यह बात ही महत्त्वपूर्ण है कि शूद्रों में प्राय: सभी के सभी भूमि के निजी स्वामी नहीं थे, बटाईदार के नाते काम करते थे, इत्यादि, और उनके अधिकारों की श्रेणीगत अपूर्णता आर्थिक पराश्रय से जुड़ी हुई थी।

द० सुलैकिन ने प्राचीन भारतीय समाज की कुछ भिन्न तस्वीर पेश की। प्राचीन भारत में दासप्रथात्मक विरचना के प्रभुत्व को स्वीकार करते हुए उन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास को निम्न चरणों में बांटा: आदिम सामुदायिक व्यवस्था का विघटन (लगभग १५वी-१०वी सदी ई० पू०), नौवी-दूसरी सदी ई० पू० में दासप्रथात्मक संबंधों का स्वर्ण युग तथा पहली-तीसरी सदी ई० मे दासप्रथात्मक संबंधों का विघटन।

इस बात को आधारभूत महत्त्व का तथ्य मानते थे कि प्राचीन भारत में दासप्रथा अपने विकास के उच्चतम रूपों तक नही पहुची। प्राचीन भारत मे समुदाय बना रहा, जो आदिम जनतंत्र का अवशेष था। सामुदायिक स्वामित्व निजी स्वामित्व के और दासप्रथा के विकास में बाधक था, अधिक प्रगतिशील दासप्रथात्मक व्यवस्था के विकास के मार्ग में प्रमुख बाधा था। सुलैकिन प्राचीन भारत की सामाजिक संरचना में दो प्रतिलोम पद्धतियों – दासप्रथा और ग्राम समुदाय – की अटूट एकता पाते थे। ईसवी संवत के आरंभ में भारत में सामंतवादी संबंधो के उद्‌भव पर विचार करते हुए उन्होंने जातिप्रथा की ओर विशेष ध्यान दिया, जिसने, उनके विचार में, इस काल में ही अपना पूर्णत: विकसित रूप ग्रहण किया।

ग० इल्यीन की उन दिनों की रचनाओं की सामान्य अवधारणा सुलैकिन के दृष्टिकोण से मिलती थी। 'सोवियत साहित्य में प्राचीन भारत की सामाजिक विरचना का प्रश्न' शीर्षक लेख में ओसिपोव के दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए इल्यीन ने उनके रुख मे निहित अंतर्विरोध की ओर ध्यान दिलाया। इल्यीन इस बात से सहमत नहीं थे कि समुदाय के सभी सदस्यों को एक वर्ग माना जाये। उनका कहना था कि एक ही समुदाय के सदस्यों की वर्ग-स्थिति भिन्न-भिन्न हो सकती थी। उन्हें समग्र रूप से सामंती-पराश्रित किसान वर्ग के समान नहीं माना जाना चाहिए। इल्यीन ने यह भी इंगित किया कि ओसिपोव के अनुसार यदि प्राचीन युग में शोषण का प्रमुख रूप सामंती लगान था, तो फिर भारत के इतिहास को प्राचीन और मध्ययुग में बांटना ही तर्कसंगत नहीं है। इल्यीन का कहना था कि लगान को शोषण का विशेष रूप

माना ही नहीं जा सकता। उनके विचार में, प्राचीन भारतीय समुदाय सामंती पद्धति का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे, बल्कि आदिम सामुदायिक पद्धति का अवशेष थे। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि प्राचीन भारत मे उत्पादन के क्षेत्र में दासप्रथा पूरी तरह नही छा सकी थी, लेकिन चूंकि यह प्रथा ही प्राचीन युग के सर्वाधिक प्रगतिशील संबंध व्यक्त करती थी, इसलिए प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था को दासप्रथात्मक ही माना जाना चाहिए (जिसमें ग्राम समुदाय के रूप में आदिम सामुदायिक व्यवस्था के तत्व बने रहे थे)।

पांचवें दशक के अंत और छठे के आरंभ में प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था के बारे मे जो दृष्टिकोण व्यक्त किये गये, वे भारतविद्या संबंधी सोवियत साहित्य में आज भी किसी न किसी रूपांतर में विकसित हो रहे हैं।

'प्राचीन भारतीय स्मृतियों में शूद्र और दास' शीर्षक लेख में इल्यीन ने 'मनुस्मृति' और दूसरे संस्कृत ग्रंथो के सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर इस दृष्टिकोण को ग़लत सिद्ध किया कि शूद्रों को दास माना जाना चाहिए। उन्होंने वर्ग और वर्ण के बीच सैद्धांतिक मतभेद निर्धारित किया और सिद्ध किया कि न केवल शूद्र वर्ण दासों का वर्ण नहीं था, बल्कि दासों की कोई अलग श्रेणी हो ही नही सकती। मनुष्य का वर्ण उसके जन्म से निर्धारित होता था, जबकि वर्गीय स्थिति (उत्पादन साधनो के प्रति संबंध) बदल सकती थी। भारत की जाति-प्रथा पर विचार करते हुए इल्यीन ने यह मत व्यक्त किया कि वर्ण सामाजिक असमानता के विकास के आधार पर विकसित श्रेणियां हैं, जबकि जातियों (व्यावसायिक समुदायों) की उत्पत्ति श्रम के सामाजिक विभाजन से संबंधित है। इल्यीन के इस लेख का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ है और विशेषज्ञ इससे परिचित हैं। उदाहरणत:, सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान रामशरण शर्मा ने 'प्राचीन भारत में शूद्र' नामक अपनी पुस्तक में सोवियत भारतविद के लेख का उच्च मूल्यांकन किया, जिसने यह "सिद्ध किया था कि शूद्र दास नहीं थे।"

प्राचीन भारतीय दासप्रथा के इतिहास मे एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना थी ग० इल्यीन का लेख 'प्राचीन भारत में दासप्रथा की विशिष्टताएं'। दासता के स्रोतों, दासों की श्रेणियो, उनकी स्थिति और मुक्ति की शर्तों के बारे में संस्कृत ग्रंथों की जानकारी का विस्तार से विश्लेषण करते हुए लेखक इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि प्राचीन भारतीय शब्द "दास" की अवधारणा पूर्णत: वही नही थी, जो यूरोप में "स्लेव" की है और जिसके लिए आधुनिक समाजशास्त्र व इतिहास में "दास" शब्द प्रयुक्त होता है। प्राचीन भारतीय दासों की कुछ श्रेणियों को वैज्ञानिक दृष्टि से दास (स्लेव) वर्ग में नही रखा जा सकता। 'अर्थशास्त्र', बौद्ध जातकों और दूसरे स्रोतों के आधार पर इल्यीन ने प्राचीन भारतीय दासप्रथा के घरेलू, पितृसत्ताक स्वरूप पर बल दिया। अपने लेख में इल्यीन ने यह दिखाया कि प्राचीन भारत में दासों को कतिपय संपत्ति संबधी और व्यक्तिगत अधिकार प्राप्त थे, कि दासो पर स्वामियों का अधिकार सी-

व्लादीमिर वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की

मित था, पूर्णतः निरंकुश नहीं था और स्वतंत्र नागरिकों और दासों के बीच भेद एकदम सुस्पष्ट नहीं था। ग० इल्यीन के मत में, प्राचीन भारत में दासप्रथा की मूल विशिष्टता थी इसका अविकसित होना तथा आदिम सामुदायिक व्यवस्था के सशक्त अवशेष, जो निजी स्वामित्वात्मक दासप्रथा के विकास में बाधक थे। इस लेख में उन दिनों सोवियत साहित्य में प्रचलित उन दृष्टिकोणों का विशेषतः विरोध किया गया था, जो प्राचीन पूरब में दासप्रथा के विकास के परिमाण और स्तर को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते थे। साथ ही उपरोक्त अवधारणा के प्रकाश में इल्यीन ने प्राचीन भारत में दासप्रथात्मक उत्पादन विधि के अस्तित्व पर संदेह नहीं किया।

युद्ध के पश्चात पहले वर्षों में भारत के स्वतंत्र होने तथा सोवियत संघ के साथ भारत के संबंध विकसित होने के फलस्वरूप सोवियत संघ में भारत के प्रति, उसके अतीत और प्राचीन संस्कृति के प्रति रुचि बढ़ी। वे ग्रंथ प्रकाशित किये गये, जिन पर युद्ध के दिनों में काम हो रहा था। १९४८ में अकादमीशियन बरान्निकोव के वर्षों के भगीरथ परिश्रम का फल – तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का अनुवाद – प्रकाशित हुआ। यह हिंदी के मध्ययुगीन साहित्य के पहले अनुवादों में से एक था। इसने सोवियत पाठकों को भारतीय काव्य और पौराणिक कथाओं की प्राचीन परम्पराओं से परिचित कराया। १९५० में महाभारत के पूर्ण अनुवाद का पहला खण्ड

प्रकाशित हुआ। यह कार्य अकादमीशियन बरान्निकोव की पहलक़दमी पर शुरू किया गया था। आदिपर्व का अनुवाद लेनिनग्रादवासी संस्कृतविद व० कल्यानोव ने किया था।

छठे दशक का आरंभ ही लेनिनग्राद के प्रतिभावान भारतविद **व० वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की** (१९२७-१९५६) का कार्यकाल था। उन्होंने लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के प्राच्य संकाय में बरान्निकोव से शिक्षा पायी थी। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, हिंदी, तामिल, तिब्बती और फ़ारसी भाषाएं सीखीं और विश्वविद्यालय की पढ़ाई के अंतिम वर्षों में स्वयं भी पहले वर्षों के छात्रों को संस्कृत पढ़ाने लगे। १९५१ में विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी करके वे प्राच्यविद्या संस्थान के हस्तलिखित प्राच्य ग्रंथ विभाग में काम करने लगे। यहां उन्होंने तिब्बती, भारतीय और केंद्रीय एशियाई ग्रंथों की छानबीन की, केंद्रीय एशिया में मिले अद्वितीय ग्रंथों का प्रकाशन शुरू किया और इस तरह ओल्देनबुर्ग और उनके सहयोगियों द्वारा शुरू की गयी परम्परा को जारी रखा। वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की भारतीय पुरालेखों के बहुत बड़े मर्मज्ञ बन गये। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के प्राच्य संकाय में उन्होंने तिब्बतविदों का प्रशिक्षण फिर से शुरू किया। तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में कार्य करते हुए उन्होंने भारतीय आर्य भाषाओं में पुरुषवाचक सर्वनामों के विकास के बारे में ग्रंथ तथा भारतीय आर्य भाषाओं के विकास में अधःस्तर भाषाओं की भूमिका पर कई लेख लिखे। संस्कृत साहित्य में सजीव रुचि दर्शाते हुए उन्होंने शूद्रक कृत 'मृच्छकटिकम्' का अनुवाद किया, जो १९५६ में, उनके देहांत के वर्ष में ही छपा। गेरासिम लेबेदेव के कार्य-कलापों का अनुसंधान तथा मिनायेव की भारत यात्रा की प्रकाशित डायरियों में टिप्प-णियां इस युवा विद्वान के असाधारण ज्ञान और व्यापक रुचियों का परिचय देते हैं। वे भारत-सोवियत सांस्कृतिक संबंध समाज के प्रकाशनों के लिए नियमित रूप से लिखते थे तथा 'सोवियत सूचना ब्यूरो' प्रायः भारत व बर्मा में छपवाने के लिए उनसे लेख लिखवाता था। प्राचीन भारत के इतिहास पर लेखादि लिखने, प्राचीन भारतीय दर्शन, कला इत्यादि पर कार्यों में भाग लेने का भी अवसर उन्हें मिला। अपने अल्प जीवन-काल में ही इस मेधावी विद्वान ने विशाल कार्य संपन्न किया, अनेक ऐसे विषयों पर कार्य आरंभ किया, जिनका गत दशकों में सोवियत भारतविद सफलतापूर्वक अध्ययन कर रहे हैं।

समसामयिक भारतविद्या

छठे दशक के मध्य से पूरब के अनेक देशों, विशेषतः भारत के साथ सोवियत संघ के संबंध और भी अधिक घनिष्ठ हो गये। इन्हीं दिनों प्राच्यविद्या के द्रुत और

यूरी रेरिख़

व्यापक विकास का, पूरब के देशों के चहुंमुखी अध्ययन का कार्यभार रखा गया। इस समय भारत में सोवियत लोगों की रुचि का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि इन दिनों भारतीय ललित साहित्य की अनेकानेक रचनाओं तथा समसामयिक भारतीय लेखकों की वैज्ञानिक रचनाओं के अनुवाद छपे। कुछ उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा: १९५४ में सिन्हा और बैनर्जी की पुस्तक 'भारत का इतिहास' रूसी में निकली, १९५५ में नेहरू जी की 'भारत की खोज', चटर्जी और दत्त की पुस्तक 'भारतीय दर्शन के इतिहास का परिचय' १९५४ और १९५५ में दो बार छपी, १९५६-५७ में डा० राधाकृष्णन का विशद ग्रंथ 'भारतीय दर्शन' प्रकाशित हुआ। भारत की प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर में पाठकों की विशेष रुचि थी।

अपने समय के प्रमुखतम तिब्बतविद और भारतविद **यूरी रेरिख़** १९५७ में सोवियत संघ लौटे। अपने जीवन का अधिकांश समय उन्होंने भारत में बिताया था और वहां अच्छी तरह जाने जाते थे। यूरी रेरिख़ (१९०२-१९६०) ने अपने पिता, सुविख्यात रूसी कलाकार, दार्शनिक, चिंतक, निकोलाई रेरिख़ से पूरब के प्रति रुचि की घुट्टी पायी थी। किशोरावस्था में जाने-माने रूसी मिस्रविद व० तुरायेव और मंगोलविद अ० रूद्नेव उनके शिक्षक थे। उनके वैज्ञानिक अनुसंधानों की दिशा को रूसी प्राच्यविद्या के तथा क्रांतिपूर्व और क्रांति के पहले वर्षों में कुल जमा रूसी संस्कृति

के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। यूरी रेरिख़ ने आरंभ में लंदन विश्वविद्यालय के भारतीय-ईरानी विभाग में और फिर हार्वर्ड विश्वविद्यालय में शिक्षा पायी और पेरिस में अपना ज्ञान परिष्कृत किया। उन्होंने यूरोप के प्रमुख प्राच्यविदों, जैसे पी० पेलियो, एस० लेवी, ए० मेये, एच० मैस्पेरो और वी० मिनोर्स्की आदि से संस्कृत, तिब्बती, मंगोल, चीनी और फ़ारसी भाषाएं सीखीं। (यहां यह भी बता दें कि इन सब विद्वानों के ओल्देनबुर्ग और श्चेर्बात्स्की तथा अन्य सोवियत प्राच्यविदों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क थे तथा इनमें से कुछ सोवियत विज्ञान अकादमी के विदेशी सदस्य भी थे।) १६२४ से यू० रेरिख़ ने भारत, मंगोलिया और पश्चिमी चीन की यात्रा की। १६३० में वे कुल्लू स्थित रेरिख़ संग्रहालय के उरुस्वती हिमालय अनुसंधान संस्थान के डायरेक्टर बने। सोवियत संघ के जाने-माने विद्वान इस संस्थान के साथ सहयोग करते थे। भारत में यूरी रेरिख़ संस्कृत, तिब्बती और चीनी भाषाएं पढ़ाते थे। केंद्रीय एशिया के इतिहास और संस्कृति पर उन्होंने अनेक लेख लिखे। वे एशियेटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल के सदस्य थे। अपने पिता की ही भांति यूरी रेरिख़ भी अपने को सदा रूसी अनुभव करते थे, रूसी जनता के भाग्य के साथ अपना अटूट संबंध महसूस करते थे और अपने को रूसी प्राच्यविद्या का ही प्रतिनिधि मानते थे। इसलिए १६५७ में उनका अपनी जन्म-भूमि लौट आना सर्वथा सुसंगत ही था। किंतु मास्को में अधिक जीना यू० रेरिख़ के भाग्य में नहीं बदा था और १६६० में उनकी मृत्यु हो गयी। फिर भी इन तीन वर्षों में उन्होंने यहां प्राचीन भारतीय दर्शन और साहित्य विषयक शोधकार्यों को नयी प्रेरणा प्रदान की। वे स्वयं वैदिक भाषा पढ़ाते थे। पाली की कक्षाओं का भी उन्होंने प्रबंध किया। छठे दशक के अंत में जो नौजवान भारतविद्या के क्षेत्र में पदार्पण कर रहे थे, उनमें से बहुतों को उनसे परामर्श पाने का सुअवसर मिला। यूरी रेरिख़ की पहल पर 'बौद्ध पुस्तकमाला' का प्रकाशन फिर से शुरू हुआ। इसमें तीसरे-चौथे दशकों के विद्वानों की रचनाएं भी छापी गयीं (जैसे आर्यशूर की 'जातक-माला' का अ० बरान्निकोव द्वारा किया गया अनुवाद, जिसे ओ० वोल्कोवा ने प्रकाशन के लिए तैयार किया था, अ० वोस्त्रिकोव की पुस्तक 'तिब्बती ऐतिहासिक संस्कृति') और युवा सोवियत प्राच्यविदों की रचनाएं भी (जैसे व० तोपोरोव द्वारा अनूदित 'धम्मपद')। यूरी रेरिख़ ने बरसों तक तिब्बती-संस्कृत-अंग्रेज़ी-रूसी शब्दकोश पर काम किया था। उनके जीवन की यह प्रमुखतम कृति आजकल मुद्रणाधीन है।

छठे दशक के मध्य में प्राच्यविदों के प्रशिक्षण का काम बहुत सुधारा गया। इस ध्येय से मास्को विश्वविद्यालय के अंतर्गत प्राच्य भाषा संस्थान खोला गया (अब यह "एशियाई एवं अफ़्रीकी देशों का संस्थान" कहलाता है)। इस समय से वैज्ञानिक प्रकाशनों का परिमाण निरंतर बढ़ता रहा है, वैज्ञानिक अनुसंधानों का विशेषीकरण विकसित हुआ है। सोवियत विद्वान भारतविद्या के सभी क्षेत्रों को अपने दायरे में

लेने की आवश्यकता अनुभव करने लगे। पिछले बीस वर्षों के दौरान अनेक क्षेत्रों में सोवियत प्राच्यविद्या विश्व भर में उच्चतम स्तर पर पहुची है और इसके साथ ही इसने मार्क्सवादी वैज्ञानिक विधि पर आधारित अपनी विशेषता बनाये रखी है।

आजकल सोवियत प्राच्यविद्या का और प्राचीन भारत के अध्ययन का भी प्रमुख केंद्र सोवियत विज्ञान अकादमी का प्राच्यविद्या संस्थान है। प्राचीन भारत का अध्ययन इस संस्थान के प्राचीन पूरब विभाग में किया जाता है, जहां प्राचीन भारत के इतिहास, दर्शन, भाषाओं और साहित्य के अनेक विशेषज्ञ हैं। संस्थान के दूसरे विभागों – प्राच्य ग्रंथों के प्रकाशन के विभाग, साहित्य विभाग, भाषा विभाग, भारत, बंगलादेश, नेपाल और श्रीलंका के विशेष विभाग – में भी संस्कृतविद काम करते हैं। प्राच्यविद्या संस्थान में भारतविद्या की प्रायः सभी शाखाओं में काम करने वाले विज्ञान-कर्मी हैं। संस्थान की लेनिनग्राद शाखा में भी दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया का विभाग है। यहां मुख्यतः हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रहों पर तथा प्राचीन भारतीय साहित्य की अमर कृतियों के अध्ययन पर काम होता है। केंद्रीय एशिया के संस्कृत ग्रंथों के प्रकाशन का काम म० वोरोब्योवा-देस्यातोव्स्काया और ऐ० त्योम्किन (लेनिनग्राद), ग० बोंगार्द-लेविन, व० वेर्तोग्रादोवा और ओ० वोल्कोवा (मास्को) कर रहे हैं। प्राच्यविद्या संस्थान की लेनिनग्राद शाखा के कर्मी महाभारत के पूर्ण अनुवाद पर आगे काम कर रहे हैं, वे महाकाव्यों तथा अन्य साहित्यिक रचनाओं के अध्ययन का भी काम कर रहे हैं। मास्को में सोवियत विज्ञान अकादमी के विश्व साहित्य संस्थान में भी भारतीय महाकाव्यों का अध्ययन हो रहा है। इस संस्थान के भारतविद प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय साहित्य की सैद्धांतिक समस्याओं पर काम करते हैं, आजकल वे भारतीय साहित्य का विशद इतिहास तैयार कर रहे हैं। मास्को विश्वविद्यालय के एशियाई और अफ्रीकी देशों के संस्थान में भी प्राचीन भारत पर शोधकार्य होता है। एशियाई एवं अफ्रीकी देशों के साहित्य विभाग में मुख्यतः प्राचीन भारतीय सौंदर्य-शास्त्र, काव्य और रंगमंच का अध्ययन होता है, जबकि दक्षिणी एशियाई देशों के इतिहास के विभाग में प्राचीन व मध्ययुगीन भारत की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का। भारतीय वाङ्मीमांसा विभाग के कर्मी संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं का अध्ययन करते हैं। मास्को विश्वविद्यालय के इतिहास संकाय के प्राचीन विश्व इतिहास विभाग में भी प्राचीन भारत के इतिहास पर शोधकार्य होता है।

लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के भारतीय वाङ्मीमांसा विभाग में प्राचीन भारत के साहित्य और भारतीय – भारोपीय और द्रविड़ – भाषाओं के विशेषज्ञ काम करते हैं। तार्तू विश्वविद्यालय (एस्तोनिया) में बौद्ध साहित्य, दर्शन और मनोविज्ञान की समस्याओं का (मुख्यतः प्रज्ञापारमिता ग्रंथों के आधार पर) अध्ययन किया जाता है। सामाजिक विज्ञान संस्थान की बुर्यात शाखा में संस्कृत और तिब्बती भाषाओं में लिखे गये बौद्ध दर्शन ग्रंथों का अध्ययन होता है। नृजातिवर्णन संस्थान और पुरातत्व संस्थान की लेनिनग्राद स्थित शाखाओं में पुरैतिहासिक भारतीय सभ्यता पर शोधकार्य

होता है। मास्को स्थित नृजातिवर्णन संस्थान के भारत विभाग के कर्मी मुख्यत: समसामयिक भारतीय क़बीलों का मानववैज्ञानिक अध्ययन करते हैं, पर साथ ही यहां प्राचीन और समसामयिक हिंदू धर्म की परम्पराओं पर रचनाएं भी तैयार की जाती हैं। दर्शन संस्थान, कला इतिहास एवं सिद्धांत संस्थान, स्लावविद्या और बल्कानविद्या संस्थान, प्राकृतिक विज्ञान एवं प्रविधि इतिहास संस्थान, लेनिनग्राद स्थित धर्म एवं निरीश्वरवाद संग्रहालय तथा अन्य कई वैज्ञानिक प्रतिष्ठानों में भी भारतविद्या पर काम होता है। लेनिनग्राद के हर्मिताज संग्रहालय और मास्को स्थित प्राच्य कला संग्रहालय में, मध्य एशियाई जनतंत्रों के संग्रहालयों और वैज्ञानिक केंद्रों में मध्य एशिया के भारत से संबंधित पुरातात्त्विक स्मारकों पर काम होता है। दुशांबे और ताशक़ंद के प्राच्यविद्या संस्थानों में मध्ययुगीन भारतीय हस्तलिखित ग्रंथों का विशेष अध्ययन किया जाता है। जार्जियाई जनतंत्र के प्राच्यविद्या संस्थान में अनेक संस्कृत-विशेषज्ञ काम कर रहे हैं। सोवियत संघ के कई उच्च शिक्षा संस्थानों में संस्कृत का नियमित अध्यापन होता है, जैसे मास्को विश्वविद्यालय का एशियाई और अफ़्रीका देशों का संस्थान, इसी विश्वविद्यालय के इतिहास, वाङ्मीमांसा और दर्शन संकाय, लेनिनग्राद विश्वविद्यालय का प्राच्य संकाय, त्बिलीसी विश्वविद्यालय, जहां संस्कृत-विद्या के क्षेत्र में काम होता है, वीलनियुस और तार्तू विश्वविद्यालय, आदि। समय-समय पर मध्ययुगीन भारतीय भाषाओं – पाली और प्राकृतों – की कक्षाओं का भी प्रबंध किया जाता है। धीरे-धीरे उन शिक्षा संस्थाओं का दायरा बढ़ रहा है, जहां संस्कृत पढ़ाई जाती है और उन प्रतिष्ठानों का भी, जिनमें भारतविद्या के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य हो रहा है। संस्कृत और प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रश्नों में न केवल वैज्ञानिक, बल्कि आम लोग भी बहुत रुचि लेते हैं। १९७५ में प्राच्यविद्या संस्थान अंतर्राष्ट्रीय संस्कृतविद्या संघ का सदस्य बना। अखिल संघीय प्राच्यवेत्ता संघ के अंतर्गत एक सोवियत संस्कृतविद्या संघ क़ायम किया गया, जिसका ध्येय इस क्षेत्र में सोवियत विद्वानों के वैज्ञानिक कार्यों में समन्वय करना है।

पिछले दो दशकों में सोवियत संघ में प्राचीन भारत की समस्याओं पर दसियों विशेष ग्रंथ और सैकड़ों लेख छपे हैं। लेख मुख्यत: 'वेस्निक द्रेव्नेइ इस्तोरी' (प्राचीन इतिहास संदेश), 'नरोदी आज़ी ई आफ़्रिकी' (एशिया और अफ़्रीका के जनगण) जैसी विशेष पत्रिकाओं में छपते हैं। 'वेस्निक एम० गे० ऊ०' (मास्को विश्व-विद्यालय का संदेश), 'वेस्निक एल० गे० ऊ०' (लेनिनग्राद विश्वविद्यालय का संदेश), 'क्रात्कीये सोओब्श्चेनिया इस्तीतूता आर्खेओलोगी' (पुरातत्व संस्थान की संक्षिप्त सूचनाएं), 'वोप्रोसी इस्तोरी' (इतिहास की समस्याएं), 'सोवेत्स्काया एत्नोग्राफ़िया' (सोवियत नृजातिवर्णन) पत्रिकाओं में और मध्य एशिया में छपने-वाली पत्रिकाओं में समय-समय पर भारतविद्या संबंधी लेख छपते हैं। 'सोवेत्स्काया आर्खेओलोगिया' (सोवियत पुरातत्व) पत्रिका में भारत में होने वाली पुरातत्वीय खुदाइयों के बारे में सिंहावलोकनात्मक लेख नियमित रूप से छपते रहते हैं। भारत-

विद्या के क्षेत्र में विदेशों में हो रहे अनुसंधान कार्य की ओर भी बहुत ध्यान दिया जाता है। अग्रणी सोवियत पुराविदों ने बाख़्त्री और भारत में यूनानियों के बारे में डब्ल्यू० टार्न की तथा भारतीय पुरातत्व पर मार्टिमेर व्हीलर की पुस्तकों पर अपने विचार व्यक्त किये। डब्ल्यू० रूबेन और थामस ट्रौटमन, इवा रिचल और मरिया शेटेलिख़, आदि के भारतविद्या संबंधित अनुसंधानों पर सविस्तार समीक्षाओं में ग़ौर किया गया। भारत में इतिहास के अध्ययन की समस्याओ और उपलब्धियों में सोवियत संघ में विशेष रुचि ली जाती रही। सोवियत पत्रिकाओं में समय-समय पर भारतीय विद्वानों के नये कार्यों के बारे में सूचनाएं छापी गयी और नये प्रकाशनों की समीक्षा भी। उदाहरणतः, भारतीय इतिहास के भारत-यूनानी काल के बारे में ए० के० नारायण की पुस्तक में तथा ए० एन० लाहिरी द्वारा प्रकाशित भारतीय-यूनानी सिक्कों की विवरणिका में सोवियत पुराविदो और इतिहासवेत्ताओं ने गहरी रुचि दिखाई। भारत में हो रहे 'श्रौतकोश' और 'धर्मकोश' के प्रकाशन जैसे विशाल कार्यों के बारे में काफ़ी विस्तृत जानकारी छापी गयी। जाने-माने संस्कृतविदों पांडुरंग वामन काणे और आर० पी० कांगले की रचनाओं के प्रकाश में धर्मशास्त्रों और 'अर्थशास्त्र' के अध्ययन की स्रोत संबधी समस्याओ का विशेषतः विश्लेषण किया गया। भारतीय दर्शन के इतिहास पर कई प्रमुख रचनाओं, जैसे कि धर्मेंद्रनाथ शास्त्री ा पुस्तक 'भारतीय यथार्थवाद की आलोचना' की विस्तृत समीक्षाएं प्रकाशित हुईं। भारतीय दर्शन के इतिहास पर पिछले वर्षों के प्रकाशनों के विस्तृत सिंहावलोकन में सर्वाधिक रोचक प्रकाशन और अनुवाद इंगित किये गये, सामान्य ग्रंथों में व्यक्त धारणाओं का तथा भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक अध्ययन की आधुनिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया। सोवियत पुस्तकालयों में आये प्रमुख भारतीय ग्रंथों का सारांश सोवियत विज्ञान अकादमी के सामाजिक विज्ञान संबधी सूचना संस्थान द्वारा प्रकाशित सार-संग्रहों में नियमित रूप से छापा जाता रहा।

भारतविद्या के क्षेत्र में सामाजिक इतिहास के विषय पर हो रहे शोधकार्यों को विशेषतः महत्त्वपूर्ण माना जाता है। भारत में इतिहास के अध्ययन की अपनी राष्ट्रीय धारा गठित होने का सोवियत विद्वानों ने स्वागत किया। उनके विचार में निस्संदेह भारतविद्या की सभी राष्ट्रीय धाराओं में इसे ही प्रथम स्थान प्राप्त होना चाहिए। सोवियत संघ और भारत में प्राचीन भारत के अध्ययन विषयक सिद्धांतों में कई समानताएं हैं। दोनों देशों में नस्लवादी और यूरोप-केंद्रीयतावादी धारणाओं के प्रति, औपनिवेशिक विचारधारा की हर तरह की अभिव्यक्ति के प्रति नकारात्मक रुख अपनाया गया है। साथ ही सोवियत विद्वानो ने कतिपय भारतीय विद्वानों के ऐतिहासिक प्रक्रिया की व्याख्या भाववादी दृष्टिकोण से करने के प्रयासों या इतिहास को शासकों, धर्म-प्रवर्तकों की जीवनियो तक सीमित करने के प्रयासों की आलोचना की। यह बात विशेषतः सुप्रसिद्ध इतिहासकार आर० सी० मजूमदार के सम्पादन में भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रकाशित बहुखण्डीय ग्रंथ 'द हिस्ट्री एंड कल्चर आफ़ इंडियन पीपुल'

पर लागू होती है। साथ ही उन्होंने भारतीय इतिहासशास्त्र में प्रगतिशील दिशा के तथा ऐसे विद्वानों की रचनाओं के प्रकट होने की ओर भी ध्यान दिलाया, जिन पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद का निश्चित प्रभाव पडा है और जिनके कार्यों में सोवियत संघ में भारतविद्या के क्षेत्र में हो रहे कार्य के साथ बहुत सी समानताएं हैं। विभिन्न वर्षों में सोवियत विद्वानों का ध्यान डी० डी० कोशाम्बी, डी० आर० चानना, श्रीपाद अमृत डांगे, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर तथा अन्य भारतीय इतिहासकारों की रचनाओं की ओर आकर्षित होता रहा है। इन भारतीय विद्वानों की रचनाएं इसलिए मूल्यवान हैं कि इनमें भारत के विकास की सामान्य नियमसंगतियों और विशिष्टताओं को उजागर करने का, भारत में वर्गों और राज्य की उत्पत्ति, सामाजिक-आर्थिक विरचनाओं का संक्रमण, आदि समस्याओं को हल करने का प्रयास किया गया है। लेकिन साथ ही छठे दशक के आरंभ में सोवियत इतिहासवेत्ताओं ने प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था में बेशी उत्पादन अथवा व्यापार की भूमिका को, श्रम विभाजन और समाज के संस्तरण को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने के लिए, प्राचीन भारत की सामाजिक प्रक्रियाओं के आधुनिकीकरण और संस्कृत स्रोतों की व्याख्या में आत्मगत रुख के लिए श्रीपाद डांगे की रचना की आलोचना की। विलक्षण भारतीय इतिहासकार डी० डी० कोशाम्बी की रचनाओं का सोवियत विशेषज्ञों द्वारा मूल्यांकन भिन्न-भिन्न रहा, लेकिन सभी ने एकमत से उनकी इस बात के लिए आलोचना की कि उनकी समाजवैज्ञानिक निर्मितियां सतही हैं, कि उन्होंने प्राचीन भारत के सामाजिक विकास में व्यापार की भूमिका को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया है, कई मामलों में वर्गों और जातियों को एक ही माना है, सामंतवाद को केवल राजनीतिक और विधिक संबंधों की प्रणाली माना है, इत्यादि। साथ ही उनकी पुस्तक 'द कल्चर एंड सिविलिज़ेशन आफ़ एंशेंट इंडिया' का रूसी में अनुवाद किया गया और विशेषज्ञों तथा आम पाठकों ने भी इस पुस्तक में गहरी रुचि दिखाई। उच्च कोटि के संस्कृतविद, पुराविद और इतिहासवेत्ता डी० डी० कोशाम्बी ने आधुनिक भारत में प्राचीन भारत के अध्ययन के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। भारतीय विद्वान रामशरण शर्मा की पुस्तकों – 'शूद्राज़ इन ऐंशेंट इंडिया', 'इंडियन फ्यूडलिज़्म', 'एस्पेक्ट्स आफ़ पॉलिटिकल आइडियाज़ एंड इंस्टीटूशन इन ऐंशेंट इंडिया' – का सोवियत विशेषज्ञों ने उच्च मूल्यांकन करते हुए उनके तर्क-वितर्कों की विज्ञानसम्मति, और मूलग्रंथों, स्रोतों के उनके अनुपम ज्ञान को सराहा है। ऐतिहासिक विषयवस्तु की ओर सामान्य भौतिकवादी रुख, उत्पादन संबंधों में परिवर्तन खोजने की चेष्टा, वर्ग संघर्ष के प्रश्नों की ओर ध्यान यह सब रामशरण शर्मा को श्रेष्ठतम सोवियत विद्वानों के समीप लाता है। रामशरण शर्मा तथा अन्य समसामयिक भारतीय इतिहासकारों की रचनाओं का सोवियत भारतविद व्यापक उपयोग करते हैं।

विभिन्न मतों का प्रतिनिधत्व करने वाले भारतीय विद्वानों की विभिन्न विषयों पर रचनाएं सोवियत संघ में छपी हैं। नेहरू जी की कृतियों 'डिस्कवरी आफ़ इंडिया'

और 'ग्लिम्प्सेज़ आफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री' के अलावा सोवियत पाठक डी० डी० कोशाम्बी की 'द कल्चर एंड सिविलिज़ेशन आफ ऐंशेंट इंडिया', डी० आर० चानना की 'स्लेवरी इन ऐंशेंट इंडिया', आर० बी० पांडेय की 'हिंदू संस्कार', आदि पुस्तकों से भी परिचित हुए हैं। प्रमुख भारतीय विद्वानों के लेख भी छपते रहे हैं, जैसे दिनेशचंद्र सरकार का भारतीय शिलालेखों के बारे में लेख और डी० डी० कोशाम्बी का भारतीय नृजातिवर्णन विषयक लेख, इत्यादि। सोवियत विद्वानों के लेखों और ग्रंथों का भारत में प्रकाशन निरंतर बढ़ते वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संबंधों का साक्षी है, जो विचारों और सूचनाओं के अधिक अच्छे आदन-प्रदान में सहायक होते हैं। सोवियत और भारतीय विद्वानों की आपसी मुलाक़ातों का भी बड़ा महत्त्व है। वी० राघवन, सुनीतिकुमार चटर्जी, डी० डी० कोशम्बी, आर एन० दंडेकर, आर० एस० शर्मा, बी० बी० लाल, बी० के० थापर, जी० आर० शर्मा, बी० एन० मुखर्जी, सुवीरा जायसवाल, इत्यादि अनेक जाने-माने भारतीय विद्वान सोवियत संघ आ चुके हैं।

सोवियत विद्वानों की अधिकांश शोध रचनाएं नियमित रूप से छपने वाले विभिन्न विषयवस्तुमूलक संग्रहों में प्रकाशित होती हैं। इनमें कुछ उल्लेखनीय संग्रह हैं: 'भारत में नाटक और रंगमंच' (१९६१), 'प्राचीन भारत का इतिहास और संस्कृति' (१९६३), 'प्राचीन युग में भारत' (१९६४), 'भारत में जाति-प्रथा' (१९६४), 'भारतीय संस्कृति और बौद्ध धर्म' (१९७२), 'भारत और मध्य पूर्व के देशों के इतिहास की समस्याएं' (१९७२), 'भारत के सामाजिक-आर्थिक इतिहास पर निबंध' (१९७३), 'भारत के साहित्य' (१९७३), 'भारतीय जनगण के इतिहास, भाषा और संस्कृति की समस्याएं' (१९७४), 'संस्कृत और प्राचीन भारतीय साहित्य', भाग १-२ (१९७९), 'प्राचीन और मध्ययुगीन भारत का साहित्य एवं संस्कृति' (१९७९), 'प्राचीन भारत। ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संपर्कों की समस्याएं' (१९८२), इत्यादि। भारतविद्या संबंधी लेख-संग्रह केवल मास्को और लेनिनग्राद में ही नहीं छपते। 'तार्तू विश्वविद्यालय की वैज्ञानिक डायरी' (एस्तोनिया) में भी महत्त्वपूर्ण शोध रचनाएं छपती हैं। उदाहरणतः, १९७३ में निकला इस माला का दो भागों का अंक मुख्यतः भारत को ही समर्पित था। इसमें रूसी और एस्तोनियाई विद्वानों के ही नहीं, बल्कि यान गोंडा जैसे जाने-माने यूरोपीय संस्कृतविदों के भी लेख थे। उलान-उदे में छपने वाले लेख-संग्रहों 'केंद्रीय एशिया के इतिहास और वाङ्मय संबंधी सामग्री' में भी भारत संबंधी लेखों को काफ़ी बड़ा स्थान प्राप्त होता है।

प्रायः लेख-संग्रह वैज्ञानिक संगोष्ठियों, सम्मेलनों की सामग्रियों पर आधारित होते हैं। इन सम्मेलनों का आयोजन मुख्यतः प्राच्यविद्या संस्थान करता है। भारतविद्या पर सम्मेलन आयोजित करना सोवियत विद्वानों की एक सुपरम्परा बन गई है। ऐसे बड़े अखिलसंघीय भारतविद्या सम्मेलन भी हुए हैं, जिनमें विभिन्न विषयों पर दसियों रिपोर्टें पेश की गईं। अधिक विशेषीकृत वैज्ञानिक संगोष्ठियां भी होती हैं, जो कभी-कभी प्रमुख रूसी भारतविदों की स्मृति को समर्पित होती हैं। उदाहरणतः, १९६५

मे इवान मिनायेव की स्मृति में, १९६६ में फ्योदोर श्चेर्बात्स्की की स्मृति में और १९६७ में यूरी रेरिख़ की स्मृति में वैज्ञानिक संगोष्ठियां हुईं। भारतविद्या सम्मेलनों और उनकी सामग्रियों के प्रकाशन में विद्वज्जगत सदा गहरी रुचि लेता है। छठे दशक के अंत से सोवियत भारतविद अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और कांग्रेसों में भी भाग ले रहे हैं। उदाहरणत , १९५९ में ग० इल्यीन ने भुवनेश्वर में हुए अखिल भारत प्राच्यविद सम्मेलन में भाग लिया और प्राचीन भारत में दासप्रथा की विशिष्टताओं पर निबंध पढ़ा। मास्को, दिल्ली और कैनबरा में हुई प्राच्यविदों की अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेसों में सोवियत विद्वानों ने सक्रिय भाग लिया। पिछले वर्षों से सोवियत भारतविद अंतर्राष्ट्रीय संस्कृतविद्या संघ के कार्यों में और उसकी कांग्रेसों में भी सक्रिय भाग ले रहे हैं।

यूनेस्को के तत्वावधान में चल रही केंद्रीय एशिया के अध्ययन की परियोजना में भी सोवियत प्राच्यविद सक्रिय भाग लेते हैं। इस परियोजना में सोवियत और भारतीय विद्वानों के प्रयासों को सर्वाधिक फलप्रद रूप से एकजुट किया जा सका है, क्योंकि इसके अंतर्गत उन इलाक़ों का अध्ययन होता है, जिनमें कुछ अब भारत गणराज्य का अंग हैं और कुछ सोवियत संघ का। इस परियोजना के अंतर्गत हो रहे अनुसंधान कार्यों की विशिष्टता है – व्यापक अंतरविषयी रुख़, विभिन्न मानविकी विषयों के विशेषज्ञों – इतिहासवेत्ताओं और पुराविदों, भाषाविदों और कलामर्मज्ञों, दार्शनिकों और धर्मवेत्ताओं के प्रयासों को एकजुट करना। १९६८ में दुशांबे में कुषाण-कालीन मध्य एशिया के पुरातत्व, इतिहास और कला पर विशाल अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमें भारत के तथा केंद्रीय एशिया के दूसरे देशों के अग्रणी विशेषज्ञों ने और यूरोपीय प्राच्यविदों ने भी भाग लिया। प्रमुख भारतीय विद्वानों – दिनेशचंद्र सरकार, जी० आर० शर्मा, जे० एस० नेगी, बी० एन० पुरी, एल० चंद्र, बी० बी० लाल, बी० के० थापर , बी० एन० मुखर्जी तथा अन्य कई ने सम्मेलन में अपने निबंध पढ़े। सम्मेलन के अवसर पर सोवियत संघ में कई पुस्तकें प्रकाशित की गई थीं – सोवियत पुराविदों की कुषाण काल से संबंधित रचनाओं की सूची, कुषाण कालानुक्रम पर शोध रचना, इत्यादि। साथ ही कुषाणकालीन मध्य एशिया की संस्कृति और कला की कृतियों की प्रदर्शनी भी आयोजित की गई। सम्मेलन की विषय-वस्तु बहुत व्यापक थी, इसमें कुषाणों की उत्पत्ति, कालानुक्रम, भाषा और लिपि, कुषाण राज्य की सीमाएं और राजनीतिक इतिहास, आर्थिक विकास, सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था, सांस्कृतिक संबंध, धर्म और कला तथा आदि-मध्ययुग में कुषाण काल की धरोहर जैसे विषय शामिल थे। सम्मेलन की सारी सामग्री १९७४-७५ में 'कुषाणकालीन केंद्रीय एशिया' शीर्षक दो खण्डों में प्रकाशित हुई। कुषाण काल पर सोवियत विद्वानों की रचनाओं में भारत में गहरी रुचि ली जाती है। १९७० में 'सोवियत इंडोलोजिकल सीरीज़' में सुविख्यात भारतीय विद्वान देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने 'कुषाण स्टडीज़ इन यू० एस० एस० आर०' नामक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें कुषाण

युग के इतिहास और संस्कृति पर सोवियत विद्वानों के लेख संकलित हैं। इसकी भूमिका में चट्टोपाध्याय लिखते हैं: "भारतविद्या के क्षेत्र में सोवियत और भारतीय विद्वानों के बीच घनिष्ठ सहयोग बढ़ाने, उनके बीच अधिक परस्पर समझ और विचारों का सीधा आदान-प्रदान विकसित करने का महत्त्व अपार है और इसकी सभावनाएं असीम।" उपरोक्त परियोजना के अंतर्गत हुए कार्यों के परिणामों और परिप्रेक्ष्यों के बारे में एक विशेष पुस्तक प्रकाशित की गई। यह है: ब० गफ़ूरोव, ल० मिरो-शिनकोव, 'केंद्रीय एशिया की सभ्यताओं का अध्ययन (यूनेस्को की परियोजना के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का अनुभव)'। यह पुस्तक इस बात की साक्षी है कि सोवियत संघ में इस दिशा में शोधकार्य को कितना महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

१९६९ में दिल्ली में केंद्रीय एशिया पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसके परिणामों का अपार वैज्ञानिक महत्त्व था। इस सम्मेलन में लब्धप्रतिष्ठ भारतीय विद्वानों (एच० डी० सांकलिया, बी० के० थापर, जी० आर० शर्मा, बी० एन० मुखर्जी, अमलेन्दु गुहा, आदि) के साथ-साथ सोवियत विद्वानों ने भी भाग लिया। इस सम्मेलन का केंद्रीय विषय था प्राचीन युग से लेकर आधुनिक काल तक भारत और मध्य एशिया के बीच ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संबंधों का इतिहास। प्राचीन युग (द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू०) में केंद्रीय एशिया के इतिहास की नृजातीय समस्याओं पर १९७७ में दुशांबे में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में भारतीय इतिहासवेत्ताओं, पुराविदों और भाषा-विदों ने सक्रिय भाग लिया। इस संगोष्ठी के प्रमुख विषय थे – 'केंद्रीय एशिया के जनगण की नृजातीय उत्पत्ति में मूल और आगत तत्व', 'केंद्रीय एशिया के प्राचीन नृजातीय इतिहास के पुरातत्त्वीय और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पहलू', 'भारतीय उपमहाद्वीप का नृजातीय इतिहास'।

१९८० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की पहल पर भारत और मध्य एशिया के पुरातत्त्व, नृजातियों तथा भाषाओं और प्राचीन इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन की एक संयुक्त सोवियत-भारतीय योजना बनायी गयी। इसके अनुसार संयुक्त पुरा-तात्त्विक तथा ऐतिहासिक अनुसंधान, संयुक्त प्रकाशन, वैज्ञानिक साहित्य का आदान-प्रदान, और वैज्ञानिक सेमीनारों, इत्यादि का आयोजन किया जाना था। योजना के मुताबिक १९८२ में इलाहाबाद में एक संयुक्त सोवियत-भारतीय पुरातत्त्व तथा प्राचीन इतिहास सिंपोज़ियम हुआ, जिसमें सोवियत विद्वानों ने मध्य एशिया और काकेशिया में की गयी नयी खोजों और भारतीय विद्वानों ने अपने कार्यों के बारे में बताया। दूसरा सिंपोज़ियम १९८३ में अश्काबाद में आयोजित किया गया।

सोवियत और भारतीय विद्वानों के फलप्रद सहयोग की एक अन्य मिसाल भारत में सोवियत मानववैज्ञानिक अभियान दल का कार्य है, जिसके परिणाम भारत की जातियों की उत्पत्ति के प्रश्न के समाधान के लिए काफ़ी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं।

प्राचीन भारत के इतिहास पर ग० बोंगार्द-लेविन और ग० इल्यीन ने एक बृहद्-ग्रंथ लिखा है – 'प्राचीन भारत। ऐतिहासिक रूपरेखा' (१९६९)। इस पुस्तक के

दो सस्करण निकल चुके हैं। इस ग्रंथ में पुरा प्रस्तर युग से लेकर गुप्त काल के अत तक के इतिहास के सभी पहलुओं – सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास – पर गौर किया गया है। इस ग्रंथ की मूल अवधारणाएं भारत के इतिहास पर एक दूसरी पुस्तक में भी प्रतिबिम्बित और अंशत: विकसित हुई हैं। 'भारत का इतिहास' नामक यह पुस्तक अतोनोवा, बोंगार्द-लेविन और कोतोव्स्की ने लिखी है और इसमें प्राचीन युग से लेकर आधुनिक दिनों तक का इतिहास दिया गया है। रूसी में इसके दो सस्करण निकल चुके हैं, हिंदी, बंगला, तमिल, मलयालम, पंजाबी, आदि भारतीय भाषाओं में और कई यूरोपीय भाषाओं में भी इसका अनुवाद हुआ है। उपरोक्त रचनाओं में निरूपित सोवियत विद्वानों की अवधारणाएं विशेष वैज्ञानिक अनुसंधानों पर आधारित हैं। सोवियत विद्वानों के बीच इतिहास के सामान्य प्रणालीविज्ञान मे और मानव समाज के ऐतिहासिक विकास की समस्याओं के प्रति रुख के कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों में निश्चित ऐक्य है। यह बात प्राचीन भारत के इतिहास पर भी लागू होती है, लेकिन साथ ही इस इतिहास के ठोस प्रश्नों पर, जिनमें कभी-कभी अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी होते हैं, सोवियत भारतविदों में मतभेद हैं और वैज्ञानिक प्रकाशनों में इन प्रश्नों पर उग्र सैद्धांतिक वाद-विवाद चलता है। बोंगार्द-लेविन और इल्यीन की पुस्तक 'प्राचीन भारत' में कुछ हद तक सोवियत भारतविद्या के इस क्षेत्र के विकास का लेख-जोखा दिया गया है, इस क्षेत्र के अग्रणी सोवियत विशेषज्ञों की अवधारणाएं इसमें अभिव्यक्त हुई हैं; साथ ही इसमें निहित सभी मूल्यांकन निर्विवाद नहीं हैं और कुछ सोवियत विद्वानों का इन प्रश्नों पर बिल्कुल भिन्न मत है।

अब हम इस बात पर कुछ प्रकाश डालना चाहेंगे कि सोवियत संघ मे प्राचीन भारत के इतिहास के विभिन्न कालों और पहलुओं का कहां तक अध्ययन हुआ है। ऐसा करते हुए हम विशेषत: महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद प्रश्नों की अधिक विस्तार से चर्चा करेंगे। आजकल प्राचीन भारत के इतिहास के सभी कालों पर विभिन्न सोवियत विशेषज्ञ – इतिहासवेत्ता, पुराविद, भाषाविद, साहित्यविद, दार्शनिक इत्यादि काम कर रहे हैं।

भारत की प्राचीनतम सभ्यता – हड़प्पा सभ्यता – का अध्ययन शोधकर्त्ताओं का एक विशेष दल कर रहा है। इस दल के प्रमुख हैं यू० क्नोरोज़ोव। इनके कार्य के परिणाम 'प्रोटो-इंडिका' शीर्षक संग्रहों में दिये गये हैं। इन पर विशेषत: विचार किया जाना चाहिए। सोवियत विद्वान काफ़ी पहले ही सिंधु घाटी में हुई पुरातत्वीय खोजों में दिलचस्पी लेने लगे थे। तीसरे-चौथे दशकों में ही कतिपय वैज्ञानिक पत्रिकाओं में हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो की खुदाइयों के बारे में सिंहावलोकनात्मक लेख छपे थे। सिंधु सभ्यता की खोज को इस बात का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना गया कि भारत का इतिहास आर्यों से शुरू नही होता और आर्यों के इतिहास तक ही सीमित नही है, कि आर्यों के आगमन से पूर्व भी भारत में विकसित संस्कृति थी। पांचवें-छठे दशकों में भारत के पुरातत्त्व पर प्रकाश डालने वाली ई० मैके, गॉर्डन चाइल्ड

और एस० के० दीक्षित की पुस्तकों का रूसी में अनुवाद हुआ। छठे दशक से कतिपय अग्रणी सोवियत पुराविदो और इतिहासकारो की हड़प्पा सभ्यता पर स्वतंत्र शोध रचनाएं प्रकट होने लगी। व० म० मस्सोन की कृति 'मध्य एशिया और प्राचीन पूरब' तथा अ० श्चेतेन्को की 'प्रागैतिहासिक हिंदुस्तान' में हड़प्पा सभ्यता की सामग्री का गहराई से विश्लेषण किया गया है। मस्सोन ने मध्यपूर्व, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और मध्य एशिया की पुरैतिहासिक संस्कृतियों के विकास के संदर्भ मे भारत की पुरैतिहासिक खेतिहर संस्कृतियों की जांच की और साथ ही इन संस्कृतियों का अपना वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया। दूसरी कृति मे सारी नवीनतम पुरातत्त्वीय सामग्री की, जो मुख्यत: पिछले वर्षों मे भारतीय पुराविदो ने हासिल की है, बड़ी बारीकी से तैयार की गई संदर्भ सूची और विवरणिका दी गई है। अधिकांश सोवियत पुराविद और इतिहासकार हड़प्पा सभ्यता की स्थानीय उत्पत्ति के विचार को मानते हैं। वे ई० पू० तीसरी-दूसरी सहस्राब्दियों मे सिंधु घाटी मे विशाल केंद्रो की उत्पत्ति और विकास के भौतिक पूर्वाधारों का पता लगाने, उन्हें खोजने की चेष्टा करते हैं। वे ब्रिटिश पुराविद एम० व्हीलर के इस भाववादी कथन का दृढ़तापूर्वक खंडन करते हैं कि "विचारो के पंख" होते हैं, और उनके इस मत का भी कि सिंधु नगरो की उत्पत्ति दजला और फ़रात के दोआब में विकसित सभ्यता के प्रभाव से हुई, जहां से "नगरो का विचार" भारत आया। सोवियत पुराविद देशांतरणो की संभावना से इन्कार नही करते, लेकिन उनके मत मे सिंधु सभ्यता की उत्पत्ति पर इनका कोई निर्णायक प्रभाव नही पड़ा। सिंधु नगरो की आबादी को नृजातीय दृष्टि से सामान्यत: भारत के द्रविड़ जनगण से संबंधित ही माना जाता है। ऐसा स्वीकार करने के साथ-साथ हड़प्पा संस्कृति की धरोहर प्राचीन भारत की सभ्यता मे और हिंदू धर्म में देखने की कोशिश की जाती है। सिंधु सभ्यता की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का प्रश्न पश्चिम में भी और भारत में भी, आरंभ में मुख्यत: सुमेरी नगर-राज्यों के समनुरूप हल किया जाता था। ये नगर-राज्य हड़प्पा सभ्यता के दिनो मे अस्तित्वमान थे और इस सभ्यता के साथ उनका सम्पर्क था। चूंकि सोवियत इतिहासवेत्ता प्राचीन सुमेर की सामाजिक व्यवस्था को दासप्रथात्मक मानते हैं, इसलिए हड़प्पा समाज को भी दासप्रथात्मक माना गया। लेकिन अब शोधकर्त्ता इस प्रश्न मे अधिक सतर्कतापूर्ण रुख अपनाते हैं। पुरातत्वीय सामग्री से पता चलता है कि सिंधु सभ्यता के नगरों के निवासियों में संपत्ति और सामाजिक स्थिति की दृष्टि से असमानता थी। अनेक तथ्य इस बात के साक्षी हैं कि सिंधु घाटी में वर्ग समाज और राज्य अस्तित्व में आ चुके थे, जो कि यहां सभ्यता के विकास के स्तर के अनुरूप है। लेकिन फ़िलहाल उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस बारे में विश्वासपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता कि यहां राज्य का ठोस स्वरूप क्या था और वर्ग समाज की संरचना कैसी थी। सोवियत पुराविद अ० श्चेतेन्को ने इस बात पर संदेह व्यक्त किया है कि हड़प्पा सभ्यता के केंद्र "नगर" शब्द के सही-सही सामाजिक-आर्थिक अर्थ में नगर कहे जा सकते है। वे एस० आर०

राव की इस प्राक्कल्पना से सहमत नहीं है कि लोथल प्राचीनतम समुद्री बंदरगाह है। उनके विचार में मेसोपोटामिया के साथ हड़प्पा के संबंधो के बारे में इतिहासकारों के बीच जो मत प्रचलित है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण है। अधिसंख्य सोवियत विद्वान अ० श्चेतेन्को के इस मत को स्वीकार नहीं करते कि हड़प्पा सभ्यता को प्रागैतिहासिक युग में रखना चाहिए। हड़प्पा सभ्यता के पतन की समस्याओं पर गौर करते हुए सोवियत इतिहासकार मुख्यत: इस दृष्टिकोण को ही मानते हैं कि इसके पतन का कारण आर्यों की चढ़ाई नहीं माना जा सकता। सोवियत विद्वानों ने यह दृष्टिकोण सातवें दशक में ही व्यक्त कर दिया था और तब से वे इसके पक्ष में अधिकाधिक विस्तृत तर्क पेश करते आये हैं। उल्लेखनीय है कि अधिकांश भारतीय पुराविद और इतिहासकार भी हड़प्पा सभ्यता के पतन का कारण आर्य क़बीलों का आक्रमण नहीं मानते, बल्कि इसके अन्य कारण बताते हैं (इनमें जलवायु में परिवर्तन, बाढ़े, आदि कारण भी गिनाये जाते हैं)। सोवियत विद्वानों ने अपनी रचनाओं में सिंधु घाटी की हड़प्पा काल के अंतिम दिनों की और उत्तर-हड़प्पा काल की सभी बस्तियों का विस्तार से विश्लेषण किया है, जिसके फलस्वरूप सिंधु घाटी के हड़प्पा नगरों के जीवन के अंतिम दिनों का जटिल चित्र पेश करना संभव हो जाता है। विदेशी क़बीलों के किसी प्रबल प्रवाह की, जिसके बारे में एम० व्हीलर और उनके अनुयायियों ने लिखा था, बात उचित नहीं है। सोवियत विद्वानों का मत है कि सिंधु घाटी के केंद्रों के पतन के मुख्य कारण आंतरिक ही थे, जो स्वयं हड़प्पा सभ्यता के विकास से ही संबंधित थे। ऐसी प्रक्रियाएं पूर्वी ईरान और अफ़ग़ानिस्तान की प्राचीनतम नगर संस्कृतियों के इतिहास के उत्तर काल में भी देखने में आती हैं। साथ ही उन्होंने सातवें दशक में ही यह अनुमान व्यक्त किया था कि पंजाब में हड़प्पा सभ्यता के अंतिम दिनों की ऐसी बस्तियों का होना संभव है, जो "चित्रित धूसर भांड संस्कृति" के दिनों तक बनी रहीं। इस संस्कृति को बहुत से भारतीय और सोवियत विद्वान भारतीय आर्यों से या भारतीय आर्य क़बीलों के एक दल से सहसंबद्ध मानते हैं। हाल ही में जे० पी० जोशी द्वारा की गई खुदाइयों से इन अनुमानों की पुष्टि हुई है। इन खुदाइयों से हड़प्पा सभ्यता के पूर्वी सीमांत में हड़प्पा बस्तियों के "चित्रित धूसर भांड संस्कृति" के साथ सम्पर्कों का पता चला है।

प्राचीन भारत के पुरातत्व और नृविज्ञान के विषय पर प० बोरिस्कोव्स्की की पुस्तक 'दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में पुराप्रस्तर युग' (१९७१), अ० श्चेतेन्को की पुस्तक 'दक्खिन की प्राचीन खेतिहर संस्कृतियां' (१९६८) तथा कई विशेष लेख भी प्रकाशित हुए हैं। व० मस्सोन और अ० श्चेतेन्को की कई रचनाओं में नवप्रस्तर युग, ताम्र-प्रस्तर युग और कांस्य युग में प्राचीन भारत के प्रमुख सांस्कृतिक-आर्थिक क्षेत्र निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। अ० श्चेतेन्को तो अग्रणी भारतीय पुराविद एच० सांकलिया के मत के विपरीत इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं कि केंद्रीय भारत में ताम्र-प्रस्तर सभ्यता का उद्भव स्थानीय है। "चित्रित धूसर भांड

संस्कृति" को बी० लाल और दूसरे भारतीय विद्वानों के साथ-साथ अधिसंख्य सोवियत इतिहासकार भी आर्यों से या भारतीय आर्य क़बीलों के उस अंश से, जिसने ऋग्वेद की रचना की थी, संबंधित मानते हैं। इसके साथ ही भारतीय पुराविदों के नये शोधकार्यों के आधार पर सोवियत विद्वान इस बात पर ज़ोर देते हैं कि किसी ठोस पुरातत्वीय संस्कृति को किसी निश्चित नृजाति से सहसंबंधित माना जाना पूरी तरह से सापेक्षिक ही है। छठे दशक के मध्य में ही बोंगार्द-लेविन और द० देओपिक के लेखों में "ताम्र संचयों और गैरिक भांडों" की संस्कृति को मुंडा-भाषी क़बीलों के वर्ग की संस्कृति बताया गया था। यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक साहित्य में प्रचारित हुआ है। सोवियत विद्वानों के मत में आद्य मुंडा नवप्रस्तर युग में दक्षिण-पूर्वी एशिया से भारत में आये थे और भारत में ही उन्होंने "ताम्र संचयों और गैरिक भांडों" की ताम्र-प्रस्तर संस्कृति का विकास किया। सोवियत विद्वानों के निष्कर्ष बहुत हद तक उन दृष्टिकोणों के अनुरूप हैं, जो आजकल प्रमुख भारतीय पुराविद और इतिहासकार विकसित कर रहे हैं।

पिछले वर्षों से सोवियत इतिहासशास्त्र में अखिल भारतीय सांस्कृतिक धरोहर में आर्येतर जनगण के योगदान के सामान्य प्रश्न पर बड़ा ध्यान दिया जा रहा है। विभिन्न नृजातीय तत्वों की अन्योन्यक्रिया के दौरान प्राचीन भारतीय सभ्यता की उत्पत्ति का अध्ययन किया जा रहा है। इस संबंध में बोंगार्द-लेविन के कुछ लेख और उनकी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय सभ्यता। दर्शन, विज्ञान, धर्म' (१९८०) विशेषतः उल्लेखनीय हैं। आर्यपूर्व भारत के योगदान की समस्या प्राचीन भारतीय सभ्यता के विकास के सामान्य क्रम को समझने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सोवियत विद्वान इस समस्या के हल के प्रति चहुंमुखी रुख़ अपनाते हैं, और इसके लिए भाषाविज्ञान, इतिहास, पुरातत्व, नृजातिवर्णन की सामग्रियों का उपयोग करते हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति के गठन में विभिन्न नृजातीय-सांस्कृतिक तत्वों ने विशाल भूमिका अदा की है और भारत के प्राचीनतम इतिहास को केवल भारतीय आर्यों के इतिहास तक सीमित मानना बहुत बड़ी भूल होगी। सोवियत विद्वान जो सामग्रियां प्रस्तुत करते हैं, उनसे साफ़ पता चलता है कि भारत में अपने आगमन के आरंभिक काल में ही आर्यों ने स्थानीय आबादी के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लिये थे और सांस्कृतिक उपलब्धियों के आदान-प्रदान की बहुपक्षीय प्रक्रिया आरंभ हुई थी। प्राचीन भारतीय संस्कृति की चर्चा आर्य तथा विभिन्न स्थानीय सांस्कृतिक परम्पराओं के जटिल संश्लेषण के रूप में ही की जानी चाहिए। आर्यपूर्व नृजातीय-सांस्कृतिक अधःस्तरों का आर्यों के आर्थिक कार्यकलापों पर, धार्मिक विश्वासों के गठन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा, विज्ञान, दर्शन और कला के विकास में यह प्रभाव महत्त्वपूर्ण रहा। प्राचीन भारत के राज्यों के इतिहास का अध्ययन करते समय भी सोवियत इतिहासवेत्ता ऐसा ही रुख़ अपनाते हैं। दक्षिण भारत के विकास के स्वतंत्र रूप से होने को बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है, वहां राज्यों की उत्पत्ति देश के उत्तर के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित

होने से पहले ही और भारतीय आर्य प्रभाव से स्वतंत्र रूप से ही हुई थी। इस प्रसग में सोवियत विद्वान नीलकठ शास्त्री और उन दूसरे भारतीय विद्वानो के दृष्टि-कोण को स्वीकार नही करते, जो दक्षिण भारत का विकास उत्तर के भारतीय आर्य राज्यों से संबद्ध होने को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते हैं। फिर भी कुल मिलाकर प्राचीन काल के दक्षिण भारत का अध्ययन उत्तरी भारत के अध्ययन से कहीं कम हुआ है। इस क्षेत्र में सक्रिय शोधकार्य की आवश्यकता है।

सोवियत विद्वान "आर्य समस्या" की ओर भी बहुत ध्यान देते हैं। पश्चिम में और अंशतः भारत में भी प्रचलित "आर्य विजय के सिद्धांत" का, जिसकी मदद से भारत में वर्गों, राज्य, श्रेणियों और जातियों की उत्पत्ति की, भारतीय संस्कृति की कुछ विशिष्टताओं की व्याख्या करने की कोशिश की जाती है – इस "सिद्धांत" का सोवियत विद्वान बहुत हद तक एकमत से विरोध ही करते हैं। इतिहास की भौतिक-वादी समझ के अनुसार सोवियत विद्वान सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओ की उत्पत्ति का कारण सर्वप्रथम देश के आर्थिक विकास में खोजते हैं। लेकिन इसके साथ ही अपने आर्थिक ढांचे, सामाजिक परम्पराओं और लाक्षणिक संस्कृति वाले क़बीलों के वास्तविक देशांतरणों को भी नज़रंदाज़ नहीं किया जाता। भारतीय-ईरानी (आर्य) क़बीलो के ऐसे देशांतरणों ने वास्तव में भारत के ऐतिहासिक विकास में बहुत बड़ी भूमिका अदा की थी। सोवियत विद्वानों की इनमें विशेष रुचि का एक कारण यह भी है कि आर्यों के देशांतरणों के रास्ते सोवियत संघ के वर्तमान क्षेत्र से भी गुज़रते थे। सोवियत पुराविदो में इस प्रश्न पर ज़ोरदार बहस चल रही है कि किन पुरातत्वीय संस्कृतियों को भारतीय-ईरानी क़बीलों से संबद्ध माना जा सकता है। अधिकांश शोध-कर्त्ता तथाकथित अन्द्रोनोव संस्कृति का संबंध भारतीय-ईरानियो से जोड़ते हैं। इसकी चर्चा क० स्मिर्नोव और ये० कुज़्मिना की पुस्तक 'नवीनतम पुरातत्वीय खोजों के प्रकाश में भारतीय-ईरानियों की उत्पत्ति' (१६७७) मे की गई है। पुराविदों के अलावा भाषाविद भी भारतीय-ईरानियों के उद्गम स्थल और देशांतरण-मार्गों की समस्या पर बहुत काम कर रहे हैं (व० इवानोव, ए० ग्रांतोव्स्की आदि के कार्य)। इन प्रश्नों पर ही बोंगार्द-लेविन और ग्रांतोव्स्की ने एक सुबोध-वैज्ञानिक पुस्तक लिखी है: 'शकदेश से भारत तक। प्राचीन आर्यों के इतिहास की पहेलियां' (१६७४)। यह पुस्तक भारत मे भी छपी है। इसमें वन क्षेत्र के उत्तरी क़बीलों – यूग्रियाई-फ़िन भाषा-वर्ग के जनगण के पूर्वजो के साथ आर्यों के संबंधों की ओर ध्यान दिलाया गया है। "आर्य समस्या" के समाधान के लिए मध्य एशिया (मुख्यतः ताजिकिस्तान, उज़्बेकिस्तान और कज़ाखस्तान) में हुई पुरातात्त्विक खुदाइयो की म० अस्कारोव, व० सरिआनिदी, व० लित्वीन्स्की, अ० मंदेलश्ताम, इत्यादि द्वारा प्रकाशित रिपोर्टें काफ़ी सहायक सिद्ध हो सकती हैं। इस समस्या के कतिपय पहलुओ पर बाबाजान ग़फ़ूरोव, ए० ग्रांतोव्स्की, व० मस्सोन इत्यादि की ईरान, अफ़ग़ास्तिान और मध्य एशिया के इतिहास से संबंधित रचनाओं में भी प्रकाश डाला गया है। हाल ही में

प्रसिद्ध सोवियत भाषाविज्ञानी व० इवानोव और त० गामक्रेलिद्ज़े ने यह दिलचस्प सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि भारोपीयों का आदिस्थान एशिया कोचक और उससे लगे क्षेत्र थे। 'प्राचीन इतिहास के समाचार' के पृष्ठों पर इस संबंध में लंबा वादविवाद चला।

सोवियत इतिहासकारों का ध्यान ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी के उत्तरार्ध, जिसे मौर्य काल भी कहा जाता है, के इतिहास पर भी केंद्रित है। बोंगार्द-लेविन का ग्रंथ "मौर्यकालीन भारत' (१९७३) तथा अनेक लेख इस काल पर लिखे गये हैं। १९६३ में बोंगार्द-लेविन और वोल्कोवा ने सोवियत संघ में संरक्षित पांडुलिपि के आधार पर मौर्य काल के इतिहास से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण स्रोत ग्रंथ 'कुणालावदान' प्रकाशित किया था। १९६५ में यह कलकत्ता में भी छपा। उपरोक्त ग्रंथों और लेखों में प्राचीन भारत के इतिहास के इस काल के सभी पहलुओं पर ग़ौर किया गया है। राजनीतिक इतिहास और कालानुक्रम के बारे में इस बात के पक्ष में तर्क पेश किये गये हैं कि चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल का आरंभ ३१७ ई० पू० मानना चाहिए और प्राचीन यूनानी ग्रंथों में चर्चित अग्राम्मेस को भारतीय ग्रंथों का उग्रसेन (नंद) ही। भारतीय राज्यों के राजनीतिक ढांचे के विषय पर कई लेख लिखे गये हैं। काशीप्रसाद जायसवाल, ए० एस० अल्तेकर और बी० सी० ला जैसे भारतीय इतिहासकारों के साथ-साथ सोवियत विद्वान भी प्राचीन भारतीय गणराज्यों की ओर विशेष ध्यान देते हैं, उदाहरणतः, 'वेस्निक द्रेव्नेइ इस्तोरी' (प्राचीन इतिहास संदेश), १९६६, अंक ३ में प्रकाशित बोंगार्द-लेविन का लेख 'प्राचीन भारत में गणराज्य। समस्याएं और प्रमुख सामग्री'। इसके साथ ही वे प्राचीन भारतीय गणराज्य की समस्या की जटिलता को भी ध्यान में रखते हैं। बात यह है कि प्राचीन ग्रंथों में सामाजिक और राजनीतिक विकास के विभिन्न चरणों में स्थित समाजों के लिए एक से ही शब्द (गण, संघ) प्रयुक्त हुए हैं। विद्वान गणराज्यों की उत्पत्ति के विभिन्न मार्ग तथा उनकी आंतरिक संरचना और संगठन में भेदों का विश्लेषण करते हैं। यह प्रश्न सैद्धांतिक महत्त्व रखता है और छठे-सातवें दशक के संधिकाल में सोवियत इतिहासकारों ने ऐसी रचनाएं प्राचीन पूरब के दूसरे देशों के बारे में भी लिखी थीं। प्राचीन पूरब के कतिपय राज्यों की (जिनमें प्राचीन भारत के गणराज्य भी हैं) संरचना में प्राचीन यूनानी "पोलिस" के साथ समानता इंगित की गई थी और इस तरह यह माना गया था कि राजनीतिक संगठन के प्राचीन भारतीय रूपों को प्राचीन यूनानी व रोमन राज्यों के राजनीतिक संगठन के एकदम विपरीत रखना निराधार है। प्राचीन भारत के सर्वाधिक विकसित गणराज्यों की सामाजिक संरचना का विशेषतः विश्लेषण किया गया। शोधकर्त्ताओं ने बहुत पहले ही इस बात की ओर ध्यान दिलाया था कि प्राचीन भारतीय गणराज्यों में प्रचलित श्रेणी-क्रम राजतंत्रों में विद्यमान श्रेणी-क्रम से भिन्न था – वर्णों की गिनती में क्षत्रियों को ब्राह्मणों से पहले रखा जाता था। वर्ग व्यवस्था की इस विशिष्टता का कारण संभवतः यह था कि भारतीय गणराज्यों में क्षत्रिय काफ़ी बड़े भूस्वामी बन गये थे।

प्राचीन भारतीय राजतंत्रों के और मौर्य साम्राज्य के भी राजनीतिक संगठन का विश्लेषण किया जाता है। इसमें शासन के विभिन्न सामूहिक निकायों (परिषद, राजसभा) की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। इन निकायों को देखते हुए प्राचीन भारतीय राज्य को "ठेठ पूरबी तानाशाही" नहीं कहा जा सकता।

अशोक मौर्य के शासनकाल को समर्पित शोध रचनाओं में सोवियत इतिहास-कार अनेक यूरोपीय और भारतीय विद्वानों के विपरीत भारत के इतिहास को उसके शासक की जीवनी तक ही सीमित नहीं करते हैं। अशोक की नीति के मूल्यांकन के स्थान पर वे सम्राट के व्यक्तित्व का नैतिक मूल्यांकन पेश नहीं करते हैं। उसके धर्मप्रचार कार्य का ही नहीं, बल्कि प्रशासकीय कार्य का भी विस्तार से विश्लेषण किया जाता है और धर्मप्रचार में भी राजनीतिक आधार देखने के प्रयास किये जाते हैं। ई० पू० तृतीय शताब्दी के भारत की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का पता लगाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। धर्मविजय की नीति को देश की एकता सुदृढ़ करने का साधन माना जाता है। बोंगार्द-लेविन के मत में अशोक शनैः-शनैः धार्मिक सहिष्णुता से बौद्ध समर्थक नीति की ओर बढ़ रहा था और इससे उसके परिचरों में असंतोष फैला, जो कि उसके शासनकाल के अंतिम दिनों में प्रकट हुआ। अवदानों तथा अशोक के कुछ शिलालेखों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने शासन के अंतिम वर्षों में अशोक वास्तविक सत्ता से वंचित था।

सोवियत भारतवेत्ता और प्राच्यवेत्ता कुषाण काल के अध्ययन पर बड़ा ध्यान दे रहे हैं। मध्य एशिया में कुषाणकालीन अवशेषों की खुदाइयां, अफ़ग़ानिस्तान में सोवियत-अफ़ग़ान अभियान दल के कार्य के परिणाम, मध्य एशिया और उससे संलग्न प्रदेशों से प्राप्त कुषाण अभिलेखों, मुद्राओं तथा कलाकृतियों का अध्ययन कुषाण साम्राज्य के इतिहास, उसके संस्थापकों के नृजातीय मूल, तिथिक्रम, धर्म, अर्थव्यव-स्था, इत्यादि के बारे में हमारी जानकारी को बढ़ाते ही नहीं, अपितु बहुत सी पुरानी मान्यताओं को बदलने को विवश भी करते हैं। इस काल के बारे में बहुसंख्य लेखों के अलावा अनेक ग्रंथ भी निकले हैं, यथा ग० पुगाचेन्कोवा का 'कुषाणयुगीन बाख़्त्री की कला' और 'दलवर्ज़िन तेपे', ब० स्तवीस्की का 'कुषाण बाख़्त्री', 'कारा तेपे' नामक पांच लेख-संग्रह, 'प्राचीन बाख़्त्री', इत्यादि। भारतीय विद्वानों ने अपने सोवियत सहयोगियों के कार्य में गहन रुचि दिखायी है और उनके द्वारा खोजी गयी सामग्रियों का वे व्यापक उपयोग करते हैं। ये० ज़ेइमाल ने कुषाण तिथिक्रम के बारे में एक विशेष रचना और सोवियत संग्रहों में विद्यमान भारतीय मुद्राओं के बारे में कई लेख लिखे हैं।

स्वाभाविक ही है कि सोवियत भारतविद सामाजिक-आर्थिक संबंधों की ओर विशेष ध्यान देते हैं। प्राचीन भारत में दासप्रथा के प्रश्न पर ग० इल्यीन के विशेष लेखों तथा सामान्य ग्रंथों में एतद्विषयक अध्यायों के अलावा सुप्रसिद्ध भारतीय अनुसंधानकर्त्ता डी० आर० चानना की पुस्तक 'स्लेवरी इन ऐंशेंट इंडिया' का तथा

जर्मन जनवादी जनतंत्र की भारतविद मरिया शेटेलिख़ के लेखों का रूसी में अनुवाद और सोवियत विद्वान अ० विगासिन के लेख भी उल्लेखनीय हैं। ग० इल्यीन, ये० मेद्वेदेव तथा अन्य कई विद्वानों के लेखों मे दासप्रथा के विकास से संबधित सामान्य समस्याओं पर ग़ौर किया गया है। सोवियत इतिहासशास्त्र में यह प्रस्थापना सर्वमान्य है कि प्राचीन युग मे दासप्रथा सामाजिक संबंधो का नियमसंगत रूप थी और यह प्रथा नागरिक समाज के गठन के विकास के लिए आवश्यक थी। विशेष लेखों में दासत्व के स्रोतों, दासों की स्थिति, अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो में उनके श्रम का उपयोग, आदि प्रश्नों पर विस्तार से ग़ौर किया गया है। इल्यीन के दृष्टिकोण में, जिससे कुछ अन्य सोवियत इतिहासकार भी सहमत हैं, किसी समाज की संरचना में दासप्रथा का महत्त्व दासों की संख्या मात्र से ही निर्धारित नही होता। दासप्रथा का सामाजिक संबंधों के सभी पहलुओं पर प्रभाव पड़ता है, इसलिए वह समाज भी, जिसमें दास आबादी का अल्पसंख्यक भाग है, दासप्रथात्मक समाज कहला सकता है। साथ ही इल्यीन ने अपनी नई रचनाओं में इस बात पर ज़ोर दिया है कि मौर्यकालीन प्राचीन भारत के प्रमुख केंद्रों में दास बहुत बड़ी संख्या में थे। उन्होंने ऐसी बड़ी जागीरों का होना इंगित किया है, और यह भी कि दासों से लिये जाने वाले तथाकथित "घरेलू कार्य" का क्या उत्पादन महत्त्व था। छठे दशक के आरंभ के अपने लेखों में व्यक्त विचारों से भिन्न इल्यीन का झुकाव अब यह मानने की ओर है कि भारत मे दासों की स्थिति प्राचीन यूनान व रोम में दासो की स्थिति से सिद्धांततः भिन्न नहीं थी।

इल्यीन के विचारों पर आपत्ति करते हुए मेद्वेदेव और कुछ अन्य इतिहासकार यह इंगित करते हैं कि "दास" शब्द को सदा गुलाम (स्लेव) के अर्थ में नही लिया जा सकता और बड़ी जागीरों में (जिनके महत्त्व का अतिमूल्यांकन नही किया जाना चाहिए) ऐसे लोगों से भी काम लिया जा सकता था, जिनका शोषण दासप्रथात्मक विधियों से नहीं होता था।

प्राचीन भारत में दासप्रथा के बारे मे अपने कुछ लेखों में अ० विगासिन 'अर्थ-शास्त्र' की सामग्री के आधार पर "दास" कहे जाने वाले व्यक्तियों के प्रवर्ग निर्धारित करते हैं। कतिपय यूरोपीय और भारतीय विद्वानों के प्रेक्षणों को आगे बढ़ाते हुए विगासिन इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि "दास" शब्द व्यापक और संकीर्ण, दोनों तरह के अर्थों में प्रयुक्त होता था। "दास" के विभिन्न अर्थों से संबधित सामग्री का वर्गीकरण करते हुए लेखक ने 'अर्थशास्त्र' का विश्लेषण किया है और इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि संकीर्ण अर्थ में "दास" गुलाम (स्लेव) ही थे और उनकी स्थिति सचमुच ही दूसरे प्राचीन समाजों के दासों की स्थिति से भिन्न नहीं थी। लेकिन "दासों" का बड़ा भाग, इस शब्द के व्यापक अर्थ में, बंधुवा कामगरों तथा अन्य अस्थायी रूप से पराश्रित लोगों का था, जिनकी गिनती भले ही दासों में होती थी, लेकिन वे पूर्णतः दासों के समान नही माने जाते थे और सामाजिक-आर्थिक संरचना में पूर्ण दासों से भिन्न भूमिका अदा कर सकते थे। पूर्ण दासों और "अस्थायी रूप से दास

बने" लोगो के विभाजन का विश्लेषण 'अर्थशास्त्र' की इस प्रस्थापना के प्रकाश में भी किया जाता है कि चतुर्वर्ण समाज के सदस्यों को दास नहीं बनाया जाना चाहिए।

मेद्वेदेव, अलायेव, इल्यीन, बोंगार्द-लेविन, सामोज़्वान्त्सेव, विगासिन, आदि, प्रायः सभी सोवियत इतिहासकार प्राचीन भारतीय समुदाय और स्वामित्व की समस्याओं की ओर ध्यान देते हैं। प्राचीन भारत में सामाजिक संबंधों को समझने के लिए समुदाय के विशाल महत्त्व पर ज़ोर दिया जाता है। यहां यह स्मरणीय है कि १९वीं सदी के मध्य मे भी मार्क्स ने भारत में समुदाय की भूमिका के बारे में लिखा था। उन्होंने समुदाय को भारत की सामाजिक संरचना का वास्तविक आधार बताया था। यह बात अत्यंत महत्त्वपूर्ण है और सोवियत विद्वान इसे सदा ध्यान में रखते हैं। प्राचीन भारतीय समुदाय के विश्लेषण के लिए लब्धप्रतिष्ठ भारतीय इतिहासकारो, यथा, आर० के० मुखर्जी, आर० सी० मजूमदार, ए० एस० अल्तेकर, आदि के कार्य बहुत महत्त्व रखते हैं। यहां यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि प्राचीन भारतीय समुदाय के प्रति सोवियत इतिहासकारों का सामान्य रुख कई भारतीय विद्वानों के दृष्टिकोण से सिद्धांततः भिन्न है। सोवियत शोधकर्त्ता भारतीय समुदाय के आदर्शीकरण की प्रवृत्ति नहीं रखते, वे इसे ऐसी संस्था मानते हैं, जिसके मूल में आदिम व्यवस्था थी। वे इसे वर्ग समाज की सामाजिक संरचना का घटक भी मानते हैं। समुदाय की उत्पत्ति और अस्तित्व के कारण वे सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में ढूंढते हैं, "मिल-जुलकर काम करने की" किसी विशेष "भारतीय भावना" में नहीं। यह भावना तो भारत में सामुदायिक व्यवस्था की दृढ़ता के कारण ही पनपी कही जा सकती है। प्राचीन भारतीय समुदाय की व्याख्या और मूल्यांकन के प्रश्न पर सोवियत इतिहासकारो के बीच बहुत मतभेद हैं। 'प्राचीन भारत' पुस्तक के एतद्विषयक अध्याय के लेखक इल्यीन ने प्राचीन भारतीय समुदाय को आदिम सामुदायिक व्यवस्था का अवशेष, प्राचीन भारत के दासप्रथात्मक समाज में आदिम पद्धति का तत्व माना है। उनके विचार में, यह पद्धति दासप्रथा के विकास से और गठित हो रही वर्ण व्यवस्था से क्रमशः ह्रासोन्मुख हो रही थी। साथ ही यह दासप्रथा के फैलने में बाधक थी और इसने दासप्रथा को विकास के उच्च स्तर पर नहीं पहुंचने दिया।

ये० मेद्वेदेव के कार्य मुख्यतः शिलालेखों के आधार पर प्राचीन भारत में ग्राम समुदाय के संगठन, नगर के स्वशासन, क़बीलाई इलाक़ों तथा समुदाय के विषय से संबधित अन्य ठोस प्रश्नों को समर्पित हैं। प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था के आम मूल्यांकन संबंधी अपनी रचनाओं में भी उन्होंने ग्राम समुदाय के स्वरूप पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। ये रचनाएं हैं–'लगान, कर, स्वामित्व। भारतीय सामंतवाद के कुछ प्रश्न' शीर्षक लेख' ('भारत तथा मध्यपूर्व के देशो के इतिहास की समस्याएं', १९७२, पुस्तक में), 'प्राचीन भारत की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था पर कुछ विचार' ('एशिया और अफ़्रीका के जनगण' पत्रिका, १९६६, अंक ६ में),

'भारत में सामंतवादी विरचना की उत्पत्ति' ('भारत के सामाजिक और आर्थिक इतिहास पर निबंध', १९७३, पुस्तक में), इत्यादि। मेद्वेदेव प्राचीन भारत में तीन सामाजिक-आर्थिक पद्धतियों का होना बताते हैं: एक, आदिम पद्धति, जो उपांतीय क़बीलाई इलाक़ों में थी, जहां से शोषित वर्गों की पूर्ति होती थी। किंतु साथ ही यह पद्धति वर्ग समाज के विकास में बाधक थी। दूसरी दो पद्धतियां, यानी दास-प्रथात्मक और सामंतवादी पद्धतियां, उनके विचार में, प्राचीन भारत में काफ़ी हद तक अविकसित ही रही। दासप्रथा मूलतः घरेलू, पितृसत्ताक ही थी। सामंतवादी संबंधों की अभिव्यक्ति मुख्यतः समुदाय के सदस्यों से राजकीय करों की वसूली में होती थी। मेद्वेदेव के मत में ये कर अपने मूल में भूमि लगान का रूप हैं। इस प्रकार वे ग्रामीण आबादी के बड़े भाग (सामुदायिक खेतिहरों और बटाईदारों) को ऐसे किसान मानते हैं, जिनका समाज के प्रभुत्वकारी संस्तर द्वारा सामंती शोषण किया जाता था। इस अवधारणा का मूल अ० ओसिपोव की कृति में खोजा जा सकता है। किंतु मेद्वेदेव के साथ तर्क-वितर्क में इल्यीन यह सिद्ध करते हैं कि प्राचीन भारत में भूमि पर राजा का सर्वोपरि स्वामित्व नही था, अतः कर न लगान हैं और न ही सीधे (या बुनियादी) शोषण का रूप।

बोंगार्द-लेविन ने प्राचीन भारत में भू-स्वामित्व पर एक विशेष लेख लिखा। उन्होंने यह इंगित किया कि प्राचीन समाजों का सामाजिक-आर्थिक ढांचा सिद्धांततः बहुपद्धतीय है और इस बहुपद्धतीयता को किसी सीधे-सादे खाके के रूप में पेश नहीं किया जा सकता। इल्यीन के इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कि प्राचीन भारत में सामंती संबंध नहीं थे, उन्होंने साथ ही इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि प्राचीन युग में ऐसे तत्व थे जो सहज ही विकसित तथा सामंतवादी तत्वों में परिवर्तित हो सकते थे (निजी-स्वामित्वमूलक लगान के रूप, इत्यादि)। प्राचीन भारत में स्वामित्व के स्वरूप के प्रश्न पर विचार करते हुए बोंगार्द-लेविन ने यह मत व्यक्त किया कि स्वामित्व के रूप अनेक थे। उनके विचार में, प्राचीन भारतीय ग्रथों से निजी, सामुदायिक और राजकीय स्वामित्व के होने का पता चलता है। साथ ही कई मामलों में स्वामित्व में भागीदारी भी होती थी, यानी एक ही अचल संपत्ति पर एक साथ किसी व्यक्ति-विशेष, समुदाय और राज्य का संयुक्त अधिकार हो सकता था।

अ० सामोज़्वात्सेव ने प्राचीन भारत में भूमि स्वामित्व पर, जैसे कि यह धर्म-शास्त्रों में और मध्ययुगीन टीकाओं में प्रतिबिम्बित हुआ है, एक विशेष रचना लिखी है। संस्कृत ग्रंथों का बारीकी से विश्लेषण करके लेखक ने यह बताया कि स्वामित्व का अधिकार किस तरह पाया और खोया जाता था, स्वामित्व अधिकार के प्रमाणों की क्या प्रणाली थी, इत्यादि। प्राचीन भारतीय विधिशास्त्रियों (स्मृतिकारों) की समझ में स्वामित्व और क़ब्ज़े के सहसंबंध की सामान्य समस्या पर ग़ौर किया गया है। सामोज़्वात्सेव ने धर्मशास्त्रों में स्वामित्व का एक मौलिक सिद्धांत पाया, जो बहुत पहले, मौर्य काल में तैयार किया गया था और जिसके लिए स्वामित्व अधि-

कार और भूमि संबधों के विकास का उच्च स्तर अपेक्षित था। प्राचीन भारत में निजी स्वामित्व के विकास के बारे में सामोज़्वान्त्सेव का दृष्टिकोण कतिपय भारतीय विद्वानों, उदाहरणतः, लल्लनजी गोपाल की अवधारणाओं से मिलता है।

ल० अलायेव की कृतियों में भारतीय समुदाय के प्रति नया रुख सुझाया गया है। वे प्राचीन भारतीय समुदाय को आदिम समाज के अवशेष मात्र के रूप में देखने से इन्कार करते हैं, हालांकि इस संभावना से इन्कार नहीं करते कि प्राचीन ग्राम समुदाय उत्पत्ति की दृष्टि से आदिम समुदाय से जुड़ा हो सकता है। वे प्राचीन भारतीय ग्राम समुदाय को वर्ग समाज का अभिन्न अंग मानते हैं। इस विद्वान के मत में, प्राचीन युग में ही समुदाय के पूर्णाधिकार-संपन्न सदस्य भूस्वामी भूमिहीन खेतिहरों के श्रम के शोषक बन गये थे।

अ० विगासिन भी अलायेव के इस विचार का समर्थन करते हैं कि समुदाय को आदिम व्यवस्था के अवशेष मात्र के रूप में ही नहीं देखा जा सकता। वे इस बात की ओर विशेष ध्यान दिलाते हैं कि सारे भारतीय समाज की संरचना "सामुदायिक" है। 'अर्थशास्त्र' की सामग्री पर आधारित एक विशेष लेख में प्राचीन भारतीय समाज के घटकों "श्रेणियों" – की व्याख्या करने और उनका प्ररूप निर्धारित करने के प्रयास किये गये हैं। स्वामित्व का प्रश्न भिन्न-भिन्न संख्या वाले और भिन्न-भिन्न स्तरों के समुदायों की प्रणाली के रूप में प्राचीन भारतीय समाज की अवधारणा के प्रसंग मे हल किया गया है। विगासिन के मत में, प्राचीन भारत में निजी स्वामित्व का प्रभुत्व था, लेकिन यह निजी स्वामित्व उन सभी रूपों के समूहों के द्वारा सीमित था, जिनका सदस्य निजी स्वामी होता था।

दासता से भिन्न निजी शोषण के नाना रूपों के प्रश्न को भी सोवियत इतिहास-शास्त्र में निश्चित स्थान प्राप्त है। आर्थिक जीवन में उजरती श्रम (कर्मकर और भृतक) की महती भूमिका इंगित की जाती है। इस प्रश्न पर इल्यीन, मेद्वेदेव और विगासिन ने शोधकार्य किया है। इस परिघटना के मूल्यांकन में निश्चित अंतर्विरोध के बावजूद सोवियत भारतविद एकमत से इस बात की ओर ध्यान दिलाते हैं कि कर्मकर आदि के श्रम की परिस्थितियां बहुत हद तक आर्थिकेतर बाध्यताओं द्वारा निर्धारित होती थीं। कर्मकर की आर्थिक स्थिति उसकी वर्ण स्थिति से घनिष्ठ रूप से जुड़ी होती थी, प्राचीन भारत की सामान्य सामाजिक व्यवस्था द्वारा तय होती थी। इसलिए प्राचीन भारत के उजरती मज़दूरों को वर्तमान समय के पूंजीवादी समाज के मज़दूर वर्ग जैमा मज़दूर वर्ग नहीं माना जा सकता।

सोवियत इंतिहासकारों ने प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था और जाति प्रथा पर विशेष शोधकार्य अभी कम ही किये हैं, हालांकि ये प्रश्न प्राचीन भारत पर लिखी गयी रचनाओं (बोंगार्द-लेविन, इल्यीन, मेद्वेदेव, विगासिन) में भी तथा भारत के इतिहास के बाद के कालों को समर्पित रचनाओं (कोतोव्स्की, कुद्र्याव्त्सेव, अलायेव, कुत्सेन्कोव) में भी उठाये जाते हैं। इस समस्या पर सोवियत इतिहासशास्त्र

का सामान्य लक्षण है जाति प्रथा का सामाजिक-आर्थिक अंतर्य देख पाने की चेष्टा। सोवियत शोधकर्त्ता भारतीय नृजातिविज्ञान की उपलब्धियों, एम० एन० श्रीनिवास, इरावती कर्वे तथा अन्य विद्वानों की रचनाओं का व्यापक उपयोग करते हैं। कुछ शोधकार्यों में जजमानी प्रथा पर भारतीय देहात की सामाजिक संरचना के आधार के रूप में ग़ौर किया गया है। मुख्यतः, मध्य युग और आधुनिक युग के गांवों की जाति प्रथा विषयक सामग्री का ही विश्लेषण किया जाता है, लेकिन कुछ सोवियत इतिहासकार इस संस्था का मूल प्राचीन युग – ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी – में खोजने के प्रयास करते हैं। वैसे तो विदेशी इतिहासशास्त्र की ही भांति, सोवियत इतिहासकारों के बीच भी यह मत प्रचलित है कि जाति प्रथा का गठन और "व्यावसायिक जातियों" की उत्पत्ति ईसवी संवत की पहली शताब्दियों में हुई थी।

कतिपय रचनाओं में अस्पृश्यता के सामाजिक-आर्थिक अंतर्य की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। अछूतों को प्रायः अर्द्ध-दास अर्द्ध-भूदास माना जाता है और पूरी जाति प्रथा पर प्रत्यक्ष उत्पादकों की आर्थिकेतर बाध्यताओं के प्रसंग में, जो कि प्राक्-पूंजीवादी समाजों की लाक्षणिकता है, ग़ौर किया जाता है। कुछ शोध रचनाओं में (उदाहरणतः, अ० अलायेव की रचना में) व्यवसाय की जाति से असंबद्धता पर ज़ोर दिया जाता है और जातियों के गठन में व्यावसायिक विभेदन को नहीं, बल्कि उत्पादन साधनों, सर्वप्रथम भूमि के प्रति विभिन्न संबंध द्वारा निर्धारित सामाजिक स्थिति में भेद को ही प्रमुख माना जाता है। जाति प्रथा के गठन की समस्या को प्रायः (उदाहरणतः, ग० कोतोव्स्की के अनुसार) सामंती सोपानक्रम की उत्पत्ति से संबंधित माना जाता है। साथ ही इस बात की ओर ध्यान दिया जाता है कि जाति निश्चित पहलुओं में क़बीलाई या गोत्रीय संरचना की नक़ल है और उत्पत्ति की दृष्टि से उससे संबद्ध हो सकती है। हाल ही में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जाति प्रथा 'अर्थशास्त्र' की रचना के समय में यानी मौर्य काल में ही गठित हो चुकी थी। इस संदर्भ में जाति को वास्तव में सक्रिय सामुदायिक समूह माना जाता है, जो कतिपय बहिर्विवाही गोत्रों से बना। आजकल प्राचीन भारत की जातियों का रिश्तेदारों के समूहों के साथ संबंध देखते हुए अध्ययन करने की आवश्यकता है। सोवियत संघ में इस दिशा में कार्य आरंभ ही हो रहा है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति के बाह्य सम्पर्कों के प्रश्न में सोवियत शोधकर्त्ता सदा गहरी रुचि दिखाते हैं। भारत के बारे में प्राचीन यूनानी-रोमन लेखकों द्वारा लिखी गई सभी रचनाए सोवियत संघ में प्रकाशित हो चुकी हैं। इन लेखकों द्वारा, उदाहरणतः, मेगस्थनीज़ द्वारा भारत के बारे में दी गयी जानकारी कहां तक सही है, इस विषय पर कई शोध रचनाएं भी छपी हैं। भारतीय-यूनानी संबंध विषयक कृतियों में न केवल यूनानियों के भारत के ज्ञान पर, बल्कि यूनानियों के प्रति भारतीयों के रुख पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है। पिछले कुछ वर्षों से इस बात का अध्ययन किया जा रहा है कि यूनानी-रोमन लेखकों विशेषतः उत्तरकालीन लेखकों

की रचनाओं में बौद्ध परम्परा कैसे प्रतिबिम्बित हुई है। उत्तरकालीन रोमन साम्राज्य तथा आरंभिक बैज़ंतिया साम्राज्य के भारत के साथ संबंधों का न० पिगुलेव्स्कया के १९५१ में प्रकाशित शोध ग्रंथ – 'भारत के मार्गों पर बैज़ंतिया' – में विस्तार से विश्लेषण किया गया है। एशियाई देशों – मंगोलिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया और इंडोनेशिया – में भारतीय संस्कृति के प्रभाव तथा प्राचीन युग में भारत और चीन के संबंधों (चीनी स्रोतों के अनुसार) का भी अध्ययन किया जाता है। दक्षिण-पूर्वी एशिया और मंगोलिया में प्राचीन भारतीय महाकाव्य रचनाओं के भाग्य पर विशेष ध्यान दिया जाता है। युवा सोवियत प्राच्यविद इंडोनेशिया में पाये गये संस्कृत शिलालेखों का तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया की भाषाओं में बने भारतीय रचनाओं के रूपांतरों का अध्ययन कर रहे हैं (स० कुलांदा)। इन प्रश्नों में सोवियत इतिहासकारों का सैद्धांतिक दृष्टिकोण यह है कि यद्यपि भारत के इर्द-गिर्द के देशों की संस्कृति को और भारत के साथ इनके संबंधों को भी समझने के लिए इन देशों पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव की समस्या अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, तथापि किसी संस्कृति का सही मूल्यांकन तभी हो सकता है, जबकि उसपर तत्संबंधी देश के जीवन के साथ संबंध के प्रसंग में ही विचार किया जाये। दूसरे देश के सांस्कृतिक प्रभाव की संभावना इस देश के आंतरिक विकास द्वारा ही तैयार होनी चाहिए, ऐसा प्रभाव चाहे कितना भी गहरा, कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, वह वहां के जनगण के सांस्कृतिक विकास में निर्णायक भूमिका अदा नहीं कर सकता।

प्राचीन भारत के इतिहास के अध्ययन के क्षेत्र में सोवियत संघ में पिछले वर्षों से प्राचीन स्रोतों का अध्ययन अधिक बारीकी और गहराई से किया जाने लगा है। यह अकारण ही नहीं है कि पिछले वर्षों में स्रोतों के अध्ययन की समस्याओं – स्रोत ग्रंथ का रचना काल, परम्परा, प्रामाणिकता, आदि प्रश्नों – पर विशेष शोधकार्य अधिक हो रहे हैं। स्रोत ग्रंथ की भाषा, उसकी अवधारणाओं की प्रणाली और पारिभाषिक शब्दों को तदनुरूप समझने की समस्या उठाई जा रही है। सामाजिक संरचना की जटिलता स्वीकार की जाती है, शोधकर्त्ता अब दास स्वामित्व के प्रश्न की ओर ही नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना की दूसरी समस्याओं की ओर भी ध्यान दे रहे हैं। ये समस्याएं हैं – समुदाय का आंतरिक संगठन, शोषण की अदासप्रथात्मक विधियां, स्वतंत्र नागरिकों के बीच सामाजिक संबंध, जाति, गोत्र, कुल, वंश जैसी संस्थाएं, आदि। अंततः संस्कृति के इतिहास की समस्याओं में रुचि बढ़ रही है। इस क्षेत्र में इतिहासकारों का काम भारतविद्या के दूसरे क्षेत्रों के विशेषज्ञों – साहित्य मीमांसकों, भाषाविदों, दार्शनिकों, आदि के काम के साथ विशेषतः घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है।

सोवियत भारतविद्या का एक प्रमुख कार्यभार और कार्यदिशा है सोवियत संघ के संग्रहों में संरक्षित हस्तलिखित ग्रंथों का प्रकाशन। मध्य और केंद्रीय एशिया में मिले संस्कृत ग्रंथों के बारे में कई लेख पिछले वर्षों में छपे हैं। केंद्रीय एशिया से प्राप्त

बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन का काम तेज़ी से हो रहा है। पिछले बीस से अधिक वर्षों से 'नाऊका' (विज्ञान) प्रकाशन गृह 'प्राच्य साहित्य रत्न' नामक एक पुस्तकमाला निकाल रहा है, जिसमें हस्तलिखित ग्रंथों का मूल पाठ भी दिया जाता है तथा अनुवाद भी। प्राचीन भारतीय साहित्य की अनेक रचनाएं अलग से भी प्रकाशित होती हैं। पिछले पच्चीस वर्षों में सोवियत संघ में संस्कृत साहित्य की अनेक प्रमुख कृतियों का अनुवाद किया गया है। ऋग्वेद और 'अथर्ववेद' के कुछ अंशों का अनुवाद त० येलिज़ारेन्कोवा ने किया है। इसके अलावा ब्राह्मणों और आरण्यकों के अंशों, सभी प्रमुख उपनिषदों, 'मनुस्मृति', अंशतः 'नारदस्मृति' और कौटिल्य कृत 'अर्थशास्त्र' के भी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। तुर्कमान जनतंत्र के अकादमीशियन ब० स्मिर्नोव ने महाभारत का आठ खण्डों में अनुवाद किया, जो छठे-सातवें दशक में अश्काबाद से प्रकाशित हुआ। इन खण्डों में गीता भी शामिल है। महाभारत के पहले पांच पर्वों का अकादमिक अनुवाद हुआ है। महाभारत के अलग-अलग अंशों के काव्य रूपांतर भी प्रकाशित हुए हैं। महाभारत के विभिन्न प्रकाशनों में दिये गये लेखों में इस महाकाव्य के अध्ययन से संबंधित प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है। उदाहरणतः, अश्काबाद में छपे महाभारत के खण्डों में ब० स्मिर्नोव ने मुख्यतः दार्शनिक प्रश्नों की विवेचना की है। ऐसा करते हुए उन्होंने प्राचीन भारतीय चिंतन के मानववाद की ओर विशेष ध्यान दिलाया है। महाभारत के अकादमिक प्रकाशन में व० कल्यानोव ने कूटनीति और समर कौशल के प्रश्नों का अध्ययन किया है। रामायण के कुछ अंशों के रूसी काव्य-रूपांतरण तथा महाभारत, रामायण, भागवतपुराण की कथाओं और भारतीय मिथकों के साहित्यिक रूपांतरण भी रूसी में छपे हैं। अपनी कुछ रचनाओं में ऐ० त्योम्किन और व० एर्मन ने आम सोवियत पाठकों को भारत के मिथकों और महाकाव्यों से परिचित कराने का ध्येय रखा है। चूंकि महाकाव्यों का पूर्ण पाठ आम पाठकों की पहुंच से बाहर है, और भारतीय संस्कृति को समझ पाने के लिए मिथकों, प्राचीन अवधारणाओं और महाकाव्यों के बिम्बों को जानना आवश्यक है, इसलिए त्योम्किन और एर्मन ने दोनों महाकाव्यों का सारांश साहित्यिक रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें उन्होंने इनकी शैली और काव्य विशिष्टताओं को बनाये रखने का प्रयास किया है। कालिदास के काव्यों और नाटकों के अनुवाद कई बार छपे हैं तथा शूद्रक, भास, विशाखदत्त के नाटक, भवभूति और वररुचि के नाटकों के अंश भी प्रकाशित हुए हैं। संस्कृत और प्राकृतों से प्राचीन भारतीय कविताओं के भी रूसी में अनुवाद किये गये हैं – 'दूसरी-दसवीं शताब्दी ई० का भारतीय काव्य' संग्रह, भर्तृहरि का 'शतकत्रयम्', आदि। बौद्ध ग्रंथों के अनुवादों में 'धम्मपद' और आर्यशूर की 'जातकमाला' उल्लेखनीय हैं। साथ ही 'सुत्तनिपात', 'महावग्ग', 'दीग्घनिकाय', 'थेरगाथा' और 'थेरीगाथा' के अंशों के भी अनुवाद छपे हैं। प्राचीन भारतीय दार्शनिक ग्रंथों के अनुवादों में से हाल ही में उलान-उदे में व० सेमिचोव और ग० ब्रियान्स्की द्वारा तिब्बती पाठ से किया गया वसुबंधु के 'अभि-

धर्मकोश' का अनुवाद उल्लेखनीय है। इस प्रकाशन से युद्धपूर्व वर्षों में श्चेर्बात्स्की और उनके अनुयायियों की वसुबंधु के अध्ययन की परम्पराओं को जारी रखा गया है। सेमिचोव श्चेर्बात्स्की के शिष्य भी रह चुके हैं। भारतीय दर्शन के प्रमुख ग्रंथों के अनुवाद और अध्ययन का कार्य सफलतापूर्वक विकसित हो रहा है। संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में 'पंचतंत्र' तथा "कथा के अंदर कथा" शैली की अन्य सभी प्रमुख रचनाओं का अनुवाद उल्लेखनीय है। मास्कोवासी संस्कृतविद ई० सेरेब्र्याकोव ने सोमदेव के 'कथासरित्सागर' का पूर्ण अनुवाद किया है। आनन्दवर्धन कृत 'ध्वन्यालोक' का यू० अलीखानोवा ने अनुवाद किया है। अलीखानोवा और सेरेब्र्याकोव ने अनुवाद के साथ-साथ शोधकार्य भी किया है, अमूल्य टिप्पणियां भी दी हैं। ये प्रकाशन न केवल सोवियत संघ में, बल्कि संसार भी में भारतविद्या संबंधी अध्ययनों में महत्त्वपूर्ण योगदान हैं। सोवियत भारतविदों का कार्य भारतीय आर्य भाषाओं के ग्रंथों तक ही सीमित नहीं है। 'तिरुकुरल' का दो बार रूसी में अनुवाद हुआ है। 'शिलप्पडिकरम', तमिल काव्य, किंवदंतियों और दार्शनिक रचनाओं का भी अनुवाद हुआ है। प्राचीन भारतीय साहित्य की रचनाओं के अनुवादों का प्रकाशन एक ओर सोवियत संघ में भारतीय संस्कृति के बारे में ज्ञान प्रसारित करने में सहायक होता है, तो दूसरी ओर यह संस्कृतविदों के गहन शोधकार्य से जुड़ा हुआ है। उदाहरणतः, संहिताओं का अनुवाद करते हुए त० येलिज़ारेन्कोवा ने वैदिक भाषा पर, ऋग्वेद की शैली और 'अथर्ववेद' के मंत्रों, आदि पर अनेक लेख छापे हैं। येलिज़ारेन्कोवा ने आंतरिक पुनर्रचना की विधि से वैदिक भाषा में काल प्रणाली के गठन पर रोचक कार्य किया है ('ऋग्वेद में अनिर्दिष्ट काल', १९६०)। ऋग्वेद की स्वनप्रक्रिया प्रणाली की ओर भी उन्होंने विशेष ध्यान दिया है, जिसके फलस्वरूप वैदिक और लौकिक संस्कृत के बीच सीमा अधिक स्पष्टतः निर्धारित की जा सकी है। अनेक वर्षों के परिश्रम के फलस्वरूप उन्होंने 'वैदिक भाषा का व्याकरण' (१९८२) लिखा है। इस ग्रंथ में मंत्रों की भाषा का सभी स्तरों पर (स्वनों से वाक्यरचना तक) एककालिक वर्णन दिया गया है, जो कि रूपगत और तत्संबंधी अर्थगत विरोधों की प्रणाली के रूप से बनाया गया है। पुस्तक में वैदिक पाठों की शब्द तथा अर्थरचना का अध्ययन किया गया है। संप्रति येलिज़ारेन्कोवा ऋग्वेद का विस्तृत टीका सहित पूर्ण अनुवाद तैयार कर रही हैं। सोवियत विद्वानों ने ऋग्वेद के मिथक पाठों की संरचना तथा उपनिषदों के अध्ययन की कुछ समस्याओं पर भी शोधकार्य किया है। इन ग्रंथों की संरचना और शैली, इनमें हिंदू अनुष्ठानों, मिथकों और सामाजिक यथार्थ का प्रतिबिम्ब, आदि ऐसी कुछ समस्याएं हैं। एर्मन की पुस्तक 'वैदिक साहित्य के इतिहास की रूपरेखा' में ऋग्वेद से उपनिषदों और वेदांगों तक का सविस्तार सिंहावलोकन किया गया है। भारत, पश्चिमी यूरोप और सोवियत संघ में वैदिक साहित्य के अध्ययन के इतिहास की ओर पुस्तक में विशेष ध्यान दिया गया है। लेखक ने समसामयिक भारतीय विद्वानों (सर्वप्रथम आर० एन० दंडेकर, वी० राघवन) के कार्यों का उच्च

मूल्यांकन किया है। व० सेमेन्त्सोव की पुस्तक 'ब्राह्मण ग्रंथों की व्याख्या की समस्याएं (कर्मकांडीय प्रतीकार्थ)' (१९८१) में वैदिक ग्रंथों के अध्ययन के महत्त्वपूर्ण सामान्य प्रश्न उठाये गये हैं। लेखक ने ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों के प्रकार्य को केंद्रीय प्रश्न माना है, जिसे समझे बिना इस ग्रंथों की सही व्याख्या करना असंभव है। सेमेन्त्सोव ने यह प्रमाणित किया है कि ब्राह्मण प्रकार्यात्मक टीका हैं, अर्थात ग्रंथों के अर्थ की व्याख्या नहीं हैं, बल्कि कर्मकांड में इनके उपयोग पर प्रकाश डालते हैं। उनके विचार में उपनिषदों समेत सारे उत्तर-वैदिक साहित्य की व्याख्या कर्मकांड के साथ घनिष्ठ संबंध को ध्यान में रखते हुए की जानी चाहिए। सेमेन्त्सोव ने मानव चिंतन के विकास की नियमसंगतियों की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रंथों के कर्मकांडीय प्रतीकार्थों के विश्लेषण का महत्त्व दर्शाया है। अ० विगासिन ने कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का और धर्मशास्त्रों का ऐतिहासिक स्रोतों के नाते अध्ययन करने की दिशा में काम किया है। बोंगार्द-लेविन ने 'अर्थशास्त्र' के विचारधारात्मक आधार और भौतिकवाद से इस ग्रंथ के संबंध पर एक लेख लिखा है। व० रोमानोव भी धर्मशास्त्रों का अध्ययन कर रहे हैं। उनका ध्यान प्राचीन भारतीयों के चिंतन और संस्कृति की विशिष्टताओं पर केंद्रित है। उदाहरणत:, वे भारतीय ग्रंथों में राज्य को राजा का शरीर बताये जाने के विशिष्ट तथ्य को इंगित करते हैं, धर्मशास्त्रों में अनुष्ठान और उपदेश के सहसंबंध, कर्मकांड, मिथक, साहित्य के सहसंबंध की समस्या का विश्लेषण किया गया है।

सोवियत भारतविद्या में महाभारत के अध्ययन की ओर विशेषत: अधिक ध्यान दिया गया है। इसका अध्ययन तुलनात्मक-उत्पत्ति संबंधी पहलू से और लोक साहित्य की सामान्य समस्याओं के संदर्भ में किया जाता है। विद्वान मौखिक और लिखित महाकाव्य परम्पराओं के सहसंबध का विश्लेषण करते हैं। उनका कहना है कि महाभारत मौखिक मूल की रचना है। प० ग्रीत्सेर और या० वसिल्कोव इस दिशा में सक्रिय कार्य कर रहे हैं। **ग्रीत्सेर** की पुस्तक 'प्राचीन भारतीय महाकाव्य' (१९७६) में महाभारत और रामायण की मौखिक उत्पत्ति से तथा अन्य महाकाव्यों और लोक साहित्य विधाओं के साथ प्ररूपात्मक तुलना से संबधित समस्याओं पर विचार किया गया है।

पुस्तक के 'प्राचीन भारतीय महाकाव्य में मौखिक और लिखित परम्परा' शीर्षक पहले भाग में स्वयं महाकाव्य से इसके दीर्घकाल तक मौखिक रूप में अस्तित्वमान होने के बारे में, इसके वाचन और वाचकों के बारे में अनेक साक्षियां दी गई हैं। तथापि महाभारत और रामायण की मौखिक उत्पत्ति का निर्णायक लक्षण यह है कि इनके पाठों में रूढ़िबद्ध मुहावरों की प्रचुरता है, जो कि लोक साहित्य की रचनाओं का लक्षण है।

प्राचीन भारतीय महाकाव्य के सृजन में मौखिक परम्परा की भूमिका को देखते हुए लेखक ने पाठ में निहित पुनरावृत्तियों और अंतर्विरोधों, संरचना की विशिष्ट-

ताओं, तथा विभिन्न पाठभेदों के सहसंबंध की व्याख्या की है। अन्य मौखिक महाकाव्य रचनाओं के साथ तुलना से पता चलता है कि कथानकों की और शैलीगत पुनरावृत्तियां, भाव संबंधी अंतर्विरोध और निक्षिप्त उपाख्यान – ये सब मौखिक महाकाव्य के मूलभूत लक्षण हैं। महाभारत और रामायण के मौखिक प्रसार का परिणाम यह हुआ कि इनका कोई मानक (प्रामाणिक) पाठ नहीं बना और न वह सिद्धांततः बन ही सकता था। इन महाकाव्यों की कई, एक दूसरे से भिन्न पांडुलिपियां मिलती हैं। ग्रीत्सेर ने यह दिखाया है कि मौखिक परम्परा की विशिष्टता पाठ का स्थायित्व नहीं, गतिशीलता है, और महाभारत व रामायण के सृजन के उत्तर काल में ही नहीं, आरंभिक दिनों में भी विभिन्न पाठभेद अस्तित्वमान थे। लेखक के मत में, इन संस्कृत महाकाव्यों के मूलपाठ का निर्धारण असंभव है, वैसे ही जैसे कि इनमें असंगत प्रक्षेपों की खोज। लेकिन चूंकि महाभारत और रामायण की रचना प्रक्रिया असाधारणतः लंबी थी (लगभग चौथी सदी ई० पू० से तीसरी सदी ई० तक), सो यह कहा जा सकता है कि ये महाकाव्य बहुस्तरीय हैं, कि इनमें "वीर युग" की सामग्री पर बाद के काल की विचारधारात्मक और सौंदर्यबोधात्मक अवधारणाओं के अनुसार पुनर्विचार किया गया और इस तरह उत्पन्न नयी समझ को लिखित पाठभेदों में अभिव्यक्त किया गया।

संस्कृत महाकाव्य की मौखिक उत्पत्ति के निष्कर्ष के आधार पर लेखक ने महाकाव्य, मिथक और आख्यानों (लोक कथाओं) के कथानकों का एक सामान्य आदि-प्ररूप होने का प्रश्न उठाया है।

साथ ही लेखक यह दिखाता है कि लोक साहित्य की कथा-विधाओं की परम्परागत संरचनात्मक योजना महाकाव्य का स्रोत नहीं, बल्कि ऐसा साधन थी, जिसकी मदद से ऐतिहासिक अनुश्रुतियों, किंवदंतियों, आदि को विशाल महाकाव्य रूपों में संगठित किया जाता था।

लेखक ने जो एकसमान संरचनात्मक योजना का होना इंगित किया है, वह संस्कृत के महाकाव्य तथा दूसरे जनगण के, सर्वप्रथम प्राचीन युग के जनगण के महाकाव्य में कथानक के और कुछ केंद्रीय कथानक-रूढ़ियों के सामीप्य की भी पूर्वकल्पना करता है। इस सामीप्य की ग्रहण-सिद्धांत से व्याख्या नहीं की जा सकती, इसका अध्ययन तो केवल तुलनात्मक-प्ररूपात्मक विधि से ही संभव है। साथ ही एक सामान्य प्ररूप के अंतर्गत अलग-अलग महाकाव्यों के अंतर्य और समस्याओं में पर्याप्त विविधता पाई जाती है और ये उस सांस्कृतिक-ऐतिहासिक पर्यावरण द्वारा निर्धारित होते हैं, जिसमें निश्चित महाकाव्य की रचना हुई। चूंकि महाभारत और रामायण की रचना का अंतिम चरण ईसवी संवत की पहली शताब्दियों में था, सो दोनों महाकाव्यों में उस काल में भारत के सांस्कृतिक जीवन का वातावरण प्रतिबिम्बित हुआ है। साथ ही महाभारत और रामायण में वीर-महाकाव्य सामग्री का रूपांतरण अलग-अलग ढंग से हुआ। मौखिक परम्परा की रूढ़िबद्धता के फलस्वरूप महाभारत में

वीर गाथा का अंतर्य और कथानक अक्षुण्ण रहे, लेकिन उनकी प्रस्तुति और व्याख्या नये ढंग से, नैतिक दृष्टिकोण से की गई। उस पर तब तक फैल चुके हिंदू धर्म की अवधारणाओं का प्रभाव पड़ा, जिनकी सर्वाधिक सुस्पष्ट अभिव्यक्ति भगवद्गीता में पाई जाती है। इसके विपरीत रामायण का विकास वीर-गाथात्मक से साहित्यिक महाकाव्य की ओर हुआ, जिसमें महाकाव्य की घटनाओं को सर्वप्रथम उनके भावनात्मक पक्ष से देखा जाता है और काव्यमय, आत्मगत भाव का वीर-गाथात्मक, वस्तुगत भाव पर पूर्ण प्रभुत्व होता है।

सोवियत विद्वान के निष्कर्षों का विदेशों में उच्च मूल्यांकन हुआ है।

या० वसिल्कोव के कुछ लेखों में भी महाभारत की मौखिक उत्पत्ति की समस्याओं पर ग़ौर किया गया है। इसके मुख्य तथा कुछ अन्य कथानकों की व्याख्या उन्होंने नृजातिवर्णन संबंधी सामग्री के आधार पर की है। अपने लेखों में वसिल्कोव ने महाकाव्य के कथानक के गठन पर कर्मकांडीय और मिथकीय "माडलों" के प्रभाव का महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। उन्होंने इस प्राक्कल्पना पर विस्तार से ग़ौर किया और महाभारत के उद्धरणों तथा नृजातिवर्णन संबंधी सामग्री से इसकी पुष्टि की कि भारत के महाकाव्य में पुरातन कर्मकाड प्रणाली "अकित" हुई है। इस दृष्टिकोण से लेखक उन अनेक कथानकों और ब्योरों की व्याख्या करने में सफल रहा है, जिन्हें विद्वान प्रायः प्रक्षिप्त, प्रणाली-इतर और महाकाव्य की सरचना के लिए अलाक्षणिक मानते थे। भारतीय महाकाव्य की मौखिक उत्पत्ति का सिद्धांत विभिन्न जनगण के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की सामान्य समस्याओं को हल करने के लिए ही नहीं, बल्कि महाकाव्य के पाठ निर्धारण संबंधी प्रश्नों को ठीक समझने के लिए भी बहुत महत्त्व रखता है। **स० नेवेलेवा** की रचनाएं भी इन्हीं सैद्धांतिक प्रस्थापनाओं पर आधारित हैं। उन्होंने महाभारत के तीसरे पर्व (वनपर्व) के आधार पर महाकाव्य में चर्चित देवी-देवताओं का विवरण दिया है ('प्राचीन भारतीय महाकाव्य के मिथक (देव गण)', १९७५) तथा एक विशेष ग्रंथ में भारतीय महाकाव्य के अलंकारों का विश्लेषण किया है ('प्राचीन भारतीय महाकाव्य के काव्यशास्त्रीय पहलू। रूपक और उपमा', १९७९)। इस दूसरी पुस्तक में तुलनात्मक सामग्री भी है, जिससे महाभारत और दूसरे जनगण के महाकाव्य के बीच प्ररूपात्मक समानताओं का पता लगाने में भी मदद मिलती है और साथ ही इसकी काव्य-विशेषताएं निर्धारित करने में भी। महाभारत पर सोवियत संघ में हुए शोधकार्य इस महाकाव्य की घटनाओं की ऐतिहासिकता और कालक्रम पर पिछले वर्षों में भारत में चल रहे वादानुवाद के संदर्भ में भी रोचक हैं।

भारतीय नाट्यकला पर व० एर्मन का लेख 'प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में नाट्यकला' 'भारत की नाट्यकला और रंगमंच' नामक संग्रह में छपा था। इसके अलावा उन्होंने कालिदास पर शोध ग्रंथ लिखा है और ग्रीत्सेर ने भास की नाट्यकला पर। एर्मन ने मूल ग्रंथों के सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर प्राचीन भारत

में नाट्य सिद्धांत का उच्च स्तर दिखाया है, भारतीय नाट्यकला के स्रोतों पर प्रकाश डाला है और यह भी दिखाया है कि इसकी उत्पत्ति यूनानी नाट्यकला से स्वतंत्र रूप से हुई, न कि उसके प्रभाव में, जैसा कि कुछ यूरोपीय विद्वानों का कहना था।

भारत में भी और दूसरे देशों में भी भारतविदों में इस बात पर बहुत मतभेद है कि परम्परानुसार जो नाटक भास के लिखे माने जाते हैं (तथाकथित 'त्रिवेंद्रम नाटक') क्या वे वास्तव में भास द्वारा रचित हैं। इस विलक्षण नाटककार के रचनाकाल पर भी विद्वान एकमत नही हैं। इन समस्याओं पर ग्रीत्सेर ने अपनी पुस्तक में विस्तारपूर्वक विचार किया है। लेखक को प्राचीन यूनानी-रोमन साहित्य का भी गहरा ज्ञान है और उन्होंने अपनी पुस्तक में प्राचीन भारतीय और यूनानी-रोमन नाट्यकला के विकास के प्ररूपात्मक अध्ययन की सामान्य समस्याओं पर भी ग़ौर किया है। लेखक ने प्राचीन भारतीय नाट्यकला के विकास के सारे इतिहास को ध्यान में रखते हुए, वैदिक युग से उसके स्रोतों पर दृष्टिपात करते हुए भास के सृजन का विश्लेषण किया है। भास को ही चर्चित नाटकों का रचयिता माननेवालों के सभी तर्कोंवितर्कों का बारीकी से अन्वेषण करते हुए ग्रीत्सेर उनका ही (सर्वप्रथम गणपति शास्त्री) पक्ष लेते हैं। वे इस प्रश्न पर समसामयिक भारतीय विद्वानों की रचनाओं से भली-भांति परिचित हैं और पुस्तक में उन्होंने साहित्यिक समीक्षा और पाठ-मीमांसा की जटिल समस्याओं पर रोचक वादानुवाद प्रस्तुत किया है। पुस्तक के परिशिष्ट में भास के दो नाटकों 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिमानाटक' के अनुवाद दिये गये हैं।

अलीख़ानोवा, त्योम्किन, इवानोव, येलिज़ारेन्कोवा और तोपोरोव ने अपनी रचनाओं में क्लासिकीय भारतीय सौंदर्यशास्त्र और साहित्य-सिद्धांत का विवेचन किया है। प्राचीन भारतीय साहित्य-सिद्धांत का अध्ययन मूल संस्कृत ग्रंथों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए तथा भारतीय संस्कृति की परम्पराओं और देश के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकास को ध्यान में रखकर किया जाता है, लेकिन साथ ही संसार के दूसरे प्राचीन साहित्यों (सर्वप्रथम यूनानी-रोमन साहित्य) की लाक्षणिक नियमसंगतियां इस अध्ययन की पृष्ठभूमि होती हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के विषयों की ओर ध्यान देते हुए समसामयिक सोवियत भारतविद निश्चित हद तक पुरानी रूसी भारतविद्या की उन परम्पराओं को जारी रख रहे हैं, जो श्चेर्बात्स्की और उनके शिष्यों (ब० लारिन) ने प्रतिपादित की थीं। **ऐ० त्योम्किन** की पुस्तक – 'भामह का विश्व-दृष्टिकोण और उनके ग्रंथ "काव्यालंकार" का काल निर्धारण' (१९७५) – में 'काव्यालंकार' के पांचवें अध्याय का विश्लेषण किया गया है, जिसे त्योम्किन दो तरह की वर्णनशैलियो – वैज्ञानिक और ललित (शास्त्र और काव्य) – की तुलना तथा उनके सार एवं संरचना में सामान्य और विशिष्ट लक्षणों के निर्धारण को समर्पित मौलिक शोधकार्य मानते हैं। उनका यह दृष्टिकोण भारतविद्या में प्रचलित मान्यता से भिन्न है, जिसके अनुसार भामह के ग्रंथ के पांचवें अध्याय को कवियों की रचनाओं

में सभव तार्किक त्रुटियों का विवरण तथा इन त्रुटियों से बचने के परामर्श के रूप में ही देखा जाता है। त्योम्किन के मत में भामह का दृष्टिकोण वैशेषिक दर्शन के समीप है और 'काव्यालंकार' को वसुबंधु व दिङ्नाग के काल (लगभग पांचवीं सदी ई०) में लिखा माना जा सकता है।

"कथा के अंदर कथा" क़िस्म की प्राचीन भारतीय रचनाओं का अध्ययन ग्रीं-त्सेर ने किया है। उन्होंने इस विधा की रचनाओं के स्रोत और विशिष्टताओं पर तथा इन रचनाओं मे भारत के सामाजिक संबधो के प्रतिबिम्बन का भी अन्वेषण किया है।

सेरेब्र्याकोव ने प्राचीन भारतीय साहित्य के इतिहास पर कुछ रचनाएं लिखी हैं। 'प्राचीन भारतीय साहित्य की रूपरेखा' (१९७१) नामक पुस्तक में वैदिक युग से लेकर क्षेमेन्द्र और सोमदेव जैसे मध्ययुगीन लेखकों तक भारतीय साहित्य के इतिहास की सर्वाधिक प्रमुख परिघटनाओं का विवरण दिया गया है। यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि लेखक ने अलग-अलग लेखकों और नाटककारों के सृजन मात्र पर ही विचार नहीं किया, बल्कि साहित्यिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया के सर्वप्रमुख लक्षण भी इंगित किये हैं। सेरेब्र्याकोव के मत मे प्राचीन भारतीय साहित्य की अंतिम काल-सीमा ११वीं-१२वी शताब्दी है। इसमें वे संस्कृत की ही नही, प्राकृतों की रचनाओं को भी रखते हैं। सेरेब्र्याकोव की रचनाओं की निर्विवाद श्रेष्ठता यह है कि वे साहित्य के विकास का संबंध प्राचीन भारतीय समाज के विकास के सामान्य क्रम से जोड़ते हैं। 'भारत में साहित्यिक प्रक्रिया' शीर्षक अपने शोध ग्रंथ में सेरेब्र्याकोव ने प्राचीन भारतीय साहित्य में व्यक्ति तत्व की अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्या का विवेचन किया है और सामाजिक विकास को तथा प्राचीन भारत के कवि, लेखक, नाटक-कार जिस पर्यावरण में सृजन कार्य करते थे, उसको ध्यान में रखते हुए इस प्रश्न पर ग़ौर किया है। बाण कृत 'हर्षचरित', दंडी और भर्तृहरि की रचनाओं के विश्ले-षण की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। भर्तृहरि के 'शतकत्रयम्' पर सेरेब्र्याकोव ने एक पुस्तक भी लिखी है। सेरेब्र्याकोव भर्तृहरि के सृजन के अध्ययन में भारतीय विद्वानों, सर्वप्रथम डी० डी० कोशाम्बी, की रचनाओं के असाधारण महत्त्व पर ज़ोर देते हैं। हिंदी में लिखे गये शोध ग्रंथों से भी वे परिचत हैं।

भारतीय भाषाविज्ञान पर हुए कार्यों में भाषाओं के निम्न सामान्य विवरण उल्लेखनीय हैं: व० इवानोव और व० तोपोरोव, 'संस्कृत' (१९६०), त० येलि-ज़ारेन्कोवा और व० तोपोरोव, 'पाली भाषा' (१९६५), व० वेर्तोग्रादोवा, 'प्राकृत भाषाएं' (१९७८), म० अन्द्रोनोव, 'द्रविड़ भाषाएं' (१९६५), इत्यादि। ये पुस्तकें रूसी में ही नहीं, अंग्रेज़ी में भी छपी हैं। येलिज़ारेन्कोवा ने वैदिक भाषा के व्याकरण पर विशेष ग्रंथ भी लिखा है। व० कोचेर्गिना द्वारा संकलित पहले संस्कृत-रूसी शब्दकोश (लगभग २८ हज़ार शब्द) में अ० ज़लिज़्न्याक की लिखी संस्कृत व्याकरण की संक्षिप्त रूप-रेखा दी गई है। व० कोचेर्गिना ने १९५६ में संस्कृत की

एक आरंभिक पाठ्यपुस्तक भी लिखी थी। विश्वविद्यालय स्तर पर संस्कृत का अधिक गहराई से अध्ययन जी० ब्यूलर की पाठ्यपुस्तक के आधार पर ही होता है। सोवियत भारतविद-भाषाविद स्वनप्रक्रिया की ओर विशेष ध्यान देते हैं। इस विषय पर वेर्तो-ग्रादोवा का शोध ग्रथ 'मध्य भारतीय स्वनप्रक्रिया प्रणालियो के संरचनात्मक प्ररूप', १९६७ तथा त० येलिज़ारेन्कोवा का 'भारतीय आर्य भाषाओं की कालक्रमिक स्वन-प्रक्रिया का अध्ययन', १९७४, (नूतन भारतीय आर्य भाषाओ की सामग्री सहित) उल्लेखनीय हैं। संस्कृतविद्या की अलग-अलग समस्याओ पर भी विशेष शोध रचनाएं (उदाहरणत:, त० येलिज़ारेन्कोवा, 'ऋग्वेद में अनिर्दिष्ट काल', ए० अलेक्सीद्ज़े, 'संस्कृत के प्रकारताबोधक निपात', त्बिलीसी, १९७३) तथा कई लेख प्रकाशित हुए हैं।

प्राचीन भारत की वैज्ञानिक उपलब्धियों का विश्लेषण अ० वोलोदार्स्की ('आर्य-भट', १९७७ तथा अन्य रचनाएं), बोंगार्द-लेविन व अन्य विद्वानों ने अपनी रचनाओं में किया है। विज्ञान के इतिहास के अध्ययन का सुदृढ़ आधार है संस्कृत के वैज्ञानिक ग्रंथों के अनुवाद, जो ओ० वोल्कोवा तथा अन्य विद्वानों ने किये हैं। सोवियत विद्वान इस देश के इतिहास और संस्कृति के विकास की पृष्ठभूमि में ही प्राचीन भारतीयों की वैज्ञानिक उपलब्धियों का अध्ययन करते हैं। उदाहरणत:, आर्यभट का अध्ययन उनके गणित और खगोलविद्या के सिद्धांतों की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक और दार्शनिक के नाते उनके सामान्य दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए भी किया जाता है, उनके दार्शनिक विचारों का पता लगाया जाता है। ऐसे रुख की बदौलत यह दिखाया जा सका है कि आर्यभट भौतिकवाद के समीप थे, रूढ़िवादी दृष्टिकोणों का विरोध करते थे, इसीलिए उनके विचारों की लोकप्रियता के बावजूद ब्राह्मण परम्परा में उनकी तीव्र आलोचना हुई। १९७७ में आर्यभट की १५०० वीं वर्षगांठ के अवसर पर दिल्ली में हुए अतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में सोवियत विद्वानों के इस मत को भारतीय विद्वानों का समर्थन मिला।

भारतीय दर्शन के अध्ययन के क्षेत्र में सोवियत विद्वानो का ध्यान आरंभ में भौतिकवादी धाराओ के इतिहास की समस्याओं पर केंद्रित था। चौथे-छठे दशकों में दर्शन के इतिहास का अध्ययन करने वाले सोवियत विद्वानों के कार्यों में भौतिक-वाद के इतिहास के अध्ययन का कार्यभार ही प्रमुख था। निश्चित हद तक ये विद्वान पुराने रूसी भारतविदों के कार्यों का अवलंब ले सकते थे (श्चेर्बात्स्की की रचना 'भारत में भौतिकवाद के इतिहास के कुछ प्रश्न')। अग्रणी भारतीय विद्वान देवीप्रसाद चट्टो-पाध्याय की निम्न पुस्तकें सोवियत संघ में अनूदित हुईं – 'लोकायत दर्शन। भारतीय भौतिकवाद का इतिहास', (१९६१), 'भारतीय दर्शन का इतिहास', (१९६६), 'भारतीय निरीश्वरवाद', (१९७३)। साथ ही सोवियत भारतविदो की अनेक मौलिक रचनाएं भी प्रकट हुईं, उदाहरणत:, न० अनिकेयेव की पुस्तक 'भारतीय दर्शन में भौतिकवादी परम्पराएं। प्राचीन और आदि मध्ययुग', १९६५। इस पुस्तक

में आदि मध्ययुग के सांख्य दर्शन में भौतिकवादी और निरीश्वरवादी प्रवृत्तियां देखने का प्रयास किया गया था। गोस्तेयेव की 'वैशेषिक दर्शन' पुस्तक भी इसी दिशा में एक प्रयास है। पिछले वर्षों में सेरेब्र्याकोव और बोंगार्द-लेविन ने प्राचीन भारत में भौतिकवाद के बारे में लिखा है। भारत में भौतिकवाद के इतिहास के क्षेत्र में भारतीय विद्वानों, सर्वप्रथम देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय की रचनाओं का अपार महत्त्व इंगित करने के साथ-साथ सोवियत भारतविदों ने उनके कुछ निष्कर्षों से असहमति प्रकट की है। उन्होंने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि प्राचीन भौतिकवाद सीमित था और अधिभूतवादी भी। इसके अलावा सोवियत विद्वान इस बात के भी ख़िलाफ़ हैं कि दार्शनिक शिक्षाओं के सैद्धांतिक अंतर्य की व्याख्या करते हुए उसे अत्यधिक समाजवैज्ञानिक पुट दिया जाये। किंतु चट्टोपाध्याय की प्रमुख रचनाओं के सोवियत संघ में प्रकाशित होने का विद्वानों ने भी और आम पाठकों ने भी अपार स्वागत किया। सोवियत भारतविद्या में इन पुस्तकों का उच्च मूल्यांकन हुआ। यह अकारण ही नहीं है कि सोवियत विज्ञान अकादमी के दर्शन संस्थान ने देवीप्रसाद चट्टोपध्याय को दर्शनशास्त्र के डाक्टर की मानद उपाधि से सम्मानित किया है।

पिछले वर्षों में सोवियत भारतविद क्लासिकीय भारतीय दर्शन में बढ़ती रुचि ले रहे हैं। व० तोपोरोव की रचनाओं में भारतीय दर्शन की विभिन्न दिशाओं पर व्यापक तुलनात्मक पहलू से ग़ौर किया गया है। प्रज्ञापारमिता ग्रंथों के आधार पर बौद्ध मनोविज्ञान की समस्याओं के अध्ययन का प्रयास ल० म्याल्ल ने किया है। ग० ब्रियान्स्की वसुबधु के दर्शन का अध्ययन कर रहे हैं और व० शोखिन ने सांख्य दर्शन की उत्पत्ति के इतिहास पर एक पुस्तक तैयार की है। बहुसंख्य (संस्कृत और पाली) स्रोत ग्रंथों का बारीकी से विश्लेषण करके शोखिन ने एक दार्शनिक धारा के रूप में सांख्य के स्रोत इंगित किये हैं, बौद्ध तथा अन्य दर्शनों के साथ इसके संबंधों पर प्रकाश डाला है। मूल ग्रंथो पर आधारित इस रुख़ से सांख्य के अग्रिम विकास के चरणों पर अधिक विश्वसनीय रूप से दृष्टिपात किया जा सकता है। पिछले वर्षों में भारतीय दर्शन की दूसरी धाराओं – वैशेषिक और वेदांत – की ओर भी विशेष ध्यान दिया जा रहा है। एक लेखमाला में व० लिसेन्को ने वैशेषिकों के परमाणुवाद के सार का तथा वैशेषिकों के साथ शंकर के शास्त्रार्थ का विश्लेषण किया है। लोकायतों और जैनो के साथ शंकर के शास्त्रार्थ पर न० इसायेवा ने काम किया है। मूल संस्कृत ग्रंथों के विश्लेषण पर आधारित इन शोध रचनाओं में यह दिखाया गया है कि भारत की प्रमुख दार्शनिक धाराओं का गठन और विकास कितने तीव्र वाद-विवाद के बीच हुआ। दर्शन के इतिहास पर समसामयिक सोवियत भारतविदों के कार्यों में हम भारतीय दर्शन के प्रति सुसंगत ऐतिहासिक रुख़ पाते हैं, इनमें मूल पाठों का बारीकी से विश्लेषण किया जाता है, विभिन्न धाराओं तथा प्राचीन गुरुओं की परम्पराओं के संघर्ष में दर्शन के इतिहास पर ग़ौर किया जाता है, ग्रंथों के प्रकार्य की समस्याओं की ओर तथा दर्शन को मोक्षशास्त्र से अलग करने, आदि की ओर ध्यान दिया जाता है।

सोवियत विद्वान प्राचीन भारत के धर्मों का भी अध्ययन करते हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य वैदिक धर्म को समर्पित हैं, जिसे भारोपीय अनुसंधानों के व्यापक संदर्भ मे देखा जाता है। इस दिशा में सर्वप्रथम तोपोरोव, इवानोव और येलिज़ारेन्कोवा की विभिन्न सम्प्रदायों, पंथो, अनुष्ठानों को समर्पित रचनाए हैं। ओ० वोल्कोवा, ल० म्याल्ल तथा अन्य भारतविदो ने बौद्ध धर्म की कुछ विशिष्ट समस्याओ पर काम किया है। हाल ही में प्रकाशित विश्वकोश 'विश्व जनगण के मिथक' प्राचीन भारतीय धर्मों और मिथको का अच्छा संदर्भ ग्रंथ है।

नताल्या गूसेवा का शोध ग्रंथ 'हिंदू धर्म' (१९७७) इस धर्म के गठन के इतिहास तथा पूजाप्रणाली व कर्मकांड को समर्पित है। लेखिका ने हिंदू धर्म के नृजातीय मूल निर्धारित करने का प्रयास किया है, हिंदुओं की पूज्य वस्तुओं के प्रश्न पर प्रकाश डाला है और हिंदू धर्म द्वारा निर्धारित आचरण तथा पूजा-व्यवहार के बारे में बताया है।

हिंदू धर्म का अध्ययन करते हुए सोवियत विद्वान उसकी जटिलता और समन्वय-वाद, इसके गठन की लंबी प्रक्रिया, विभिन्न मतों और संप्रदायों के परस्पर संबंध, साहित्य और कला पर हिंदू आचार नियमों का प्रभाव दिखाने का प्रयास करते हैं। जैन धर्म पर भी नताल्या गूसेवा की पुस्तक १९६८ में छपी थी। भारत में इसका अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

प्राचीन भारतीय कला पर कार्य मुख्यतः स० त्युल्यायेव, अ० कोरोत्स्कया, व० सीदोरोवा, ओ० प्रोकोफ़्येव, आदि कलाविदों द्वारा लिखी गयी सामान्य वि-वरणात्मक रचनाओ तक सीमित हैं। 'प्राचीन भारत की संस्कृति' नामक पुस्तक के लिए व० वेर्तोग्रादोवा द्वारा प्राचीन भरतीय कला पर लिखा गया अध्याय विशेषतः रोचक है। सप्रति वेर्तोग्रादोवा 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' के 'चित्रसूत्र' का अध्ययन कर रही हैं। प्राचीन मध्य एशिया के भारत से संबद्ध कला स्मारको का अध्ययन कहीं अधिक बड़े पैमाने पर हो रहा है (इसके बारे में प्रस्तुत पुस्तक का अगला अध्याय देखिये)।

प्राचीन भारत की सांस्कृतिक धरोहर जैसी महत्त्वपूर्ण समस्या के अध्ययन की ओर सोवियत विद्वान बहुत ध्यान देते हैं। इस प्रश्न का महत्त्व विश्व सभ्यता में प्राचीन भारत के विशाल योगदान द्वारा ही नहीं, समसामयिक भारत में प्राचीन परम्पराओ के बल द्वारा भी निर्धारित होता है। सुदूर अतीत के अनेक बिम्ब, कथानक, अवधारणाए, विचार रूपांतरित होकर भारत के समसामयिक जीवन में स्थान पाते हैं, समसामयिक भारतीय संस्कृति के विकास मे भांति-भांति की, लेकिन महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। सोवियत भारतविद (सर्वप्रथम ये० चेलिशेव, अ० लित्मन) इस सामान्य धरोहर में मानवतावादी और जनवादी प्रवृत्तियां इंगित करने, उनका प्रगतिशील स्वरूप तथा विकास के मार्ग दिखाने का यत्न करते हैं।

कुल जमा यह कहा जा सकता है कि पिछले वर्षो में सोवियत भारतविदों ने

प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन में काफ़ी सफलता पायी है। अनुसंधान कार्यों का चहुंमुखीपन, उनका व्यापक परिमाण, वैज्ञानिक खोज़ की नयी विधियों का उपयोग, सामग्री की प्रस्तुति में वस्तुगतता समसामयिक सोवियत भारतविद्या के विशिष्ट लक्षण हैं, जिनके साथ यह देश मे इस विद्या की श्रेष्ठ परम्पराओं को संजोये विकसित कर रही है। भारत का अध्ययन करते हुए सोवियत विद्वान इस महान देश के जनगण के प्रति गहरा आदर रखते हैं, संस्कृति, विज्ञान, कला के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन करते हैं। अपने कार्य मे वे सोवियत संघ और भारत के जनगण को एक दूसरे के निकट लाने, दोनों देशों के बीच परम्परागत मैत्री सुदृढ़ करने के उदात्त कार्यभार की पूर्ति देखते हैं।

अध्याय ६

मध्य एशिया में पुरातत्वीय अनुसंधान और प्राचीन भारतीय सभ्यता

आजकल मध्य एशिया के विभिन्न इलाक़ों में सोवियत विद्वानों द्वारा किये जा रहे पुरातत्वीय अनुसंधानो के फलस्वरूप प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति की अनेक समस्याओं पर नया प्रकाश पड़ रहा है।

पिछले वर्षों में मध्य एशिया के सोवियत जनतंत्रों में अनेक महत्त्वपूर्ण खोजें की गई हैं, अब तक अज्ञात संस्कृतियों का अध्ययन हआ है और बहुत से प्राचीन नगरों व बस्तियों की खुदाई हुई है। इन कार्यों के फलस्वरूप मध्य एशिया के इतिहास के अनेक पृष्ठों को नये ढंग से पढ़ा और अनेक अज्ञात पृष्ठों का पता लगाया जा सका है। पुरातत्वीय खोजों से यह प्रमाणित, हुआ है कि मध्य एशिया में अति प्राचीन काल मे भी विकसित समाज और स्थानीय मौलिक संस्कृतियों का अस्तित्व था, जिनका दूर और पास के क्षेत्रों की संस्कृतियों से घनिष्ठ संबंध था। सोवियत विद्वानों द्वारा मध्य एशिया में खोजी गई पुरातत्वीय सामग्री भारत उपमहाद्वीप की प्राचीन सभ्यताओं के अध्ययन के लिए भी अत्यंत महत्त्व-पूर्ण है। भारतविद्या के लिए मध्य एशियाई सामग्रियों के असाधारण महत्त्व को देखते हुए भारतीय पुराविद एस० पी० गुप्ता ने मध्य एशिया और भारत की प्राचीन संस्कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन पर एक विशेष शोध ग्रंथ लिखा है – 'सोवियत मध्य एशिया और भारतीय सीमांत प्रदेश का पुरातत्व', खण्ड १-२, दिल्ली, १९७९ (अंग्रेज़ी में)।

गुप्ता ने अपनी पुस्तक भारतीय और सोवियत विद्वानों की मैत्री को समर्पित की है। व० मस्सोन, अ० बेलेनी-त्स्की, ग० पुगाचेन्कोवा, ब० लित्वीन्स्की, व० रानोव, यू० जाद्नेप्रोव्स्की, व० सरिआनिदी, म० अस्कारोव,

म० कोशेलेंको, ब० स्तवीस्की, ल० आल्बाउम, म० नेग्मातोव, आदि के नेतृत्व में मध्य एशिया में जो पुरातत्वीय शोध हो रहे हैं उनमें भारतीय विद्वानों की विशेष रुचि है।

अति प्राचीन काल से ही भारत और मध्य एशिया के बीच घनिष्ठ ऐतिहासिक-सांस्कृतिक सम्पर्क चले आ रहे हैं।

पुरातत्वीय सामग्री से यह पता चलता है कि पुराप्रस्तर युग में भी दक्षिणी ताजिकिस्तान की संस्कृतियों तथा उत्तर-पश्चिमी भारत की सोन (सोहन) संस्कृति के बीच निश्चित प्ररूपात्मक सामीप्य था। ताजिकिस्तान के पहाड़ी इलाक़ों में प्रो० व० रानोव द्वारा की गई खोजों से विशेषत: रोचक सामग्री प्रकाश में आयी है। सोवियत विद्वान के निष्कर्षों का भारतीय पुराविदों (एच० सांकलिया, बी० के० थापर, एस० पी० गुप्ता, आदि) ने भी समर्थन किया है। सोवियत और भारतीय पुराविद खुदाई के दौरान प्राप्त सामग्री से एक दूसरे को परिचित कराते हैं। ऐसा सहयोग अत्यंत लाभदायक सिद्ध होता है। प्रो० रानोव ने भारतीय पुराविदों द्वारा खोजे गये पाषाण औज़ार देखे, जबकि भारतीय विद्वानों ने मध्य एशिया में सोवियत पुराविदों द्वारा एकत्रित संग्रहों का अध्ययन किया है।

नवप्रस्तर युग में मध्य एशिया और उत्तरी भारत के बहुत से इलाक़े एक-दूसरी से मिलती-जुलती खेतिहर संस्कृतियों के प्रसार क्षेत्र में आते थे। यहां सामाजिक विकास की ऐसी समान प्रक्रियाएं घटीं, जिनके फलस्वरूप नागर सभ्यताओं की उत्पत्ति हुई। मध्य एशिया और भारत की नवप्रस्तर संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करके मध्य एशिया के दक्षिण की और उत्तरी भारत की खेतिहर सभ्यताओं के स्रोतों की अधिक ठोस कल्पना की जा सकती है, विशेषत: पूर्व-हड़प्पा और हड़प्पा बस्तियों के उद्भव के चरण देखे जा सकते हैं। उल्लेखनीय है कि अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, मध्य प्रशिया और उत्तरी भारत के विशाल खेतिहर संस्कृति क्षेत्र में मध्य एशिया और भारत में समानताएं पायी गयी हैं।

दक्षिणी तुर्कमानिस्तान में अश्काबाद नगर से कुछ दूर **अल्तीन तेपे** नामक स्थान पर सोवियत पुराविदों द्वारा किये गये नये अनुसंधानों के फलस्वरूप यह पाया गया है कि सिंधु घाटी के नगरों तथा दक्षिणी तुर्कमानिस्तान की कांस्य-युग की बस्तियों के बीच सम्पर्क थे। ये सम्पर्क हड़प्पा सभ्यता के उत्कर्ष के काल (ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी के अंत – दूसरी सहस्राब्दी के आरंभ) में रहे। कुछ वस्तुओं का हड़प्पा संस्कृति से सादृश्य है – धातु और हाथीदांत की वस्तुएं, चित मिट्टी (फ़ेएन्स) और मृत्तिका (सेरेमिक्स) की खानेदार मालाएं। कुछ वस्तुएं भारत से लायी गयी थीं (इनमें हड़प्पा मोहर की खोज विशेषत: रोचक है) और कुछ वस्तुओं पर स्पष्टत: भारतीय प्रभाव की छाप है।

एक बस्ती में हाथीदांत के तीन चौकोर पासे मिले हैं, जिनके तीन पहलुओं पर वर्तुल बने हुए हैं और एक पर डिज़ाइन। ऐसे पासे हड़प्पा सभ्यता के नगरों

Lake Balkhash
A-R-A-L S-E-A
Syr Darya
C A S P I A N S E A
Toprak-Kala
Giaur-Kala
Amu Darya
Frunze
Ak-Beshin
Tashkent
Kuva
Varakhsha
Zeravshan
Afrasiab
Bukhara
Samarkand
Penjikent
Dushanbe
Khalchayan
Nisa
Ashkhabad
Adzhina-Tepe
Dalverzin
Balalyk-Tepe
Merv
Airtam
Tulkhar
Termez
Archaeological sites
Modern cities
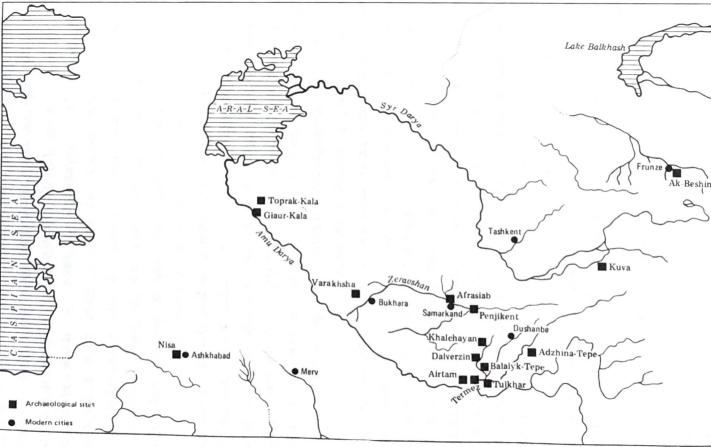
में बनाये जाते थे। ऐसे ही पासे मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाइयों में भी मिले हैं। अल्तीन तेपे के उत्खनक प्रो० मस्सोन का कहना है कि इन पासों का उपयोग भाग्य बताने के लिए भी होता था। प्रत्यक्षतः व्यापार की बदौलत वे दक्षिणी तुर्कमानिस्तान में पहुंचे। संभवतः मध्य एशियाई व्यापारी या तो ख़ुद सिंधु घाटी नगरों में गया था, जहां चौसर खेलना और पासे से भाग्य बताना सीखा था, या फिर उसने यहां आये किसी व्यापारी से ये चीजें ख़रीदी थीं। दक्षिणी तुर्कमानिस्तान में बनी, किंतु भारतीय परम्पराओं से प्रभावित वस्तुओं में सर्वप्रथम तीन सिर वाले जीव की आकृति से युक्त चांदी की मोहर उल्लेखनीय है। तीन सिरों वाले पशु हड़प्पा की मोहरों पर भी पाये गये हैं। मोहेंजोदड़ो की एक मोहर पर ऐसा तीन सिरों वाला जीव अंकित है, जिसके (दक्षिणी तुर्कमानिस्तान में मिली मोहर की ही भांति) दो सिर मेष के और एक सिर वृषभ का है। संभवतः, कांस्य युग के दक्षिणी तुर्कमानिस्तान के निवासियों में तीन सिरों वाले जीवों की अवधारणा भारतीय परम्परा के प्रभाव में बनी। दक्षिणी तुर्कमानिस्तान की बस्तियो के भांड भी हड़प्पा के भांडों से मिलते-जुलते हैं। सर्वाधिक लाक्षणिक हैं आधार वाले कलश, जोकि मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के ऊपरी संस्तरों में बडी संख्या में पाये जाते हैं, तथा मृत्तिका धानियां, जो हड़प्पा सभ्यता की अनेक बस्तियों में प्रचलित थीं। दक्षिणी तुर्कमानिया की मृण्मूर्तियां विशेषतः इंगित की जानी चाहिए, जो हड़प्पा सभ्यता के नगरों के निवासियों द्वारा बनायी गयी मृण्मूर्तियों के सदृश है। इन मूर्तिकाओं का अध्ययन दक्षिण तुर्कमानिस्तान के निवासियों की धार्मिक मान्यताओं के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है। मूर्तिकाएं, जिनमें देवी-माता की प्राचीन उपासना पद्धति प्रतिबिम्बित हुई है, संभवतः घरेलू मूर्तियां हैं, एक तरह के "इष्टदेव" हैं, जिनका सुमेरी तथा प्राचीन ईरानी सभ्यता में भी अस्तित्व सुविदित है। ऐसी मूर्तिकाओं की खोज से, जिन पर विभिन्न चिह्न साफ़-साफ़ देखे जा सकते हैं, विद्वानों के सम्मुख चित्रलिपि की उत्पत्ति की संभावना का प्रश्न उठा। ऐसे चित्र मृण्भांडों पर भी पाये गये। भांडों को आंवे में पकाने से पहले ही उन पर ये चिह्न बनाये जाते थे। भांडों पर चिह्न तो पुरातत्व में सुविदित परिघटना है, लेकिन मूर्तियों पर चिह्नों का पाया जाना अत्यंत रोचक परिघटना है। मूर्तियों पर चिह्न भांति-भांति के हैं — इनमें तरह-तरह के क्रास, अष्टकिरणीय तारे तथा वृक्ष जैसे चिह्न, आदि हैं। प्रत्यक्षतः ये जादूई और पूजा संबंधी चिह्न हैं। हो सकता है, कुछ चिह्न किन्ही निश्चित देवताओं के प्रतीक हों। देखने में ये चिह्न हड़प्पा मुद्राओं की अपेक्षा सुमेरी चित्रलिपि के अधिक निकट हैं, लेकिन कुल जमा यह अभी चित्रलिपि नहीं है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विकसित कांस्य युग के मध्य एशियाई समाज में भी लिपि अभी निर्माणाधीन ही थी।

अल्तीन तेपे में दो चिह्नों वाली आद्य-भारतीय मोहर की खोज असाधारणतः रोचक है। प्रो० मस्सोन इस बात की ओर ध्यान दिलाते हैं कि इन चिह्नों में जीवाकृति अंकित नहीं है, बल्कि यह केवल चित्रलिपि लेख ही है। उनके विचार में इससे यह

अनुमान लगाया जा सकता है कि अल्तीन तेपे का कोई निवासी यह "पाठ" पढ़ सकता था। इस आधार पर मस्सोन ने यह रोचक विचार व्यक्त किया है कि मध्य एशिया के दक्षिण की प्राचीन आबादी को द्रविड़ भाषा वर्ग का (आद्य-द्रविड़) माना जा सकता है।

यदि यह प्राक्कल्पना सही सिद्ध हुई, तो इससे मध्य एशिया, भारत उपमहाद्वीप और इनसे लगे इलाक़ों में नृजातीय उत्पत्ति की समस्याओं के हल में नये परिप्रेक्ष्य खुलेंगे।

हड़प्पा लिपि और संस्कृति में सोवियत विद्वानों की रुचि भारत और मध्य एशिया के बीच सांस्कृतिक संबंधों के विज्ञान-प्रमाणित तथ्य तथा अल्तीन तेपे में आद्य-भारतीय मोहरों की खोज द्वारा ही निर्धारित नहीं है। भारत उपमहाद्वीप और उससे लगे इलाक़ों के आदि प्राचीन काल के इतिहास और संस्कृति की अनेक समस्याओं को हल करने के लिए भी यह विषय असाधारण महत्त्व रखता है।

सुविदित है कि हड़प्पा सभ्यता की बस्तियों की खुदाई का काम पचास से अधिक वर्षों से हो रहा है और अपार पुरातत्वीय सामग्री जमा कर ली गयी है, जिससे भारत उपमहाद्वीप की प्राचीनतम सभ्यता के अनेक लक्षणों का पता लगाया जा सकता हैं। लेकिन जब तक हड़प्पा की मुद्राओं का रहस्य नहीं खुलता, तब तक हड़प्पा समाज के स्वरूप के बारे में पूरी तरह कुछ कहना असंभव है, इस संस्कृति के उद्भव, आबादी की नृजातीय उत्पत्ति और धार्मिक विश्वासों, आदि के बारे में सिद्धांत अत्यधिक एकतरफ़ा और प्राक्कल्पनात्मक लगते हैं।

हड़प्पा के अभिलेखों से वैज्ञानिक इस सभ्यता की खोज से बहुत पहले ही परिचित हो गये थे। १८५३ में ही आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया के पहले डायरेक्टर अलैक्ज़ेंडर कनिंघम को हड़प्पा में संयोगवश काले पत्थर की एक मोहर मिली थी, जिस पर सांड़ और दो छोटे तारे अंकित थे तथा छह चिह्नों का रहस्यमय लेख था। ऐसी मोहरें २०वीं सदी के आरंभ तक संग्रहालयों और निजी संग्रहों में आती रहीं। बीसवी सदी के तीसरे दशक में भारतीय पुराविद आर० साहनी और आर० डी० बैनर्जी द्वारा हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में सिंधु घाटी के प्राचीन नगरों का सुनियोजित उत्खनन शुरू किया गया, जिसे बाद में ज० मार्शल, न० मजूमदार, ए० मैके, एम० वत्स, एम० व्हीलर, आदि ने जारी रखा। इन उत्खननों के फलस्वरूप ही शोधकर्त्ताओं को अभिलेखों की पूरी मालाएं मिलीं। यहां मिले लेख बहुत संक्षिप्त हैं – चार से आठ-दस चिह्न तक। इनमे अधिकतर सेलखड़ी की मोहरों पर अंकित हैं या चिकनी मिट्टी पर मोहर के ठप्पे के रूप में हैं। कुछ सेलखड़ी या तांबे के पतले फलकों पर तथा सिरेमिक्स और कांस्य औज़ारों पर भी उत्कीर्णित हैं। ऐसे अभिलेख केवल भारत में ही नहीं, बल्कि मेसोपोटामिया, सीरिया, ईरान के कुछ प्राचीन नगरों में, और जैसा कि कहा जा चुका है, सोवियत संघ में भी मिले हैं। अब वैज्ञानिकों के पास आद्य-भारतीय अभिलेख काफ़ी बड़ी संख्या में हैं: ५ हज़ार

से अधिक ऐसे अभिलेख (१५०० से अधिक विभिन्न पाठ) मिल चुके हैं। यह विकोडन के लिए, यानी इन अभिलेखों की लिपि को समझकर पढ़ पाने के लिए काफ़ी अच्छा आधार प्रतीत होता है, लेकिन हड़प्पा सभ्यता के नगरों में अभी तक कोई द्विभाषी अभिलेख नहीं मिला है। अधिकांश पाठ छोटे हैं और एकरूपी भी, इसके कारण भी विकोडन की सभावनाएं बहुत सीमित रह जाती हैं।

हड़प्पा लिपि को पढ़ने के प्रयास पिछली सदी के छठे दशक में ही आरंभ हो गये थे। अनेक विद्वानों को इस रहस्यमय लिपि ने उद्विग्न किया था, लेकिन कोई भी इसके रहस्य को कमोबेश सफलता के साथ सुलझा नहीं सका। बीसवीं सदी के तीसरे दशक के अंत और चौथे के आरंभ में जॉन मार्शल और उनके सहयोगी सिंधु लिपि की प्रणाली के बारे में कुछ मूल्यवान निष्कर्षों पर पहुंचने में सफल रहे। आद्य-भारतीय लिपि के चिह्नों की पूरी सूची बनाकर (ऐसे कुल ४०० चिह्न निकले, कुछ दूसरे विशेषज्ञों के मत में इन्हें २५० तक, बल्कि १५० तक ही सीमित किया जा सकता है) तथा अभिलेखों में इनकी अवस्थिति के विकल्पों की गिनती करके वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यह लिपि "मिश्रित" या चित्रलेख क़िस्म की है अर्थात इसमें भावचित्रों के साथ-साथ अक्षरों के चिह्न भी हैं। इन्हीं दिनों यह महत्त्वपूर्ण विचार भी व्यक्त किया गया कि हड़प्पा के कुछ चिह्नों की क्रीट तथा आदि-सुमेरी चिह्नों के साथ निश्चित सादृश्यता के बावजूद यह लिपि अन्य किसी भी लिपि से स्वतंत्र है।

विकोडन के असफल प्रयासों के कारण हड़प्पा लिपि में और सारी आद्य-भारतीय सभ्यता में ही रुचि बहुत कम हो गयी। तो भी सोवियत विद्वानों ने आद्य-भारतीय संस्कृति से संबंधित समस्याओं के हल के महत्त्व को समझते हुए १९६४ में हड़प्पा सभ्यता और उसकी लिपि के अध्ययन के व्यापक कार्यक्रम पर काम शुरू किया।

हड़प्पा संस्कृति और लिपि के चहुमुखी अध्ययन का कार्यभार इस बात से काफ़ी आसान हो जाता था कि सोवियत विज्ञान अकादमी में इस तरह के व्यापक शोध-कार्यों के लिए संगठनात्मक आधार विद्यमान था। यह था – साइबरनेटिक्स वैज्ञानिक परिषद के संकेतविज्ञान (सेमियोटिक्स) विभाग के अंतर्गत ऐतिहासिक लिपि प्रणालियों के विकोडन का आयोग। इस परिषद की उच्च वैज्ञानिक प्रतिष्ठा के फलस्वरूप विज्ञान अकादमी के संस्थानों (नृजातिवर्णन, प्राच्यविद्या, वैज्ञानिक-तकनीकी सूचना संस्थानों) से भी तथा दूसरे वैज्ञानिक संस्थानों और उच्च शिक्षालयों से भी विविधतम क्षेत्रों के विशेषज्ञों से इस काम के विभिन्न चरणों में सहायता ली जा सकी। अकादमी की वैज्ञानिक परिषद और उसके आयोग द्वारा तैयार किये गये कार्यक्रम पर विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों के सहयोग से आद्य-भारतीय लिपि के विकोडन जैसी बहुपक्षीय समस्या पर काम संभव हो पाया। इस कार्य का संचालन प्रो० यू० क्नोरोज़ोव ने किया, जो इससे कुछ समय पहले माया लिपि का सनसनीखेज़ विकोडन कर चुके थे। आरंभ में इस कार्य में क्नोरोज़ोव का साथ व० वोल्चोक और न० व०

गूरोव दे रहे थे। अब उनके दल में म० अल्बेदिल और ब० वोल्चोक सम्मिलित हैं।

सोवियत विद्वानों ने विकोडन के सभी पूर्ववर्ती प्रयासों का विश्लेषण करके पाया कि इन सभी में कार्यविधि संबंधी कुछ समान भूलें और कमियां थीं, जिनके कारण इनका असफल रहना पूर्वनिश्चित था :

– अभिलेखों का अध्ययन अलग-अलग चिह्नों के संयोजन लक्षणों को ध्यान में रखे बिना किया जाता था, जिसके कारण लिपि का प्ररूप और भाषा की संरचना का पता लगाना असंभव था ;

– पाठ सामग्री के प्रति दृष्टिकोण प्रणालीबद्ध नहीं था : पाठों के विकोडन में पाठ की रूपगत संरचना के सामान्य लक्षणों को नहीं, बल्कि ठोस चिह्नों, उनके वर्गों और अभिलेखों की आत्मगत व्याख्या को मानकर चला जाता था ;

– अलग-अलग चिह्नों की पहचान करते समय इस बात का ख्याल नहीं रखा जाता था कि वैज्ञानिक दृष्टि से कौन से सादृश्य संभव है और कौन से असंभव, जिसके कारण पूर्णतः अतुलनीय दत्तों की तुलना की जाती थी ;

– अभिलेखों की भाषा के बारे में की जाने वाली प्राक्कल्पनाएं तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की विधि पर आधारित नहीं थीं।

कार्यक्रम के अनुसार सबसे पहले लिपि की दिशा (दायें से बायें या बायें से दायें) और उसका प्ररूप (वर्णात्मक, अक्षरमूलक, चित्रात्मक, आदि) निर्धारित करने थे, दूसरी भाषाओं के साथ रूपगत-प्ररूपात्मक तुलना के आधार पर आद्य-भारतीय लेखों की भाषा की रूपगत संरचना का पता लगाना था और अंततः विकोडन से पहले ही अभिलेखों के अंतर्य को जहां तक संभव हो स्पष्ट करना था।

लिपि की दिशा का प्रश्न अभिलेखों की पुरालिपिक विशिष्टताओं के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर हल किया गया। यह पता चला कि ये अभिलेख दायें से बायें (तदनुसार, मोहरों पर बायें से दायें) लिखे गये थे। उल्लेखनीय है कि सुविख्यात भारतीय पुराविद, आद्य-भारतीय संस्कृति के एक प्रमुखतम समसामयिक अध्येता बी० बी० लाल भी सोवियत विद्वानों के साथ-साथ प्रायः एक ही समय पर इस महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुंचे।

स्वाभाविक ही है कि नये कार्यक्रम के अनुरूप पाठों के विश्लेषण की नयी विधि की भी आवश्यकता हुई, विशेषतः कम्प्यूटर के उपयोग की। आद्य-भारतीय लिपि के विकोडन का कार्य शुरू करने से पहले सोवियत गणितज्ञों और भाषाविदों का एक दल कई वर्ष से अविकोडित पाठों समेत विभिन्न पाठों में प्रकट होने वाली अवस्थितिक-सांख्यिक नियमसंगतियों का पता लगाने की विधि तैयार करने में लगा हुआ था। इसलिए क्नोरोज़ोव और उनके सहयोगी आद्य-भारतीय लिपि के प्ररूप तथा अभिलेखों की भाषा की संरचना का प्रश्न हल करते हुए इक्के-दुक्के आनुभवक प्रेक्षणों को नहीं, बल्कि पाठों के सारे समूह के संयोजन-सांख्यिक लक्षणों को आधार बना सकते थे। अब पूर्णतः रूपगत आधार पर पाठों को "ब्लाकों" में, यानी चिह्नों

के उन स्थायी संयोजनों में, जो अनेक पाठों में प्रायः दोहराये जाते हैं और अनुमानतः अभिलेख के अर्थगर्भित तत्व हैं, विभाजित करना संभव हो गया। पाठों के सारे समूह को अंक लिपि में रूपांतरित किया गया और एक ही अविच्छिन्न पाठ (लगभग १२ हज़ार इकाइयां) की भांति इसे मशीन को प्रोग्राम के रूप में "प्रस्तुत" किया गया। इस तरह ब्लाकों ("यथार्थ पोलीग्रामों") को चिह्नों के सांयोगिक संयोजनों ("सांयोगिक पोलीग्रामों") से अलग किया गया और चिह्नों के प्रयोग की कुल तथा आनुपातिक प्रायिकता के अनुसार उनके वर्ग निर्धारित किये गये। प्राप्त उत्तरों की विश्वसनीयता परखने के लिए मशीन को इतना ही बड़ा प्राचीन मिस्री पाठ दिया गया। पाठों के समांतर संसाधन से इस बात की पुष्टि हुई कि आद्य-भारतीय लिपि को चित्र लिपि माना जाना पूर्णतः सही है: दोनों मामलों में मशीन ने प्रायिकता की दृष्टि से चिह्नों तथा पोलीग्रामों के वितरण में समानता दर्शायी।

यह सुझाया गया कि सर्वाधिक प्रायिकता वाले चिह्नों ("परिवर्ती चिह्नों") को व्याकरणिक सूचकों के चिह्न माना जाये (मशीन पर प्राचीन मिस्री पाठ के संसाधन से ऐसे ही परिणाम मिले थे)। कहना न होगा कि "परिवर्ती चिह्नों" के प्रयोग की प्रायिकता को ही नहीं, बल्कि अभिलेख या ब्लाक में उनकी स्थिति को भी तथा "परिवर्ती चिह्नों" के संभाव्य संयोजनों के प्ररूपों (पाठों की सूक्ष्म रूपावलियों) को भी ध्यान में रखा गया। इन बहुत हद तक आशादायक परिणामों को देखते हुए आद्य-भारतीय अभिलेखों की भाषा के कुछ व्याकरणिक लक्षण मोटे तौर पर इंगित किये जा सकते हैं, यथा – इस भाषा में पूर्वप्रत्ययों का नहीं, अपितु परप्रत्ययों का होना, विशेषक का विशेष्य शब्द से पूर्व स्थित होना, विशेषक और विशेष्य में व्याकरणिक अन्वय का न होना, इत्यादि।

अगला क़दम पूर्णतः नियमसंगत था: इन दत्तों की उन भाषाओं के लक्षणों से तुलना की जानी थी, जिनका तीसरी-दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में सिंधु घाटी में अस्तित्व इस क्षेत्र के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकास के बारे में हमारी अवधारणाओं को देखते हुए सैद्धांतिक तौर पर संभव था। ये भाषाएं हो सकती थीं: भारोपीय भाषाएं – संस्कृत (भारत में इसकी प्राचीनतम रचनाएं द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के अंत से ज्ञात हैं) और हित्ती भाषा; प्राचीन पश्चिमी एशिया की अभारोपीय भाषाएं – सुमेरी और एलामी; भारत की अभारोपीय भाषाएं – द्रविड़ और मुंडा भाषाएं और बुरुशस्की भाषा (उत्तर-पश्चिमी भारत की एक भाषा, इसका उत्पत्तिमूलक संबंध अभी तक निर्धारित नहीं हो पाया है)।

पता चला कि आद्य-भारतीय पाठों की संरचना के सभी विशिष्ट रूपगत लक्षण केवल द्रविड़ भाषाओं के ढांचे के ही अनुरूप हैं। हड़प्पा संस्कृति और भाषा के द्रविड़ मूलतत्व का विचार विद्वानों ने पहले भी व्यक्त किया था, लेकिन अब यह निष्कर्ष प्रागनुभव आम अवधारणाओं पर नहीं, बल्कि प्रमाणों की ऐसी सुघड़, सख़्त प्रणाली पर आधारित था, जो संयोगों के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ती।

अब आद्य-भारतीय पाठों की सामग्री की द्रविड़ भाषाओं के दत्तों से तुलना करने की आवश्यकता थी।

सोवियत विद्वानों के मत में किसी भी सजीव द्रविड़ भाषा को मानक के रूप में नहीं चुना जा सकता : तुलनात्मक-ऐतिहासिक द्रविडविद्या के अधिनूतन दत्तों तथा द्रविड़ भाषाओं के भाषा-तैथिक अनुसंधानों के परिणामों से पता चलता है कि आधुनिक द्रविड़ भाषाओं का निर्माण लगभग चौथी-दूसरी सदी ई० पू० से १०-११वीं सदी ई० तक के काल में हुआ। इस लंबी प्रक्रिया से पहले किसी एक आद्य-द्रविड़ भाषा का बोलियों के अलग-अलग वर्गों में विघटन हुआ था, जो द्रविड़ भाषाओं के वर्तमान वर्गों – उत्तरी, केंद्रीय और दक्षिणी – का आधार बने। भाषा-तैथिक गणनाओं के अनुसार बोलियों के इन वर्गों का पृथक्करण कई सहस्राब्दियों के दौरान – चौथी सहस्राब्दी ई० पू० के अंत से प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य तक – हुआ। अतः हड़प्पा सभ्यता के काल में सिंधु घाटी में या तो तब तक अविघटित आद्य-द्रविड़ भाषा या उसके एक पहले "वंशज" का अस्तित्व था। अब वैज्ञानिकों के सम्मुख इस आद्य भाषा का स्वनप्रक्रियात्मक और व्याकरणिक पुनर्निर्माण करने की समस्या उठी। इसे हल करने में भी प्रो० क्नोरोज़ोव के संचालन में वैज्ञानिकों का एक दल कार्यरत है।

आद्य-भारतीय पाठों के विकोडन संबंधी शोधकार्यों के परिणामों पर सोवियत विद्वानों ने चार विशेष लेख-संग्रह प्रकाशित किये और कई विदेशी वैज्ञानिक पत्रिकाओं में भी लेख छपवाये। उनकी रचनाएं भारत, सं० रा० अमरीका और हालैंड में छपी और भारतीय विद्वानों ने उनका उच्च मूल्यांकन किया।

सोवियत विद्वानों की एक बहुत बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने आद्य-भारतीय अभिलेखों के कुछ संरचनात्मक-आर्थिक प्ररूप निर्धारित किये हैं। पता चला कि अभिलेख देवार्पण, विपत्ति-रक्षा और मंदिरों से संबंधित हैं। आद्य-भारतीय लिपि के अध्ययन के प्रति बहुमुखी रुख की बदौलत हड़प्पा समाज की आत्मिक संस्कृति और सामाजिक ढांचे की बहुत सी विशिष्टताएं समझी जा सकीं। पुरातत्व, तुलनात्मक मिथकविज्ञान और प्राचीन भारतीय साहित्य की सारी उपलब्ध जानकारी को ध्यान में रखकर इन पाठों पर काम किया गया। इसलिए मोहरों पर अंकित प्रत्येक चित्र, प्रत्येक प्रतीक का अपने आप में क्या अर्थ है – इसका नहीं, बल्कि जिस सांस्कृतिक-मिथक प्रणाली की पुनर्रचना की जा रही थी, उसके एक तत्व के नाते इसका क्या महत्त्व है – इस बात का पता लगाया गया।

आद्य-भारतीय लिपि के अध्ययन के फलस्वरूप सोवियत विद्वान हड़प्पा बस्तियों के निवासियों की धार्मिक-मिथकीय अवधारणाओं के कुछ लक्षणों का पता लगा पाये, सर्वप्रथम विभिन्न रूपों की पूजा वस्तुओं का (मानवरूप, पशुरूप, वृक्षरूप और "पवित्र पात्र")। सबसे बड़ी बात यह कि वे उस काल की विश्वोत्पत्ति संबंधी अवधारणाओं और पंचांग प्रणाली के सामान्य स्वरूप का भी पता लगा पाये।

सोवियत शोधकर्त्ता इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि हड़प्पा बस्तियों के निवासी वर्ष

17–900

को तीन दीर्घ और छह लघु ऋतुओ में विभाजित करते थे और उनमें से हर किसी का एक प्रतीक-पशु होता था। लघु ऋतुओ के प्रतीक-पशुओ के चित्र थे – आद्य वृषभ (एकशृंग ; यही वर्ष का भी प्रतीक था), मेष, व्याघ्र, छोटे सींगों वाला आद्य वृषभ (औरक्स), वृषभ। प्रत्यक्षत: दीर्घ ऋतुए भी पशुरूपी प्रतीकों में कोडित थीं: बाढ़ों की ऋतु का प्रतीक घड़ियाल था ; वर्ष का आरभ आद्य वृषभ ऋतु से होता था ; ककुद्मी वृषभ (कूबड़वाला सांड) और वृश्चिक क्रमश: वसन्त-विषुव और शरद-विषुव के प्रतीक थे। प्राचीन भारत में बहुत बाद तक प्रचलित रहे साठवर्षीय चक्र का आरभ प्रत्यक्षत: हड़प्पा काल में ही हुआ था, आद्य-भारतीय इस चक्र को बारह वर्षों के पाच भागों में विभाजित करते थे।

आद्य-भारतीय लेखों की व्याख्या पर कार्य हड़प्पा नगरो के निवासियों के सामाजिक संबंधों, धार्मिक धारणाओं और पूजा विधियों, आदि के बारे में अधिनूतन जानकारी काफ़ी बढ़ाते हैं।

अभिलेखों से यह पता चलता है कि हड़प्पा नगरों में सुव्यवस्थित पूजा पद्धति थी। "देवार्पण अभिलेख" विशेषत: तैयार की गई पट्टिकाओं पर अंकित होते थे, जो या तो पवित्र पशु (मीन, शशक, आदि) या पवित्र वृक्ष के पत्ते की शक्ल की होती थीं। ये पट्टिकाए इक्की-दुक्की नहीं, बल्कि बड़ी संख्याओं में मिली हैं। इससे यह पता चलता है कि अनुष्ठान केवल घरेलू ही नहीं होते, बल्कि "सामूहिक" भी। भारतीय पुराविदों के अधिनूतन उत्खननों से इस अनुमान की पुष्टि होती है: कालीबगन में नगर के "ऊपरी" भाग (दुर्ग) में कई बड़ी-बड़ी वेदियां मिली हैं, जो विशेष चबूतरे पर स्थित हैं, और इसके पास ही कुआं तथा स्नान करने का स्थान है। वेदियों पर राख के अवशेषों समेत पात्र थे और देवार्पण के लिए पक्वमृदा पिंड। दुर्ग मे वेदियों के बने होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यहां ऐसे भव्य समारोह होते थे, जिनमें पुरोहित तथा नगर के अधिकारी भाग लेते थे।

सोवियत विद्वानों ने यह दिखाया है कि समय बीतने के साथ-साथ अभिलेखों के प्रकार बदले और उन्हें बनाने की विधि में भी परिवर्तन आये। उत्तर काल में "देवार्पण अभिलेख" सेलखड़ी पर उत्कीर्णित नहीं किये जाते थे, बल्कि चिकनी मिट्टी की मोहरों पर ठप्पों से अंकित किये जाते हैं। मोहरों पर बलि के, देवता को भेंट के विभिन्न प्रकारों के दृश्यों का अंकित होना यह प्रमाणित करता है कि पूजा विधि अधिक जटिल हो रही थी। एक ओर जहां बड़े पशुओं की बलि के, "रजत जल" अर्पण के दृश्य मोहरों पर अंकित हैं, वहीं दूसरी ओर पूजा के आदिम रूप भी अंकित हैं। सोवियत विशेषज्ञों के मत में यह हड़प्पा समाज में संपत्तिमूलक भेद के काफ़ी बढ़ जाने का प्रमाण है, जोकि अन्य पुरातत्वीय प्रमाणों से भी सिद्ध होता है (धनिकों और निर्धनों के घरों में अंतर, शवाधानों में अलग-अलग तरह के सामान का पाया जाना, इत्यादि)।

आद्य-भारतीय अभिलेखों के अध्ययन के फलस्वरूप सोवियत विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि दिव्य राजा की अवधारणा से संबंधित पचांग चक्रों का प्रवर्तन राजा की सत्ता के प्रबल होने का प्रमाण था और इस सत्ता को आजीवन और मौरूसी बनाने की शासको की चेष्टा को प्रतिबिम्बित करता था। मोहरों पर "दिव्य राजा" भैंसे के सींगों के साथ अंकित होता था, इसलिए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वास्तविक शासक उस प्राचीन गोत्र के थे, जिसका टोटेम भैंसा था। आद्य-भारतीय अभिलेखो और मोहरो पर अंकित चित्रों के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष पुरातत्वीय सामग्री के अनुरूप हैं। इस सामग्री से भी यही पता चलता है कि हड़प्पा समाज आदिवर्गीय समाज था।

हडप्पा समाज के वर्ग स्वरूप तथा वहां राज्य के विकास के बारे में सोवियत विद्वानों के निष्कर्ष अनेक पश्चिमी यूरोपीय विद्वानो के इस मत का पूरी तरह खंडन करते हैं कि भारत में राज्यत्व के विचार आर्यों के आगमन के साथ ही प्रकट हुए या फिर ये सुमेर से लिये गये थे। हड़प्पा काल में "पूर्ण सामंजस्य" होने तथा सामाजिक भेदो के न होने की धारणा पर भी आमूल पुनर्विचार किया जाना चाहिए।

हडप्पा लेखों के अध्ययन के लिए सोवियत संघ में जो शोधकार्य हुआ है, उससे यह कहने का भी आधार मिलता है कि हड़प्पा परम्पराओं का बौद्ध, हिंदू, जैन धर्मों पर, नगरो के निर्माण पर, उससे कहीं बाद के प्राचीन भारतीय समाज के सामाजिक ढांचे पर काफ़ी प्रभाव पड़ा।

सोवियत विद्वानों ने अब ब्लाकों के कोश का संकलन पूरा कर लिया है, जिसमें इनकी चित्रलेख व्याख्या दी गई है और यह भी बताया गया है कि इन्हें अनुमानत: कैसे पढा जा सकता है, साथ ही "पढ लिये गये" अभिलेखों का संग्रह भी दिया गया है। ब्लाकों के कोश में आद्य-भारतीय लिपि के लगभग ८० % चिह्न हैं और पढ़ लिये गये अभिलेखो के संग्रह में अब तक ज्ञात सभी अभिलेखो का प्राय: इतना ही अंश दिया गया है। आगे के काम में न केवल इनके पठन को परखा जाना है, बल्कि अभिलेखो की भाषा का अधिक ब्योरेवार ऐतिहासिक-भाषावैज्ञानिक अध्ययन भी किया जाना है। इस कार्य के दौरान यह संभव है कि कुछ चिह्नों अथवा उनके ग्रुपों के पठन पर पुनर्विचार करना पडे, लेखो की वाक्य-रचना के बारे में जानकारी अधिक सही हो, लेकिन सोवियत विद्वानों द्वारा निकाले गये मूलभूत निष्कर्षो का महत्त्व प्रत्यक्षत: बना रहेगा।

उल्लेखनीय है कि भारतीय विद्वानों ने आद्य-भारतीय अभिलेखो पर सोवियत संघ में हो रहे शोधकार्य में गहरी रुचि दर्शाई है। कतिपय प्रकाशनो का भारत में अंग्रेजी में अनुवाद हुआ है। सोवियत विद्वानों को अपने कार्य में सफलता निश्चित हद तक भारतीय विद्वानों के साथ स्थायी सम्पर्कों के फलस्वरूप ही मिली है। कुछ वर्ष पूर्व भारतीय विद्वान महादेवन ने सभी ज्ञात आद्य-भारतीय अभिलेखों का संग्रह प्रकाशित किया था, जिसमें विस्तृत तालिकाएं हैं, लेखों की संगति इंगित है और

मोहरों पर अंकित चित्रों की पूर्ण संदर्भसूची दी गयी है। डा० महादेवन के संदर्भ ग्रंथ के बिना आज इस क्षेत्र में कोई भी वैज्ञानिक खोज असभव है; सोवियत विद्वान भी विकोडन कार्य में इसका व्यापक उपयोग कर रहे हैं। डा० महादेवन के सचालन में मद्रास मे इन लेखों का कम्प्यूटर पर संसाधन किया गया। इस तरह आद्य-भारतीय लिपि की प्रणाली, लेखों के "ब्लाकों" में विभाजन और व्याकरणिक सूचकों के बारे में जो जानकारी मिली, वह मूलत: सोवियत विद्वानों के कार्यों से प्राप्त परिणामों के साथ मेल खाती है, हालांकि भारतीय विद्वानों ने कम्प्यूटर के लिए प्रोग्राम पूर्णत: स्वतंत्र रूप से तैयार किया था और वह सोवियत गणितज्ञों द्वारा कम्प्यूटर में भरे गये प्रोग्राम से काफ़ी हद तक भिन्न था।

हड़प्पा सभ्यता की लिपि और संस्कृति का अध्ययन समस्त द्रविड़ जनगण की नृजातीय उत्पत्ति की समस्या का हल ढूंढने के लिए भी बहुत माने रखता है। यह समस्या अत्यंत विवादपूर्ण है और इसका अभी तक बहुत कम अध्ययन हुआ है। अभी तक द्रविड़ो की आद्य जन्मभूमि और उनके देशांतरण के संभाव्य मार्गों के बारे में सभी प्राक्कल्पनाए समसामयिक द्रविड़ भाषाओं के प्रसार, दूसरी भाषाओं के साथ इस वर्ग की भाषाओं के प्ररूपात्मक या उत्पत्तिमूलक सबंधों के बारे में तथा तिहास, नृजातिवर्णन और पुरातत्व के थोड़े से साक्षात्कारों पर आधारित होती ो। यह अकारण ही नही है कि विद्वान न केवल अलग-अलग, बल्कि परस्पर-वरोधी दृष्टिकोणो पर पहुंचते थे। उदाहरणत:, यह प्राक्कल्पना बहुत प्रचलित थी कि द्रविड़ो की आद्य जन्मभूमि भारत के दक्षिण में ही थी, जबकि उत्तर में द्रविड़-भाषी लोग (ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और पाकिस्तान के कुछ इलाक़ों में आजकल रह रहे ब्राहुई लोग) दक्षिण से यहा आकर बसे थे।

स्वय द्रविड़ भाषाओं के दत्तों (तथाकथित भाषावैज्ञानिक पुरातत्व) का उपयोग अब तक वस्तुत: नही किया गया था, हालांकि विभिन्न भारोपीय जनगण के देशांतरण के मार्गों और संस्कृति के विकास के आरंभिक चरणो के प्रश्न को हल करने में ऐसी सामग्री ही अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई थी।

सोवियत संघ में इधर कुछ समय से "भाषावैज्ञानिक पुरातत्व" के दत्तों का द्रविडविद्या के लिए उपयोग करने के प्रयास किये जा रहे हैं (सर्वप्रथम ये न० गूरोव और म० अन्द्रोनोव के कार्य हैं) और इनके लिए प्रेरणा बहुत हद तक आद्य-भारतीय लिपि के विकोडन के कार्यों से मिली है।

इस विधि से द्रविडों की आद्य जन्मभूमि का प्रश्न तथा इससे भी अधिक व्यापक प्रश्न – प्राचीन भारतीय सभ्यता की उत्पत्ति की समझ – के हल के लिए कैसे परिप्रेक्ष्य खुलते हैं?

द्रविड़ शब्द भंडार का तुलनात्मक-ऐतिहासिक अध्ययन करके सोवियत शोधकर्त्ता इसमें तथाकथित सांस्कृतिक स्तर – भौतिक और आत्मिक संस्कृति से सबंधित शब्द-समूह – निर्धारित कर सके और इस स्तर को कतिपय कालक्रमिक संस्तरों में विभाजित कर सके।

सर्वाधिक प्राचीन संस्तर में वे शब्द आते हैं, जो सभी द्रविड भाषाओं में पाये गये हैं और संभवत: आद्य-द्रविड़ सांस्कृतिक एवं भाषायी समष्टि के काल के हैं। भाषा-तैथिकी की गणनाओं से पता चलता है कि यह चौथी सहस्राब्दी ई० पू० के अंत से पहले का काल होना चाहिए।

द्रविड जनगण की नृजातीय उत्पत्ति पर सोवियत शोधकर्त्ताओं का कार्य अभी पूरा नहीं हुआ है, तथापि अब आद्य द्रविड़ों की भौतिक और आत्मिक संस्कृति के कुछ विशिष्ट लक्षणों के बारे में अधिक निश्चित तौर पर कुछ कहा जा सकता है, यानी हड़प्पा सभ्यता के मूल को, उस आधार को उजागर किया जा सकता है, जिस पर तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० में सिंधु घाटी की प्राक्नगर और नगर संस्कृति विकसित हुई।

सोवियत विद्वानों (सर्वप्रथम न० गूरोव) द्वारा किये गये भाषावैज्ञानिक पुनर्निर्माण के अनुसार द्रविड़भाषी समष्टि के विघटन से पहले ही द्रविड़भाषी आबादी शिकार और मछली पकड़ने के साथ-साथ एकस्थानवासी और उच्चत: विकसित कृषि से तथा पशुपालन से भी परिचित थी। सामान्य द्रविड शब्द भंडार में कृषि प्रक्रिया के सभी प्रमुख चरणों से संबंधित शब्द – जुताई, बुवाई, कटाई, ओसाई, आदि हैं। निस्संदेह विकसित कृषि शब्दावली का होना सामान्य द्रविड़ काल में द्रविड़ क़बीलों के जीवन में कृषि की प्रमुख भूमिका को इंगित करता है। पशुपालन, शिकार और मछली पकड़ने से संबंधित शब्द भी प्रचुरता में हैं। सामान्य द्रविड़ काल में द्रविड क़बीलों के भौतिक जीवन के स्वरूप का पुनर्निर्माण करने के लिए गृहनिर्माण शिल्प से, गृहों के प्रकारों और रूपों से संबंधित शब्दावली नितांत महत्त्वपूर्ण है। इन शब्दों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उस काल में भी द्रविड पर्याप्त विकसित स्थापत्य वाली स्थायी बस्तियों में रहते थे। मकान लकड़ी के बनाये जाते थे, ये दोमंज़िला भी हो सकते थे ("ऊपरी मंज़िल" के लिए विशेष शब्द है), छतें न केवल फूस की, बल्कि खपड़ैल की भी होती थी और मकान काफ़ी बड़े होते थे।

"ऋण लेना", "ऋण चुकाना", "चुराना – चोर", "झुंड की रखवाली करना" जैसी अवधारणाओं के सामान्य द्रविड शब्दों का होना तथा "चाकर, दास – स्वामी", इत्यादि अवधारणाओं का विकास सामाजिक संबधों का स्वरूप तथा स्वामित्व की संस्था का विद्यमान होना इंगित करता है। पूजा-पाठ से संबंधित शब्द यह दर्शाते हैं कि विभिन्न विश्वासों की प्रणाली कुल जमा उन धार्मिक धारणाओं के अनुरूप थी, जो आदि खेतिहर संस्कृतियों में पायी जाती हैं। इस प्रकार सामान्य द्रविड़-भाषी एकता के काल में "द्रविड़ समाज" में भौतिक संस्कृति का भी और सामाजिक संबधों का भी स्तर उन्नत था। इन सामग्रियों के तथा इनके पुनर्निर्माण और व्याख्या की नई विधि के प्रकाश में इस परम्परागत दृष्टिकोण पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है कि द्रविड़भाषी एकता के काल में द्रविड़ समाज का स्वरूप काफ़ी हद तक आदिम ही था। सोवियत भारतविद जिस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं, वह द्रविड़

जनगण के इतिहास के आरंभिक चरण में नृजातीय-सांस्कृतिक विकास की सामान्य प्रक्रियाओं को समझने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सामान्य द्रविड़ शब्द भंडार के तुलनात्मक-ऐतिहासिक अध्ययन के फलस्वरूप द्रविड़ समष्टि का भौगोलिक क्षेत्र भी मोटे तौर पर निर्धारित किया जा सकता है। वनस्पति और जीव जगत से संबंधित तथा, अधिक व्यापक रूप में, पारिस्थितिकी से संबंधित शब्द इस बात के साक्षी हैं कि द्रविड़भाषी समष्टि का विघटन भारत उपमहाद्वीप पर ही या भौगोलिक दृष्टि से इससे मिलते-जुलते क्षेत्र में हुआ।

चहुंमुखी अध्ययन से यह पता चलता है कि हड़प्पा सभ्यता स्थानीय, पर्याप्त विकसित संस्कृतियों के आधार पर उत्पन्न हुई और इस प्रक्रिया की नियमसंगत परिणति थी। इस सभ्यता के किसी "एकाएक उद्भव" का, जैसा कि पहले बहुत से विद्वान मानते थे, सवाल ही नहीं उठता। नई पुरातत्वीय सामग्री ही नहीं, बल्कि आद्य-भारतीय लिपि और संस्कृति के सोवियत विद्वानों द्वारा किये जा रहे अध्ययन के परिणाम भी यही इंगित करते हैं। हड़प्पा सभ्यता के उद्भव की नियमसंगति का निष्कर्ष उन कार्यों के परिणामों के पूर्णतः अनुरूप है, जो बरसों से भारतीय विद्वान सफलतापूर्वक कर रहे हैं। सोवियत और भारतीय विद्वानों का घनिष्ठ सहयोग इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में सफलता की प्रत्याभूति है।

मध्य एशिया में सोवियत पुराविदों द्वारा किये गये उत्खननों से विद्वजगत में एक सर्वाधिक चर्चित समस्या – **आर्य समस्या** – के हल के लिए नई और महत्त्वपूर्ण सामग्री मिली है। सुविदित है कि विद्वानों के वर्षों के परिश्रम के बावजूद यह समस्या बहुत हद तक अभी हल नहीं हुई है और यह स्पष्ट नहीं है कि भारतीय आर्य कहां से और किन मार्गों से होते हुए उत्तरी भारत में पहुंचे। सोवियत विद्वानों द्वारा मध्य एशिया में किये जा रहे अनुसंधानों से यह पता चला है कि द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य से ही स्तेपियाई क़बीलों का सक्रिय देशांतरण शुरू हो गया था और ये क़बीले खेतिहर संस्कृतियों के केंद्रों की ओर बढ़ रहे थे। प्रो० लित्वीन्स्की और प्रो० मंदेलश्ताम के अनुसार दक्षिणी ताजिकिस्तान के शवाधान स्थलों की सामग्री आर्यों (या भारतीय आर्यों) से संबद्ध हो सकती है। उनका यह अनुमान इस बात पर आधारित है कि यहां मिली शवाधान सामग्री स्पष्टतः ऋग्वेद में प्रतिबिम्बित वैदिक क़बीलों के अंत्येष्टि अनुष्ठानों के अनुरूप है। पाकिस्तान में स्वात नामक स्थान में हुई नई खोजों के प्रकाश में इस अनुमान की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। पाकिस्तान के शवाधान स्थलों मे मिली सामग्री में मध्य एशियाई और भारतीय सामग्री के साथ बहुत समानता है।

मध्य एशिया में नये उत्खननों से यह अनुमान लगाने का आधार मिलता है कि द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य और उत्तरार्द्ध में स्तेपियाई क़बीले मध्य एशिया से ही भारत की ओर बढ़े थे। इनके कुछ ग्रुप उन भारतीय आर्यों के सीधे पूर्वज थे, जिनके साथ विद्वान ऋग्वेद के रचयिताओं का संबंध जोड़ते हैं। वैसे इस अनुमान

की आगे पुष्टि करने की आवश्यकता है। यह संयोग की बात नहीं है कि अनेक भारतीय विद्वान आर्य समस्या के विश्लेषण के लिए मध्य एशिया में सोवियत पुरातत्वविदों द्वारा की गयी खुदाइयों के परिणामों का व्यापक इस्तेमाल और समान ऐतिहासिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाएं खोजने का प्रयत्न करते हैं।

हमने हड़प्पा सभ्यता की समस्याओं और आद्य-भारतीय लिपि के पठन से संबंधित सोवियत विद्वानों के कार्यों की इतने विस्तार से चर्चा जान-बूझकर की है, क्योंकि इन प्रश्नों में भारत के विद्वज्जगत की गहरी रुचि है।

एक सर्वाधिक विवादास्पद प्रश्न यह है कि हड़प्पा सभ्यता, अथवा यदि ठीक-ठीक कहें, तो सिंधु घाटी के नगरों के पतन के क्या कारण थे। विद्वानों ने अनेक कारण बताये हैं। मध्य एशिया में सोवियत पुरातत्वविदों की खुदाइयों ने दिखाया है कि तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के अंत – दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के आरंभ में दक्षिणी मध्य एशिया की खेतिहर संस्कृति एक तरह के आंतरिक संकट से गुज़र रही थीं, जिसका प्रमाण यह हुआ कि उनका नगरीय जीवन ह्रासोन्मुख हो गया, आबादी नगरों को छोड़कर अन्यत्र, नये इलाक़ों में बसने लगी और इस तरह संस्कृति का "बर्बरीकरण" होने लगा। बहुत कुछ ऐसी ही प्रक्रियाएं हड़प्पा सभ्यता के उत्तर काल में भी घटीं।

मध्य एशिया और भारत के संबंधों के इतिहास में अखामनीष राज्य के काल तथा सिकंदर महान के अभियान को एक विशेष काल में रखा जाना चाहिए। सुविदित है कि मध्य एशिया के कुछ क्षेत्रों (बाख़्त्री, सोग्द, पार्थिया, ख्वारज़्म) के साथ-साथ उत्तर-पश्चिम भारत के कुछ क्षेत्र (गांधार और सिंधु नदी तक का इलाक़ा) एक साम्राज्य में शामिल थे। प्राचीन यूनानी स्रोतों से यह पता चलता है कि अखामनीष सेना में भारतीय सैनिक थे और मध्य एशिया के निवासी भी। सिकंदर महान के अभियान के दौरान जब उसने मध्य एशिया के क्षेत्र और उत्तर-पश्चिमी भारत के इलाक़े जीते, तो ये संबंध विशेषतः सक्रिय हुए।

द्वितीय शताब्दी ई० पू० में जब शक और दूसरे क़बीले पामीर से होते हुए उत्तरी भारत की ओर बढ़े, तो वे अपने साथ मध्य एशियाई संस्कृति के बहुत से तत्व और परम्पराएं भी ले गये। उदाहरणतः, तक्षशिला में लौह तलवारों की, जो प्रत्यक्षतः मध्य एशियाई क़बीलों की हैं, तथा विशेष कांस्य चक्र दर्पणों की, जैसे मध्य एशिया में पाये जाते थे, खोज इंगित की जा सकती है। प्रत्यक्षतः उत्तरी भारत में अश्वारोही सेना और घोड़ों के साज़ का व्यापक प्रसार शक क़बीलों से ही संबंधित है। संस्कृत शब्द "जयन" प्राचीन ईरानी शब्दों "ज़य" – "अस्त्र, औज़ार", तथा "ज़एना" – "शस्त्र", "जयन" – "सशस्त्र, शस्त्र-सज्जित" जैसा है, जो 'अवेस्ता' में भी मिलते हैं। संस्कृत में यह शब्द और "वरबन" शब्द छठी-चौथी सदी ई० पू० से पहले नहीं आये थे और उत्तर-पश्चिमी भारत के मध्य एशियाई यायावर क़बीलों, सर्वप्रथम शकों के साथ सम्पर्कों से उत्पन्न हुए थे।

पामीर में सोवियत पुराविदों द्वारा किये गये नये उत्खननों में पामीरी शकों के अनेक शवाधान स्थल मिले हैं। पूर्वी पामीर की घाटियों में और पहाड़ी ढलानों पर कहीं-कहीं तो ४००० मीटर से अधिक ऊंचाई पर २५० से अधिक शक टीले मिले हैं। शवाधान सामग्री यह बताती है कि पामीरी शकों का शक (सीथियन) जगत से निकट संबंध था, "पशु शैली" की वस्तुओं की खोज इस बात की पुष्टि करती है। साथ ही उत्खननों से पामीरी शकों के भारत के साथ संबंध भी प्रकट हुए हैं। पूर्वी पामीर के शवाधानों में तामड़ा पत्थर की मालाएं मिली हैं, जिन पर विशेष भारतीय डिज़ाइन बने हुए हैं। प्रत्यक्षतः ये भारत से पामीर में पहुंची थीं। शंख के अंखौड़ों (अक्षि वेष्टकों) की खोज विशेषतः रोचक है। ऐसे ही भारत में भी मिले हैं। अभी तक कई भारतीय जनजातियों में शंख चक्षु का प्रतीक है। इस प्रकार यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पामीर के शकों के भारत के संबंध उस समय से बहुत पहले ही स्थापित हो चुके थे, जब शक क़बीले "निलबी मार्ग" को पार करके कश्मीर पहुंचे थे। प्राचीन चीनी इतिवृत्तों में "निलबी मार्ग" पर शकों की गति का उल्लेख मिलता है, लेकिन शोधकर्त्ता इस मार्ग के स्थान-निर्धारण पर एकमत नहीं थे। अनेक विद्वान इस संभावना पर संदेह प्रकट करते थे कि शक पामीर पार करके भारत में पहुंचे। पामीर में नये उत्खननों से पता चलता है कि दूसरी सदी ई० पू० से पहले ही, जबकि लिखित स्रोतों के अनुसार, शक क़बीले भारत की ओर बढ़े, पामीर के भारत के साथ संबंध काफ़ी सुदृढ़ थे।

भारत के साथ मध्य एशिया के संबंधों का सबसे अधिक प्रसार कुषाण साम्राज्य की स्थापना के काल में हुआ, जब मध्य एशिया के बहुत से इलाक़े और उत्तरी भारत का बड़ा भाग एक राज्य में समाविष्ट हुए। कुषाण काल पूरब के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकास में एक विलक्षण चरण था। इतिहास में पहली बार मध्य एशिया, उत्तरी भारत, पाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान और पूर्वी ईरान एक राज्य में शामिल हुए, विभिन्न नृजाति, भाषा, संस्कृति और धर्मों के जनगण व क़बीलों के बीच घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ। यह शक्तिशाली राज्य अराल सागर से हिंद महासागर के तट तक फैला हुआ था।

कुषाण युग में भारत उपमहाद्वीप के इलाक़ों, अफ़ग़ानिस्तान और ईरान के साथ मध्य एशिया के बहुविध सांस्कृतिक, व्यापारिक और आर्थिक संबंध उन घनिष्ठ संबंधों के क्रम में थे जो इस क्षेत्र के जनगण के बीच अस्मामनीष काल से चले आ रहे थे। संस्कृतियों का सामीप्य नृजातीय-सांस्कृतिक धरोहर के अनेक सामान्य लक्षणों द्वारा निर्धारित होता था।

कुषाण काल के अभिलेखों से यह पता चलता है कि मध्य एशिया के बहुत से निवासियों ने भारत में बसने पर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और वे उच्च राजकीय पदों पर भी आसीन थे। तक्षशिला के एक कुषाण अभिलेख में बाख़्त्रीय लोगों द्वारा बौद्ध मठ के निर्माण का उल्लेख किया गया है। सारनाथ के अभिलेखों

में वनस्पर और खरपल्लन नामक क्षत्रपों का ज़िक्र आता है, जो बौद्ध थे। बाख्त्री लिपि में उत्कीर्णित कुषाण अभिलेखों में से एक में, जिन्हें कनिंघम ने प्रकाशित किया, हारोवाला नाम के एक व्यक्ति का उल्लेख है, इससे इस नाम को सारनाथ अभिलेख के खरपल्लन के समकक्ष रखा जा सकता है। प्रत्यक्षतः किसी बाख्त्री की चर्चा है। इसी तरह दूसरे नाम "वनस्पर" की भी व्याख्या की जा सकती है (बाख्त्रीय शब्द "वनस्पर" का अर्थ है—"विजय का आह्वान करने वाला")।

कुषाण सिक्को से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि भारतीय धर्मों (बौद्ध और शैव धर्म) के साथ-साथ ज़रथुष्ट्र धर्म का भी, जो उस काल में मध्य एशिया में प्रचलित था, सह-अस्तित्व था। भारत में मिले सिक्कों पर ईरानी देवता—मित्र और व्रेत्रग—अंकित हैं तथा मध्य एशियाई दरिया वख़्श का देवता ओहशो भी, जिसकी छवि कुछ विद्वानों के मत में शिव की छवि में विलय हो गई। मथुरा की कुषाण काल की मूर्तियां शस्त्रास्त्रों, वस्त्रों, इत्यादि पर मध्य एशियाई परम्पराओं का प्रभाव इंगित करती हैं। उदाहरणतः, मथुरा की राजाओं की मूर्तियों की "शक" पगड़ी इंगित की जा सकती है, जो भारत के लिए अनोखी है और मध्य एशिया के लिए लाक्षणिक।

कुषाण राज्य के अस्तित्व के आरंभिक काल में भारत के साथ परस्पर संबंध में मध्य एशिया की भूमिका प्रमुख थी। भारत का प्रभाव काफ़ी क्षीण ही था। बाद में बौद्ध धर्म के फैलने पर ही भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रभाव काफी महत्त्वपूर्ण हुआ। यह बात बाख्त्रीय कुषाण कला स्मारकों का अध्ययन करते समय स्पष्टतः देखी जा सकती है।

स्थानीय मध्य एशियाई परम्पराओं पर आधारित बाख्त्रीय-तुख़ारिस्तानी धारा ने पूरब की और शायद सारी मानवजाति की ही संस्कृति के इतिहास में एक सर्वाधिक उज्ज्वल पृष्ठ लिखा है, हालांकि अभी हाल ही तक कुषाण-काल की बाख्त्री कलाकृतियों को भारत की गांधार धारा का अनुकरण मात्र या इसकी परम्पराओं से विचलन मात्र माना जाता था। गांधार धारा को उस काल की प्राचीन भारतीय संस्कृति के इतिहास में एकमात्र और सर्वव्यापी माना जाता था।

कुषाण कला को प्रायः अपने स्वरूप में शुद्धतः बौद्ध कला माना जाता था। कुछ विद्वानों का मत था कि गांधार कला अपने अंतर्य में यूनानी-बौद्ध कला है और यह यूनानी कला व बौद्ध धर्म के परस्पर प्रभाव का परिणाम है। दूसरे विद्वानों का कहना था कि गांधार कला भारतीय धरती पर रोमन परम्पराओं के सुदृढ़ीकरण का प्रभाव है। मध्य एशिया के स्मारकों को प्रायः भारतीय और यूनानी-रोमन परम्पराओं का संश्लेषण बताया जाता था, जिसमें "बर्बर तत्व" का प्रबल मिश्रण है।

अफ़ग़ानिस्तान में फ्रांसीसी विद्वानों की खोजों (सर्वप्रथम डी० श्लुम्बेर्जे के संचालन में पुरातत्वीय उत्खननों) तथा प्रो० पुगाचेन्कोवा के संचालन में दक्षिणी उज़्बेकिस्तान के हलचयन और दल्वेर्जिन तेपे में सोवियत विद्वानों द्वारा की गयी खोजों को देखते हुए कुषाण कला

की उत्पत्ति एवं स्वरूप के बारे में पुरानी अवधारणाओं पर पुनर्विचार करना पड़ा। "गांधार कला" नाम भी सोपाधिक हो गया। गांधार में मिली पहली मूर्तियों की खोज का क्षेत्र पंजाब, अफ़ग़ानिस्तान और मध्य एशिया के विभिन्न भागों में पुरातत्वीय उत्खनन के फलस्वरूप कहीं अधिक व्यापक हो गया। सुर्ख-कोटला में उत्खनन के बाद पुराविद श्लुम्बेर्जे ने गांधार कला का नया मूल्यांकन प्रस्तुत किया। ऐसा करते हुए उन्होंने यूनानी-ईरानी और यूनानी-बाख्त्रीय तत्व के महत्त्व पर ज़ोर दिया, जो एशिया के केंद्र में मकदूनियाइयो और उनके पूर्ववर्तियों से संबंधित यूनानी परम्परा का सच्चा रक्षक बना। श्लुम्बेर्जे कुषाण कला मे स्थानीय बाख्त्रीय संस्तर के विशाल योगदान संबंधी अपने निष्कर्ष के लिए आधार प्रस्तुत करना चाहते थे, लेकिन मध्य एशिया में बाख्त्रीय स्मारकों की खोज से पहले सामग्री के अभाव में ऐसा कर पाना असंभव था। श्लुम्बेर्जे को विवश होकर यह कहना पड़ा: "मैं स्वयं को ऐसे खगोल-विज्ञानी की स्थिति में अनुभव करता हूं, जो ग्रह की कक्षा में अनबूझ विशिष्टताएं पाकर यह निष्कर्ष निकालता है कि इसकी व्याख्या किसी अन्य ग्रह के अस्तित्व से ही की जा सकती है। यह अन्य ग्रह – 'यूनानी-बाख्त्रीय कला' – अभी तो बाख्त्री के क्षितिज पर कहीं छिपा हुआ है।" अब विद्वानों के पास यह कहने के लिए पर्याप्त सामग्री है कि कुषाण कला की मौलिक और पूर्णतः स्वतंत्र बाख्त्रीय धारा का अस्तित्व था, जिसका प्रादुर्भाव भारत की गांधार धारा के गठन से पहले और उससे स्वतंत्र रूप में हुआ। यही नहीं, बाख्त्रीय धारा का (जिसमें लौकिक पक्ष प्रबल था) भारत की गांधार धारा के तथा सारी कुषाण कला के ही गठन पर भारी प्रभाव पड़ा। कालांतर में बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ कुषाणकालीन बाख्त्री की कला में भी और सारे मध्य एशिया की कला में भी भारतीय-बौद्ध परम्परा का प्रभाव देखा जा सकता है, हालांकि स्थानीय बाख्त्रीय धारा का अस्तित्व बना रहा और वह आगत तत्वों एवं परम्पराओं को पोषित करती रही। तेमेर्ज़ के बौद्ध स्मारक (कारा तेपे का उत्खनन), ऐर्ताम की उद्भृत मूर्तियां और दल्वेर्ज़िन तथा हलचयन की मूर्तियां इसका प्रमाण हैं।

बाख्त्रीय कला की विशिष्टता और उसके विकास के प्रमुख चरणों को अधिक अच्छी तरह समझ पाने के लिए यूनानी-बाख्त्रीय राज्य तथा उसके बाद के राज्यों के विकास के इतिहास के प्रमुख चरणों को देखना चाहिए। तीसरी सदी ई० पू० में मध्य एशिया में यूनानी-बाख्त्रीय राज्य की स्थापना से यहां यूनानी परम्पराएं प्रबल हुईं, हालांकि यूनानी तत्वों के साथ-साथ सुदृढ़ स्थानीय आधार भी अस्तित्वमान था। इस राज्य की सीमाओं का दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व की ओर (उत्तर-पश्चिमी भारत के कुछ इलाक़ों सहित) विस्तार भारतीय संस्कृति से परिचय में सहायक हुआ। यही **हलचयन** का भी (सुर्ख़ान दरिया के तट पर) उत्कर्ष काल है – यहां दुर्ग का निर्माण हुआ, नगर के चारों ओर परकोटा बना। यहां मिले सिक्के हमें देमेतर के भारत अभियान की याद दिलाते हैं: राजा के सिर पर हाथी का कपाल है।

कुछ समय बीतने पर पहले शक क़बीले और फिर यूह-ची क़बीले सुर्खान की घाटी में पहुचे। बाख्त्री में पांच छोटे-छोटे राज्य बने। हेरायोस नामक एक शासक ऐसे सिक्के चलाने लगा, जिन पर अंकित अभिलेख में हेरायोस और उसके वंश की चर्चा है। कुषाण राज्य की नींव पड़ी। कद्‌फ़िस प्रथम के काल में यूह-ची शासको के राज्यों का एकीकरण हुआ।

हलचयन भी बढ़ा, इसका मानो नया जन्म हुआ। यहां अनुपम मूर्तियों और चित्रों वाला महल बनाया गया। हलचयन के उत्खनक पुराविद दल की प्रधान प्रो० ग० पुगाचेन्कोवा के मत में महल में दरबार लगता था और राज-भोज होते थे, महल की सारी सज्जा का ध्येय शासक परिवार का यशगान करना ही था। इस महल के समरूपी भवन तक्षशिला में मिले हैं, जो ईसापूर्व और ईसवी शतियों के संधिकाल के माने जाते हैं।

हलचयन महल की सामग्री से मौलिक बाख्त्रीय धारा के बारे में तथा गांधार धारा के और सारी कुषाण कला के गठन में बाख्त्रीय योगदान के बारे मे सर्वाधिक मूल्यवान जानकारी मिलती है। लेकिन हलचयन के अनुसंधानों का महत्त्व इससे कहीं अधिक व्यापक है। शक और यूह-ची काल का (अर्थात उत्तरी बाख्त्री में कुषाण राज्य के गठन के आरंभिक काल का) हलचयन वास्तुकला और मूर्तिकला की स्थानीय परम्पराओ के स्वतंत्र विकास का साक्षी है। यूनानप्रभावित परम्पराओं को आत्मसात करके भी हलचयन एक संकर कला का नहीं, बल्कि मौलिक बाख्त्री कला-संस्कृति का नमूना बना रहा है।

प्रो० पुगाचेन्कोवा ने हलचयन महल की तिथि प्रथम शती ई० पू० निर्धारित की है, लेकिन कुछ सोवियत विद्वानों के मत में यह तिथि कुछ त्रुटिपूर्ण है और उनके विचार में हलचयन को ईसवी संवत् के आरंभिक वर्षों का माना जाना चाहिए (कु-षाण राज्य के कालानुक्रम का प्रश्न आज भी प्राच्यविद्या का एक जटिलतम प्रश्न बना हुआ है)। हलचयन महल के उत्खनन से यह पता चला कि स्थानीय वास्तु-कार आंतरिक सज्जा को बहुत महत्त्व देते थे और रंग का व्यापक उपयोग करते थे। मूर्तियों की अवस्थिति एक सामान्य योजना तथा निश्चित ताल में थी। भित्ति-मूर्तियां दीवारों के ऊपरी भाग पर बनायी जाती थीं। नीचे से दीवारों पर पलस्तर किया जाता था, उसके ऊपर दो मीटर की सत्व वल्लरी (ज़ूफ़ारस) होती थी और उसके ऊपर आधे मीटर की चित्र वल्लरी। चित्र वल्लरी पर माला लिये बच्चे, वादिकायें, बहुरूपिये, आदि अंकित हैं। इन चित्रों के सीधे-सीधे अनुरूप तो यूनानी-रोमन कला में नहीं मिलते, लेकिन ये मध्य एशिया में प्रचलित तथाकथित डायोनिशस चक्र का अंश हैं। हलचयन महल से साफ़-साफ़ पता चलता है कि उत्तरी-बाख्त्रीय कला में बैकेनेलियाई विषयवस्तु किस प्रकार रूपांतरित हुई। यहां हम उत्तर-पश्चिमी भारत के डायोनिशसउत्सवों को भी स्मरण कर सकते हैं, जिनका उल्लेख सिकंदर के अभियानों के बारे में लिखने वाले पुरायुगीन लेखकों ने किया है।
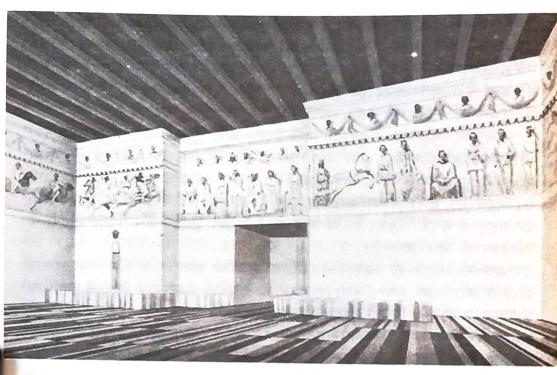
राजप्रासाद। हलचयन। (पुनर्कल्पित)
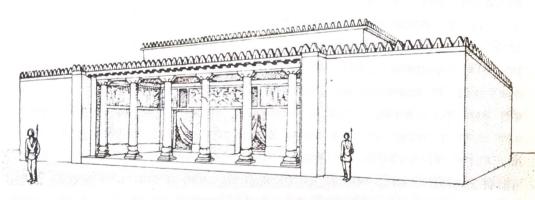
एक भवन का अग्रभाग। हलचयन।
(पुनर्कल्पित)

सत्व वल्लरियों पर निर्मित आकृतियां विशेषतः उल्लेखनीय हैं। यहां छविचित्रों की पूरी गैलरी है। ये प्रत्यक्षतः ऐतिहासिक व्यक्तियों के चित्र हैं, सत्तारूढ़ कुषाण वंश के पहले प्रतिनिधियों के, संभवतः हेरायोस वंश के, जिसके बारे में हम सिक्कों से जानते हैं। राज वंश की और उसकी जीतों की स्तुति की गयी है। तेज़ी से दौड़ते जा रहे अश्वों पर सवार धनुर्धारी सैनिकों का दृश्य मध्य एशियाई स्तेपी की शक

निम्न उद्भृत चित्र वल्लरी। हलचयन

कला की परम्पराओं को दोहराता है। सुविदित है कि कुषाण राज्य के नृजातीय गठन में तथा कुषाण संस्कृति के गठन में शक-सार्मेशियाई मूल के मध्य एशियाई क़बीलों ने बहुत बड़ी भूमिका अदा की। मध्य एशिया मे सोवियत पुराविदों द्वारा हाल ही में की गई खुदाई से यह बात स्वतःस्पष्ट हो गई है। हार्प-वादिका और ल्यूट-वादिका के चित्रण मे भारतीय कला की कुछ परम्पराएं भी प्रतिबिम्बित हुई हैं। वैसे यह भारतीय प्रभाव का नही, बल्कि इसके विपरीत इस बात का साक्षी भी हो सकता है कि बाख्त्री में गठित हुए कलात्मक लक्षण उत्तर-पश्चिमी भारत में पहुचे और वहां अभिपुष्ट हुए। ल्यूट-वादिका के वाद्य का प्रमुख भाग गोलाकार है। गांधार कला में ऐसे ल्यूट ईसवी सवत् की पहली सदियो में ही चित्रित किये जाने लगे थे। इस आधार पर प्रो० पुगाचेन्कोवा ने यह अनुमान व्यक्त किया है कि यह

वाद्य कुषाण काल में बाख्त्री से ही भारत पहुचा, क्योकि भारत में ल्यूट का प्रतिरूप नहीं था।

स्थानीय शासकों की आकृतियों से बाख्त्रीय क्षेत्र में, जहां से कुषाण भारत को गये, आदि कुषाण राज्य के बारे में जानकारी मिलती है। कुषाण इतिहास और संस्कृति के उत्तर काल की मथुरा मूर्तियो के साथ तुलना के लिए यह अमूल्य सामग्री है। उदाहरणतः, हलचयन के शासक, उसके दरबारियों और सैनिकों के वस्त्रों और शिरोवस्त्रों के समरूप मथुरा मूर्तियों मे भी हैं–यह तथ्य कुषाण भारत पर मध्य एशियाई प्रभाव का साक्षी है। हलचयन की मानव मूर्तियो के वस्त्रों की तुलना मथुरा की सुविख्यात कनिष्क मूर्ति के वस्त्रों के साथ तथा ईसवी संवत् की पहली सदियों की गांधार उद्भृत मूर्तियो के साथ की जा सकती है।

हलचयन के उत्खनन का विशाल महत्त्व इस बात मे निहित है कि इससे स्थानीय बाख्त्रीय और कुषाण परम्पराओं के संश्लेषण का आरंभिक चरण उजागर होता है। यहां यह बात बहुत मानी रखती है कि हलचयन स्मारक एक तरह से "शुद्ध रूप में" है–इस पर बौद्ध कला की छाप नही पड़ी है। ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी की अंतिम सदियों में भारत ने बाख्त्रीय वास्तुकला और मूर्तिकला के गठन में कोई महत्त्व-पूर्ण भूमिका अदा नहीं की। उलटे बाख्त्री और पूर्वी पार्थिया ही वह पोषक माध्यम बना, जिसने शुद्ध भारतीय कला परम्परा के साथ संश्लेषण के आधार पर भारत की गांधार मूर्तिकला के गठन पर प्रभाव डाला। ईसवी सवत् की पहली सदियों में उलटी प्रक्रिया हुई, जब महान कुषाणो के राज में गांधार कला और उसकी प्रेरक बौद्ध शिक्षा तुखारिस्तान की कला पर पूरे ज़ोरों से छा गयी। मध्य एशिया के बाख्त्रीय स्मारकों के रोचक समरूप सुर्ख़-कोटला की सामग्रियों में मिलते हैं, जिनकी खोज प्रो० श्लुम्बेर्जे के फ्रांसीसी अभियान दल ने की थी। सुर्ख़-कोटला की मूर्तियो को गांधार और मथुरा के स्मारकों से जो कुछ भी जोड़ता है वह अपने मूल की दृष्टि से यूनानी या ईरानी, बल्कि सही-सही कहा जाये तो बाख्त्रीय है, भारतीय नहीं। "बौद्ध धर्म के साथ आया भारतीय प्रभाव इस स्मारक पर अभी नहीं पड़ा है," श्लुम्बेर्जे ने लिखा था। लेकिन सुर्ख़-कोटला के दुर्ग के पास बौद्ध स्मारक भी मिला है, जिसमें दूसरा चरण–उत्तरी बाख्त्री में भारतीय प्रभाव का चरण–प्रतिबिम्बित हुआ है। ये दो धाराएं–स्थानीय अबौद्ध बाख्त्रीय कला तथा गांधार की भारतीय-बौद्ध कुषाण कला–एक दूसरे को प्रभावित करती रहीं और श्लुम्बेर्जे के शब्दों में बाख्त्री में जुड़वा बहनें थीं।

उज़्बेकिस्तान के दक्षिण में **दल्वेर्ज़िन तेपे** में उत्खनन से सोवियत पुराविदों को कुषाण काल में बाख्त्रीय कला के विकास तथा उस पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव के बारे में रोचक सामग्री मिली है। इस उत्खनन कार्य की संचालक प्रो० पुगाचेन्कोवा के मत में दल्वेर्ज़िन तेपे में ही यूह-ची शासकों की आरंभिक राजधानी थी (लिखित स्रोतों के अनुसार यह आमू दरिया से उत्तर की ओर स्थित थी)। खुदाई से यह

पता चलता है कि तीसरी-दूसरी सदी ई० पू० में ही यहां एक यूनानी-बाख्त्रीय नगर बस चुका था, पहली सदी ई० पू० – पहली सदी ई० में जिसका महत्त्व विशेषतः बढ़ गया और तीव्र विकास हुआ। पुराविदों को यहां काफ़ी विशाल आकार के समुच्चय मिले हैं : धनिकों और शिल्पियों के मोहल्ले, रिहायशी मकान और प्रशासकीय भवन, मंदिर और दूसरे भवन। कद्फ़िस द्वितीय और कनिष्क के शासनकाल में नगर की सबसे अधिक उन्नति हुई। दल्वेर्ज़िन तेपे के परकोटे से थोड़ी दूर ११×१० मीटर आकार का बौद्ध मंदिर मिला है। यहां एक स्तूप के अवशेष भी हैं, जो बहुसंख्य मूर्तियों से सुसज्जित था। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा करने का विशेष गलियारा था। पुराविद मंदिर में दो प्रमुख भवन इंगित करते हैं – गर्भगृह और सभामंडप। प्रत्यक्षतः, यह बौद्ध मंदिर ईसवी संवत् के आरंभ में बनाया गया था। यहां पर मिले कद्फ़िस प्रथम और कद्फ़िस द्वितीय के सिक्के इस बात के साक्षी हैं। वैज्ञानिक जानते हैं कि बाख्त्री में बौद्ध धर्म का चरमोत्कर्ष ईसवी संवत् की पहली सदियों में महान कुषाणों के काल में ही हुआ। गर्भगृह का आकार छोटा सा ही था – ५.५×१.८ मीटर, लेकिन इसमें बुद्ध और देवताओं की मूर्तियां थीं। देवता मानो केंद्र में खड़े बुद्ध को घेरे हुए थे। सभामंडप की सज्जा भी भव्य थी – यहां की मूर्ति रचना में बुद्ध की आकृति, भिक्षुओं की आकृतियां, अभिजातों (प्रत्यक्षतः, शासक कुल के सदस्यों), उनकी पत्नियों और सामंतों की आकृतियां थीं। संभवतः बुद्ध की शिक्षा में स्थानीय शासक और उसके दरबार की निष्ठा दर्शाने के लिए ही ऐसी सज्जा की गई थी। बौद्ध मंदिर की मूर्तियां दीवार से सटी हुई थीं (पीठ की ओर से इन्हें सफ़ाई से नहीं गढ़ा गया था)। मूर्तियां मृदा और जिप्सम की बनी थीं। इन पर लाल, सफ़ेद, आसमानी रंगों के अवशेष मिले हैं। मूर्तियां शैली की दृष्टि से भारतीय-बौद्ध परम्परा में ही बनायी गयी हैं, यद्यपि स्थानीय बाख्त्रीय मूर्तिकला का प्रभाव भी प्रबल है। हलचयन और दल्वेर्ज़िन तेपे की मूर्तियों की तुलना से रोचक परिणाम निकलते हैं। हलचयन की आकृतियां छविचित्रात्मक तथा अधिक यथार्थ-परक हैं, उन पर बौद्ध परम्पराओं का प्रभाव अभी नहीं पड़ा है। दल्वेर्ज़िन तेपे की मूर्तियां बाद के काल की हैं और स्थानीय बाख्त्रीय कला का, जो इस चरण में यूनान-प्रभावित और भारतीय-बौद्ध परम्पराओं से संबद्ध हो चुकी थी, विकास प्रतिबिम्बित करती हैं। दल्वेर्ज़िन तेपे की बौद्ध मूर्तियां ही नहीं, बल्कि लौकिक मूर्तियां भी ध्यान देने योग्य हैं। बुद्ध, बोधिसत्व और श्रमणों की आकृतियां जहां गांधार बौद्ध मूर्तियों से मिलते-जुलते रूढ़िबद्ध ढंग से बनाई गई हैं, वहीं लौकिक मूर्तियां स्थानीय कला परम्परा के अनुसार बनायी गयी हैं। हलचयन की मूर्तियों की ही भांति दल्वेर्ज़िन तेपे की लौकिक मूर्तियां भी छविचित्रात्मक हैं, लेकिन ये इतनी यथार्थपरक नहीं हैं, अधिक सामान्यीकृत हैं और आकृतियों के आदर्शीकरण की शुरू-आत की सूचक हैं। पुगाचेन्कोवा का अनुमान है कि गौण बौद्ध पात्रों के चित्रण में विशिष्ट प्रतिमा-लक्षणों का अनुसरण बाख्त्री में ही ईसवी संवत् की पहली सदियों

में किया जाने लगा तथा इसका उत्तर-पश्चिमी भारत में बौद्ध परम्पराओं पर प्रभाव पड़ा।

महान कुषाणों के काल मे छविचित्रात्मक मूर्तियो के बनाने की दल्वेर्ज़िन तेपे विधि का और आगे विकास हुआ, जोकि मथुरा की कला में सर्वाधिक ज्वलंत रूप से प्रतिबिम्बित हुआ। दल्वेर्ज़िन तेपे का मूर्तिशिल्प मूर्ति निर्माण में मृदा (हलचयन) से जिप्सम की ओर सक्रमण को प्रतिबिम्बित करता है।

भारतीय-बौद्ध और स्थानीय बाख्त्रीय परम्पराओ का संगम युवा उपासकों के छविचित्रों में मूर्तित हुआ है – इनके चेहरे स्थानीय शैली में बनाये गये हैं, जबकि कुंडलदार केश स्पष्टत: बौद्ध शैली में। सभामंडप की मूर्तियो में राजकुमार का सिर अत्यत रोचक है – यह कुषाण लौकिक मूर्तिकला की परम्पराओं मे बना स्थानीय कला धारा का विलक्षण उदाहरण है। राजकुमार का शकुरूपी शिरोवस्त्र प्राय: कुषाण शासकों के सिक्कों पर देखा जाता है और मथुरा की मूर्तियो में भी पाया जाता है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शिरोवस्त्र का यह रूप मध्य एशिया में बना, जबकि मथुरा की मूर्तियों मे यह मध्य एशियाई परम्पराओ का प्रतिबिम्ब ही है। स्थानीय सामंतो की मूर्तियां भी मौलिक है। इन मूर्तियो को देखकर पहली-दूसरी सदी ई० की बाख्त्रीय कला की विशिष्टता ही नही समझी जा सकती, बल्कि विभिन्न सामाजिक स्थिति वाले स्थानीय निवासियो के "जीते-जागते छविचित्र" भी देखे जा सकते हैं। यहा के प्राचीन निवासियों की वेश-भूषा के लिए लाक्षणिक विशेष सलवार-कमीज़ मथुरा के स्मारको से भी ज्ञात है, और यह भी भारत की कुषाण संस्कृति पर बाख्त्रीय प्रभाव का साक्षी है।

स्थानीय शासको के समर्थन के बावजूद बौद्ध धर्म को निरतर स्थानीय धर्मों और विश्वासो से स्पर्धा करनी पडती थी। दल्वेर्ज़िन तेपे का बौद्ध मंदिर भी इसका शिकार हुआ: प्रत्यक्षत:, तीसरी सदी मे या चौथी सदी के आरभ में ज़रथुष्ट्र धर्म के अनुयायियों ने इसे नष्ट कर दिया, बुद्ध और श्रमणों की मूर्तियां तोड़ दीं।

दल्वेर्ज़िन तेपे के उत्खनन में और भी बहुत सी वस्तुएं मिली, जिनके स्पष्ट भारतीय समरूप ज्ञात हैं या जो भारत से लाई गई थीं। हाथीदांत का एक कंघा भारत से ही दल्वेर्ज़िन तेपे पहुचा था। इसके एक ओर कुलीन महिला और उसकी दासी तथा दूसरी ओर हाथी पर जा रहे दंपति व उन्हें रास्ता दिखा रही युवती चित्रित हैं। हाथीदांत के शतरंज के मोहरे (कुकुदमान वृषभ और हाथी), सोने के कंगन, जिनके समरूप तक्षशिला के प्रथम शती ई० के संस्तर में मिले हैं और पासा – यह सब भी भारत से ही यहां आया। शतरंज (चतुरंग) के मोहरों की खोज से यह पता चलता है कि मध्य एशिया के निवासी इस भारतीय खेल से बहुत पहले ही परिचित हो गये थे। कुकुदमान वृषभ को शतरंज का मोहरा मानना भारत की बहुत प्राचीन परम्परा से जुड़ा हुआ है। एक ईंट पर मोहर का ठप्पा भी
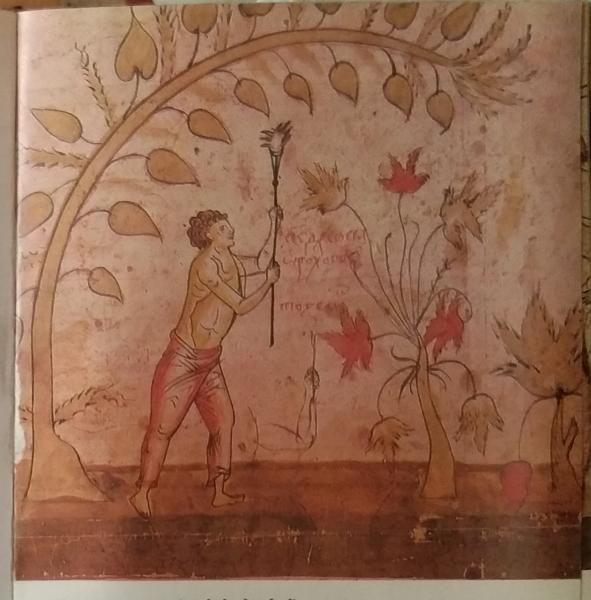
कोस्मस इंदिकोप्लेउस्तम के 'ख्रीस्तीय देशवर्णन में एक भारतवासी का चित्र
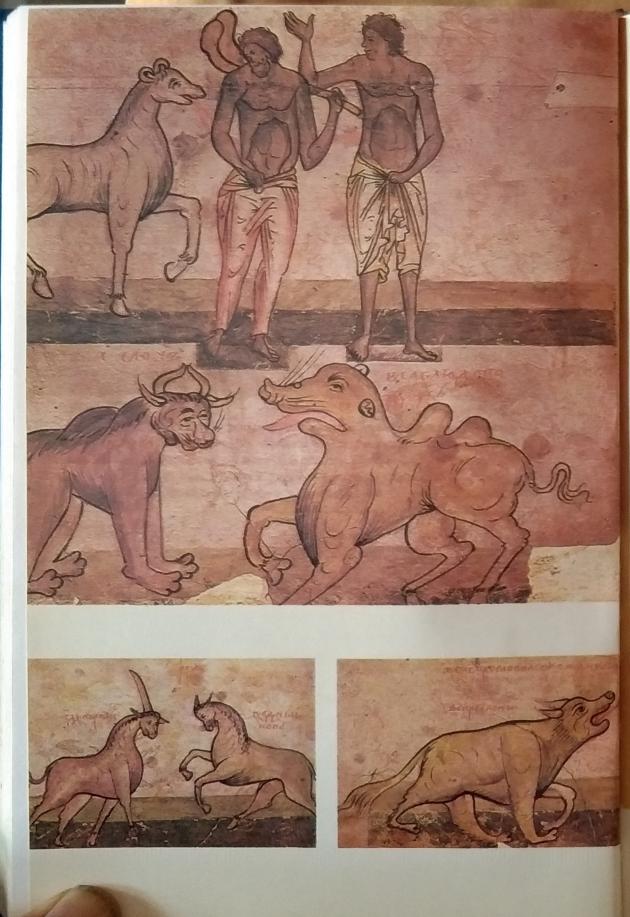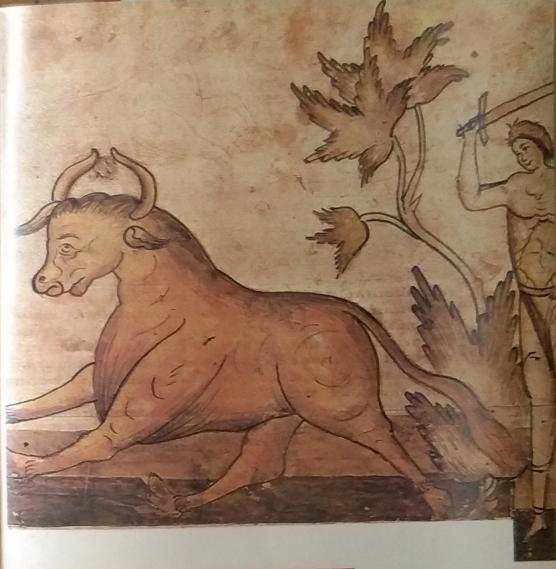
कोस्मस इंदिकोप्लेउस्तस के 'ख्रीस्तीय देशवर्णन' की हस्तलिखित प्रति (१६वीं शती) में चित्रित काल्पनिक जीव

मूर्तिशिल्प। हलचयन →

हेराइच का शीर्ष। हलचयन
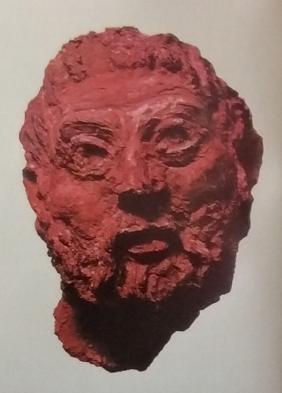
योद्धा का शीर्ष। हलचयन

मूर्तिशिल्प। हलचयन
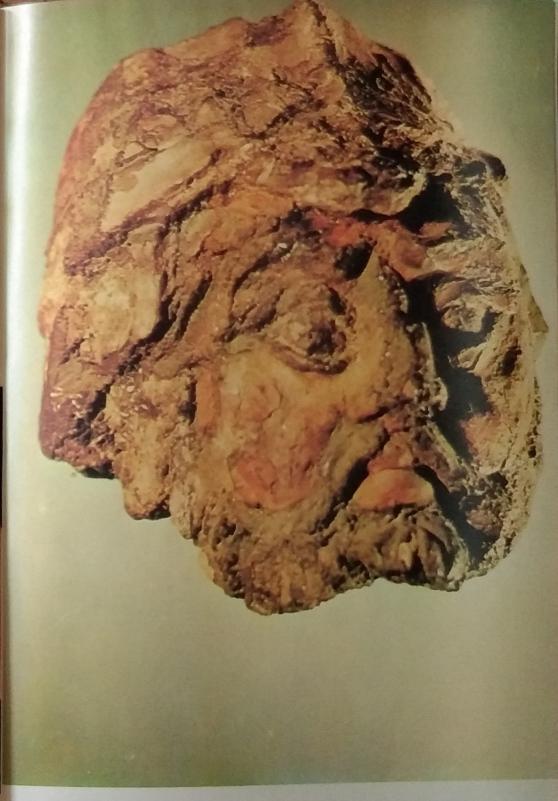
योद्धा की मूर्ति। हलचयन

ल्यूटवादिका। हलचयन

योद्धा का शीर्ष। हलचयन
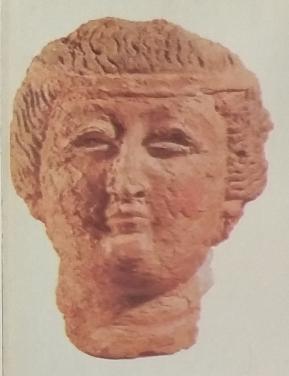
एक बाल्त्रीय देवी का शीर्ष। प्रथम शती। दल्वेर्ज़िन तेपे

हाथीदांत की कंघी। दूसरी-तीसरी शती। दल्वेर्ज़िन तेपे

सामंत की मूर्ति। दल्वेर्ज़िन तेपे
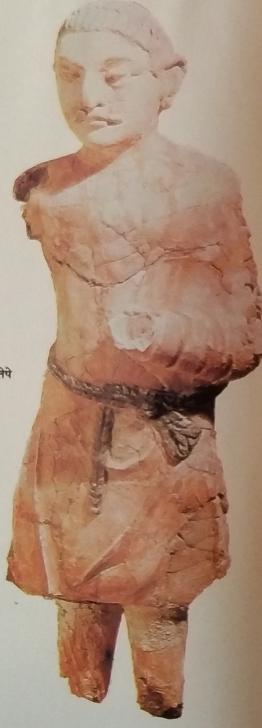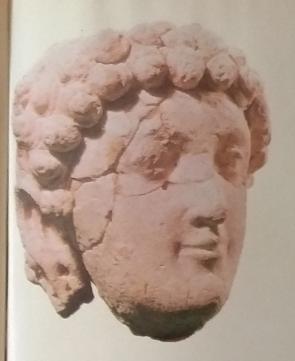
उपासक का शीर्ष। प्रथम शती। दल्वेर्जिन तेपे

उपासक का शीर्ष। प्रथम शती। दल्वेर्जिन तेपे

एक देवता का शीर्ष। प्रथम शती। दल्वेर्जिन तेपे

एक योद्धा की मृण्मूर्ति का शीर्ष। ख्वारज़्म

वादिकाएं। निम्न उद्‌भृत चित्र वल्लरी। ऐर्ताम

ढोलकवादिका। "वादिकाएं" चित्र वल्लरी का एक अंश। ऐर्ताम
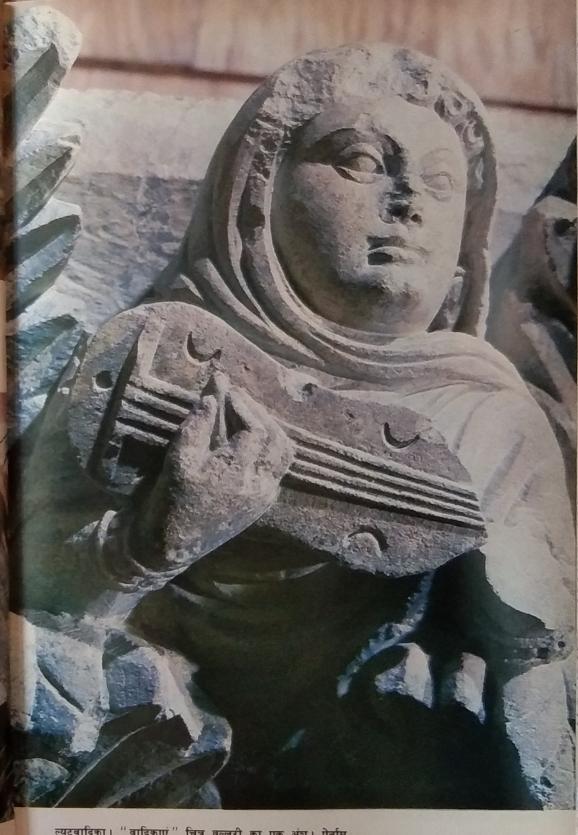
ल्यूटवादिका। "वादिकाएं" चित्र वल्लरी का एक अंश। ऐर्ताम

अभिरेखण। कारा तेपे

स्तूप

कमल
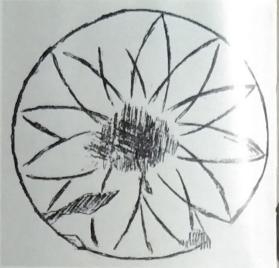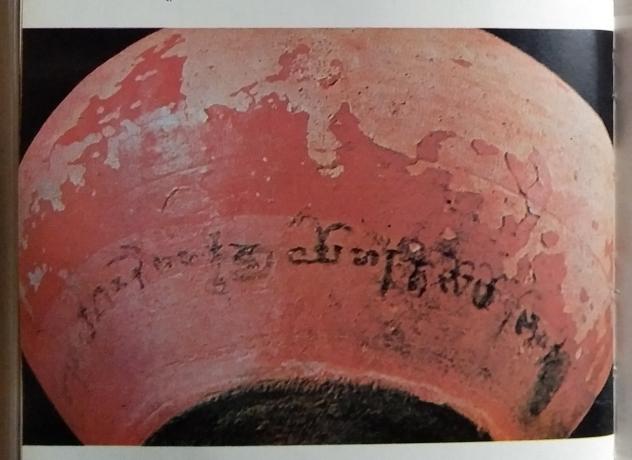
मृण्भांड पर ब्राह्मी लेख। कारा तेपे
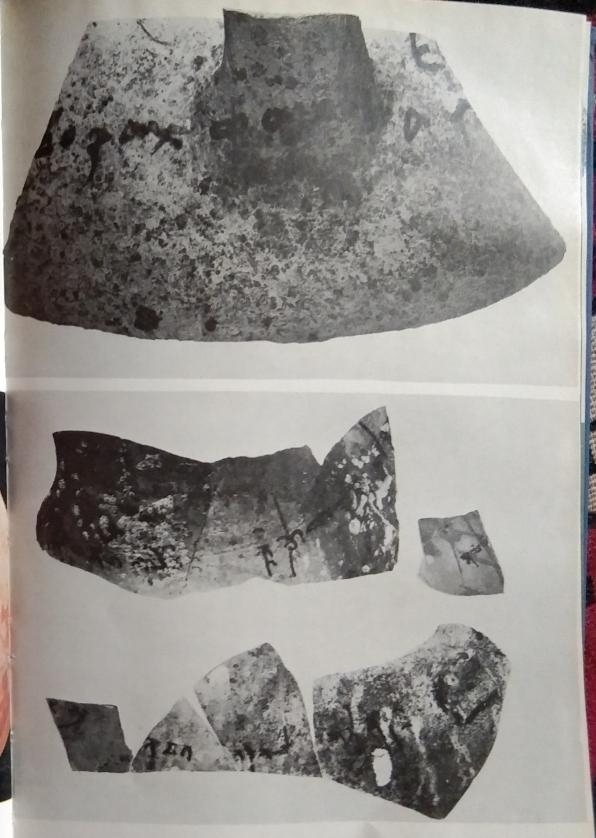
मृण्भांड पर कुषाणकालीन ब्राह्मी लेख। कारा तेपे

बुद्ध-शीर्ष। पहली-दूसरी शती। फ़याज़ तेपे
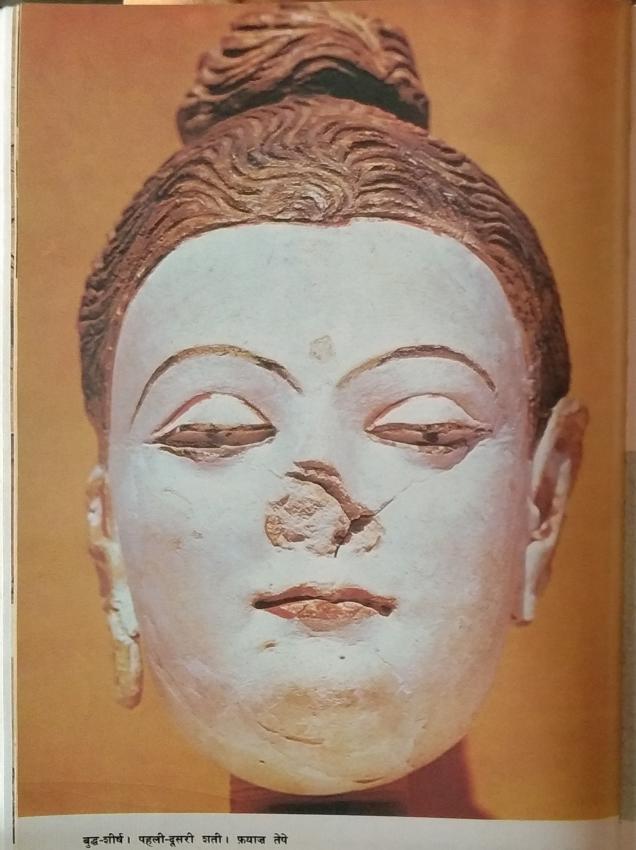
राजकुमार का शीर्ष। प्रथम शती।

दल्वेर्ज़िन तेपे

बुद्ध की आकृति युक्त भित्तिचित्र का एक अंश। फ़याज़ तेपे

भेंटवाहक। भित्तिचित्र। अजीना तेपे

श्रमण का शीर्ष। अजीना तेपे

बुद्ध-शीर्ष। अजीना तेपे

नारी-शीर्ष। अजीना तेपे

देव-शीर्ष। अजीना तेपे

देव-शीर्ष। अजीना तेपे

बुद्ध-शीर्ष (?)। अजीना तेपे

नारी-शीर्ष। अजीना तेपे

चौपड़ का खेल। भित्तिचित्र। पंजीकंद
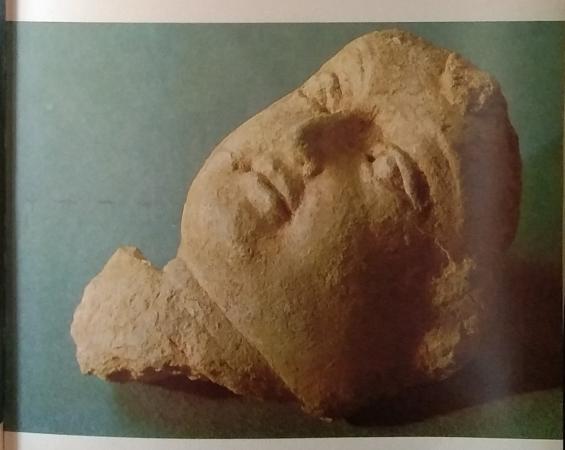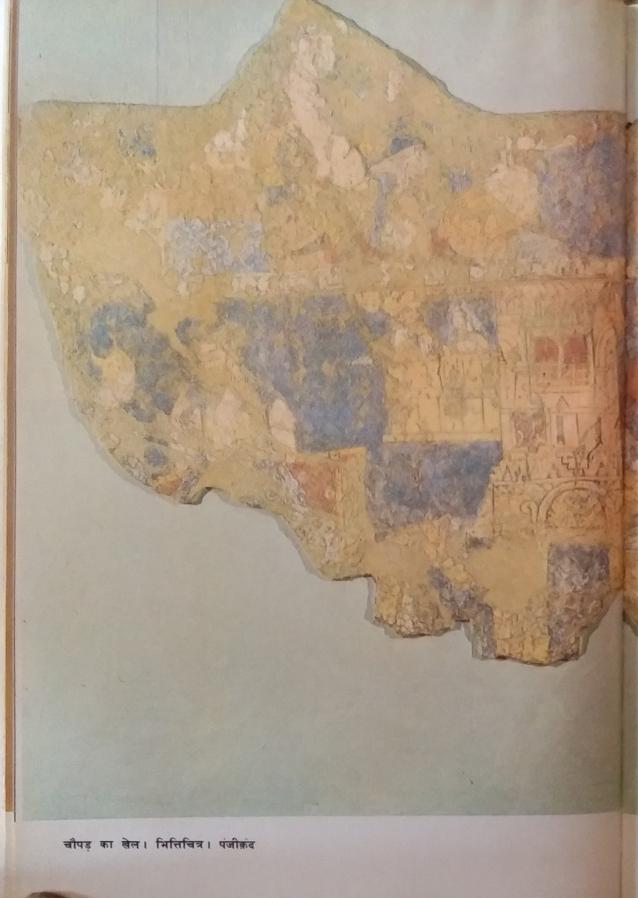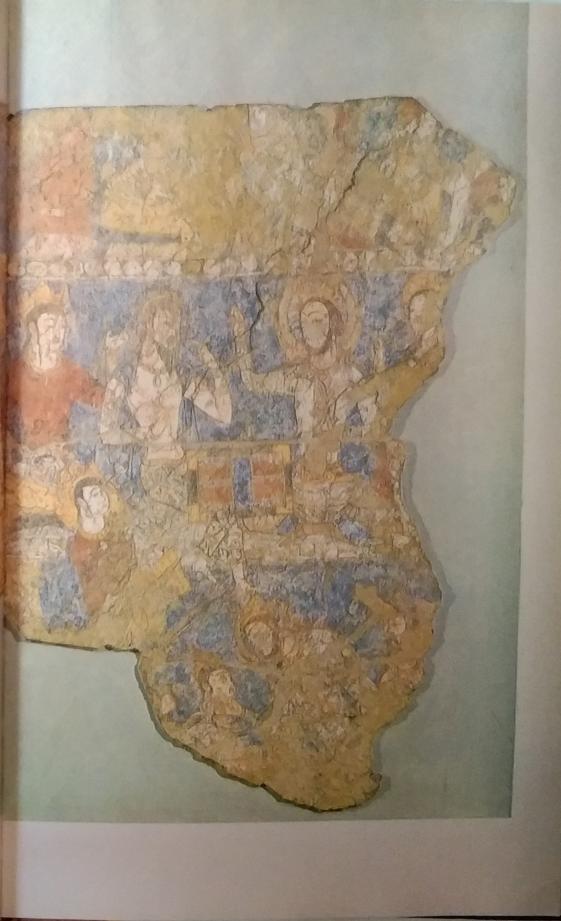
काष्ठमूर्ति। पंजीक़ंद

नर्तकी। काष्ठमूर्ति। पंजीक़ंद

भित्तिचित्र। पंजीकंद

सपक्ष सिंह। भित्तिचित्र। वरख्शा

व्याघ्र। भित्तिचित्र। वरख्शा
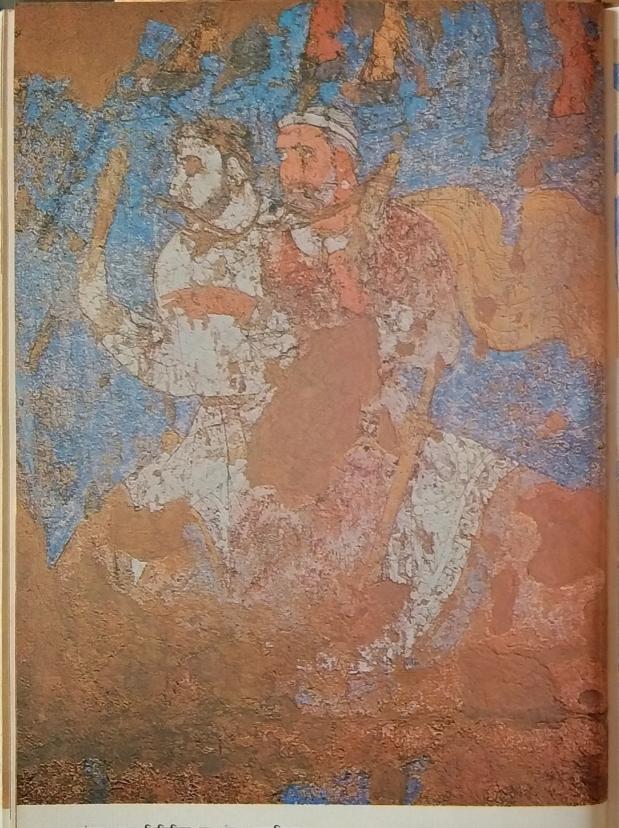
दूतमंडल। एक भित्तिचित्र का अंश। अफ़्रासिआब
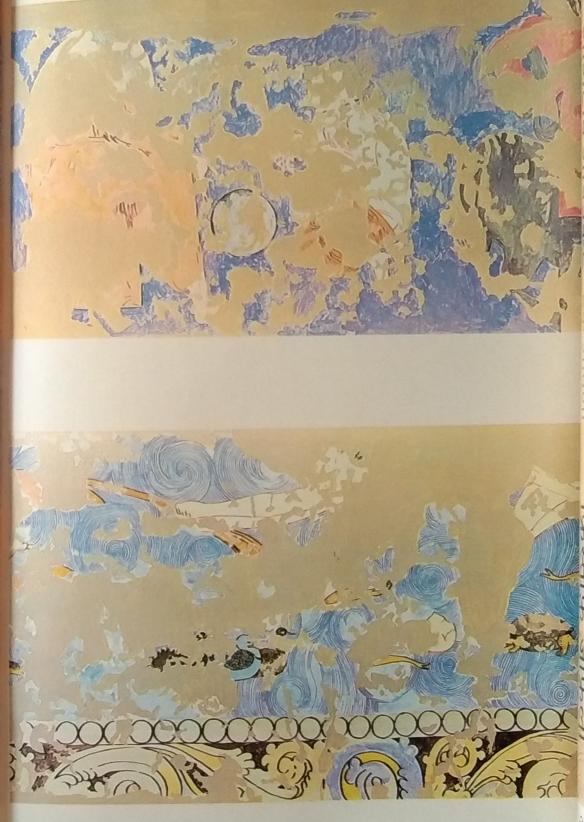
भित्तिचित्रों के अंश। अफ़्रासिआब

सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान की लेनिनग्राद शाखा के संग्रह में स्थित भारतीय मिनियेचर चित्र। →
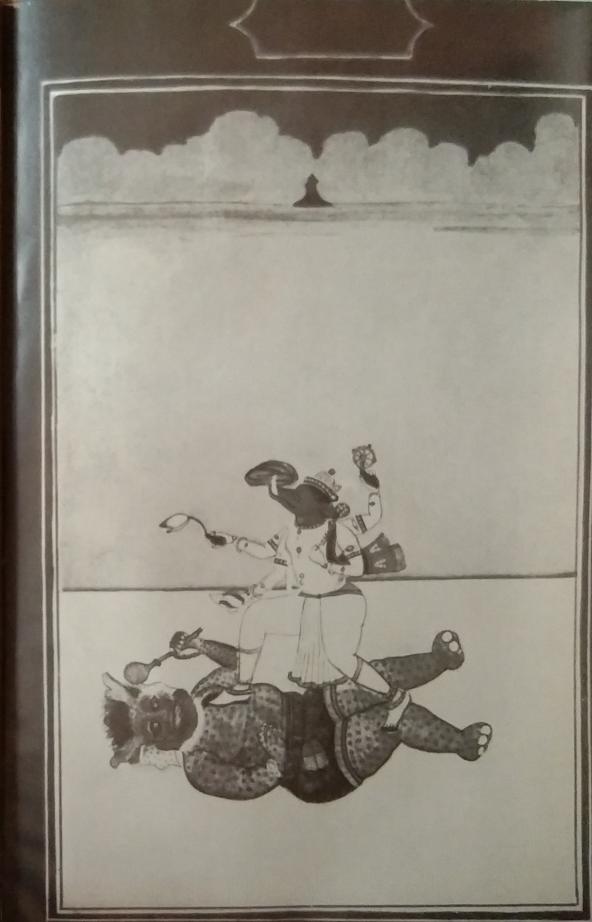
उल्लेखनीय है: इसमे पद्मासन मुद्रा में बैठे हुए बुद्ध चित्रित हैं। प्रत्यक्षत: यह मोहर बुद्ध के अनुयायी किसी स्थानीय कारीगर की थी।

दल्वेर्जिन तेपे की सबसे महत्त्वपूर्ण खोज है – प्रथम शती ई० के उत्तरार्द्ध की सोने की वस्तुए। एक कलश में विभिन्न स्वर्ण आभूषण (हसली, कर्णफूल, आदि) थे, जिनके समरूप गाधार कला मे मिलते हैं। लेकिन सबसे मूल्यवान वस्तु थी खरोष्ठी लिपि के अभिलेखो वाली स्वर्ण इष्टिकाए। कुल ११ अभिलेखो की खोज हुई है – दस स्वर्ण इष्टिकाओ पर और एक स्वर्ण पत्र पर। ये अभिलेख गाधार प्राकृत में हैं, जो कुषाण साम्राज्य में शामिल भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो मे प्रचलित थी। ये अभिलेख अपने अतर्य की दृष्टि से ज़्यादातर दूसरे अभिलेखो से भिन्न हैं, जो मुख्यत समर्पणात्मक होते हैं। इन अभिलेखो में इष्टिका का भार, इसके स्वामी का नाम और कभी-कभी उस व्यक्ति का भी नाम दिया गया है, जिससे सोना मिला। नामो में मित्र ("मित्रेण दिते") और कल्याण ("कल्याणस्य") नाम हैं, श्रमणो का भी उल्लेख है, जिनके पास प्रत्यक्षत: आरभ में यह स्वर्ण था। हो सकता है, ये स्वर्ण इष्टिकाए बुद्ध की मूर्तियां बनाने तथा पूजा वस्तुओं की सज्जा के लिए रही हो।

यो तो दल्वेर्जिन तेपे के अभिलेखों से बहुत सक्षिप्त जानकारी मिलती है, तथापि इनका महत्त्व बहुत अधिक है – इनसे न केवल प्राचीन बाख्त्री के भारत के साथ सबधो के बारे में अतिरिक्त सूचना मिलती है, बल्कि मध्य एशिया मे बौद्ध सघो के जीवन के बारे में भी। कुल जमा, दल्वेर्जिन तेपे की खोजो के फलस्वरूप कुषाण युग मे बाख्त्रीय सस्कृति के बारे में नई और मूल्यवान सामग्री मिली है, ऐसी सामग्री, जो मध्य एशिया के भारत के साथ सबधो के स्वरूप को, सास्कृतिक उपलब्धियो के आदान-प्रदान के रास्तो और रूपो को उजागर करती है। इस मौलिक कला का आधार बने स्थानीय बाख्त्रीय, यूनान-प्रभावित और भारतीय घटको के जटिल सश्लेषण का अध्ययन अपार वैज्ञानिक रुचि का प्रश्न है।

कुषाण काल की बाख्त्रीय कला की तथा स्थानीय, यूनान-प्रभावित और भारतीय परम्पराओ की अन्योन्यक्रिया की समस्या के प्रसग में पहली-दूसरी सदी ई० के **ऐर्ताम** चैत्य की मूर्ति-वल्लरी विशेषत रोचक है। ऐर्ताम में बस्ती यूनानी-बाख्त्रीय काल में ही बस गई थी, लेकिन कुषाण युग मे ही इसे विशेष महत्त्व मिला, जब यहा बौद्धो का आवास हुआ और बौद्ध स्मारक बने। यहा मिले सिक्को से यह पता चलता है कि कनिष्क के राज मे यहा मदिर बनाये गये और बौद्ध विहार की स्थापना हुई। बौद्ध मूर्तियो के अश, जिनमें बुद्ध की मूर्ति के अश भी हैं, इस बात के साक्षी हैं कि कभी यहां बडा धार्मिक केंद्र था। ऐर्ताम की विख्यात वल्लरी एक मूर्ति समुच्चय का अश थी, जो मदिर के प्रवेशद्वार को सुशोभित करता था। वल्लरी सफेद चूना-पत्थर के ४० सेंटीमीटर तक ऊचे ब्लाको से बनायी गयी थी। इस पर आकृतिया उच्च उद्भृत हैं। ऐकेंथस की बड़ी-बडी पत्तियो के बीच मानव आकृतियां स्थित हैं।

ये एक तरह से गोलाकार मूर्तियां हैं जो गांधार कला के लिए लाक्षणिक तकनीक है। लेकिन ऐर्ताम आकृतियों की शैली और परम्पराएं काफ़ी मौलिक हैं और स्थानीय कला से संबंधित हैं। वल्लरी पर १४ आकृतियां थीं। इनमें पांच वादिकाएं – हार्प, ल्यूट, दोहरी बांसुरी, मंजीरा और ढोलक बजाती वादिकाएं – हैं, दो मालाधारी, एक के हाथों में पात्र है, दूसरों का रूप निर्धारित करना कठिन है (ये आकृतियां पूरी नही बची हैं)।

हार्प, ल्यूट वादिकाओं और ढोलक बजाती युवती की आकृतियां विशेषत: अभिव्यंजनात्मक हैं। विद्वान ऐर्ताम वल्लरी की रचना की व्याख्या के बारे में एकमत नही हैं। अकादमीशियन ओल्देनबुर्ग का मत था कि वादिकाओं का चित्रण "पंचमहा-शब्द" का प्रतीक है। कतिपय समसामयिक पुराविद (उदाहरणत: पुगाचेन्कोवा) ऐर्ताम वल्लरी की व्याख्या 'महापरिनिर्वाणसूत्र' (बुद्ध के निर्वाण की कथा) के प्रतिबिम्ब के रूप में करते हैं। ऐर्ताम वल्लरी में भारतीय कला परम्पराओं (सर्वप्रथम, मथुरा) का प्रभाव महसूस होता है, हालांकि कुल जमा यह बाख्त्रीय कला की स्थानीय परम्परा के आधार पर ही, जिसके लिए लौकिक दिशा लाक्षणिक है, बनाई गई थी।

यद्यपि वल्लरी पर चेहरे सामान्यीकृत ढंग से, किन्हीं विशेष व्यक्तिगत लक्षणों के बिना, एक तरह से आदर्शीकृत बिम्बों की भारतीय-बौद्ध परम्परा में बनाये गये हैं, तथापि इस स्मारक का लोक आधार स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है। हो सकता है कि स्थानीय शिल्पियों ने बौद्ध कला के नियमों का और केवल उनका पालन न किया हो, जितना कि बाख्त्रीय शोभा-यात्राओं की शैली और स्वरूप को व्यक्त किया हो। भारतीय-बौद्ध और बाख्त्रीय लक्षणों का सृजनात्मक संगम वल्लरी के पात्रों के वस्त्रों और आभूषणों के चित्रण में भी प्रकट हुआ है – हार्प वादिका के आभूषण और वस्त्र मानो गांधार परम्परा को व्यक्त करते हैं (पुष्पों, चषकों, मालाओं का चित्रण भी बौद्ध शैली में हुआ है), लेकिन हार्प का विशेष (तिकोना) रूप और हार्प वादिका का शिरोवस्त्र मध्य एशियाई कलाकृतियों का विशेष लक्षण हैं।

१९७९ में ऐर्ताम के बौद्ध स्मारकों की खुदाई के दौरान वहां एक और बड़ा मूर्ति-खंड पाया गया, जिसके पादपीठ के ऊपरी भाग पर छह पंक्तियों का एक बाख्त्रीय अभिलेख खुदा हुआ था। इसके कोई २६० अक्षर अवशिष्ट रहे हैं। मध्य एशिया से प्राप्त यह पहला बड़ा बाख्त्रीय अभिलेख है और यह अभिलेख इसलिए विशेषत: महत्त्वपूर्ण है कि इसमें तिथि कुषाण सम्राट् हुविष्क के शासन-काल में दी गयी है (उल्लेखनीय है कि भारत से प्राप्त जिन भी कुषाण अभिलेखों में हुविष्क का नाम आया है, उनमें तिथि कनिष्क संवत् के अनुसार दी गयी है) और इस तरह वह अपने प्रकार का एकमात्र अभिलेख है। संभव है कि उत्तरी बाख्त्री में ऐसी ही परंपरा रही हो। अभिलेख में उसके उत्कीर्णक का नाम भी मिलता है: "मित्रजात"।
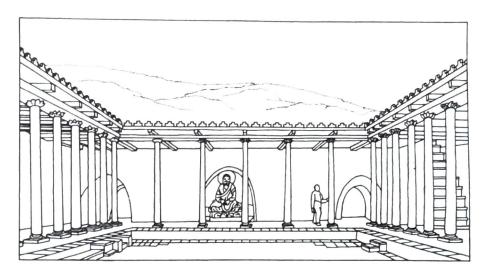
बौद्ध विहार का भीतरी प्रांगण। कारा तेपे
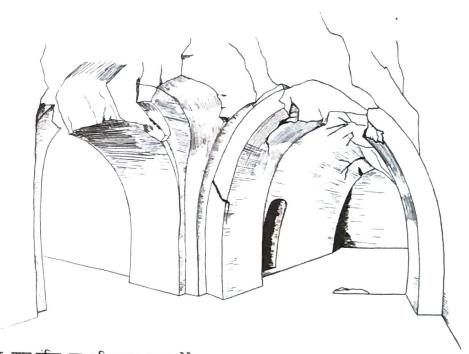
बौद्ध गुफा-मंदिर का गलियारा। कारा तेपे

प्रो० व० लीव्शित्स (लेनिनग्राद) और ए० रतवेलाद्ज़े (ताशकंद) ने इस लेख का पाठ-वाचन और प्रकाशन किया है।

भारतीय-बौद्ध परम्पराओं के प्रबल प्रभाव से संबंधित अगला चरण **कारा तेपे** की खुदाई की सामग्रियों में अच्छी तरह देखा जा सकता है। (कारा तेपे में उत्खनन कार्य प्रो० स्तवीस्की के संचालन में हुआ।)

आधुनिक नगर तेर्मेज़ से कुछ दूर कारा तेपे में पुराविदों द्वारा उत्खनित बौद्ध विहार मध्य एशिया में भारत से आये बौद्ध धर्म के प्रचार का ज्वलंत प्रमाण है (सिक्कों की खोजों से पता चलता है कि तेर्मेज़ का अस्तित्व तीसरी-दूसरी सदी ई० पू० में भी था, लेकिन कुषाण काल में ही उसका विशेष विकास हुआ। इस गुफा विहार की वास्तुकला (फ़िलहाल यह मध्य एशिया में मिला एकमात्र बौद्ध गुफा समुच्चय है), यहां मिली कुछ वस्तुएं (कमल रूपी ढकने, छत्र, इत्यादि) तथा भांडों पर और दीवारों पर अभिलेख व स्तूप का विचार भी – यह सब भारतीय परम्पराओं के प्रत्यक्ष प्रभाव का साक्षी है। मध्य एशिया में गुफा समुच्चय प्रायः नहीं हैं, जबकि प्राचीन भारत की यह एक लाक्षणिकता है।

उत्खनन में कुछेक गुफा-भवन मिले हैं, जिनका एक भाग छोटे-छोटे गुफा मंदिर हैं। इन मंदिरों में बंद गर्भगृह हैं, जो परिक्रमा पथों से चारों ओर से घिरे हैं (इन गलियारों की लंबाई १७ मीटर, चौड़ाई २.६ मीटर और ऊंचाई ढाई मीटर तक है)। हर मंदिर में दो बाह्य द्वार थे, इनमें एक के पास भिक्षु, प्रत्यक्षतः, पुजारी भिक्षु की गुफा कोठरी थी। गुफा मंदिर के प्रवेश के पास की दीवारों पर चित्रों के अवशेष बचे रहे हैं। इनमें ज्यामितीय आकृतियां और बौद्ध स्तूप के चित्र हैं। गुफा मंदिर में मिले प्रस्तर उद्भृत मूर्तियों के अंशों से ये अनुमान लगाया जा सकता है कि ये गुफा मंदिर प्रस्तर उद्भृत मूर्तियों और मूर्तियों से सजाये गये थे। प्रत्यक्षतः, अहातों में भी गच की मूर्तियां थीं, जिनके छोटे-छोटे टुकड़े उत्खनन के दौरान मिले। मूर्तियों के जो बड़े भाग मिले हैं, उनमें ज़्यादातर अंदर से खोखले हैं। हाथों की उंगलियों में लकड़ी की डंडियों से बने छेद देखे जा सकते हैं, कुछ हिस्सों के अंदर कपड़े की छाप बनी रही है। हो सकता है, कारा तेपे में उस तकनीक से मिलती-जुलती तकनीक रही हो, जो कुषाणोत्तर काल में और आदि मध्य युग में पूर्वी तुर्किस्तान में मृदा और गच की बौद्ध मूर्तियां बनाने में प्रयुक्त होती थी। सुविदित है कि वहां मूर्तियां लकड़ी के ढांचे पर बनाई जाती थीं, जिस पर घास के गट्ठर और कपड़े के टुकड़े बांधे जाते थे, और हाथ, पांव तथा कभी-कभार सिर भी डंडियों पर लगाये जाते थे। मूर्तियां बनाने की इस तकनीक का पुराविदों को मध्य एशिया के कुछ दूसरे स्थानों में भी पता चला है, उदाहरणतः, ख़्वारज़्म और पार्थिया में। कारा तेपे में लकड़ी के ढांचे के बिना, मृदा पिंड पर मूर्तियां बनाने की तकनीक का भी उपयोग होता था।

स्तंभशीर्षों की उद्भृत मूर्तियों के अवशेष यह दिखाते हैं कि इनपर लोग, मकर, व्याघ्र या सिंह, ऐकेंथस की पत्तियां अंकित होते थे, यानी कुछ ऐसे डिज़ाइन, जो गांधार कला में भी प्रयुक्त हो सकते थे, लेकिन यहां मिले स्तंभशीर्ष गांधार स्तंभ-शीर्षों से भिन्न हैं और कुषाण काल के बाख़्त्रीय स्तंभशीर्षों का समूह बनाते हैं।

उल्लेखनीय है कि स्पष्टतः बौद्ध समुच्चय में भी स्थानीय बाख़्त्रीय कला के लक्षण, स्थानीय सांस्कृतिक परम्पराएं बनी रहीं।

साथ ही यहां यह भी देखा जा सकता है कि स्थानीय आबादी ने किस प्रकार बाह्य परम्पराओं को, जिनमें भारतीय परम्पराएं भी थीं, सृजनात्मक ढंग से आत्मसात किया। उदाहरणतः, इमारतों का विन्यास इस बात का प्रमाण है (परिक्रमा पथों का बनाया जाना स्थानीय स्थापत्य का अंग ही बन गया)। कारा तेपे विहार के भवनों का विशेष विन्यास (३-४ परिक्रमा गलियारों वाले चैत्य) देखते हुए इसे स्थानीय बौद्धों का बौद्ध स्थापत्य में योगदान माना जा सकता है। ऐसा विन्यास मध्य एशिया, ईरान और निकट पूर्व के पूजा स्थलों की लाक्षणिकता है, लेकिन आदि बौद्ध स्थापत्य के लिए परकीय है और कालांतर में आदि मध्य युग में ही बौद्ध वास्तुकला में देखने में आता है।

पुरालेखों की सामग्रियां भी भारतीय-बौद्ध परम्पराओं के आत्मसात्करण के प्रति सृजनात्मक रुख का प्रमाण है। बाख्त्री में बौद्ध धर्म के अनुयायी संस्कृत से बौद्ध पाठों का अनुवाद ही नहीं करते थे, बल्कि अपने ढंग से उनकी व्याख्या भी करते थे। भारतीय लिपियों के स्थानीय भेद यहां तैयार किये गये। एक द्विभाषीय अभिलेख की खोज उल्लेखनीय है – ब्राह्मी और कुषाण लिपियों में लिखे इस लेख में बुद्धशिर नाम के व्यक्ति की चर्चा है, जिसे धर्मोपदेशक कहा गया है। कारा तेपे के अभिलेखों की भारत के कतिपय पुरालेखों के साथ समीपता यह इंगित करती है कि लेखन परम्परा यहां सीधे भारत से ही आयी। अभिलेख नियमतः आंशिक हैं, तथापि विद्वान कुछ शब्द, जैसे कि "पात्र", "दान", "दिवस", आदि पढ़ने में सफल रहे हैं। ये ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में अंकित हैं। इनमें एक भिक्षु का नाम – संघ-पाल – आया है। कारा तेपे के खरोष्ठी लिपि में लिखे संकल्प-अर्पित लेख उत्तर-पश्चिमी भारत के प्राकृत अभिलेखों से मिलते-जुलते हैं, तथापि मध्य एशिया की लिपि में कुछ चिह्न विशिष्ट हो गये हैं (कुछ विद्वानों के मत में, ऐसा ब्राह्मी लिपि के प्रभाव से हुआ है, जो यहां खरोष्ठी के साथ-साथ प्रयुक्त होती थी)। खरोष्ठी लिपि के अभिलेख प्राकृत में हैं, तो ब्राह्मी लिपि के अभिलेख मिश्र संस्कृत में। प्राकृत अभिलेखों को देखकर यह पता लगता है कि प्राकृत पर संस्कृत का प्रभाव पड़ा। यह प्रक्रिया भारत के कुषाण अभिलेखों में भी पाई जाती है। कुछ अभिलेख स्थानीय बाख्त्रीय भाषा का प्रभाव भी स्पष्टतः इंगित करते हैं। दिलचस्प बात यह है कि कारा तेपे के खरोष्ठी अभिलेखों में स्थानीय बाख्त्रीय नाम "राज विहार" आया है ("राजा" के लिए प्रयुक्त बाख्त्रीय शब्द "खदेवक" खरोष्ठी लिपि में दिया गया है)। ब्राह्मी लिपि के संस्कृत अभिलेखों में से एक भांड पर लेख विशेषतः रोचक है, जो पूरी तरह बचा रहा है। सोवियत भारतविद व० वेर्तोग्रादोवा इसे पढ़ने और इसका अनुवाद करने में सफल रही हैं: "जो अपने 'अहं' और दूसरे जीवों के 'अहं' के बीच भेद मिटा लेता है, वह पथ के चरम बिंदु को प्राप्त होता है।" वेर्तोग्रादोवा ने इस अभिलेख की रोचक व्याख्या भी प्रस्तुत की है। उनके विचार में इस अभिलेख का अंतर्य थेरवादियों के आदर्श – अर्हत – के विरुद्ध लक्षित है और

बोधिसत्व का नया आदर्श घोषित किया गया है। यह संभव है कि कारा तेपे के विहार में हीनयान और महायान के समर्थकों के बीच संघर्ष चल रहा हो (इस काल में महायान का महत्त्व विशेषत: बढ़ रहा था)। भारत के भी अनेक बौद्ध विहारों में विवाद हो रहे थे। यदि वेर्तोग्रादोवा द्वारा प्रस्तावित व्याख्या सही है, तो कारा तेपे के विहारों में चल रहे विवाद का प्रमुख विषय भी इंगित किया जा सकता है: विवाद अर्हत के सार-तत्व के बारे में था।

यह निष्कर्ष हंगरी के सुविख्यात विद्वान य० हरमत्त द्वारा किये गये कारा तेपे के अभिलेखों के अध्ययन के परिणामों से अच्छी तरह मेल खाता है। हरमत्त इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि कुषाण काल में कारा तेपे में सर्वास्तिवादी और महासांघिक बौद्ध थे। उनके विचार में खरोष्ठी लिपि के अभिलेखों का संबंध महासांघिकों से है, जबकि ब्राह्मी अभिलेख सर्वास्तिवादियों से संबंधित हैं, जो यहां महान कुषाणों के दिनों में आये।

कारा तेपे के उत्खनन से कुषाण काल में मध्य एशिया में चित्रकला के विकास के बारे में रोचक सामग्री मिली है। यहां चित्रकारी के जो अवशेष मिले हैं, उनमें बुद्ध या बोधिसत्व चित्रित हैं, यहीं बुद्ध और श्रमण भी हैं। इस शुद्धत: बौद्ध चित्रकारी में भी स्थानीय कला परम्पराओं का प्रभाव महसूस होता है: दानियों के चेहरे गांधार शैली में नहीं हैं, बल्कि कुषाण काल के बाख़्त्रीय नियमों से मिलते-जुलते ढंग से बनाये गये हैं। लेकिन बुद्ध को विशिष्ट मुद्रा में चित्रित करने का विचार निस्संदेह
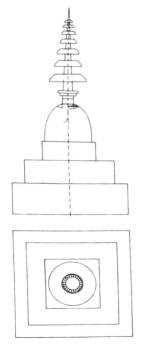
स्तूपाकृति। कारा तेपे

बुद्ध-शीर्ष। फ़याज़ तेपे

बुद्ध-शीर्ष। हद्दा, अफ़ग़ानिस्तान

भारत से ही आया था। प्रो० स्तवीस्की का अनुमान है कि कारा तेपे के भित्तिचित्रों में दानियो के चित्रण की तकनीक ने, जो कुषाण काल की स्थानीय कला के अनुरूप है, भारत की कला पर प्रभाव डाला।

कारा तेपे से थोड़ी दूर उज़्बेकिस्तान के पुराविद ल० आल्बाउम ने एक दूसरा बौद्ध समुच्चय – **फ़याज़ तेपे** – खोजा है, जो कारा तेपे से कम रोचक नहीं है। उत्खनन से यहां का प्रमुख स्थापत्य स्वरूप – मंदिर और स्तूप तथा उनसे लगा विहार का अंश व अन्य इमारतें – उघाड़ा जा सका है। यहां मिले सिक्कों से, जिनमें कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के सिक्के भी हैं, इस स्मारक का तिथ्यांकन पहली-तीसरी सदी ई० किया जा सकता है, जब यह विहार निस्संदेह कार्य कर रहा था। इमारतों की खुदाई में यहां भित्तिचित्र मिले हैं, जो मुख्यत: बौद्ध हैं (बुद्ध और दानियों के चित्र)। गच की मूर्तियां भी यहां मिली हैं। सबसे रोचक वह मूर्ति रचना है जिसमें बुद्ध को वृक्ष तले बैठा दिखाया गया है और उनके दोनों ओर भिक्षु हैं। यह रचना बहुत सफ़ाई से बनाई गई है और शैली की दृष्टि से गांधार कला की याद दिलाती है।

फ़याज़ तेपे मे उत्खनन जारी है और यह आशा की जा सकती है कि यहां प्राचीन बाख़्त्री में बौद्ध धर्म के विकास के बारे में महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलेगी।

फ़याज़ तेपे में कतिपय अभिलेखो की खोज पुराविदों की विशाल उपलब्धि है (लेनिनग्राद की विद्वान म० वोरोब्योवा-देस्यातोव्स्काया इनका अध्ययन कर रही हैं)। ये अभिलेख खरोष्ठी लिपि में हैं, इनकी भाषा प्राकृत है। प्राय: इनमें बौद्ध दानियों के नाम और बौद्ध मंत्रो के अंश हैं। कुछ अभिलेखो में महासांघिक सम्प्रदाय का उल्लेख है, यह बात कारा तेपे के अभिलेखों से मेल खाती है। कारा तेपे और फ़याज़ तेपे में काफ़ी बड़े बौद्ध विहारो की खोज को देखते हुए कुषाण काल में बाख़्त्री में बौद्ध धर्म के विशाल प्रभाव की चर्चा की जा सकती है। कारा तेपे का द्विभाषी लेख यह इंगित करता है कि भिक्षु भारतीय और स्थानीय भाषाओं से तथा विभिन्न लिपियो से परिचित थे। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बाख़्त्री में भारतीय रचनाओ का स्थानीय बाख़्त्रीय भाषा में अनुवाद किया जाता था, इस भाषा में ही प्रवचन भी होते थे। प्रत्यक्षत:, धार्मिक ग्रंथो के साथ साहित्यिक रचनाएं भी मध्य एशिया में पहुंचती थीं और मध्य एशिया के जनगण सीधे-सीधे प्राचीन भारतीय संस्कृति की उपलब्धियों से परिचित होते थे।

कुषाण काल में मध्य एशियाई बौद्ध धर्म के स्वरूप का प्रश्न काफ़ी जटिल है, लेकिन लिखित स्रोतो से यह ज्ञात है कि बाख़्त्रीय बौद्ध भिक्षुओं ने बौद्ध धर्म के विकास और प्रचार में महती भूमिका अदा की। बौद्ध परम्परा के अनुसार तुखारिस्तानी भिक्षु घोषक सूत्र, विनय और अभिधर्म-पिटक की "विभाषा" (टीका) लिखने वालों में एक था। इस विभाषा की पुष्टि कनिष्क के दिनों में पुरुषपुर में हुई तृतीय बौद्ध संगीति में की गई थी। इस संगीति के बाद घोषक फिर से मध्य एशिया लौट आया। ऐसा माना जाता है कि 'अभिधर्मामृतशास्त्र' की रचना भी घोषक ने ही

की। चीनी स्रोत तर्मित नगर (आधुनिक तेर्मेज़) में जन्मे धर्ममित्र को विनयसूत्र का विभाषाकार बताते हैं। तुखार भाषा में वैभाषिक सम्प्रदाय की रचनाओं के अनुवाद का श्रेय भी धर्ममित्र को ही दिया जाता है।

यदि इन सूचनाओं को सही माना जाये, तो कुषाण काल में बाख़्त्री-तुखारिस्तान में वैभाषिक सम्प्रदाय अभिपुष्ट हो गया था, जो सर्वास्तिवाद का अंग था। सुप्रसिद्ध बौद्ध लेखक और विद्वान अश्वघोष की लिखी मानी जाने वाली रचना 'सूत्र-अलंकार' में मध्य एशिया के बौद्धों के उनके पड़ोसियों के साथ संबंध के बारे में बताया गया है। आज जहां ताशक़ंद प्रदेश स्थित है, वहां के एक विहार की सज्जा, 'सूत्र-अलंकार' के अनुसार, पुष्करावती (पेशावर) से आये एक व्यक्ति ने की थी।

मध्य एशिया के रास्ते बौद्ध धर्म पूर्वी तुर्किस्तान, चीन और सुदूर पूर्व पहुंचा। ईसवी संवत् की पहली सदियों में बहुत से मध्य एशियाई भिक्षु चीन में थे, जहां उन्होंने बौद्ध रचनाओं के अनुवाद किये, उनपर टीकाएं लिखीं तथा वस्तुतः चीन को बौद्ध धर्म से परिचित कराया। तीसरी सदी के चीनी ग्रंथ 'वेइ-ल्यू' में यह सूचना निहित है कि ई० पू० सन् २ में चीनी लोग यूह-ची अर्थात कुषाणों के माध्यम से बौद्ध धर्म से परिचित हुए थे। यूह-ची – कुषाणों – का देश चीनी परम्परा के अनुसार बौद्ध धर्म का केंद्र था। चीन में बौद्ध धर्म के पहले उपदेशकों में मध्य एशियाई मूल के बहुत से लोग थे। उदाहरणतः, हमें पार्थियाई आन-शी-गाओ और आन स्युआन, यूह-ची जाति के ची लोउत्स्ज्या चान (संस्कृत में सोमक्षेम), ची याओ, और ची-ल्यान, सोग्दी कान मेन-स्यान और कान त्सज़ुइ के नाम ज्ञात हैं। पार्थियाई आन-शी-गाओ सर्वाधिक विख्यात था, उसने सन् १४८ से १७८ तक लोयान मे रहकर हीनयान की बौद्ध रचनाओं का चीनी भाषा में अनुवाद किया। वह खगोलविद्या का भी जानकार था। इस प्रकार, बौद्ध धर्म के साथ न केवल भारतीय, अपितु मध्य एशियाई संस्कृति के तत्व भी चीन पहुंचे। चीन की संस्कृति ने मध्य एशियाई सभ्यता के बहुत से तत्वों को ग्रहण किया। पार्थियाई आन स्युआन ने महायान के ग्रंथों का अनुवाद किया। कालांतर में, चौथी सदी में तुखारिस्तान से ("तो-खो-लो" देश से) धर्मनन्दिन चीन गया। वह हीनयान की रचनाओं का अनुवाद करता था। पश्चिमी त्सिन वंश के लगभग अंतिम दिनों तक चीनी भाषा में बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद करने वालों में ६ या ७ चीनी और ६ भारतीय मूल के थे, जबकि १६ अनुवादक मध्य व केंद्रीय एशिया की विभिन्न जातियों के थे – ६ यूह-ची, ४ पार्थियाई, ३ सोग्दी, २ कूचाई और १ खोतानी। बेशक, ये आंकड़े शतशः सत्य नहीं हो सकते, लेकिन वे सामान्य प्रवृत्ति को अवश्य प्रतिबिम्बित करते हैं, जो दिखाती है कि सुदूर पूर्व में बौद्ध धर्म के प्रचार में मध्य एशिया की विशाल भूमिका थी। चीन में काफ़ी बड़ी संख्या में मध्य एशियाई भिक्षुओं का होना, जो अनुवादक और टीकाकार थे, उनकी जन्मभूमि – मध्य एशिया – में बौद्ध धर्म के प्रसार का स्तर इंगित करता है। पुरातत्व और लिखित स्रोतों की सामग्री के अनुसार ईसवी संवत् की पहली सदियों में बौद्ध

धर्म मध्य एशिया में काफ़ी फैला हुआ था और इस क्षेत्र की विचारधारा में काफी बडी भूमिका अदा करता था। बौद्ध धर्म के प्रचार से मध्य एशिया और भारत के सांस्कृतिक संबंध व्यापक व सुदृढ हुए, इसके फलस्वरूप वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्र-कला, प्रतिमाविज्ञान में नये रूप प्रकट हुए तथा आयुर्विज्ञान, खगोलविद्या, आदि में ज्ञान का आदान-प्रदान हुआ। हां, इन सभी नई बातों को मध्य एशिया में सृजनात्मक ढंग से आत्मसात किया जाता था। मध्य एशिया और भारत के संबंध दोतरफ़ा थे– मध्य एशियाई संस्कृति के बहुत से तत्व भारत पहुंचे और साथ ही मध्य एशिया बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति के अनेक तत्वों को आगे पूरब में फैलाने वाला विशाल "रिले स्टेशन" था।

कारा तेपे और फ़याज़ तेपे में विहारों के उत्खनन से ईसवी संवत् की पहली सदियों में मध्य एशिया में बौद्ध धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका के बारे में लिखित स्रोतों की जानकारी की पुष्टि हुई है। अभी कुछ वर्ष पहले तक विद्वानों के पास एशिया में बौद्ध स्मारकों के बारे में पुरातत्वीय जानकारी नहीं थी। अब बौद्ध धर्म और बौद्ध संस्कृति के स्मारकों की मध्य एशिया के अनेक इलाक़ों में खोज हो चुकी है। मध्य एशियाई बौद्ध धर्म के इतिहास के प्रमुख चरणों का पुनर्निर्माण करने की तथा उसका स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास करने की यथार्थ संभावनाएं बन गई हैं। मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का इतिहास बौद्ध धर्म के विकास के सामान्य इतिहास का एक सबसे ज्वलंत पृष्ठ बन गया है।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि बुद्ध के पहले अनुयायी अखामनीष काल मे ही मध्य एशिया में पहुंच गये थे। पर इस बारे में कोई प्रत्यक्ष जानकारी अभी उपलब्ध नही है।

सर्वाधिक संभव यह है कि सम्राट अशोक (तीसरी सदी ई० पू०) के शासन काल में ही बुद्ध और उनकी शिक्षा के बारे में पहली जानकारी मध्य एशिया में पहुची। ज्ञात है कि पिछले वर्षों में अशोक के लेख कंधार में मिले हैं। यही नहीं, इन लेखों में धर्म के बारे में अशोक के जो उपदेश हैं, वे स्पष्टतः स्थानीय आबादी के लिए ही हैं–एक लेख यूनानी और अरामाइक दोनों ही भाषाओं में है। संभवतः इस काल में आर्कोशिया में बुद्ध के अनुयायी थे या बुद्ध की शिक्षा से परिचित लोग।

श्रीलंका के इतिवृत्त तथा सिंहल देश का निवासी भिक्षु बुद्धघोष, जिसका काल पांचवी सदी है, यह सूचित करते हैं कि अशोक के शासन काल मे (पाटलिपुत्र मे तृतीय बौद्ध संगीति के बाद) बौद्ध धर्म के प्रचारक कश्मीर, गांधार, हिमालय देश और योनकों के देश भेजे गये थे। योनकों के देश से अभिप्राय आर्कोशिया का था, जहां योन रहते थे, संभवतः अफ़ग़ानिस्तान में मिले अशोक के यूनानी मे लिखे अभि-लेख उन्हीं को संबोधित थे। उपरोक्त इलाक़ो को बौद्ध धर्म प्रचारकों के भेजे जाने के बारे में श्रीलंका के इतिवृत्तों की सूचना की पुष्टि अफ़ग़ानिस्तान में मिले अभिलेखों से हुई है। इनमे उन उपदेशकों के नाम हैं, जिनका उल्लेख श्रीलंका के

इतिवृत्तों में है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अफ़ग़ानिस्तान, कश्मीर तथा मध्य एशिया से घनिष्ठ रूप से जुड़े पड़ोसी इलाक़ों से बौद्ध धर्म मध्य एशिया के दक्षिणी प्रदेशों में पहुंचा और बौद्ध उपदेशकों ने बाख़्त्री के निवासियों को बुद्ध की शिक्षा से परिचित कराया।

मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का इतिहास पूरे विश्वास के साथ यूनानी-बाख़्त्री राज्य के गठन के काल से शुरू किया जा सकता है। इस राज्य में उत्तरी भारत के इलाक़े, अफ़ग़ानिस्तान के कुछ भाग और मध्य एशियाई प्रदेश शामिल थे।

कतिपय यूनानी-बाख़्त्री शासकों के सिक्कों पर बौद्ध स्तूप का चित्र मिलता है, जबकि राजा मेनेन्डर के सिक्कों पर उसकी शक्ति के प्रतीक के रूप में बौद्ध चिन्ह – चक्र – दिया गया है। बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध की शिक्षा का अनुयायी राजा मेनेन्डर मिलिंद के नाम से जाना जाता है। यह माना जाता है कि उसने बौद्ध विद्वान नागसेन के साथ बुद्ध की शिक्षा के सारतत्व पर शास्त्रार्थ किया। खेदवश, मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के पहले क़दमों के बारे में साक्षियां अभी कम ही हैं, लेकिन वर्ष प्रति वर्ष सामग्री बढ़ती ही जा रही है। मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के अध्ययनकर्त्ता अभिलेखों और सिक्कों का ही नहीं, लिखित स्रोतों का भी (जो कभी-कभी रचना काल और स्थान में भी यहां से बहुत दूर के होते हैं) अध्ययन करते हुए मध्य एशिया के अपने पड़ोसियों के साथ ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संबंधों के बारे में कोई नया तथ्य या नया प्रमाण खोजने के प्रयास कर रहे हैं।

प्रो० लित्वीन्स्की ने श्रीलंका में 'महावंश' नामक इतिवृत्त की ओर ध्यान दिया है, जो पांचवीं-छठीं शती ई० में लिखा गया था, लेकिन जो बौद्ध मठों के अधिक प्राचीन सिंहल इतिवृत्तों पर आधारित है। 'महावंश' में यह रोचक सूचना दी गई है कि राजा दुत्तगमन के शासन काल (द्वितीय शती ई० पू० के अंत – प्रथम शती ई० पू०) में एक महास्तूप के शिलान्यास में भाग लेने विभिन्न देशों के भिक्षु आये थे जिनमें "पल्लवभोग" देश के तथा योनस देश के "अलसंदा" नगर के भिक्षु भी थे। प्रत्यक्षतः, "पल्लव" से अभिप्राय पहलवों (पार्थियाइयों) से है और अलसंदा तो, जैसा कि फ़्रांसीसी विद्वान लेवी ने दिखाया है, काबुल के पास पेरेपेमीज़ पर्वत श्रेणी में स्थित सिकंदरिया है। बहुत मुमकिन है कि 'महावंश' के इस वर्णन में द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई० पू० में पार्थिया में बौद्ध धर्म के प्रचार से संबंधित यथार्थ घटनाएं प्रतिबिम्बित हुई हों।

इस प्रकार यह कहने के लिए पर्याप्त आधार है कि मध्य एशिया में बौद्ध धर्म ई० पू० दूसरी-पहली सदी में पहुंचा। लेकिन इसका व्यापक प्रचार ईसवी संवत् की पहली सदियों में महान कुषाणों के काल में ही हुआ। कुषाण शासकों की धार्मिक सहिष्णुता की नीति इसमें बहुत हद तक सहायक थी। धार्मिक समन्वयवाद और सहिष्णुता का ज्वलंत प्रमाण है कुषाण देवगण, जिनके चित्र हम कुषाण शासकों के सिक्कों पर पाते हैं। सिक्कों पर तीन देवगण अंकित हैं – ईरानी, भारतीय और

यूनानी। ईरानी देवता मिथ्र (मित्र), जो ईरानी जनगण के विश्वासो में बहुत बडी भूमिका अदा करता था, उर्वरता की देवी अर्दोहश, रण देवता व्रत्रग्न (वृत्रघ्न) तथा ईरानी देवराज अहुरमज़्दा, भारतीय देवता शिव, स्कंद-कुमार और बुद्ध – साकानावो (शाक्यमुनि बुद्ध) और बागो बोद्दो (भगवान बुद्ध) – तथा यूनानी देवता – हीलियस, हेफ़ेस्टोस, सिलीन, हर्क्युलिस और सेरापिस देवता, जिसकी पूजा यूनान-प्रभावित मिस्र में विशेषत: प्रचलित थी – ये सब कुषाण सिक्को पर पाये जाते हैं। कुषाण राज्य की आबादी की नृजातीय और सास्कृतिक विविधता प्रतिबिम्बित करने के साथ-साथ ये देवगण सारे राज्य के लिए समान परम्पराओ और मानको का, जो सम्पर्क और परस्पर-प्रभाव की लबी प्रक्रिया के दौरान बने, प्रचलन भी प्रदर्शित करते हैं।

कुषाण काल में धार्मिक ही नहीं, सांस्कृतिक सहिष्णुता भी व्याप्त थी, जिसके फलस्वरूप सामान्य सांस्कृतिक मूल्यो के निर्माण के साथ-साथ स्थानीय परम्पराओ की विशिष्टता बनाये रखना भी संभव हुआ।

कुषाण काल में कुषाण राज्य के विभिन्न भागों में बौद्ध, जैन, ज़रथुष्ट्र धर्म, शिव पूजा, मानीवाद तथा स्थानीय विश्वास प्रचलित थे।

धार्मिक-दार्शनिक प्रणालियों एव धाराओ की इतनी अधिक विविधता तथा एक ही राजनीतिक गठन के अतर्गत उनका सह-अस्तिवत्व विश्व सभ्यता के इतिहास में एक अद्वितीय उपलब्धि है।

बौद्ध धर्म जैसे विश्व धर्म के स्थानीय विश्वासों के साथ परस्पर सबध का प्रश्न विशेषत: रोचक है, क्योकि बौद्ध धर्म का प्रचार स्थानीय धार्मिक धाराओ को आत्म-सात करने से नहीं जुडा हुआ था। इस दृष्टि से मध्य एशिया में ईसवी संवत् की पहली सदियो में मानीवाद के साथ बौद्ध धर्म के सबध सर्वाधिक लाक्षणिक हैं। बौद्ध धर्म ने पूर्वी मानीवाद के देवगण, धार्मिक कृत्यों तथा कुछ विचारो पर प्रभाव डाला। शोधकर्त्ताओं का विचार है कि मानीवाद का एक केंद्रीय विचार – पापों की स्वीकृति – बौद्ध धर्म से लिया गया था। मानीवाद के कुछ ग्रंथ बौद्ध सूत्रों की भांति लिखे गये हैं, मानी को बोधिसत्व और कभी-कभी तो मानी बुद्ध कहा गया है और उनके देहांत को निर्वाण बताया गया है।

मध्य एशिया और भारत के संबधों की चर्चा करते हुए ख्वारज़्म जैसे महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक केंद्र पर भी ग़ौर किया जाना चाहिए। यहां सोवियत विद्वानो ने वर्षों की खुदाई के फलस्वरूप रोचक खोजे की हैं।

रेगिस्तानों से घिरा ख्वारज़्म भारत से दूर था, लेकिन यहां भी ख्वारज़्म सभ्यता के स्मारकों में इस देश के साथ सांस्कृतिक संबधो के चिह्न मिलते हैं।

पिछले कई दशकों से सोवियत पुराविद ख्वारज़्म के इतिहास और संस्कृति का अध्ययन कर रहे हैं। स्व० प्रो० स० तोल्स्तोव के सचालन में वहां कार्य करते रहे अभियान दल ने अच्छे परिणाम पाये।

ख्वारज़्म के शासकों का महल **तोप्राक क़ला** विशेषतः रोचक है, जो लोनी ज़मीनों के बीच मिला है।

तोप्राक क़ला बहुसंख्य बुर्जियों वाली समकोणिक नगरी है। इसका तिथ्यांकन तीसरी-चौथी सदी ई० किया गया है। प्राचीन नगर के ऊपर विराट पर्वत सरीखा ख्वारज़्मी शासकों का महल उठा हुआ था, जो १२ मीटर ऊंचे आधार पर बनाया गया था। इस आधार का प्रयोजन भूमिगत जल तथा भूकंपों से महल की रक्षा करना था।

महल में कई कक्ष मिले हैं, जिनके नाम "हार्प वादिका का कक्ष", "राजाओं का कक्ष", "सेनानियों का कक्ष", "हिरणों का कक्ष", "विजय कक्ष", "वारांगना कक्ष", आदि रखे गये हैं।

भवनों के उत्खनन में भित्तिचित्रों और मूर्तियों के अवशेष मिले हैं, जिनसे भारत के साथ सांस्कृतिक सम्पर्कों का अनुमान लगाया जा सकता है।

"हार्प वादिका के कक्ष" में हार्प बजाती युवा नारी का चित्र विशेषतः रोचक है। इसमें गांधार कला का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है, हालांकि स्थानीय लक्षण और परम्पराएं भी इसमें साफ़ दृष्टिगोचर होती हैं। यूनानप्रभावित लक्षण भी निस्संदेह हैं, यह आकृति ऐकेंथस के कुंज में से उभरती प्रतीत होती है। इस दृश्य को देखकर अनायास ही ऐर्तांम चित्र वल्लरी के साथ इसकी समानता का विचार मन में आ जाता है।

तोप्राक क़ला की सज्जा में मूर्तिकला की विशेष भूमिका थी। किसी ज़माने में "राजाओं के कक्ष" में खास आलों में मूर्ति समूह रखे हुए थे। अब मूर्तियों के टुकड़े ही बचे हैं। प्रत्यक्षतः, यहां ख्वारज़्म के राजाओं और संभवतः संरक्षक देवताओं की मूर्तियां रखी हुई थीं। कुछ आकृतियों में कुषाण काल की भारतीय मूर्तियों से समानता है (मुद्रा में, वस्त्रों में)।

ख्वारज़्म-भारत संबंधों की समस्या के सिलसिले में "सेनानियों के कक्ष" की आकृतियां, तथाकथित "श्यामवर्णी अंगरक्षकों" की आकृतियां विशेष महत्त्व रखती हैं। इनके चेहरे सांवले हैं, होंठ मोटे। प्रो० स० तोल्स्तोव के मत में, नीग्रोसम, द्रविडसम नाक-नक्शों वाले ये सैनिक ख्वारज़्म के शासकों के निजी अंगरक्षक थे और दक्षिणी भारत से ख्वारज़्म लाये गये थे। कहना न होगा कि इस साहसपूर्ण प्राक्कल्पना के लिए ठोस आधार प्रस्तुत करने की आवश्यकता है, तथापि कुषाण काल में ख्वारज़्म के भारत के साथ सीधे संबंधों की संभावना वास्तविक है।

कुषाणों के बाद के काल में भी मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का महत्त्व बना रहा। इसके बारे में हम लिखित स्रोतों से ही नहीं, बल्कि सर्वप्रथम सोवियत पुराविदों की खोजों की बदौलत जानते हैं। इस सिलसिले में ताजिकिस्तान में **अजीना तेपे** में हुई खुदाई सर्वाधिक रोचक है।

अजीना तेपे १००×५० मीटर का छोटा सा टीला है। यहां प्रो० लित्वीन्स्की के
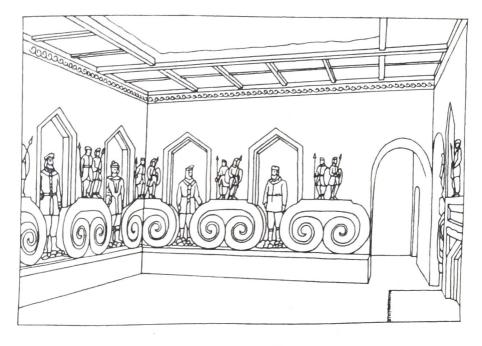
सेनानियों का कक्ष। तोप्राक क़ला। (पुनर्कल्पित)
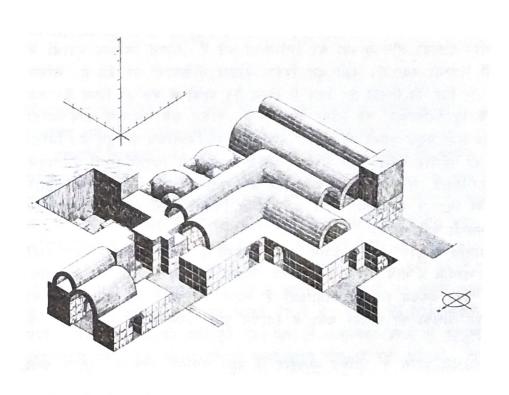
बौद्ध विहार के दक्षिण-पूर्वी कोने का पुनर्कल्पित दृश्य। अजीना तेपे।

संचालन में पुराविदों ने एक बौद्ध विहार का उत्खनन किया है. जिसमें मूर्तियां और भित्तिचित्र मिले हैं। यहां से प्राप्त ३०० से अधिक सिक्कों से यह पता चलता है कि यह सातवी सदी – आठवी सदी ई० के आरंभ का विहार था। अजीना तेपे का ब्राह्मी अभिलेख भी इसी बात का साक्षी है, पुरालिपि विशेषज्ञों ने इसे सातवीं-आठवी सदी का माना है। खेदवश लेख का पाठ ऐसी दशा में नही रहा कि इसे पढ़ा जा सके, तो भी इसके बौद्ध स्वरूप के बारे में कोई संदेह नही है। सभी बौद्ध विहारो की भांति यह विहार भी दो भागों से बना था – चैत्य भाग और आवासीय भाग। आवासीय भाग में एक अहाते (१९×१९ मीटर) के चारों ओर भिक्षुओं की कोठरियां और संघ के सभामंडप अच्छी तरह संरक्षित रहे हैं। पिछले वर्षों के उत्खनन कार्य से पता चलता है कि आवासीय भाग दुमंज़िला था। इसकी साक्षी हैं – दूसरी मंज़िल पर जाती सीढ़ियां। केंद्रीय सभामंडप का आकार काफ़ी बड़ा था – १०.२५ × ९.५ मीटर। इसकी छत खंभों पर टिकी हुई थी। प्रवेश द्वार के पास आधार पीठिका पर खडे बुद्ध की विशाल मूर्ति थी। खुदाई में मिले इसके सिर को देखकर कहा जा सकता था कि मूर्ति की ऊंचाई कम से कम ४ मीटर थी। चैत्य वाले भाग के केंद्र में स्तूप था, जिसके ऊपर को सीढ़ियां जाती थी। विहार के दोनों भाग जुड़े हुए थे। स्तूप के गिर्द गलियारे थे, जिनमें भिक्षु तथा गृहस्थ बौद्ध परिक्रमा करते थे।

गलियारों के अग़ल-बग़ल की दीवारों में आले थे, जिनमें बुद्ध की मूर्तियां रखी हुई थीं। आकृतियों के आकार विभिन्न थे, कभी-कभी ये आदम क़द से ड्योढ़ी तक होती थी। दीवारों और गुम्बदों पर भित्तिचित्र बने हैं, जिनमें विभिन्न मुद्राओं में बुद्ध को दिखाया गया है। सभी बुद्ध विशेष आधार पीठिकाओं पर बैठे हैं, लेकिन हाथों और सिर की स्थिति हर चित्र में भिन्न है। वस्त्रों के रंग भी भिन्न हैं। अब तो बचे रहे भित्तिचित्रों की संख्या कम ही है, लेकिन जब संघाराम काम करता था, तब सभी प्रमुख भवनों की दीवारों और छतों पर भित्तिचित्र बने हुए थे। भित्ति-चित्रों की तकनीक भारत और श्रीलंका की परम्पराओं से मिलती-जुलती है: पहले रेखाचित्र बनाये जाते थे, फिर उनके अंदर के विस्तार में रंग भरे जाते थे। तैयार चित्र पर फिर से रंग किया जाता था (इससे मिलती-जुलती ही विधि अजंता में भी अपनायी गयी थी)।

प्रणिधि के दृश्य विशेषत: ध्यान आकर्षित करते हैं: श्वेत वस्त्रधारी समृद्ध दानी बुद्ध के सम्मान में सोने और चांदी के पात्र, जिनमें फूल रखे हैं, चढ़ा रहे हैं। दानि-यों के चेहरे एकदम स्थानीय निवासियों के चेहरों जैसे लगते हैं। अजीना तेपे का यह दृश्य श्रीलंका की प्राचीन कला के स्वर्णिम पृष्ठ – सिगेरिया के भित्तिचित्रों – के समरूप है।

पुण्यार्पण भारत के धार्मिक व्यवहार में बहुत प्रचलित प्रथा है, गांधार कला में भी और अजंता में भी यह प्रतिबिम्बित हुई है। दानियों के वस्त्र रोचक हैं: अंग वस्त्र पर खुली खुली चुन्नटें पडी हैं, चोगा कटिबंध से बंधा हुआ है, जिस पर तलवार
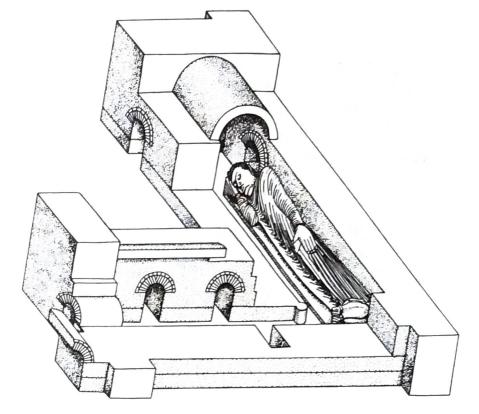
महापरिनिर्वाण मुद्रा में लेटे हुए बुद्ध। अजीना तेपे। (पुनर्कल्पित)

और कृपाण लटक रहे हैं। दानियों के वस्त्र और शस्त्र यह इंगित करते हैं कि यहां साधारण दानी नही, बल्कि संपन्न श्रेणी के प्रतिनिधि चित्रित हैं।

हालांकि चित्रकारों को अपनी योजना को उपासना के ध्येयों के अनुरूप ढालना चाहिए था, लेकिन उन्होंने दृढ़त: धार्मिक कला नियमों का अनुसरण नही किया, बल्कि कलाकृति में विश्व की अपनी समझ को स्थान दिया। चित्रकार के उच्च कौशल ने चित्रों में जीवन भर दिया, रूढ़िबद्ध रूपों को भी काफ़ी सजीव बना दिया। धार्मिक चित्रों के साथ-साथ लौकिक दृश्यों को भी काफ़ी स्थान प्राप्त है।

विहार की सभी इमारतें कच्ची ईंट और कच्चे ब्लाकों से बनी हुई हैं। संकरे और लंबे कमरों पर चापछते थीं, जबकि वर्गाकार कोठरियों पर गुम्बद बनाये गये थे, द्वारक मेहराबदार थे – ये सब कच्ची ईंट के थे। विहार की शोभा बढ़ाने वाली सभी मूर्तियां भी मृदा की बनी हुई थीं। मृदा से आकृतियां बनाने के पश्चात उन्हें रंगा जाता था (बुद्ध की आकृतियां अलग-अलग रंगों से रगी गई थी: संघाटी – लाल रंग से, तलवे – सफ़ेद, बाल – काले या नीले रग से।

चैत्य मे सबसे अधिक प्रभावोत्पादक है – बुद्ध की विशाल (लगभग १२ मीटर की) निर्वाण मूर्ति। इस मूर्ति के आकार का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता

बोधिसत्व का शीर्ष। अजीना तेपे

है कि बुद्ध की हथेली १३२ सेंटीमीटर लंबी है, तलवा – १६५ से १६० सेंटीमीटर तक लंबा है। बुद्ध के हाथों और पांवों के अलावा शेष सारा शरीर संघाटी में लिपटा हुआ है, जो डोरी से कमर पर बंधी हुई है; पांवों में पादुकाएं हैं। रंगों के अवशेषों को देखकर पता चलता है कि संघाटी पर लाल रंग किया गया था, जबकि चेहरे, हाथों और पांवों पर सफ़ेद। इस आकृति का ढांचा कच्ची ईंट से बनाया गया था और फिर उसपर मृदा का लेप किया गया था।

दक्षिणी ताजिकिस्तान की बुद्ध की यह विशाल मूर्ति श्रीलंका की प्राचीन राजधानी पोलोन्नारुवे में मिली मूर्ति से समानता रखती है। श्रीलंका की विराट मूर्ति मध्य एशियाई मूर्ति से आकार मे कुछ छोटी है और इसका रचनाकाल भी बाद का – १२वीं सदी ई० – माना जाता है। लेकिन दोनों मूर्तियां एक ही शैली मे बनाई गई हैं। यह समानता संयोग मात्र नही है। यह इस बात की साक्षी है कि दक्षिणी शाखा – हीनयान – के बौद्ध सांस्कृतिक जगत में वे कलात्मक सिद्धांत व्यापक रूप से प्रचलित थे, जिन्होंने स्थानीय संस्कृतियों और परम्पराओं के प्रभाव के बावजूद अपना एकीकृत आधार बनाये रखा। इस सिलसिले में 'महावंश' की यह सूचना याद की जा सकती है कि पार्थिया के बौद्ध श्रीलंका आये थे।

अजीना तेपे का संघाराम अखिल बौद्ध परम्परा के अनुसार बनाया गया था, जिसके दर्शन भारत और अफ़ग़ानिस्तान के स्मारकों में सबसे अच्छी तरह होते हैं। भारतीय बौद्ध कला का प्रभाव एकदम स्पष्ट है। लेकिन यह भी कहा जाना चाहिए कि तुखारिस्तानी शिल्पियों ने सर्वसम्मत नियमों का आंख मूंदकर अनुकरण नहीं किया। अजीना तेपे के उत्खनन से ही यह पता चला है कि स्थानीय परम्पराएं कितनी सुदृढ़ थी और प्राचीन तुखारिस्तान का स्थापत्य और कला कितने मौलिक थे। स्थानीय मूर्तिकार और चित्रकार, निर्माणकर्त्ता और वास्तुकार मध्य एशिया में चली आ रही परम्पराओं और यहां की दक्षताओं का उपयोग करते थे, पड़ोसी देशों, सर्वप्रथम भारत और अफ़ग़ानिस्तान की सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ उनका सामंजस्य बिठाते थे। इसका उदाहरण में प्राचीन भारतीय कला के स्वर्ण युग – गुप्त काल – की सांस्कृतिक परम्पराओं का उपयोग।

यह एक तरह से भारतीय (भारतीय-बौद्ध) और बाख्त्रीय कला परम्पराओं का सृजनात्मक संश्लेषण था, जिसके फलस्वरूप मौलिक तुखारिस्तानी कला उत्पन्न हुई। अजीना तेपे की सामग्री स्थानीय बाख्त्रीय कला का विशेष महत्त्व इंगित करती है। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि अफ़ग़ानिस्तान से लेकर पूर्वी तुर्किस्तान तक के काफ़ी बड़े इलाक़े में आदि मध्ययुगीन कला के गठन में मध्य एशियाई परम्पराओं ने कितनी महती भूमिका अदा की। मध्य एशिया में उत्खननों के फलस्वरूप प्राच्य कलाविदों को यह स्वीकार करना पड़ा है कि ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और पूर्वी तुर्किस्तान की कला के गठन पर मध्य एशिया की परम्पराओं का अपार प्रभाव पड़ा। पिछले वर्षों के उत्खनन कार्यों से सुप्रसिद्ध इतालवी विद्वान बुस्साली के इस विचार की पूर्ण पुष्टि हुई है कि सेरेंदिया में जो परम्पराएं विकसित हुईं, वे वास्तव में मध्य एशियाई कृतियों की प्रतिध्वनि थीं।

अजीना तेपे की असल सम्पदा है – मृण्मूर्तियां। इनमें भी स्थानीय बाख्त्रीय-तुखारिस्तानी लक्षणों के साथ-साथ भारतीय कला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। गांधार परम्पराओं के अलावा गुप्त कला का प्रभाव भी प्रबल है यह बुद्ध के वस्त्रों मे भी तथा केश-विन्यास मे भी प्रकट होता है। उल्लेखनीय है कि बौद्ध विहार में

न केवल धार्मिक मूर्तियां (बुद्ध और बोधिसत्व), बल्कि लौकिक मूर्तियां भी मिली हैं। और जहां बुद्ध का चित्रण पूर्णत: नियमानुसार है तथा बोधिसत्वों की आकृतियां भारतीय परम्परा में हैं, वहीं गृहस्थों और भिक्षुओं के चित्रण में बाख़्त्रीय कला का प्रभाव स्पष्टत: देखा जा सकता है, उस कला का जो कुषाण काल में विकसित हुई और फली-फूली, जब बाख़्त्री एक शक्तिशाली साम्राज्य का नाभिक बना था।

दानियों की आकृतियां बहुत रोचक हैं। विद्वानों के मत में एक मूर्ति कश्यप मुनि की है। कुछ मूर्तियां इतनी अभिव्यंजनात्मक और यथार्थपरक हैं कि अनायास ही प्राचीन शिल्पियों की प्रतिभा, उनके सौंदर्यबोध और सुरुचि पर आश्चर्य होता है। पिछले वर्षों में हुई खुदाई में एक अत्यंत रोचक मूर्ति रचना मिली है, जिसमें महाभिनिष्क्रमण के समय राजकुमार सिद्धार्थ को अपने घोड़े कंटक से विदाई लेते दर्शाया गया है।

अजीना तेपे में उत्खनन के फलस्वरूप केंद्रीय एशिया की बौद्ध कला में बाख़्त्रीय-तुख़ारिस्तानी धारा के योगदान का नये सिरे से मूल्यांकन किया जा सका है। और सब बातों के अलावा तुख़ारिस्तान वह इलाक़ा भी था जहां से सुदूर पूर्व की ओर बौद्ध संस्कृति का प्रचार आरंभ हुआ। भारतीय संस्कृति की अनेक उपलब्धियां तुख़ारिस्तान में स्थानीय परम्पराओं के प्रभाव से काफ़ी परिवर्तित होकर ही अपने नये रूप में ागे चीन, कोरिया और जापान तक पहुची।

बौद्ध विहार धार्मिक समारोहों और पूजा के केंद्र ही नहीं थे। सुविदित है कि नालंदा के बौद्ध विहार ने ज्ञान प्रसार का कितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। हो सकता है कि मध्य एशिया में भी बौद्ध मठ शिक्षा के केंद्र रहे हों। बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय साहित्य, आयुर्विज्ञान, खगोलविद्या से भी मध्य एशिया के निवासी परिचित हुए।

अजीना तेपे का विहार ईसवी संवत् की पहली शताब्दियों में मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के प्रसार का एकमात्र प्रमाण नहीं है। काफ़िर क़ला (आधुनिक कोलख़ोज़ाबाद, ताजिकिस्तान, से कुछ दूर) के नये उत्खनन में अजीना तेपे जैसा ही बौद्ध चैत्य मिला है। गुम्बदनुमा इमारत (३.४×३.४ मीटर) चारों ओर से मेहराबी छत-युक्त गलियारे से घिरी हुई है – ऐसा वास्तु-विन्यास कुषाण काल तथा आदि मध्य युग के अनेक बौद्ध स्मारकों में पाया जाता है। भित्तिचित्रों के अवशेष स्थानीय चित्र-कारों के उच्च कौशल के साक्षी हैं। ये चित्रकार बौद्ध कला के नियमों, रूढ़ियों (कमल पुष्प, बुद्ध के सिर के गिर्द प्रभा-मंडल, इत्यादि) से परिचित थे।

पिछले वर्षों में बौद्ध स्थापत्य और कला के अनेक स्मारक मिले हैं। विशेषत: महत्त्वपूर्ण बात है ब्राह्मी लिपि में संस्कृत में लिखे हुए बौद्ध ग्रंथों की खोज।

तेर्मेज़ नगर के तीस किलोमीटर दूर ज़ंग तेपे नामक टीले की खुदाई में ७वीं सदी का क़िलेनुमा प्रासाद मिला है। यहीं भोजपत्र पर संस्कृत में लिखे बौद्ध ग्रंथों के १२ अंश भी मिले हैं। पुरालिपि की दृष्टि से ये 'प्रज्ञापारमिता' की गिलगित पांडुलिपियों से मिलेत-जुलते हैं और इनका तिथ्यांकन ७वीं-८वीं ई० किया गया है।

विद्वानों ने बड़ी कठिनाई से इनके पूर्ण पाठ का पुनर्निर्माण किया है। ब्राह्मी के विभिन्न रूपों में लिखे अंशों को पढ़ने से पता चला है कि ये 'विनय-पिटक' के भाग हैं। इनमें संघ की सभा के बारे में, भिक्षा के बारे में, भिक्षु द्वारा निंदनीय कार्य किये जाने, आदि के बारे में बताया गया है। प्राचीन नगर मेर्व (तुर्कमानिस्तान) के खंडहरों से थोड़ी दूर हस्तलिखित संस्कृत बौद्ध ग्रंथ की खोज शोधकर्त्ताओं के लिए बहुत रोचक है। ये हस्तलिखित पत्र एक पात्र में पांचवीं सदी ई० के समानी सिक्कों तथा बुद्ध की प्रस्तर मूर्तिकाओं के साथ मिले हैं।

इस पात्र में १५० से अधिक ताड़ पत्र पाये गये, जिनमें से कुछ पर तो पृष्ठ संख्या तक पढ़ी जा सकती है। इस ग्रंथ का अनुमानित तिथ्यांकन पांचवीं-छठी सदी ई० है। आजकल म० वोरोब्योवा-देस्यातोव्स्काया के निदेशन में सोवियत शोधकर्त्ता इस हस्तलिखित ग्रंथ को प्रकाशन के लिए तैयार कर रहे हैं। इसके आरंभिक अध्ययन से पता चला है कि यह गृहस्थ बौद्धों के पढ़ने के लिए तैयार किया गया सूत्र, विनय पिटकों, इत्यादि विभिन्न बौद्ध रचनाओं और कथाओं का एक तरह का "संकलन" था। बुद्ध के जीवन की सुविदित घटनाओं का उल्लेख भी किया गया है, लेकिन वर्णन प्रायः अपूर्ण ही है और मात्र आरंभिक अंशों का ही उल्लेख किया गया है – संभवतः धर्मानुयायियों को घटनाओं की याद दिलाना ही काफ़ी था। उदाहरण के लिए, बुद्ध के दूसरे बनारस प्रवचन की कथा की चर्चा करते हुए केवल इसका आरंभ दिया गया है और बुद्ध के प्रमुख शिष्यों के नाम गिनाये गये हैं; फिर उस अवदान का हवाला दिया गया है, जहां यह कथा सविस्तार दी गई है। कुछ संक्षिप्त कथाएं जातक कथाओं से मिलती-जुलती हैं, उदाहरणतः, कछुए की कथा (जातक नं० २८३), ढोल की कथा (जातक नं० ५९), इत्यादि। सौभाग्यवश, इस ग्रंथ का कोलाफ़ोन (अंतिम पृष्ठ) बचा रहा है, जिसमें सर्वास्तिवाद की प्रमुख रचनाएं गिनाई गई हैं। इसके फलस्वरूप हम इस सम्प्रदाय के "अनुशासन नियमों" की कल्पना कर सकते हैं (इससे पहले ऐसी कोई जानकारी नहीं थी)।

इसमें लिपिकार का नाम भी दिया गया है, जो स्वयं सर्वास्तिवाद का अनुयायी था। यह तथ्य मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का स्वरूप निर्धारित करने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। सुदूर पूर्व के ग्रंथों से तथा पुरातत्वीय सामग्री से प्राप्त जानकारी के साथ इस लिखित प्रमाण को देखते हुए निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि मध्य एशिया में सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का प्रभाव काफ़ी अधिक था। इस निष्कर्ष की पुष्टि भारत के अधिक पुराने लिखित सूत्रों और पुरालेखीय सामग्री से तथा कारा तेपे की पुरातत्वीय सामग्री से भी होती है, जो यह इंगित करती है कि तेर्मेज़ के इलाके में महासांघिकों के अलावा सर्वास्तिवादी भी थे। ईसवी संवत् के आरंभ के शिलालेखों से यह ज्ञात है कि पेशावर और कश्मीर ही सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के प्रमुख केंद्र थे। प्रत्यक्षतः कश्मीर ही वह स्थान था, जहां से बौद्ध शिक्षा के अनुयायी मध्य एशिया पहुंचे। सातवीं सदी ई० में इत्सिंग ने भी कश्मीर को सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का एक

प्रमुख गढ़ माना था। बौद्ध तीर्थयात्री दिलचस्प डायरियां छोड गये हैं। इनमें मध्य एशिया के हीनयान पंथी बौद्ध सम्प्रदायों का भी उल्लेख मिलता है। उदाहरणतः, हम जानते हैं कि खुत्तल में हीनयान प्रचलित था। उल्लेखनीय है कि मध्य एशियाई मूल के भिक्षुओं द्वारा चीनी भाषा में अनूदित अधिसंख्य रचनाएं हीनयान से संबंधित थीं। परंतु हीनयान के साथ-साथ सातवीं-आठवीं सदियों में मध्य एशिया के कई इलाक़ों में महायान का भी प्रचलन था, जिनके अनुयायी, इत्सिंग के शब्दों में, बोधिसत्वों की उपासना और महायान के सूत्रों का पाठ करते थे।

चीनी तीर्थयात्रियों के अनुसार तुखारिस्तान की राजधानी बल्ख में प्रायः एक सौ बौद्ध विहार थे, जिनमें लगभग तीन हज़ार भिक्षु रहते थे। इन यात्रियों के अनसार ये भिक्षु हीनयानी थे। हुएनत्सांग की डायरी में तेर्मेज़ में बौद्धों के कोई दस विहार होने का उल्लेख मिलता है, जिनमें एक हज़ार भिक्षु रहते थे। इस प्रकार लिखित जानकारी पुरातत्वीय उत्खनन की सामग्री से प्राप्त जानकारी से अच्छी तरह मेल खाती है।

उत्तर कुषाण काल के बौद्ध स्मारक तुखारिस्तान के अलावा मध्य एशिया के दूसरे भागों में भी मिले हैं। लिखित स्रोतों, मुख्यतः चीनी ग्रंथों से भी इनके अस्तित्व की पुष्टि होती है। चीनी इतिवृत्तों बेए-शी और सुय-शू में यह बताया गया है कि कान (सोग्द) देश की आबादी बुद्ध की शिक्षा का अनुसरण करती थी। सुविख्यात बौद्ध उपदेशक संघवर्मा भी इसी देश के थे। यह भी ज्ञात है कि आठवीं सदी के आरंभ में समरकंद में एक बौद्ध विहार था।

बौद्ध धर्म का सोग्दी दस्तावेज़ों पर भी निश्चित प्रभाव पडा (सोवियत विद्वान व० लीव्शित्स ने इन दस्तावेज़ों का अध्ययन करके इन्हे प्रकाशित किया है)। बेशक, सोग्द में बौद्ध स्मारक अभी तक नहीं मिले हैं, लेकिन पजीकंद की सामग्री को ध्यान में रखते हुए यह आशा की जा सकती है कि ये खोज लिये जायेंगे। मध्य एशिया के दूसरे इलाक़ों में बौद्ध धर्म के प्रसार के विपुल पुरातत्वीय प्रमाण उपलब्ध हैं।

जेती-सू (सेमिरेच्ये, सप्तनद) में दो बौद्ध मंदिरों का उत्खनन हुआ है। इनमें पहला (अक-बेशीम उत्खनन स्थली) ७६×२२ मीटर का आयताकार भवन है। चैत्य के प्रवेशद्वार के पास के एक मंडप में दो आधार पीठिकाएं मिली हैं, जिनपर प्रत्यक्षतः बुद्ध की मूर्तियां स्थापित थीं। इस अनुमान का समर्थन एक विशाल मूर्ति के पांव और टांग के अवशेषों की खोज से होता है (पांव की लंबाई ०.८ मीटर है)।

यहां पर उत्खनन कार्य के संचालक प्रो० ल० किज़्लासोव के अनुसार चैत्य में बुद्ध की कांस्य मूर्ति थी – चैत्य में आधार पीठिका के पास छोटे-छोटे कांस्य अवशेष मिले हैं।

दूसरे मंदिर का चैत्य भी काफ़ी बडा था – १०.५×१० मीटर (यहां उत्खनन कार्य ल० ज़्याब्लिन के संचालन में हुआ)। आलों में आधार पीठिकाएं बची रही हैं, जिन पर, संभवतः, बुद्ध की मूर्तियां रखी हुई थीं। अंशों से यह पता चलता है

कि दीवारों पर चित्र बने हुए थे। भित्तिचित्रों के अवशेषों में बोधिसत्व के विशाल सिर का चित्र विशेषतः ध्यान आकर्षित करता है।

ये सामग्रियां स्पष्टतः इस बात की साक्षी हैं कि ईसवी संवत् की पहली सदियों में सेमिरेच्ये में बौद्ध धर्म प्रचलित था। कूवा में बौद्ध मंदिर का उत्खनन यह बताता है कि फ़रग़ना की आबादी बौद्ध धर्म से परिचित थी। यहां बुद्ध की विशाल आकृति के टुकड़े (सिर, बांह का अंश, आदि) मिले हैं।

प्रो० लित्वीन्स्की के निदेशन में दक्षिणी ताजिकिस्तान में हाल ही के वर्षों में किये गये उत्खननों के फलस्वरूप ताजिकिस्तान की राजधानी दुशांबे से ८० किलोमीटर दूर एक बौद्ध मंदिर मिला है, जिसका तिथ्यांकन छठी-आठवीं सदी ई० किया गया है। इसके केंद्र में वर्गाकार (४.७×४.६ मी०) चैत्य था, जिसमें एक ही अक्ष पर दो प्रवेशद्वार थे। इसके तीन ओर परिक्रमा गलियारा था, जबकि चौथी ओर एक प्रवेश-द्वार के सामने चौकोर प्रवेशमंडप था, जिससे सटा एक अहाता था। उत्खनन से यह लगता है कि वर्गाकार चैत्य के कोनों में विशेष आधार पीठिकाओं पर लोकपालों की मृण्मूर्तियां थीं, केंद्र में, एक आले में, बैठे हुए बुद्ध की मूर्ति थी। आकृतियों की संख्या को देखते हुए इस मंडप का नाम "नौ मूर्तियों का मंडप" रखा गया है। गलियारे में भिक्षु तथा गृहस्थ बौद्ध प्रदक्षिणा करते थे, आधार पीठिकाओं पर बुद्ध की मूर्तियां रखी हुई थी। गलियारे की दीवारों और मेहराबी छत पर बने चित्रों में भी यह अनु-ष्ठान प्रतिबिम्बित हुआ है; भिक्षुओं के पीछे सम्भ्रांत महिलाएं चल रही हैं, उनके हाथ मे बुद्ध को अर्पण करने के लिए कमल-पुष्प हैं। भित्तिचित्र के ऊपरी भाग में बुद्ध और उनके शिष्यों की आकृतियां बनी हुई हैं। पुराविदों द्वारा खोजे गये भित्ति-चित्रों और मूर्तियों के अवशेष स्थानीय शिल्पियों के उच्च कौशल के साक्षी हैं, जिन्होंने भारतीय और मध्य एशियाई कला-परम्पराओं का सृजनात्मक समामिलन किया।

अभी कुछ वर्ष पहले तक बाख़्त्री-तुख़ारिस्तान के इलाक़े पश्चिम में बौद्ध धर्म के प्रचार की अंतिम सीमा माने जाते थे। लेकिन हाल ही के पुरातत्वीय कार्यों के फल-स्वरूप सदियों तक ज़रथुष्ट्र धर्म का एक गढ़ रहे मुर्ग़ाब नख़लिस्तान के सबसे बड़े नगर मेर्व में बौद्ध स्मारक मिले हैं।

पार्थियाई आबादी के बीच बौद्ध धर्म के प्रचार का परोक्ष प्रमाण लिखित स्रोतों से प्राप्त यह सूचना है कि द्वितीय शती ई० में चीन में बौद्ध धर्म के सक्रिय प्रचारकों में एक उच्चतः शिक्षित पार्थियाई राजकुमार आन शी-गाओ था (यह उसके नाम का चीनी लिप्यंतरण है, जिसमें आन शी अर्शाक नाम के लिए है)। प्रत्यक्षतः, ईसवी संवत् की पहली सदियों में ही बौद्ध व्यापारी आमू दरिया के बिचले मैदान में बायें तट पर पहुंचने लगे, जहां अर्शाकी साम्राज्य की पूर्वी सीमा थी, और फिर मुर्ग़ाब घाटी में भी।

बौद्ध समुदायों के इस प्रकार बढ़ने का एक प्रत्यक्ष प्रमाण है आमू दरिया के बायें तट पर काराबेकाऊल बस्ती के पास अक क़ला में मिली पक्वमृदा मूर्तिका।

पुरातत्वीय और शैली विशिष्टताओं को देखते हुए इस मूर्तिका का तिथ्यांकन दूसरी-चौथी सदी ई० किया गया है। यह ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए बोधिसत्व की मूर्ति है। बोधिसत्व का चेहरा चौड़ा, भरा-पूरा है, आंखें अधखुली और कानों के लोलक लटके हुए। शिरोवस्त्र पर उद्भृत वृत्त बने हुए हैं, शरीर अर्धनग्न है, कंठ में माला और एक कंधे से दूसरे कंधे तक कामदार ज़ंजीर पड़ी हुई है, बांहों पर और धड़ के निचले भाग पर हल्का कपड़ा लिपटा हुआ है। मूर्तिका अच्छे सांचे से बनाई गई है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस मूर्तिका को बनाने में एक ख़राबी रह गई थी – पीठ की ओर मृदा को लपेटा देकर ढेला सा बनाकर छोड़ दिया गया था, और कुछ जगह पर इसमें परतें निकली हुई हैं। कहना न होगा कि सच्चा बौद्ध दूर देश से ख़राब मूर्तिका न लाता, बल्कि उच्च कोटि की मूर्तिका ही स्वदेश लेकर आता। प्रत्यक्षतः, अक कला का बोधिसत्व यहीं पर बनाया गया था (अन्य अनेक मूर्तियों के साथ, जो हाथों-हाथ बिक गईं)। लेकिन सबसे दिलचस्प है मेर्व में दो बड़े बौद्ध स्मारकों की खोज। यहां उत्तरपार्थियाई मर्गियान के और ससानी शासक शाहपुर प्रथम के जो सिक्के मिले हैं, उन्हें देखते हुए इन दो स्मारकों में अधिक पुराने का तिथ्यांकन तीसरी सदी का मध्य किया गया है। यह संघाराम और स्तूप का समुच्चय है। यह उस विशाल नगर के दक्षिण-पूर्वी बाह्यांचल में स्थित था, जिसे यूनानी-रोमन लेखक मर्गियान एंतिओख़ कहते थे।

स्तूप तीसरी सदी के मध्य में कच्ची ईंट से बनाया गया था और इसकी ऊंची आधार पीठिका थी (१३×१३ मीटर)।

चौथी सदी के अंत और पांचवीं सदी के आरंभ में स्तूप का आमूल पुनर्निर्माण हुआ, जिससे वह लगभग ६ मीटर व्यास का बेलनाकार स्तूप बन गया, जिसका शीर्ष प्रत्यक्षतः अखंड गुम्बद के रूप में था। उत्तरी ओर से खुला और सीधा ऊपर को जाता अनेक सीढ़ियों वाला ज़ीना बनाया गया, जिसके कोने बाहर को निकले हुए थे। सामने की ओर बाड़दार प्रांगण बना। आधार पीठिका के उत्तर की ओर के कोनों पर कच्ची ईंट से दो छोटे-छोटे बेलनाकार स्तूप बनाये गये, इनके केवल गोल आधार ही बचे हैं। प्रत्यक्षतः, इसी समय बुद्ध की विशाल मृण्मूर्ति भी बनाई गई।

बाद में यह बौद्ध समुच्चय नष्ट कर दिया गया, लेकिन भक्तों ने बुद्ध मूर्ति के सिर को ध्यान से ज़मीन में दबा दिया।

बुद्ध मूर्ति के सिर की ऊंचाई ७५ सेंटीमीटर है। यह बौद्ध कला रूढ़ि के अनुसार बनाया गया था। सिर के अंदर किन्हीं टहनियों, आदि के ढांचे से मज़बूत किया गया मृदा पिंड था, उसके ऊपर अधिक घनी मृदा की परतें चढ़ाई गई थीं, जिनपर आकृति बनाई गई। केशकुंडल अलग से बना-बनाकर सिर पर चिपकाये गये थे। बुद्ध का चेहरा भरा-पूरा है, यह प्रायः वर्गीय अंडाकार रूप का है, नाक-नक़्शा सौम्य है, ऊपर की उभरी-उभरी, अधमुंदी पलकों तले तिरछी काटवाली आंखें हैं, पलकों से गहरी परछाईं पड़ती है। चेहरे पर रंग की तीन परतों के अवशेष हैं – गुलाबी,

पीला और लाल रंग, जो यह बताता है कि मूर्ति को समय-समय पर फिर से रंगा जाता था। केश और आंखों पर आसमानी रंग किया गया था तथा होंठों पर चटक लाल।

दूसरा बौद्ध समुच्चय मेर्व के पूर्वी परकोटे के बाहर था। इसके स्तूप के कुछ ही अंश बचे हैं। उत्खनन के समय यहां एक कलश मिला, जिसमें तरह-तरह की कई चीजें हैं। इनमें खुसरो प्रथम (५२३-५७४ ई०) के १५ सिक्के, भोजपत्र पर स्याही से ब्राह्मी लिपि में संस्कृत में भिक्षुओं के लिए लिखे उपदेश के अंश (आजकल इनका जीर्णोद्धार किया जा रहा है), नक़्क़ाशीदार अस्थि वस्तुएं, अंगूठियों के लिए अंडाकार रत्न (भारतीय कार्नेलियन, श्रीलंका का गार्नेट) तथा प्रस्तर मूर्तियों के पांच छोटे-छोटे टुकड़े हैं।

सिक्कों की मदद से इस समुच्चय के अस्तित्व के अंत का समय निर्धारित किया जा सकता है। यह छठी सदी है। लेकिन यह कहना कठिन है कि इस कलश का केंद्रीय स्तूप से कोई संबंध है या नहीं। पांचों मूर्ति-अंश गांधार कला के लाक्षणिक नमूने हैं। इन्हें कोई बौद्ध भारत से मेर्व लाया होगा या हो सकता है, कोई स्थानीय व्यापारी, जो उत्तर-पश्चिमी भारत के साथ व्यापार करता होगा और जिसने ये अंश मध्य एशिया के बौद्ध विहारों से लिये होंगे।

पंजीकंद में, जहां कई वर्षों से सोवियत पुराविद उत्खनन कार्य कर रहे हैं, भित्तिचित्रों की खोज भारत और मध्य एशिया के सांस्कृतिक संबंधों को अध्ययन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। पंजीकंद के भित्तिचित्रों से, जिन्हें संसार भर में ख्याति मिली है, भारत, अफ़ग़ानिस्तान और ईरान के साथ मध्य एशिया के प्राचीन संबंधों के बारे में विद्वानों को मूल्यवान सामग्री मिली है। इन भित्तिचित्रों में कई दृश्य तो भारतीय कला के प्रत्यक्ष समरूप हैं, और उत्खनन कार्यों के संचालक प्रो० अ० बेलेनी-त्स्की का यह कहना बिल्कुल सही है कि पंजीकंद के भित्तिचित्र अनेक सूत्रों द्वारा भारतीय कला से जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए चौपड़ का दृश्य भरहुत की उद्भृत मूर्तियों और अजंता के भित्तिचित्रों से समानता रखता है। दिलचस्प बात यह है कि पंजीकंद में खुदाई के दौरान पासा मिला है। प्राचीन सोग्द के एक दूसरे स्थान मुग पर्वत पर भी लकड़ी का पासा मिला है।

पंजीकंद के दृश्य में प्रत्यक्षतः राजा चित्रित है, उसके सिर के प्रभा-मंडल से ज्वालाएं उठ रही हैं। उसके साथ खेलने वाला भी कोई विशिष्ट व्यक्ति है: उसके सिर के गिर्द भी प्रभा-मंडल है और वस्त्र भी असाधारण हैं, चोग़े के स्थान पर वह संघाटी ओढ़े है। बैठे खिलाड़ी की मुद्रा भी काफ़ी विचित्र है: उसके टांगें फैला रखी हैं। प्रो० बेलेनीत्स्की इस दृश्य की तुलना एक जातक कथा से करते हैं, जिसमें राजा और मंत्री के चौपड़ खेलने का ज़िक्र है। सुविदित है कि बौद्ध प्रतिमाविज्ञान में ज्वालाएं प्रायः विशिष्ट स्थिति का, राजा का भी प्रतीक होती थीं। प्रो० बेलेनीत्स्की द्वारा प्रस्तावित व्याख्या अंतिम तो नहीं है, किंतु इसका मध्य एशिया और भारत के सांस्कृ-

तिक संबंधों की सामान्य दिशा के साथ मेल बैठता है। पंजीकंद में एक ऐसा भित्ति-चित्र भी मिला है, जिसमें व्याघ्रचर्मधारी "नीला नर्तक" चित्रित है और उसके पीछे त्रिशंकु बना हुआ है। प्रो० बेलेनीत्स्की उचित ही यह मानते हैं कि इस "नीले नर्तक" का प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से मूल शिव का चित्रण ही है। बेशक "नीला नर्तक" पूरी तरह से शिव का मान्य चित्र प्रस्तुत नही करता, उसका चित्र शायद ही इस बात का साक्षी है कि पजीकंद के इलाक़े में शिवपूजक थे। "नीला नर्तक" इस बात का ज्वलंत उदाहरण है कि किस प्रकार स्थानीय शिल्पियों ने पड़ोसी देश भारत से ग्रहण किये गये बिम्ब को अपने ढंग से ढाला।

पंजीकंद को उचित ही सोग्दी चित्रकला का महासागर कहा जा सकता है। यहां

नटराज शिव। पंजीकंद। (रैखिक पुनर्कल्पन)

भित्तिचित्र भांति-भांति के भवनों – महल में, मंदिर में, समृद्ध नगरवासियों के घरों – मे मिले हैं। पजीकंद के भित्तिचित्रों में "शोक दृश्य" विशेषत: उल्लेखनीय है। यह आदि मध्य युग की सोग्दी कला का और शायद सारी पूर्वी कला का ही एक रत्न है। रचना के केंद्र में मृत युवक है। उसे समाधि में, शायद, विशेष खेमे में रखा गया है। दिवगत युवक के पीछे शोक मनाने वाली औरतें हैं, जो अपना सिर धुन रही हैं। नीचे समाधि के आधार के पास श्वेत वस्त्रधारी तीन आकृतियां हैं। इनमें दो ने मोटी मूठ वाली वस्तुएं, संभवत:, मशालें पकड़ रखी हैं और एक बिना दस्ते का पात्र पकड़े है। इससे भी नीचे चार पुरुष और एक स्त्री बने है, तथा इनके आगे दो और आकृतियां हैं। चित्रकार ने चित्रित व्यक्तियों का शोक बहुत ही अच्छी तरह व्यक्त किया है। दुखभरे चेहरे, शोकमय आंखे, खुले बाल, बहुतो के शरीर और चेहरे पर खरोंचे व चीरे हैं। दो पुरुष कटार से अपने कानों के लोलकों पर चीरा लगाते दिखाये गये हैं। एक पुरुष दिवगत युवक के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और उसकी मृत्यु पर अपार शोक के कारण मानो अपनी नाक बींध रहा है। इस अंश से बाईं ओर कुछ कम अच्छी हालत में तीन देवियों के चित्र बचे रहे हैं, एक देवी के कई हाथ हैं। उन्होंने अपने हाथ सिरों की ओर उठा रखे हैं, प्रत्यक्षत: वे भी शोक प्रकट करने वालियों की गतियां दोहरा रही हैं। कुछ शोधकर्त्ताओं का मत है कि श्वेत वस्त्रधारी लोग सोग्दी हैं, जबकि लाल और पीले-कत्थई वस्त्र पहने, उभरे गालों और तिरछी आंखों वाले लोग तुर्क हैं। यदि ऐसा है तो इसका अर्थ है कि अंत्येष्टि में स्थानीय मूल के निवासियों के साथ आप्रवासी भी भाग ले रहे हैं, जिन्होंने स्थानीय परम्पराएं और विश्वास ग्रहण कर लिये हैं। सोग्दी और तुर्क, मानव और देवता किसकी मृत्यु पर शोक मना रहे हैं? इस प्रश्न पर शोधकर्त्ताओं के विचार भिन्न-भिन्न हैं। कुछ का कहना है कि इस दृश्य में परलोक के बारे में मानीवादियों के दृष्टिकोण व्यक्त हुए हैं, जबकि दूसरे इस दृश्य में मध्य एशियाई साहित्य और कला के लोकप्रिय पात्र – सियावुश – की मृत्यु की कथा से समानता पाते हैं। सियावुश और उसकी मृत्यु की कथा को फ़िरदौसी के 'शाहनामा' में भी स्थान मिला है और दसवीं सदी के बुख़ारा के इतिहासकार नेरशाह ने भी इसका उल्लेख किया है। लिखित स्रोतों से हम यह जानते हैं कि सोग्द मे सियावुश की पूजा का प्रचलन था, लेकिन यह कहना कठिन है कि पंजीकंद का शोक दृश्य सियावश की मृत्यु के कथानक से संबंधित है या नहीं।

संभाव्य सादृश्य के तौर पर बुद्ध के निर्वाण का वर्णन इंगित किया जा सकता है, जो हम बौद्ध ग्रंथों और सर्वप्रथम महायान की रचनाओं से जानते हैं। शोक दृश्य मे मनुष्य भी और देवता भी भाग ले रहे हैं, यही नहीं, लोग अपने को ऐसी यंत्रणा पहुचा रहे हैं कि उनके शरीर से रक्त धरती पर गिर रहा है और वहां उसकी नदी बह रही है। बेशक पंजीकंद के दृश्य मे प्रत्यक्ष बौद्ध प्रतीक नहीं है, लेकिन वर्णन में समानता निर्विवाद है और इसलिए ध्यातव्य है, विशेषत: यदि हम पंजीक़द की

सोग्दी कला और भारतीय कला के बीच दूसरे सादृश्यों का होना ध्यान में रखें।

साथ ही इस बात पर भी ज़ोर देना चाहिए कि चित्रकार ने शोक और आत्म-यंत्रणा के जो दृश्य बनाये हैं, वे इतिवृत्तात्मक हैं। अल-बरूनी ने भी लिखा था कि सोग्दी लोग शोक मनाते समय अपने चेहरे पर घाव कर लेते हैं।

वरख़्श में मिले महल के भित्तिचित्र बहुत रोचक हैं। यहां प्रो० व० शीश्किन ने कई वर्षों तक अनुसंधान कार्य किया। वरख़्श महल के लाल कक्ष में सभी भित्तिचित्र एक कथानक से संबंधित हैं। यहां हाथी पर सवार लोगों द्वारा अजीबोग़रीब वन्य जीवों का शिकार दिखाया गया है। सारी रचना को अलग-अलग दृश्यों में बांटा गया है : हर दीवार पर हाथी पर सवार लोग तथा भीमकाय जानवरों – चीतों, सपक्ष सिंहों, बाघों, शेरों – से उनका संघर्ष दिखाया गया है। कक्ष की लाल पृष्ठभूमि सभी दृश्यों को एक सूत्र में पिरोती है। हाथी पर राजा और युवा सेनानी तथा महावत

एक चतुर्भुज देवता। पंजीकंद। (रैखिक पुनर्कल्पन)

बैठे हैं। वे जानवरों का निर्भीकतापूर्वक सामना कर रहे हैं। हाथी पर सवार होकर शिकार करने का विचार प्रत्यक्षतः भारत से लिया गया है, क्योंकि मध्य एशिया में ऐसी विधि ज्ञात नहीं थी।

दिलचस्प बात यह है कि हाथी काफ़ी अजीब से, बल्कि सही-सही कहा जाये, तो कुरूप भी बनाये गये हैं – धड़ बहुत लंबा है और टांगें छोटी। हाथियों के बाहरी दांत भी ठीक नहीं बनाये गये हैं, वे ऊपरी जबड़े से नहीं, निचले जबड़े से निकले हुए हैं। संभवतः चित्रकार कभी भारत नहीं गया था, उसने कभी हाथी नहीं देखे थे, इसलिए विभिन्न वर्णनों के आधार पर ही उसने उनका बिम्ब बनाया था। चित्रकार ने हाथी को घोड़े जैसी लगाम के साथ दिखाया है, महावत भी गर्दन पर नहीं, सिर पर बैठा है। कुछ दूसरे दृश्यों में तो सवारों के लिए रकाबें तक दिखाई गई हैं।

इस भित्तिचित्र की अजंता के साथ निश्चित समानता है, वस्त्र, आभूषण, इत्यादि मिलते-जुलते हैं। लाल कक्ष में जहां एक ही रचना को विभिन्न दृश्यों में बांटा गया है, वहीं पूर्वी कक्ष में या जैसा कि इसे कहा जाता है, पीले सपक्ष ऊंट के कक्ष में हर दीवार पर अपने आप में सम्पूर्ण रचना चित्रित है। दक्षिणी दीवार का भित्ति-चित्र विशेषतः रोचक है। यहां पीले सपक्ष ऊंटों से सुसज्जित सिंहासन पर बैठा राजा चित्रित है। उसके बाईं ओर चषक लिये कुछ लोग हैं, तथा दाईं ओर यज्ञ वेदी के सामने, जिसमें आग जल रही है, कुछ लोग खड़े हैं। यह प्राचीन वरख़्श के दरबारी जीवन का एक दृश्य है। यहां राजा शासक भी है और सर्वोच्च पुरोहित भी। सपक्ष ऊंट का चित्र मध्य एशिया में मिले एक चांदी के पात्र पर भी पाया गया है, यह पात्र लेनिनग्राद के हर्मिताज संग्रहालय में है। इसे ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त डिज़ाइन का आधार मध्य एशियाई ही है। वरख़्श में सभी भित्तिचित्र, मध्य एशिया के ऐसे दूसरे सभी स्मारकों की ही भांति, मृदा के पलस्तर पर गोंद मिले रंगों से बनाये गये हैं। सूखे पलस्तर पर चित्र बनाने की यह विधि भारत (अजंता), अफ़ग़ानिस्तान (बामियान) और दुनहुआन की सहस्रबुद्ध गुफा तक में पाई जाती है। लेकिन कुल जमा वरख़्श के भित्तिचित्र मध्य एशियाई कला ही है, जिसका मूल स्थानीय कला परम्परा में है और जिसका सादृश्य मध्य एशिया की दूसरी कला धाराओं (पंजीकंद, बालालीक तेपे) से है। संभव है कि ये परम्पराएं कुषाण युग से, अधिक प्राचीन बाख़्त्रीय-तुख़ारिस्तानी कला धारा से चली आ रही हों।

मध्य एशियाई मूर्तियों की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए, क्योंकि इसके कुछ नमूनों में हम भारतीय संस्कृति का, भारत की मूर्तिकला की विभिन्न धाराओं का स्पष्ट प्रभाव पाते हैं।

वरख़्श में एक किन्नरी की मूर्ति मिली है। ऐसी ही दो मूर्तिकाएं पंजीकंद में भी मिली हैं, जहां लगता है कि वे किसी इमारत में मेहराब की सज्जा का अंग थीं। भारतीय कला में तो इससे काफ़ी पहले से ही किन्नरी का बिम्ब प्रचलित रहा है।

किन्नरी। गच मूर्तिशिल्प। वरख्शा। (पुनर्कल्पित)

हाल ही में इलाहाबाद के पास प्राचीन भारतीय नगर कौशाम्बी के उत्खनन में महत्त्वपूर्ण खोजें हुई हैं। शक-कुषाण काल के संस्तर में सपक्ष आकृतियां मिली हैं, जिनमें किन्नरियां भी हैं। दिलचस्प बात यह है कि पंजीक़ंद में किन्नर-किन्नरियों की जोड़ी चित्रित है और भारतीय कला में भी ऐसे जोड़े पाये जाते हैं। सांची और भरहुत की उद्भृत मूर्तियों में ऐसे जोड़े हैं। भारतीय साहित्य में भी किन्नर और किन्नरी के जोड़े का बिम्ब प्रचलित है।

एक ओर यह अनुमान व्यक्त किया गया है कि ईसवी संवत् की पहली सदियों में किन्नरी का बिम्ब भारत से मध्य एशिया में पहुंचा, लेकिन दूसरी ओर यह भी संभव है कि यह बिम्ब ईरान और अफ़ग़ानिस्तान से, जहां यह काफ़ी पहले से प्रचलित था, मध्य एशिया में ग्रहण किया गया हो।

पंजीक़ंद में काष्ठ मूर्तियां पाई गई हैं और हम यह जानते हैं कि भारत में ऐसी

मूर्तियों का व्यापक प्रचलन था। पंजीक़ंद में मिली नर्तकी की आकृति में भारतीय कला के अनेक लक्षण हैं। जलवायु काष्ठ मूर्तियों को नष्ट करती रही – इसलिए इनके बहुत थोड़े से ही नमूने अब मिलते हैं। पंजीक़ंद की मूर्तियां किसी सुसंयोग से आग में पूरी तरह नष्ट नही हुईं, बस झुलसकर रह गईं और इस तरह जलवायु के विनाश-कारी प्रभाव से बच गईं।

लकड़ी पर नक़्क़ाशी उल्लेखनीय है। इसमें सपक्ष सिंहों की शोभा यात्रा तथा पीठ से पीठ मिले दो जीवों के रूप में बने सिहासन पर बैठी आकृति बनी हुई है। भारतीय ललित कला में सपक्ष सिंह का चित्रण कोई विरली बात नहीं है। पाट-लिपुत्र के महल के उत्खनन में सिंहासनाधार में सपक्ष सिंह मिले हैं। प्रत्यक्षत: भारतीय संस्कृति मे अख़ामनीषी ईरान से सपक्ष सिंह का बिम्ब लिया गया। था। मुमकिन है कि पंजीक़ंद में मिला सपक्ष सिंहो की शोभा यात्रा का दृश्य भारत से संबंधित न हो, बल्कि पूर्ववर्ती काल में ईरान के साथ मध्य एशिया के घनिष्ठ संबंधों को प्रति-बिम्बित करता है।

पंजीक़ंद के मंदिर के एक आंगन के उत्खनन में पुराविदों को मिट्टी की उद्भृत मूर्तियां मिली हैं, जो आंगन की सभी दीवारों पर बनी हुई थीं। इनमें प्लावन का दृश्य, सेनानी और जल में तैरते विभिन्न जीव अंकित हैं। मानव आकृतियों के साथ यहां सूंसें, मुंह खोले भयावह जीव और पास ही खड़ा मीनमानव (ट्रीटन) भी है। अंतिम दो आकृतियों की व्याख्या सबसे अधिक रोचक है। मीनमानव की आकृति को यदि अलग से लिया जाये तो वह हमें प्राचीन यूनानी कला के जगत में ले जाती है, लेकिन यदि साथ वाली आकृति से जोड़कर देखा जाये, तो इसका अंतर्य दूसरा ही हो जाता है, जो भारत और अफ़ग़ानिस्तान की संस्कृति से संबंधित है।

खुले मुंह वाला भयावह जीव मकर ही है – भारतीय कला में सर्वाधिक प्रचलित एक मिथकीय बिम्ब। इसके साथ प्राय: ऐसा जीव चित्रित किया जाता है, जो मीन-मानव की याद दिलाता है। बौद्ध कला में मकर और मीनमानव का चित्रण बहुत प्रचलित हुआ। प्राय: मकर को जल शक्ति का प्रतीक माना जाता है, यह बात पंजी-क़ंद की उद्भृत मूर्तियों के सामान्य विचार से अच्छी तरह मेल खाती है। इसे देखते हुए पंजीक़ंद में जल देवता की पूजा की चर्चा की जा सकती है। हो सकता है, मूर्तिकार का अभिप्राय ज़ेरावशान नदी की पूजा से रहा हो, यह नदी ही सोग्द की धरती को जल प्रदान करती है। यहां सादृश्य के तौर पर भारत की वे उद्भृत आकृतियां इंगित की जा सकती हैं, जिनमें गंगा-यमुना अंकित हैं। मानव आकृतियां इन नदियों की देवियों हैं। ये देवियां जल जीवों परं, जिनमें मकर भी होता है, खड़ी होती हैं। ज़ेरावशान की पूजा का संकेत इसके सोग्दी नाम में भी निहित है, सोग्दी भाषा में यह नदी "नामिक" कहलाती थी, और इस शब्द का अर्थ था "गुणगान करना"।

सोग्द की चित्रकला और मूर्तिकला पर भारतीय प्रभाव सामान्य कला परम्पराओं का भी और सीधे संबंधों का भी फल है। पंजीक़ंद में कुछ साल पहले एक भांड के

अंश पर संस्कृत अभिलेख मिला था – यह तथ्य इस नगर में किसी भारतीय का आना इंगित करता है।

आदि मध्ययुगीन मध्य एशिया की और शायद सारे पूरब की ही चित्रकला का एक विलक्षण नमूना प्राचीन समरक़ंद की चित्रकला है, जिसकी खोज सोवियत विद्वानों ने पिछले वर्षों में प्राचीन समरक़ंद की स्थली – **अफ़्रासिआब** – में की है। अपनी २५०० वीं जयंती मना चुके समरक़द के इतिहास में अनेक स्वर्णिम पृष्ठ हैं। यह संसार के उन प्राचीनतम नगरों में से एक है, जो आधुनिक काल तक बड़े नगर केंद्रों के रूप में बने रहे हैं।

अभी कुछ समय पहले तक हम समरक़ंद के १६वीं-१७वीं सदियों के वास्तुकला स्मारक देखकर ही प्रभावित होते थे, परंतु अब हम छठी-सातवीं सदियों के सोग्दी कलाकारों की कृतियों का भी रसास्वादन कर सकते हैं। समरक़द प्राचीन रोम का समसामयिक नगर है ; पुराविदों ने अफ़्रासिआब में प्रथम शती ई० पू० के सांस्कृतिक संस्तरों का उत्खनन किया है। चौथी सदी ई० पू० में मरकंदा (समरक़द) ने सिकंदर महान की सेनाओं के हमले झेले थे और यूनानियों-मकदूनियों के ख़िलाफ़ स्पितामेन नामक सेनापति के नेतृत्व में सोग्दियों के संघर्ष का केंद्र बना था। छठी-सातवीं सदी ० में समरक़ंद की फिर से उन्नति हुई, इसका व्यापार और दूसरे देशों के साथ संबंध बढ़े। अफ़्रासिआब का उत्खनन करने पर पुराविदों ने उस काल के एक वास्तु-समुच्चय के अवशेष पाये हैं। प्रत्यक्षतः यह समरक़ंद के शासक का प्रासाद था। मृदा की ३-३.५ मीटर ऊंची और ख़ूब मोटी दीवारें बची रही हैं। ११×११ मीटर आकार के एक मंडप में भित्तिचित्र मिले हैं। दक्षिणी दीवार पर विशाल चित्र है: एक भव्य कारवां एक मंडप की ओर बढ़ रहा है, जिसमें कुछ लोग, प्रत्यक्षतः, पथिकों का स्वागत कर रहे हैं। कारवां के आगे-आगे सफ़ेद हाथी है, जिसकी पीठ पर पालकी है। हाथी के चित्र के कुछ अंश ही बचे हैं। हाथी की पीठ पर बेलबूटेदार झूल और गले में घंटी है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पालकी में कोई सम्भ्रांत महिला या शायद राजकुमारी बैठी है, उसके साथ एक दासी भी चित्रित है। हाथी के पीछे-पीछे तीन घोड़े चित्रित हैं, जिनके ऊपर दरबारी महिलाएं सवार हैं। एक आकृति बहुत अच्छी दशा में बची रही है और हम महिला का परिधान देख सकते हैं। वह लाल क़मीज़, पीली सलवार और काले जूते पहने है। उसके कंधे पर दुपट्टा है, हाथों में चूड़ियां। एक महिला की बांह पर सोग्दी भाषा में संक्षिप्त अभिलेख है। "रानी की सखी"। संभ्रांत महिलाओं के पीछे ऊंटों पर दो पुरुष हैं। इनमें एक काफ़ी जवान है, गोरे चेहरे, पतली-पतली मूंछों और छोटी-सी काली दाढ़ी वाला, दूसरा सफ़ेद दाढ़ी वाला सांवला वृद्ध है। इन व्यक्तियों के उच्च पद का पता इस बात से चलता है कि इनके हाथों में दंड हैं। दोनों पुरुष अस्त्रों से सुसज्जित हैं – उनकी कमर पर तलवारें और कटारें लटक रही हैं। यहीं पर भारी भेंट – घोड़ों का झुंड (इनकी टांगें चित्र के ऊपरी भाग में बची रही हैं) और श्वेत पक्षी हैं।

प्रत्यक्षत पक्षियो के चित्रण का कोई विशेष अर्थ था, क्योकि इन्हें चित्र के विन्यास मे एक केंद्रीय स्थान प्राप्त है। पक्षियो के साथ दो सशस्त्र पुरुष हैं, जिनके चेहरे का निचला भाग सफ़ेद पट्टी से ढका हुआ है। पक्षियो के पास ही पीले घोडे पर सवार व्यक्ति की विशाल आकृति है, जो खेदवश अच्छी दशा में नही है। इसका ऊपरी भाग तो बचा ही नही है, क्योकि वह दीवार के शेष रहे भाग से उपर था। लेकिन आकृति के अश से भी इसकी ऊंचाई की कल्पना की जा सकती है (चूकि दीवार केवल २ मीटर की ऊंचाई तक बची है, सो घुडसवार की आकृति कम से कम चार मीटर ऊंची होनी चाहिए और इससे यह पता चलता है कि प्रासाद का यह मंडप कितना भव्य था)। प्रत्यक्षत, शोभा यात्रा में इस घुड़सवार की स्थिति विशेष थी और यह सारा दृश्य विवाह से संबंधित था। प्रत्यक्षत, हाथी पर सवार राजकुमारी समरक़ंद के शासक या उसके पुत्र के लिए ले जायी जा रही थी।

पश्चिमी दीवार पर लबे वस्त्र पहने पुरुष चित्रित हैं, उनके वस्त्र बेलबूटों से सुसज्जित हैं। उनपर चोंच में मोतियों की मालाएं लिये पक्षियों, सपक्ष श्वानों और सपक्ष सिहों की आकृतियां बनी हुई हैं। पुरुषो के सोने के कटिबंधों से लंबी तलवारें और कटारें लटक रही हैं। उनके चेहरे विभिन्न हैं: सांवले और गोरे, युवा और प्रौढ़। कुछ चित्रित व्यक्तियो के हाथों में मालाओं या डिज़ाइनदार कपड़े के टुकड़ों जैसी कुछ चीज़ें हैं। एक आकृति के श्वेत वस्त्र के दामन पर सोग्दी अभिलेख बचा रहा है, जिसमें चतागिआन के राजा द्वारा समरक़ंद के राजा के पास दूत भेजे जाने का उल्लेख है (चतागिआन सुर्ख़ान दरिया की घाटी में एक छोटा सा राज्य था)। अभिलेख के अनुसार राजा का प्रमुख सचिव दूत बनकर आया था। दूत निकटवर्ती राज्य चतागिआन से ही नहीं, दूरवर्ती देशों से भी आये थे। एक आकृति की बांह पर सोग्दी भाषा में लिखा है "तिब्बत"। यदि दक्षिणी और पश्चिमी दीवारों के चित्रों की तुलना की जाये, तो इस अनुमान की पुष्टि होती है कि सोग्दी चित्रकारों ने मरकदा के शासक के जीवन की कोई महत्त्वपूर्ण घटना – उसका अपना या उसके उत्तराधिकारी का विवाह – चित्रित किया है। इस विवाह पर ही दूत भेंटें लेकर आये हैं।

सोग्दी कला के विलक्षण उदाहरण – अफ़ासिआब के भित्तिचित्र – मध्य एशिया की और सारे पूरब की ही प्राचीन संस्कृति के इतिहास मे एक नया पृष्ठ जोडते हैं।

सोग्दी अभिलेखों की खोज अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योकि सोग्दी लेख अब तक बहुत कम ही मिले हैं। इन अभिलेखों की बदौलत हमें प्राचीन सोग्द के भारत और तिब्बत के भी साथ संबंधों का लिखित प्रमाण मिला है। संभवत हाथी और श्वेत पक्षी भारतीय प्रभाव में ही बनाये गये। श्वेत राजहस तो भारत में सरस्वती का वाहन माना जाता है।

मध्य एशिया और सुदूर पूर्व के अध्येताओ को अभी छठी-सातवी सदियो मे
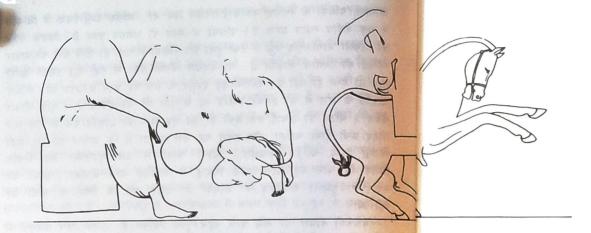
एक भारतीय पौराणिक कथा का दृश्य। अफ़ासिआब

मध्य एशिया के तिब्बत के साथ सांस्कृतिक संबंधों के प्रश्न का, जिनका होना अफ़ा-सिआब प्रासाद के सोग्दी अभिलेख इंगित करते हैं, अध्ययन करना है।

'अफ़ासिआब की चित्रकला' नामक अपनी पुस्तक (ताशकंद, १९७५) में अफ़ासिआब के भित्तिचित्रों का विश्लेषण करते हुए प्रो० ल० आल्बाउम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि भित्तिचित्रों के कुछ अंशों में भारतीय लोग और भारतीय जीवन के दृश्य चित्रित हैं। स्त्रियां साड़ी पहने दिखाई गई हैं, हालांकि उनका चित्रण मध्य एशियाई है। हाथी पर सवार लोग दिखाये गये हैं और इन चित्रों में हाथी वरख्श के हाथियों की तुलना में अधिक सही चित्रित किये गये हैं – प्रत्यक्षतः चित्रकार ने ये विचित्र जतु देखे थे। भित्तिचित्रों मे गुलाबी और नीले कमल भी दिखाये गये हैं – प्रो० आल्बाउम के विचार में यहा भारतीय दूत के समरक़द आने का दृश्य चित्रित है। दूतमंडल को एक नदी पार करते समय दिखाया गया है, जब वन्य जीव उस पर हमला करते हैं। हाथी पर सवार लोगों और वन्य जीवो का दृश्य वरख्श के भित्ति-चित्रों मे भी है। यह विषय प्राचीन भारतीय कला का एक लोकप्रिय दृश्य है।

कुल जमा अफ़ासिआब की चित्रकारी में विभिन्न देशों की कला परम्पराओं का सम्मिलन हुआ है, लेकिन इस संश्लेषण में स्थानीय मध्य एशियाई लक्षण ही, जिनका मूल कुषाण काल में था, प्रमुख रहे।
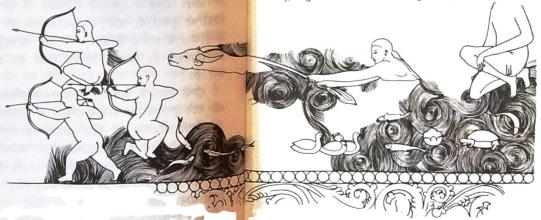
एक भारतीय पौराणिक कथा का दृश्य। अफ़ा-सिआब

मध्य एशिया में सोवियत पुराविदों के नये शोधकार्यों के फलस्वरूप प्राचीन युग ार आदि मध्य युग में मध्य एशिया के अंतर्राष्ट्रीय संबधों की दिशाओं और विस्तार का नया चित्र प्रस्तुत होता है। पुरातत्वीय सामग्री से भारत, सुदूर पूर्व, निकट पूर्व और ईरान के साथ तथा कालांतर में बैज़ंतिया के साथ मध्य एशिया के घनिष्ठ संबंधों के बारे में लिखित स्रोतों से प्राप्त जानकारी में नई जानकारी जुड़ी है।

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि मध्य एशिया ने चीन को बौद्ध धर्म से परिचित कराने में कितनी बड़ी भूमिका अदा की थी। बौद्ध धर्म के माध्यम से ही भारत और मध्य एशिया की संस्कृति सुदूर पूर्व में पहुची। मध्य एशिया के जनगण ने केंद्रीय एशिया और चीन के जनगण को यूनानी-रोमन जगत की विलक्षण उपलब्धियों से परिचित कराया, सुदूर पूर्व के जनगण की सांस्कृतिक परम्पराओं को स्वयं आत्मसात किया और भूमध्यसागर क्षेत्र के देशों तक पहुचाया। उदाहरणतः, चीनियों ने मध्य एशिया से ही कुछ वनस्पतियां – लूसर्न, अंगूर और शायद कपास भी – उगानी सीखी। चीनी स्रोतों से यह ज्ञात है कि पांचवीं सदी ई० के आरंभ में मध्य एशिया के निवासियों ने चीनियों को रंगीन कांच बनाना सिखाया था। सुदूर पूर्व के जनगण को मध्य एशियाई सभ्यता की उपलब्धियों से अपनी संस्कृति समृद्ध करने तथा मध्य एशिया के जनगण को चीन के जनगण की अनेक विलक्षण उपलब्धियों से परिचित होने में "चीन की दीवार" कोई बाधा नही थी।

कुषाण युग में मध्य एशिया के संबंध विशेषतः व्यापक बने। कुषाण राजाओं के सिक्के कीयेव के पास, अबीसीनिया में, स्कैंडिनेविया में, रोमन साम्राज्य के नगरों में मिले हैं, उधर रोमन सम्राटों आगस्टस, टाइबेरियस, आदि के सिक्के पश्चिमी और दक्षिणी भारत के नगरों में मिले हैं। कामा नदी के मैदान में कुषाण सिक्कों की तथा उराल-पार के क्षेत्र में ख्वारज़्म की चांदी की वस्तुओं की खोज से उत्तरी संबंधों का क्षेत्र इंगित होता है।

"महान रेशम मार्ग" कुषाण राज्य से होकर ही रोमन सीरिया को जाता था। काला सागर के उत्तरी तट के यूनानी नगरों को भी रास्ते यहां ख्वारज़्म से ही जाते थे। उल्लेखनीय है कि कुषाणकालीन मध्य एशिया में रोमन भांडों की नक़ल के चिकनी मिट्टी के भांड बनाये जाते थे (ऐसी नक़ल बाख़्त्री में भी – कारा तेपे में – तथा ख्वारज़्म और सोग्द में भी होती थी)। सुविदित है कि भूमध्यसागर तटीय क्षेत्र के साथ मध्य एशिया के संबंध कुषाण काल से बहुत पहले ही स्थापित हो चुके थे। यहां एलिफ़ेंटीना द्वीप के अभिलेखों की यह साक्षी स्मरणीय है कि दर्गमान नाम का एक ख्वारज़्मी ई० पू० पांचवीं सदी में वहां की सेना में योद्धा था। लिखित स्रोतों तथा पुरातत्वीय सामग्री से (सर्वप्रथम पूर्वी तुर्किस्तान के "पुराने" सोग्दी लेखों से) यह पता चलता है कि चौथी सदी ई० में "महान रेशम मार्ग" का सारा पूर्वी भाग सोग्दियों के हाथ में था, जिन्होंने आंतरिक एशिया में अपनी बस्तियां बना ली थीं, अनेक जनगण के साथ व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध स्थापित किये थे, चीन के

भीतरी इलाक़ों को अपने कारवां भेजते थे। सोग्द का रेशम चीन और निकट पूर्व के रेशम से टक्कर लेते हुए बैज़तिया और पश्चिमी यूरोप मे पहुचा। इसका पता हाल ही मे यूरोप के गिरजो के ख़ज़ानो में ऐसे रेशमी वस्त्रों की खोज से चला है, जिनपर सोग्दी अक्षर, शब्द अंकित हैं। विशाल भूविस्तार में सोग्दी भाषा अंतर्राष्ट्रीय सम्पर्क की भाषा बन गई। उइगूर वर्णमाला, जो मगोलियाई और मंचूरियाई वर्णमालाओं का आधार बनी, का मूल सोग्दी लिपि ही है।

पांचवी-आठवी सदियो मे बैज़तिया के साथ सोग्द के संबध घनिष्ठ हुए। बैज़तियाई सिक्के मध्य एशिया मे प्रकट होने लगे। मध्य एशिया मे छठी सदी की एक बैज़ंतियाई तश्तरी की खोज विशेषत: रोचक है, जिस पर वीनस का चित्र बना है और सोग्दी अभिलेख है। यह भी ज्ञात है कि मध्य एशिया के राज्यों और बैज़तिया के बीच दूतो का आदान-प्रदान होता था। इनमे से एक कुस्तुंतुनिया आया था और उसकी अगुवाई सोग्दवासी कर रहे थे।

वर्ष प्रति वर्ष मध्य एशिया के जनगण की मौलिक प्राचीन संस्कृति के बारे में नई-नई जानकारी प्राप्त हो रही है। बहुसख्यक पुरातत्वीय अभियान दलो का काम जारी है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मध्य एशियाई सभ्यताओं के इतिहास में जो पृष्ठ अभी नहीं पढ़े गये हैं, वे पढ लिये जायेंगे और हम पूरब के जनगण की प्राचीन संस्कृतियों के रहस्योद्घाटन के समीप पहुंच जायेंगे। इन शोधकार्यों से प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति के अनेक प्रश्नों को समझने में भी मदद मिलेगी, आख़िर भारत के जनगण अति प्राचीन काल से मध्य एशिया के जनगण के साथ घनिष्ठ सबधों से जुड़े रहे हैं। प्राचीन युग की दो महान सभ्यताओं के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक सम्पर्कों का इतिहास दो देशो – सोवियत संघ और भारत – के बीच मैत्री के प्राचीन बधनो का ज्वलत प्रमाण है, उस मैत्री का जो वर्ष प्रति वर्ष सुदृढ़ होती जा रही है।

मध्य एशिया में सोवियत विद्वानों की खोजों का भारतीय विद्वान उच्च मूल्यांकन करते हैं, वे सोवियत पुराविदों के प्रकाशनों की सदा प्रतीक्षा मे रहते हैं। सोवियत और भारतीय विद्वानो की भेंटें अब अक्सर आयोजित की जाती हैं। मध्य एशिया और भारत में हुए अतर्राष्ट्रीय सम्मेलनो और संगोष्ठियो की फलप्रदता विशेषत: उल्लेखनीय है। इनमें दोनों देशों के विद्वान अपने क्षेत्र की मूलभूत समस्याओ पर विचार-विमर्श और भावी शोधकार्यों के परिप्रेक्ष्यों पर ग़ौर करते हैं। अक्तूबर १९७७ मे दुशाबे में ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी के केंद्रीय एशिया के इतिहास की नृजातीय समस्याओ पर अंतर्राष्ट्रीय सगोष्ठी हुई, जिसमें भारतीय विद्वानों बी० बी० लाल, बी० के० थापर, आर० एस० गौड़, लल्लनजी गोपाल, आदि ने भाग लिया। इस संगोष्ठी मे आर्यों की समस्या ही केंद्रीय थी, जिसे हल करते समय सर्वप्रथम मध्य एशिया और भारत की सामग्रियों को ध्यान मे रखा जाना चाहिए।

प्राचीन भारतीय सभ्यता के इतिहास के अध्ययन के लिए मध्य एशियाई सामग्री के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए १९८० में भारतीय इतिहासकारों और पुराविदो

ने यह प्रस्ताव रखा कि भारत और मध्य एशिया के प्राचीन संबंधों का अध्ययन करने के लिए संयुक्त सोवियत-भारतीय परियोजना तैयार की जाये। भारत की ओर से इस परियोजना के संचालक सुविख्यात पुराविद प्रो० जी० आर० शर्मा हैं। आगामी दो दशकों के लिए अनुसंधानों का कार्यक्रम निर्धारित किया गया है, जिसमें संयुक्त संगोष्ठियों का आयोजन और रचनाओं का संयुक्त प्रकाशन भी शामिल है। इस परियोजना के क्रियान्वयन में पहला क़दम था फ़रवरी १९८२ में इलाहाबाद विश्व-विद्यालय द्वारा आयोजित संगोष्ठी, जिसमें सोवियत विद्वानों ने भी भाग लिया।

निस्संदेह सोवियत और भारतीय विद्वानों के संयुक्त कार्य भारत और मध्य एशिया के जनगण के इतिहास और संस्कृति की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं के हल में सहायक होंगे तथा भारत और सोवियत संघ के बीच परम्परागत मैत्री की नई अभिपुष्टि बनेंगे।

सोवियत संघ के संग्रहों में भारतीय हस्तलिखित ग्रंथ

सोवियत संघ में प्राचीन भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों से संबंधित भारतीय हस्तलिखित ग्रंथों के बहुत बड़े संग्रह हैं। इनके संकलन का काम १८ वीं सदी में ही शुरू हो गया था, लेकिन प्रमुख निधि १९वीं सदी में ही पूरब के देशों में गये रूसी यात्रियों और प्राच्यविदो के प्रयत्नों से जमा की गयी। सबसे बड़ा संग्रह इवान मिना-येव के नाम से संबद्ध है, जो भारत, नेपाल और बर्मा से अनेक अमूल्य ग्रंथ, सर्वप्रथम बौद्ध और जैन ग्रंथ लाये थे। मिनायेव की वसीयत के अनुसार उनका संग्रह लेनिन-ग्राद की पब्लिक लाइब्रेरी को सौंप दिया गया था और अब ये ग्रंथ यहीं पर संरक्षित हैं। हस्तलिखित ग्रंथों का दूसरा बड़ा केंद्र है सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान की लेनिनग्राद शाखा। इसका संग्रह १८१८ में स्थापित एशियाई संग्रहालय की निधि पर आधारित है। केंद्रीय एशियाई निधि भी यहीं संरक्षित है, इसे जमा करने में काशगर स्थित रूसी दूत न० पेत्रोव्स्की ने तथा अकादमीशियन ओल्देनबुर्ग ने बहुत बड़ी भूमिका अदा की थी।

डोर्न, बोटलिंग, मिरोनोव, ओल्देनबुर्ग और वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की की रचनाओं में भारतीय हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण और उनकी सूची दी गई है। मिरोनोव द्वारा तैयार किये गये दो सूचीपत्र (एशियाई संग्रहालय तथा पब्लिक लाइब्रेरी में उपलब्ध भारतीय ग्रंथों के) तथा प्राच्यविद्या संस्थान के भारतीय हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह के बारे में वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की का सिंहावलोकन-लेख विशेषतः महत्त्वपूर्ण हैं। स्मरणीय है कि प्राच्यविद्या संस्थान में ६०० भारतीय हस्तलिखित ग्रंथ या उनके अंश हैं और इस गिनती में केंद्रीय एशियाई संग्रह शामिल नहीं है।

प्राच्यविद्या संस्थान की लेनिनग्राद शाखा की भारतीय ग्रंथ निधि में विविधतम रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियां हैं। इनमें वैदिक पाठ और पुराण, महाकाव्य और काव्य, वैज्ञानिक रचनाएं और दर्शन ग्रंथ, जैन और बौद्ध रचनाएं, आदि हैं। अधिकांश ग्रंथ संस्कृत में हैं, लेकिन पाली ग्रंथ भी काफ़ी संख्या में हैं। हम इनमें से सर्वाधिक रोचक ग्रंथों को ही इंगित करेंगे। वैदिक रचनाओं में 'तैत्तिरीय संहिता' की एक, 'वाजसैनेय संहिता' की तीन, 'ऐतरेय आरण्यक' और 'बृहदारण्यक' पर सायण की टीका की दो हस्तलिखित प्रतिलिपियां हैं। आरंभिक उपनिषदों (उदाहरणतः, 'छांदोग्य उपनिषद') से शुरू करके शंकर की रचनाओं ('आप्तवज्रशुचि उपनिषद') तक विभिन्न उपनिषदों की प्रतिलिपियां भी यहां हैं। महाकाव्यों में यहां हस्तलिखित महाभारत और रामायण हैं, जिनमें गीता की दो प्रतियां हैं। पुराणों का संग्रह विशेषतः समृद्ध है, यहां 'गरुड़पुराण', 'पद्मपुराण' 'बृहद्धर्म पुराण', आदि के विभिन्न भागों की हस्तलिखित प्रतियां हैं। ('एकादशीमाहात्म्य' नाम से विभिन्न पुराणों के अंशों का जो संकलन ज्ञात है, उसकी कुछेक हस्तलिखित प्रतियां हैं।

तांत्रिक साहित्य के ग्रंथों का अलग खण्ड है, इसमें ३२ हस्तलिखित रचनाएं हैं। इनमें काली पूजा संबंधी निर्देश, दुर्गा मंत्र और विष्णु पूजा विधि, तांत्रिक सूत्रों और उनके चित्रण की संक्षिप्त रचना ('तंत्रचक्रसंग्रह'), कृष्णानन्द वागीश की प्रसिद्ध रचना 'तंत्रसार', गणेश स्तुति (गकार से आरंभ होने वाले १०० देव-नाम), फलित ज्योतिष की तालिकाएं, इत्यादि हैं।

संस्कृत ललित साहित्य (काव्य) में 'बृहत्कथामंजरी' की हस्तलिखित प्रति, कालिदास के 'रघुवंश' की दो प्रतियां, 'कुमारसम्भव' की अपूर्ण हस्तलिखित प्रति का अंश तथा इस काव्य के पहले दो सर्गों पर भरतसेन की टीका 'सुबोध' की हस्तलिखित प्रति, 'हितोपदेश' और 'शुकसप्तति' के अंश, जयदेव कृत 'गीतगोविंद' की तीन प्रतियां, भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' का अंश, वररुचि की कविताओं के संग्रह ('नीतिसार' और 'नीतिरत्न') हैं। संस्कृत काव्य-संकलन 'सुभाषितार्णव' की अद्वितीय हस्तलिखित प्रतिलिपि का अपार वैज्ञानिक महत्त्व है। इसमें १००० से अधिक श्लोक हैं और इसके पाठ से लगता है कि रचनाकार जैन था। निधि में भारतीय नाटक से संबंधित २० हस्तलिखित ग्रंथ हैं। इनमें गोपीनाथ का नाटक 'कौतुकसर्वस्व' विशेषतः उल्लेखनीय है। यह भ्रष्ट राजाओं पर तीखा व्यंग्य है, हस्त-लिपि में इसकी कविताओं का संस्कृत अनुवाद हाशिये पर दिया गया है। इतिहास और काव्यशास्त्र के ग्रंथों में मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' ध्यान आकर्षित करता है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियां निधि में हैं। व्याकरण की रचनाओं और उनपर टीकाओं की ४० प्रतिलिपियां हैं। इनमें दुर्गासिंह की टीका सहित शर्ववर्मन के 'कतंत्र' नामक संस्कृत व्याकरण की तीन प्रतियां; संस्कृत व्याकरण के विभिन्न प्रश्नों से संबंधित कृतियों (जयराम, रत्नपाणि, भरतसेन की रचनाओं) की प्रतिलिपियां हैं। क्रिया उपसर्गों के बारे में रचना 'उपसर्गवृत्ति' एक तरह से 'धृतबोध' का परि-

शिष्ट है। अमरसिंह के 'अमरकोश' की प्रतिलिपि तथा 'महाव्युत्पत्ति' की कतिपय प्रतिलिपियां अत्यंत मूल्यवान हैं। बौद्ध पारिभाषिक ग्रंथ 'महाव्युत्पत्ति' का प्रकाशन मिनायेव ने किया था और न० मिरोनोव ने 'बौद्ध पुस्तकमाला' के १३ वें खण्ड में इसका नया संस्करण निकाला था।

निधि में ब्राह्मण दर्शन और बौद्ध दर्शन की विभिन्न रचनाओं की ५० हस्त-लिखित प्रतिलिपियां हैं। इनमें पतंजलि के 'योगसूत्र' और शंकर के 'योगतारावली' (राजयोग पर रचना) की प्रतियां हैं। न्याय पर कुछ रचनाएं हैं और इनमें कमलशील के 'भावनाक्रम' की अद्वितीय हस्तलिखित प्रति, 'ब्रह्मसूत्र' का पूरा पाठ, शंकर कृत 'शारीरकभाष्य' पर वाचस्पतिमिश्र की टीका 'भामती' का एक अंश तथा शंकर की अन्य रचनाओं (जैसे कि 'आत्मबोध'), प्रसिद्ध वेदांत रचना 'अष्टावक्रगीता', आदि की बहुसंख्यक प्रतिलिपियां हैं।

वैज्ञानिक रचनाओं में शतानन्द की खगोलविद्या पर पुस्तक 'भास्वती' (११वीं शताब्दी) की दो हस्तलिखित प्रतियां तथा कंठ ग्रंथियों के अर्बुदों के बारे में आयुर्वै-दिक रचना 'गलगण्डमाला' की प्रतिलिपि तथा खगोलविद्या की विभिन्न रचनाओं और पंचांगों की बहुसंख्यक प्रतियां उल्लेखनीय हैं (हाशियों पर लिखी टिप्पणियों को देखते हुए लगता है कि इन प्रतियों में कुछ गे० लेबेदेव ने जमा की थीं)। 'कृषि-पद्धति' नामक संस्कृत रचना, जो पराशर ऋषि की लिखी मानी जाती है, की हस्त-लिखित प्रति अत्यंत रोचक है।

निधि में जैन काव्य ग्रंथ 'चित्रसेनपद्मावतीचरित' (रचयिता नयविजय) की प्रतिलिपि भी है। यह रचना सुंदरी पद्मावती की सुविख्यात कथा का जैन रूपांतर है (सोवियत संग्रह में जो प्रतिलिपि है, उसमें ५३६ श्लोक हैं)। बौद्ध ग्रंथों में से यहां संस्कृत और पाली में लिखित सिद्धांत ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियां सिंहल में टीका सहित उपलब्ध हैं। साथ ही 'मिलिंदपन्ह', 'ललितविस्तर', 'सद्धर्मपुंडरीक' जैसी रचनाएं तथा 'समंतपसादिका' (विनयपिटक पर बुद्धघोष की टीका, कम्बोजी लिपि), 'कथावत्थु-अत्थकथा', 'भिक्खुपतिमोक्ख' (सिंहल लिपि) की आंशिक प्रतियां हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हस्तलिखित ग्रंथों का दूसरा बड़ा संग्रह लेनिन-ग्राद की राजकीय पब्लिक लाइब्रेरी में है। न० मिरोनोव की सूची में ३०४ हस्त-लिखित प्रतिलिपियां गिनाई गई हैं, लेकिन यह भारतीय निधि का केवल एक अंश ही है, क्योंकि सूची का केवल पहला भाग ही प्रकाशित हुआ है। दूसरे भाग में, जो खेदवश प्रकाशित नहीं हो पाया, पाली के ग्रंथ तथा उत्तरी बौद्ध ग्रंथ शामिल थे। लेकिन मिरोनोव द्वारा प्रकाशित सूची भी सारे संग्रह के स्वरूप को इंगित कर देती है और उसका अपार वैज्ञानिक महत्त्व दर्शाती है। १३० से अधिक हस्तलिखित ग्रंथों को मिरोनोव ने ब्राह्मण ग्रंथों की श्रेणी में रखा है। इसमें दर्शन, धर्म, विज्ञान, काव्यशास्त्र, व्याकरण, आदि के विभिन्न पहलुओं पर भांति-भांति का संस्कृत साहित्य भी है।

महाकाव्य रचनाओं में रामायण के आरंभिक अंश की हस्तलिखित प्रति तथा गीता की दो प्रतियां उल्लेखनीय हैं, जिनमें एक सचित्र है (यह संस्कृतविद कोसोविच द्वारा भेंट की गई थी।) इस निधि में पुराणों के बहुत से अंश भी हैं। धार्मिक ग्रंथो में सर्वाधिक रोचक हैं काली की वंदनाओं का संग्रह और दुर्गा पूजा का ग्रंथ ज्ञानार्णव'। तांत्रिक साहित्य बड़ी संख्या में है, इसमें 'उदारकोश' भी है, जो दक्षिणमूर्ति का लिखा माना जाता है; काव्यों में 'गीतगोविंद' और कालिदास कृत 'कुमारसंभव' के अंशो की हस्तलिखित प्रतिलिपियां सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। 'वेतालपंचविंशतिका' बहुत रोचक है – यह गुणाढ्य कृत 'बृहत्कथा' के अंशों का क्षेमेन्द्र द्वारा किया गया गद्य रूपांतर है ('बृहत्कथा' की तो खेदवश अब तक कहीं भी कोई प्रति नही मिली है)। काव्यशास्त्र की रचनाओं में केशव मिश्र का 'अलंकारशेखर' उल्लेखनीय है, यह शौद्धोधन के 'अलंकारसूत्र' की टीका है। व्याकरण की रचनाओं में से प्राकृत के प्रसिद्ध व्याकरण, चंद कृत 'प्राकृतलक्षण' की नेपाली हस्तलिखित प्रति उल्लेखनीय है। दर्शन ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियों में योग दर्शन की रचनाएं (उदाहरणत:, 'गोरक्षय-योगशास्त्र', 'हठयोगप्रदीशिका', आदि), मीमांसा रचनाएं (अप्पयदीक्षित कृत 'नक्षत्रवादाली'; इसके २७ अध्यायों में से १५ अध्याय इस संग्रह की प्रति में हैं), वेदांत रचनाएं (पद्मपाद कृत 'पंचपादिका' – शंकर के 'शारीरकभाष्य' की टीका, 'ब्रह्मसूत्र' पर रामानुज की टीका 'रामानुज श्रीभाष्य'; मध्व की 'ब्रह्मसूत्र' पर टीका, इत्यादि) हैं। इस निधि में ज्योतिषविद्या के अनेक ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियां हैं, जैसे कि सहजपाल के 'जातकशेखर' की 'जातकपद्धति', 'मुहूर्तचिंतामणि' और 'सारसंग्रह' की, मनुष्य के विभिन्न शारीरिक लक्षणों के अनुसार उसका स्वभाव और भाग्य बताने की पुस्तक 'समुद्रिका' की प्रतियां। १४० हस्तलिखित प्रतियां जैनों से संबंधित हैं, इनमें कुछ अत्यंत मूल्यवान प्रतिलिपियां भी हैं। 'आचारांगसूत्र' की एक और 'कल्पसूत्र' की दो (इनमें एक 'कल्पलता' नामक टीका सहित) और 'सूत्रकृतांगसूत्र' की एक प्रति के साथ-साथ निधि में सूत्रों पर अनेक टीकाएं भी हैं – शीलंक कृत 'आचारटीका' ('आचारांगसूत्र' पर टीका), लक्ष्मीवल्लभ कृत 'कल्पद्रुमकलिका' ('कल्पसूत्र' पर टीका), इत्यादि। हरिभद्र कृत 'दशवैकल्पिकाबृहद्वृत्ति' की हस्तलिखित प्रतियां, दिगम्बर जैनों की संस्कृत और प्राकृत प्रार्थनाओं के संग्रह 'सामयिक' की प्रति, हेमचन्द्र की सुप्रसिद्ध रचना 'परिशिष्टपर्व' और प्राकृत गाथाओं के प्रसिद्र जैन संग्रह 'प्रवसंसारोद्धार' की प्रति (कुल १६०९ गाथाओं में से इस प्रति में १६०९ हैं) – ये सब निस्संदेह रोचक हैं। कुछ दूसरे महत्त्वपूर्ण जैन ग्रथों की हस्तलिखित प्रतिलिपियों का भी उल्लेख किया जाना चाहिए। ये ग्रंथ हैं – दिम्बर जैन धर्मसिद्धांत पर श्रीवकोटि की रचना 'आराधना', सहजकुशल की रचना 'श्रुतिविचार', जो जैन धर्मग्रथों के उद्धरणों और उनपर टीकाओं का संकलन है; विद्वान ब्राह्मणों को जैन धर्म में लाने के लिए उनसे शास्त्रार्थ का निर्देश देनेवाली रचना मुनिसुंदर की

त्रैवैद्यगोष्ठी', जैन नैतिकता पर रत्नशेखर की रचना 'आचारप्रदीप', जिसमें लोक कथाओं जैसी गाथाएं भी हैं; गृहस्थ जैनों के दायित्वों के बारे में पूज्यपाद कृत 'उपासकाचार'। अन्य जैन ग्रंथों में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में लोकप्रिय रचना 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' (देवेन्द्र की टीका सहित) की हस्तलिखित प्रति, जैन रामायण – सोमसेन कृत 'पद्मरामपुराण' की प्रति तथा दिगम्बर जैनों के बीच बने सुप्रसिद्ध कथा संग्रह 'सम्यकत्वकौमुदीकथा' की दो प्रतियां हैं। इसके अलावा निधि में जैन पूजा विधियों, भावी जिनों की और महावीर की स्तुतियों, आदि की हस्तलिखित प्रतियां भी हैं।

बौद्ध ग्रंथों के संग्रह में भी कतिपय अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचनाओं की प्रतिलिपियां हैं: आर्यशूर कृत 'जातकमाला', अश्वघोष कृत 'बुद्धचरित', चंद्रगोमिन कृत 'शिष्य-लेख' और शांतिदेव कृत 'बोधिचर्यावतार' की प्रतियां। इनके अलावा प्रसिद्ध महायान सूत्रों, जैसे कि 'सुवर्णप्रभास' और अपरिमितायु बुद्ध के यशगान के लिए मंजुश्री के साथ बुद्ध के संवाद के रूप में लिखित 'अपरिमितायु सूत्र' की प्रतिलिपियां, महायान के दर्शन ग्रंथ रामपाल कृत 'सेकनिर्देशपंजिका' की प्रतिलिपि तथा 'मणिचूड़ावदान' (राजा ब्रह्मदत्त के पुत्र मणिचूड के रूप में बुद्ध के पूर्वजन्म की कथा) की प्रतिलिपि भी इस निधि में है।

सोवियत संघ के प्रमुख हस्तलिखित ग्रंथ संग्रहों में संरक्षित भारतीय ग्रंथों के इस मोटे-मोटे विवरण से भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतविदों के पास प्राचीन भारतीय संस्कृति के गहन अध्ययन की कितनी विशाल संभावनाएं हैं।

सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान की लेनिनग्राद शाखा में संरक्षित केंद्रीय एशियाई निधि का विशेष उल्लेख किया जाना चाहिए। इस निधि के हस्तलिखित ग्रंथ भारतविद्या के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, हालांकि इनकी खोज पूर्वी तुर्किस्तान में हुई। बात यह है कि आर्द्र जलवायु के कारण भारत में अधिकांश प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ नष्ट हो गये, सो बौद्ध धर्म का अध्ययन मुख्यत: मूल संस्कृत ग्रंथों से तिब्बती और चीनी भाषाओं में किये गये अनुवादों के आधार पर ही हुआ। जबकि केंद्रीय एशिया में उत्खनन के दौरान प्राचीन संस्कृत ग्रंथों की ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में बनाई गई प्रतिलिपियां मिलीं। पुरालिपिक विशिष्टताओं के अध्ययन के आधार पर इन प्रतिलिपियों का लेखन-काल छठी-आठवीं शताब्दी ई० माना गया है। बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए केंद्रीय एशिया में पाई गई इन हस्तलिखित प्रतिलिपियों का महत्त्व अपार है। केंद्रीय एशियाई निधि १९वीं सदी के नौवें दशक में बनने लगी और अब यह संसार का एक सबसे बड़ा संग्रह है। बहुत बड़ी संख्या में हस्तलिखित ग्रंथ (मुख्यत: इनके अंश ही) काशगर में नियुक्त रूसी दूत न० पेत्रोव्स्की ने भेजे थे। उन्होंने ही भारतीय संस्कृति के प्राचीन ग्रंथों की खोज के लिए पूर्वी तुर्किस्तान के असाधारण महत्त्व की ओर सबसे पहले ध्यान दिया था। १८९२-१८९३ में उन्होंने अकादमीशियन ओल्देनबुर्ग को कागज़, भोजपत्र और चर्म

पर लिखित ग्रंथों के १०० से अधिक अंश भेजे। इनमें से कुछ ओल्देनबुर्ग ने प्रकाशित किये। १८९५ से रूसी विज्ञान अकादमी तथा मध्य एवं पूर्वी एशिया के अध्ययन की रूसी समिति के अभियानों के फलस्वरूप एशियाई संग्रहालय को हस्तलिखित ग्रंथों के अंश बड़ी संख्या में मिलने लगे। द० क्लेमेंत्स के नेतृत्व में रूसी अभियान दल ने तूर्फ़ान में समृद्ध संग्रह पाया, फिर म० बेरेज़ोव्स्की के अभियान दल ने तूर्फ़ान और कूचा में कुछ ग्रंथों के अंश खोजे और अंततः ओल्देनबुर्ग भी केंद्रीय एशिया के अपने दो अभियानों के दौरान ब्राह्मी लिपि में संस्कृत के २० से अधिक अंश पाने में सफल रहे।

रूसी विद्वानों के प्रयासों के फलस्वरूप एशियाई संग्रहालय में बौद्ध ग्रंथों का अत्यंत मूल्यवान संग्रह बन पाया। अब लेनिनग्राद में हस्तलिखित ग्रंथों के ७०० से अधिक अंश संरक्षित हैं, लेकिन इनके बड़े भाग का अभी तक प्रकाशन नहीं हुआ है, हालांकि सोवियत विद्वान इन स्रोतों के अध्ययन का कार्य ज़ोरों से कर रहे हैं। यह निर्धारित करना ही बहुत कठिन है कि ये अंश किन ग्रंथों के हैं। बहुत से पाठों को पढ़ पाना भी कठिन है – ये ब्राह्मी लिपि के केंद्रीय एशियाई रूपांतर के भी आशुलिपि रूप में लिखे गये हैं।

केंद्रीय एशियाई निधि की सूची तैयार करने में व० वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की ने बहुत विशाल कार्य किया। अपने अल्प जीवन (१९२७-१९५६) में ही उन्होंने कतिपय अद्वितीय पाठों का प्रकाशन किया, जिनमें 'कश्यप-परिवर्त' के नये अंश, प्राचीनतम संस्कृत कोशों के अंश तथा ऊर्ध्व और कुटिल ब्राह्मी की अक्षर तालिकाएं भी थीं।

केंद्रीय एशियाई निधि में 'सद्धर्मपुंडरीक' की विभिन्न प्रतिलिपियों के अंश हैं (इन्हें म० वोरोब्योवा-देस्यातोव्स्काया ने प्रकाशन के लिए तैयार किया है), 'शर्दुलाकर्णावदान' की हस्तलिखित प्रतिलिपि, अनेक धारणी पाठ, संस्कृत विनय के तथा प्रज्ञापारमिता पाठों के अंश, महायान सूत्रों ('महापरिनिर्वाणसूत्र') के अंश, इत्यादि हैं।

इन स्रोतों के अध्ययन से भारतविद्या समृद्ध हुई है और निस्संदेह आगे भी इसके फलस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण और रोचक खोजें होंगी।

निष्कर्ष

पहले रूस में और फिर सोवियत संघ में भारतीय सभ्यता के अध्ययन के इतिहास करते हुए हमने अपने देश में प्राच्यविद्या संबंधी अनुसधानों की मूलभूत दिशाएं तथा विशिष्टताएं इंगित कीं और बताया कि भारतविद्या के क्षेत्र में संसार भर में हो रहे कार्यों में रूसी और सोवियत विद्वानों का क्या योगदान है।

हमारे देश के विद्वानों के रुख की लाक्षणिकता है भारत के जनगण और उनकी विलक्षण संस्कृति के प्रति गहरा आदर। ऐसा रुख दोनों देशों के जनगण के बीच मैत्री संबंधों की परम्परा से, सुदूर अतीत से चले आ रहे सम्पर्कों से जुडा हुआ है।

प्राचीन रूस में ही भारत ने विवेक और सम्पदा के देश के रूप में अपनी एक विशिष्ट छवि बना ली थी और रूसी लोक साहित्य और साहित्य में भारतीय कथानकों को अनुपम स्थान मिल गया था। समय के साथ रूस और भारत के व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध सुदृढ हुए। रूसी राज्य में अक्सर भारतीय लोग अपने देश की सांस्कृतिक परम्पराएं साथ लिये आने लगे। उधर रूसी यात्री भी १५वी सदी से अनेक बार भारत गये, उसकी प्रकृति और आबादी से, रहन-सहन और भाषाओं से, रीति-रिवाजों और धर्मों से सीधे-सीधे परिचित हुए। सोवियत संघ में शामिल अनेक क्षेत्रों – मध्य एशिया, काकेशिया, बुर्यातिया, आदि – में भारत और उसकी महान संस्कृति में रुचि बहुत पहले ही जागृत हो गई थी। ये परम्पराएं दोनों देशों के सांस्कृतिक सम्पर्कों की सामान्य धरोहर का अंग बनीं और निस्सदेह रूस में भारत के वैज्ञानिक अध्ययन के गठन पर तथा भारतविद्या की रूसी धारा के निर्माण पर इनका प्रभाव पडा।

सोवियत संघ का प्रशासनिक मानचित्र

अब हम अपने देश में भारतविद्या द्वारा तय किये गये लंबे मार्ग की कल्पना अधिक स्पष्ट रूप में कर सकते हैं। १९वीं सदी में रूस मे संस्कृतविद्या के पहले उत्साही प्रकट हुए। धीरे-धीरे, अनेक कठिनाइयों को पार करते हुए वैज्ञानिक अध्ययन का सिलसिला शुरू हुआ। भारत में रुचि रखने वाले पाठकों का दायरा शनैः-शनैः अधिक व्यापक हुआ। वैज्ञानिक शोधकार्य अधिकाधिक बड़े पैमाने पर और योजनाबद्ध ढंग से होने लगे। रूस में प्राच्यविद्या ने प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण सफलता पाई, तथापि शोधकार्य अभी कुछ गिने-चुने विद्वानों द्वारा ही किये जाते थे, उनमें आपस में पर्याप्त समन्वय नहीं था और काफ़ी हद तक वे एकतरफ़ा भी होते थे। महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद भारतविद्या के विकास को नई प्रेरणा मिली और एक नये गुणात्मक चरण का सूत्रपात हुआ। रूसी भारतविदों की श्रेष्ठ परम्पराओं का विकास करते हुए सोवियत विद्वान भारतविद्या का विकास नये आधार पर करने लगे।

रूस में प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन के इतिहास का परिचय पाने पर हम यह देखते हैं कि इतिहासविद्या की किसी भी राष्ट्रीय धारा की ही भांति, रूसी भारतविद्या में भी शोधकार्य के अपने सामान्य सिद्धांत तथा अपनी परम्परागत दिशाएं थी। ये अनेक कारकों – देश की भौगोलिक स्थिति, उसके ऐतिहासिक संबंधों, उपलब्ध अध्ययन स्रोतों और सामग्रियों, वैज्ञानिक और सामान्य सांस्कृतिक परम्पराओं – पर निर्भर थे।

रूसी विद्वान आरंभ से ही पड़ोसी देशों से भारत के संबंधों की तथा प्राचीन भारतीय सभ्यता और केंद्रीय एशिया की सभ्यताओं के परस्पर प्रभाव की समस्याओं की ओर ख़ास ध्यान देते रहे थे। मध्य एशिया और उसके आस-पास के इलाक़ों में रूसी विद्वानों ने १८वीं सदी से ही रुचि दिखानी शुरू कर दी। बीसवी सदी की पूर्ववेला में रूसी विद्वानों ने केंद्रीय एशिया के इतिहास, नृजातिवर्णन, भाषाविज्ञान और पुरातत्व पर व्यापक अंतर्राष्ट्रीय शोधकार्य आयोजित किये। समसामयिक सोवियत विद्वान भी इन परम्पराओं का सफल विकास कर रहे हैं। मध्य एशिया के पुरातत्वीय अध्ययन में क्रांति के बाद महत्त्वपूर्ण सफलताएं पाई गईं। १९१७ के बाद मध्य एशिया के सोवियत जनतंत्रों में बने वैज्ञानिक संगठनों ने भी मध्य एशिया के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। क्रांति के पहले पड़ोसी देशों के साथ भारत के संबंधों की समस्या को प्रायः बौद्ध धर्म के प्रचार तक ही सीमित रखा जाता था। अब इस समस्या पर कहीं अधिक व्यापक रूप से ग़ौर करना संभव हुआ। बौद्ध धर्म के प्रचार के बारे में भी अत्यंत मूल्यवान सामग्री प्राप्त हुई, जिस पर सोवियत विद्वान काम कर रहे हैं।

यूरोप में भी और रूस में भी संस्कृतविद्या प्रायः आरंभ से ही भारोपीय अध्ययन से जुड़ी रही है। इस दिशा में भी समसामयिक सोवियत विद्वान काफ़ी कार्य कर रहे हैं। १९वीं सदी के आरंभ की ही भांति आज भी आर्यों की उत्पत्ति की समस्या को

स्लावों के नृजातीय मूल के प्रश्न से जोड़ा जाता है। लेकिन इस समस्या पर काम करने वाले समसामयिक विद्वान बीसवीं सदी के मध्य के तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान की उपलब्धियों का ही नहीं, प्रचुर पुरातत्वीय सामग्री का भी उपयोग कर सकते हैं।

पिछली सदी में ही रूसी विद्वान भारतीय महाकाव्यों और कथा साहित्य में विशेष रुचि लेने लगे थे। शोधकर्त्ताओं के सम्मुख भारतीय साहित्य की अलग-अलग रचनाओं के मौखिक, लोक-साहित्यिक मूल और अस्तित्व की समस्या उत्पन्न हुई। यह रुचि अकारण ही नहीं है, यह रूस में लोक साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन और तुलनात्मक साहित्यशास्त्र के विकास से संबद्ध है। रूस उन कुछ देशों में से एक है, जहां समृद्ध मौखिक साहित्य देर तक बना रहा। साहित्य-इतिहास के और लोक साहित्य के अध्येताओं के विचारों का भारतविदों पर गहरा प्रभाव पड़ा है और उधर इस दिशा में हो रहे भारतविद्या संबंधी शोधकार्यों में अध्येता गहरी रुचि लेते रहे हैं। अनेक सोवियत भारतविदों की रचनाओं में प्राचीन भारतीय साहित्य के इतिहास के प्रति व्यापक सैद्धांतिक रुख पाया जाता है।

प्राचीन भारत की आत्मिक धरोहर पर, उसके दार्शनिक सिद्धांतों पर रूसी प्राच्यविदों ने बिना किसी पूर्वाग्रह के विचार किया, सर्वश्रेष्ठ रूसी विद्वानों की रचनाओं में यूरोपकेंद्रिक और ईसाईकेंद्रिक प्रवृत्तियां नहीं थीं। इसकी एक ज्वलंत मिसाल बौद्ध धर्म के अध्ययन के क्षेत्र में श्चेर्बात्स्की और उनके सहयोगियों, अनुयायियों के शोधकार्य हैं।

सोवियत विद्वानों का दृष्टिकोण ऐतिहासिक प्रक्रिया के मार्क्सवादी सिद्धात पर आधारित है। पश्चिम में प्रचलित दृष्टिकोणों से भिन्न सोवियत इतिहासकार प्राचीन भारत को एक पृथक तथा स्वयंसंपूर्ण सभ्यता नहीं, बल्कि प्राचीन विश्व का अभिन्न अंग मानते हैं। उनके मत में प्राचीन युग के दूसरे देशों की भांति भारत का भी विकास सामान्य ऐतिहासिक नियमसंगतियों के अनुसार हुआ है।

उल्लेखनीय है कि क्रांति के बाद ही समसामयिक भारत का और समसामयिक भारतीय संस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन आरंभ हुआ। तभी प्राचीन युग से समसामयिक काल तक भारत का बहुमुखी अध्ययन भी संभव हो पाया। भारत जैसे देश के लिए यह विशेषतः महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि एक ओर जहां इसकी समसामयिक वास्तविकता को प्राचीन परम्परा के ज्ञान के बिना नहीं समझा जा सकता, वहीं दूसरी ओर भारत "जीती-जागती प्राचीनता" को देखने का अद्वितीय अवसर प्रदान करता है, और प्रायः नवीनतम सामग्री के प्रकाश में ही प्राचीन पाठों को सही-सही समझना संभव होता है। क्रांतिपूर्व रूस में समसामयिक भारत के अध्ययन की कोई सुदृढ़ परम्परा नहीं थी। भारतविद्या मुख्यतया संस्कृतविद्या तक ही सीमित थी। प्राचीन और अर्वाचीन भारत के चहुंमुखी अध्ययन की नींव महान रूसी भारतविद इवान मिनायेव ने रखी।

सोवियत इतिहासशास्त्र में सामाजिक इतिहास के अध्ययन को नितांत महत्त्वपूर्ण माना जाता है, जबकि क्रांति से पहले विद्वान इस प्रश्न की ओर प्रायः कोई ध्यान नहीं देते थे। इस दिशा में सोवियत विद्वानों ने विशाल कार्य किया है और यहां यह भी कहा जाना चाहिए कि उनके निष्कर्षों का संसार भर के विद्वानों ने उच्च मूल्यांकन किया है।

रूसी विद्वानों ने अपनी शोध रचनाओं में भारतीय संस्कृति के प्रति ऐतिहासिक रुख का परिचय दिया, वे हर परिघटना पर उसके क्रम-विकास, दूसरी परिघटनाओं के साथ उसके संबंधों और उसके "प्रसंग" को ध्यान में रखकर ग़ौर करते थे। वे प्राचीन भारतीय सभ्यता के सारी मानवजाति के लिए महत्त्व पर ज़ोर देते थे। आज यह विषय विशेषतः तात्कालिक है। भारतीय संस्कृति में रुचि सोवियत संघ में इतनी गहरी और अपार है, जितनी शायद किसी भी दूसरे देश में नहीं है। पिछले कुछ वर्षों में ही संस्कृत से इतने अनुवाद प्रकाशित हुए हैं, जितने कि इससे पहले कई दशकों में नहीं हुए थे। भारतविद्या संबंधी प्रकाशनों का महत्त्व मात्र वैज्ञानिक ही नहीं, सामान्य सांस्कृतिक भी है। आज हम रूस में संस्कृतविद्या के प्रवर्तकों के ये शब्द पूरे विश्वास के साथ दोहरा सकते हैं कि "रूस को संस्कृतविद की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि गणितज्ञ की"। डेढ़ सौ साल पहले की ही भांति आज भी यह आशा की जा सकती है कि भारतीय साहित्य के अमूल्य रत्नों से परिचय से सोवियत जनगण का साहित्य ही नहीं, बल्कि सारी संस्कृति समृद्ध होगी।

सोवियत संघ बहुजातीय देश है और भारतविद्या का विकास केवल मास्को और लेनिनग्राद में नहीं, बल्कि सोवियत जनतंत्रों के नगरों में, यथा तार्तू (एस्तोनिया), त्बिलीसी (जार्जिया), ताशक़ंद (उज़्बेकिस्तान), दुशांबे (ताजिकिस्तान), अश्काबाद (तुर्कमानिस्तान), उलान-उदे (बुर्यातिया) में भी हो रहा है। सोवियत भारतविदों के दूसरे देशों के विद्वानों के साथ सक्रिय संबंध हैं, भारत के साथ सम्पर्कों को तो वे विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं।

कुल जमा यह कहा जा सकता है कि पिछले वर्षों में सोवियत भारतविदों ने प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन में महती सफलता पाई है। चहुंमुखी शोधकार्य, उनका व्यापक विस्तार, वैज्ञानिक खोज की नई विधियों का प्रयोग, सामग्री की प्रस्तुति में वस्तुगतता – ये सोवियत भारतविद्या के विशिष्ट लक्षण हैं, जिनके साथ देश के पुराने विद्वानों की सर्वश्रेष्ठ परम्पराओं को भी संरक्षित रखा और विकसित किया जा रहा है। भारत का अध्ययन करते हुए सोवियत विद्वान इस देश के जनगण के प्रति गहरा आदर रखते हैं, संस्कृति, विज्ञान, कला के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन करते हैं। वे यह मानते हैं कि अपने सृजन से वे सोवियत संघ और भारत के जनगण को निकट लाने, दोनों देशों के बीच परम्परागत मैत्री सुदृढ़ करने का उदात्त कार्यभार पूरा कर रहे हैं।

संदर्भ-निर्देशिका

नाम-संक्षेप सूची

ВАН – Вестник Академии наук СССР
ВДИ – Вестник древней истории
ВЗ – Восточные записки
ГАИМК – Государственная Академия истории материальной культуры
ИВЛ – Издательство восточной литературы
ЗВОРАО – Записки восточного отделения Российского археологического общества
ЗКВ – Записки коллегии востоковедов при Азиатском музее АН СССР
ЖМНП – Журнал министерства народного просвещения
ОИРВ – Очерки по истории русского востоковедения
ПВ – Проблемы востоковедения
СА – Советская археология
СВ – Советское востоковедение
СНВ – Страны и народы Востока
СЭ – Советская этнография
РАИМК – Российская Академия истории материальной культуры
ABORI – Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute
BSOS – Bulletin of the School of Oriental Studies
IHQ – Indian Historical Quarterly
IIJ – Indo-Iranian Journal
JBBRAS (NS) – Journal of Bombay Branch of the Royal Asiatic Society (New Series)
JPTS – Journal of the Pali Text Society
JRAS – Journal of the Royal Asiatic Society

अध्याय १

अनुच्छेद १

Александрия. Роман об Александре Македонском по русской рукописи XV в. Ботвинник М. Н. и др. (сост.). М.-Л.: Наука, 1965. (अलेक्सांद्रिया। १५वीं शताब्दी की एक रूसी हस्तलिखित प्रति में उपलब्ध रूपांतर। मास्को-लेनिनग्राद, १९६५)

Байкова, Н. Б., *Роль Средней Азии в русско-индийских торговых связях (первая половина XVI – вторая половина XVIII в.)*. Ташкент: Наука, 1964. (बाइकोवा, न० ब०। रूस-भारत व्यापारिक संबंधों में मध्य एशिया की भूमिका। १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध – १८वीं शताब्दी का उत्तरार्ध। ताशकंद, १९६४)

Минаев, И. П., *Старая Индия. Заметки на хождение за три моря Афанасия Никитина.* Санкт-Петербург, 1881. (मिनायेव , इ० प० , पुराना भारत। 'अफ़ानासी निकीतिन की तीन सागर पार की यात्रा' पर टिप्पणियां। सेंट पीटर्सबर्ग , १८८१)

Осипов, А. М. и др., *Афанасий Никитин и его время.* М.: Учпедгиз, 1956. (ओसिपोव , अ० म० तथा अन्य , अफ़ानासी निकीतिन और उनका काल। मास्को , १९५६)

Русско-индийские отношения в XVII в. Сборник документов. М.: ИВЛ, 1958. (१७वीं शताब्दी में रूस-भारत संबंध। दस्तावेज़ संग्रह। मास्को , १९५८)

Семенов, Л. С., *Путешествие Афанасия Никитина.* М.: Наука, 1980. (सेम्योनोव , ल० स० , अफ़ानासी निकीतिन की यात्रा। मास्को , १९८०)

Сперанский, М. Н., «Индия в старой русской письменности». В сб.: *Сергею Федоровичу Ольденбургу к пятидесятилетию научно-общественной деятельности. 1882–1932.* Л.: Изд-во АН СССР, 1934. (स्पेरान्स्की , म० न० , 'प्राचीन रूसी ग्रंथों में भारत'। सेर्गेई फ्योदोरोविच ओल्देनबुर्ग अभिनंदन ग्रंथ। उनके वैज्ञानिक कार्यकलाप की पचासवीं जयंती (१८८२-१९३२) पर प्रकाशित। लेनिनग्राद , १९३४)

Сперанский, М. Н., «Сказание об Индейском царстве». *Известия по русскому языку и словесности АН СССР*, т. III, 1930. (स्पेरान्स्की , म० न० , 'भारत राज्य की गाथा'। रूसी भाषा तथा साहित्य विषयक सोवियत विज्ञान अकादमी के समाचार , खण्ड ३, १९३०)

Стефанит и Ихнилат. Средневековая книга басен по русским рукописям XV–XVII вв. Л.: Наука, 1969. (स्तेफ़ानीत और इख्निलात। नीतिकथाओं की मध्ययुगीन पुस्तक , १५वीं-१७वीं शताब्दियों के रूसी हस्तलिखित ग्रंथों में उपलब्ध रूपांतर। लेनिनग्राद , १९६९)

Трубачев, О. Н., «Indo-arica в Северном причерноморье». *Вопросы языкознания*, 1981, № 2.
(त्रुबाच्योव , ओ० न० , 'उत्तरी काला सागर क्षेत्र में इंडो-आरिका'। वाङ्मीमांसा के प्रश्न , १९८१, अंक २)

Ульяницкий, В. А., *Отношения России со Средней Азией и Индией в XVI–XVII вв.* М., 1889. (उल्यानीत्स्की , व० अ० , १६वीं-१७वीं शताब्दियो में मध्य एशिया और भारत के साथ रूस के संबंध। मास्को , १८८९)

Хождение за три моря Афанасия Никитина. Грекова Б. Д. и Адрианова-Перетц В. П. (сост.) М.-Л., Изд-во АН СССР, 1948. (अफ़ानासी निकीतिन की तीन सागर पार की यात्रा। मास्को-लेनिनग्राद , १९४८)

अनुच्छेद २

Антонова, К. А., «К истории русско-индийских связей. Из тетрадей Г. С. Лебедева (1795–1797 гг.).» *Исторический архив*, 1956, № 1. (अंतोनोवा, क० अ०, 'रूस-भारत संबंधों के बारे में। ग० स० लेबेदेव की डायरियों (१७९५-१७९७) से।' ऐतिहासिक दस्तावेज़, १९५६, अंक १)

Воробьев-Десятовский, В. С., «Русский индианист Герасим Степанович Лебедев (1749–1817)». В кн.: *ОИРВ*, сб. II, М.: Изд-во АН СССР, 1956. (वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की, व० स०, 'रूसी भारतविद गेरासिम स्तेपानोविच लेबेदेव (१७४९-१८१७)।' रूसी प्राच्यविद्या के इतिहास के बारे में लेखों का संग्रह, २। मास्को, १९५६)

Глазами друзей. Русские об Индии. Под ред. А. В. Западнова и Е. П. Прохорова. М.: Госполитиздат, 1957. (मित्रों की दृष्टि में। भारत के बारे में रूसियों के विचार। मास्को, १९५७)

Лебедев, Г. С., *Беспристрастное созерцание системы Восточной Индии брамгенов, священных обрядов их и народных обычаев.* Санкт-Петербург, 1805. (लेबेदेव, ग० स०, पूर्वी भारत के ब्राह्मणों, उनके धार्मिक कर्मकांडों और रीति-रिवाजो के बारे में कुछ निष्पक्ष विचार। सेंट-पीटर्सबर्ग, १८०५)

Люстерник, Е. Я., Шапот, Е. Г., «О некоторых проектах организации русско-индийской торговли в XVIII в.». *УЗ ЛГУ, серия востоковедных наук*, 1960, вып. 9. (ल्युस्तेरनिक, ये० या०, शापोत, ये० ग०, '१८वीं शताब्दी में रूस-भारत व्यापार की कुछ योजनाएं।' लेनिनग्राद राज्य विश्वविद्यालय की वैज्ञानिक रचनाएं, प्राच्यविद्या माला, १९६०, अंक ९)

Русско-индийские отношения в XVIII в. Сб. документов. М.: Наука, 1965. (१८वीं शताब्दी में रूस-भारत संबंध। मास्को, १९६५)

Russian Travellers to India and Persia 1624–1798. Kotov, Yefremov, Danibegov. Delhi, 1959.

अनुच्छेद ३

Абрамян, Р. А., *Армянские источники XVIII в. об Индии.* Ереван: Изд-во АН Арм. ССР, 1968. (अब्राम्यान, र० अ०, भारत के बारे में १८वीं शताब्दी के आर्मीनियाई स्रोत-ग्रंथ। येरेवान, १९६८)

Ашрафян, К. З., «К вопросу о просветительском течении среди представителей армянского купечества в Индии в 70–80-х годах XVIII в.». В кн.: *Проблемы*

истории Индии и стран среднего Востока. М.: Наука, 1972. (अशरफ़यान, क० ज०, '१८वी शताब्दी के आठवे-नौवें दशको में भारत स्थित आर्मीनियाई व्यापारियो में प्रबोधनात्मक प्रवृत्तिया। भारत तथा मध्य पूर्व के देशो के इतिहास की समस्याए। मास्को, १९७२)

Булгаков, П. Г., *Жизнь и труды Беруни*. Ташкент: Фан, 1972. (बुल्गाकोव, प० ग०, बरूनी का जीवन तथा कृतित्व। ताशक़ंद, १९७२)

Воробьев-Десятовский, В. С. «Заметка по индийской эпиграфике (к надписям храма огня в Сураханах около Баку)». В сб.: *Эпиграфика Востока*, т. IX, М.: Изд-во АН СССР, 1956. (वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की, व० स०, 'भारतीय अभिलेखो के बारे में एक टिप्पणी (बाकू के निकट सुराखानी के आतिशगाह के भित्तिलेखो के संबंध में)।' पूर्वी अभिलेख, खण्ड ९, मास्को, १९५६)

Низамутдинов, И. Г., *Из истории среднеазиатско-индийских отношений (IX–XVIII вв.)*. Ташкент: Узбекистан, 1969. (निज़ामुतदीनोव, इ० ग०, मध्य एशिया-भारत संबंधो के इतिहास से (९वीं-१८वी शताब्दी)। ताशक़ंद, १९६९)

Низамутдинов, И. Г. *Очерки истории культурных связей Средней Азии и Индии в XVI–начале XX вв.* Ташкент: Фан 1981. (निज़ामुतदीनोव, इ० ग०, १६वीं सदी से २०वी सदी के आरभ तक मध्य एशिया और भारत के सांस्कृतिक संबंधो के इतिहास के बारे में लेख। ताशक़ंद, १९८१)

Пигулевская, Н. В., *Византия на путях в Индию*. М.-Л.: Изд-во АН СССР, 1951. (पिगुलेव्स्कया, न० व०, भारत के मार्गों पर बैज़ंतिया। मास्को-लेनिनग्राद, १९५१)

Ставиский, Б. Я., «О международных связях Средней Азии в V–сер. VIII вв.», *ПВ*, 1960, № 5. (स्तवीस्की, ब० य०, '५वीं शताब्दी से आठवी शताब्दी के मध्य तक मध्य एशिया के अंतर्राष्ट्रीय संबधो के बारे मे।' प्राच्यविद्या की समस्याएं, अंक ५, १९६०)

Alberuni's Commemoration Volume. Iran Society, Calcutta, 1951.

Alberuni's India. Abridged and annotated by A. H. Dani, University Press, Islamabad, 1973.

Alberuni's India. Ed. E. Sachau. Vol. I–II, London, 1888.

Seth, M. J., *Armenians in India From the Earliest Times to the Present Day*. Calcutta, 1937.

Unvala, J. M., "Inscriptions from Surahani, Near Baku", *JBBRAS (NS)*, Bombay, 26.1950.

दनिबेगश्वीली, रफ़ईल, **भारत, बर्मा तथा एशिया के अन्य देशों की यात्राएं (१७९५-१८२७)।** मास्को, प्रगति प्रकाशन, १९६६ (रूसी, हिन्दी और अंग्रेज़ी में)।

अध्याय २

अनुच्छेद १

Веселовский, Н. И., *Сведения об официальном преподавании восточных языков в России.* Санкт-Петербург, 1879. (वेसेलोव्स्की, न० इ०, रूस में पूर्वी भाषाओं के अधिकृत अध्ययन के बारे में कुछ तथ्य। सेंट पीटर्सबर्ग, १८७९)

Григорьев, В. В., *Императорский Санкт-Петербургский университет в течение первых пятидесяти лет его существования.* Санкт-Петербург, 1870. (ग्रिगोर्येव व० व०, शाही सेंट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के पहले पचास वर्ष। सेंट पीटर्सबर्ग, १८७०)

Дасгупта, П. К., «О первом индийском члене Российской Академии Наук (Р. Деб)», *СВ*, 1958, № 4.
(दासगुप्ता, प० क०, 'रूसी विज्ञान अकादमी का पहला भारतीय सदस्य (आर० देब)'। सोवियत प्राच्यविद्या, १९५८, अंक ४)

Зограф, Г. А., «Роберт Христианович Ленц (1808–1836)». *УЗ ЛГУ*, 1960, № 279, серия востоковедных наук, вып. 2. (ज़ोग्रफ़, ग० अ०, 'राबर्ट लेंज़ (१८०८-१८३६)'। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय की वैज्ञानिक रचनाएं, १९६०, अंक २७९, प्राच्यविद्या माला, अंक २)

Крачковский, И. Ю., «Востоковедение в письмах П. Я. Петрова к В. Г. Белинскому». В кн.: *ОИРВ*. М.: Изд-во АН СССР, 1953.
'व० ग० बेलीन्स्की के नाम प० य० पेत्रोव के पत्रों में प्राच्यविद्या' रूसी प्राच्यविद्या के इतिहास के बारे में लेख, मास्को, १९५३)

Люстерник, Е. Я., *Русско-индийские экономические научные и культурные связи в XIX в.* М.: Наука, 1966. (ल्युस्तेरनिक, ये० या०, १९वीं शताब्दी में रूस-भारत आर्थिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संबंध। मास्को, १९६६)

Надель, Х. С., «Индология в Харьковском университете за полтора века». *НАА*, 1964, № 2. (नादेल, ख० स०, 'गत डेढ़ शताब्दियों में खार्कोव विश्वविद्यालय में भारतविद्या'। एशिया और अफ़्रीका के जनगण, १९६४, अंक २)

Шофман, А. С., «Русский санскритолог П. Я. Петров». В кн.: *ОИРВ*, сб. III, Москва, 1960. (शोफ़मान, अ० स०, 'रूसी संस्कृतवेत्ता प० या० पेत्रोव'। रूसी प्राच्यविद्या के इतिहास के बारे में लेख, संग्रह ३, मास्को, १९६०)

Шофман, А. С., «К. А. Коссович как востоковед (1815–1883)». В кн.: *ОИРВ*, сб. 6. М.: Изд-во АН СССР, 1963. (शोफ़मान, अ० स०, 'प्राच्यविद क० अ० कोसोविच (१८१५-१८८३)'। रूसी प्राच्यविद्या के इतिहास के बारे में लेख, संग्रह ६, मास्को, १९६३)

अनुच्छेद २

इ० प० मिनायेव की प्रमुख रचनाएं

Пратимокша-сутра. Буддийский служебник. Изд. и перев. И. Минаев. Санкт-Петербург, 1869. (प्रतिमोक्ष सूत्र। इ० मिनायेव द्वारा सम्पादित और अनूदित। सेंट-पीटर्सबर्ग, १८६९)

Очерк фонетики и морфологии языка пали. Санкт-Петербург, 1872. (पाली भाषा के स्वनविचार और रूपविचार की रूपरेखा। सेंट-पीटर्सबर्ग, १८७२। अंग्रेज़ी अनुवाद के लिए देखें :

Pali Grammar, A. Phonetic and Morphological Sketch of the Pali Language. With an introductory Essay on Its Form and Character by J. Minaeff, Prof. of the University St. Petersburg, 1872.

Очерки Цейлона и Индии. Из путевых заметок русского. Санкт-Петербург, 1872. (श्रीलंका और भारत के शब्दचित्र। एक रूसी के यात्रा संस्मरण। सेंट-पीटर्सबर्ग, १८७२)

«Община буддийских монахов». *ЖМИП*, ч. CCI, 1879, № 1. ('बौद्ध संघ'। जन शिक्षा मंत्रालय की पत्रिका, भाग २०१, १८७९, अंक १)

«Очерк важнейших памятников санскритской литературы». В кн.: *Всеобщая история литературы.* Под. ред. В. Корша, т. I, Санкт-Петербург, 1880, вып. I. ('संस्कृत साहित्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ'। विश्व साहित्य का इतिहास। सं० व० कोर्श। खण्ड १, सेंट-पीटर्सबर्ग, १८८०, अंक १)

The Cha-Kesa-Dhātu-vaṃsa. Ed. Prof. Minaeff of St Petersburg. *JPTS*, 1885.

The Sandesa-Kathā. Ed. Prof. Minaeff, of St. Petersburg. *JPTS*, 1885.

Anagata-vaṃsa. Ed. Prof. Minaeff. *JPTS*, 1886.

Chanda-vaṃsa, Ed. Prof. Minaeff. *JPTS*, 1886.

«Буддизм. Исследования и материалы». Т. I, вып. 1, 2. *Записки историко-филологического факультета императорского Санкт-Петербургского университета*, ч. XVI, Санкт-Петербург, 1887. ('बौद्ध धर्म। अनुसंधान और सामग्रियां।' खण्ड १, अंक १,२। शाही सेंट-पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के इतिहास तथा भाषाविज्ञान संकाय की रचनाएं, भाग १६, सेंट-पीटर्सबर्ग, १८८७)

«Спасение по учению позднейших буддистов». Под ред. И. П. Минаева, *ЗВОРАО*, т. IV, 1889 (1890). ('उत्तरकालीन बौद्ध सिद्धांतों में मोक्ष'। इ० प० मिनायेव द्वारा सम्पादित। रूसी पुरातत्व समाज के प्राच्य विभाग की रचनाएं, खण्ड ४, १८८९/१८९०)

Petavatthu. Ed. Prof. Minaeff. *JPTS*, 1888 (1889).

Kathāvathuppakarana-Atthakathā. *JPTS*, 1889

Mahāvyutpatti. Ed. I. Minayev, 2nd Ed. with index prepared for the press by N. D. Mironov. "*Bibliotheca Buddhica*", Vol. XIII, pt. 3, St. Petersburg, 1910 (1911).

Дневники путешествий в Индию и Бирму. М.: Наука, 1955. (भारत तथा बर्मा की यात्रा की डायरियां। मास्को, १९५५। अंग्रेज़ी अनुवाद के लिए देखें:
Travels in and Diaries of India and Burma. Trans. by Hirendranath Sanyal. Comp. with the Russian text by Subil Bhattacharya. Language ed. Sailesh Chandra Sen Gupta. Publ. by Debi Prasad Nukhopadhyaya. Calcutta, 1960)

इ० प० मिनायेव के बारे में रचनाएं

Ольденбург, С. Ф., «Памяти Ивана Павловича Минаева». *ЗВОРАО*, Санкт-Петербург, 1897, т. 10, вып. 1–4. (ओल्देनबुर्ग, स० फ़०, 'इवान पाव्लोविच मिनायेव की स्मृति में'। रूसी पुरातत्व समाज के प्राच्य विभाग की रचनाएं, सेंट-पीटर्सबर्ग, १८९७, खण्ड १०, अंक १-४)

Schneider A., "Professor J. P. Minaeff". *IHQ*, 1934, Vol. X, No. 4.

Иван Павлович Минаев (1840–1890). Сб. статей. Под ред. Г. Котовского. М.: Наука, 1967. (इवान पाव्लोविच मिनायेव (१८४०-१८९०)। लेख-संग्रह। सं० ग० कोतोव्स्की। मास्को, १९६७)

अनुच्छेद ३

Бескровный, В. М., «Из истории изучения живых индийских языков в России в XIX в.». *Вестник ЛГУ*, 1957, № 8. (बेस्क्रोव्नी, व० म०, '१९वीं शताब्दी में रूस में भारत की जीवित भाषाओं के अध्ययन के इतिहास से'। लेनिनग्राद राज्य विश्वविद्यालय के समाचार, १९५७, अंक ८)

Биографический словарь профессоров и преподавателей Императорского Юрьевского, бывшего Дерптского университета за 100 лет его существования. Юрьев, 1903. (शाही यूर्येव, भूतपूर्व देर्प्त विश्वविद्यालय के गत १०० वर्षों के प्रोफ़ेसरों तथा अध्यापकों का जीवनवृत्त कोश। यूर्येव, १९०३)

Гольштейн, А. А., «Путевые впечатления из Индии». *Известия Императорского русского географического общества*, 1904, т. 40, № 4. (गोलश्तैन, अ० अ०, 'भारत यात्रा के अनुभव'। शाही रूसी भूगोल समाज के समाचार, १९०४, खण्ड ४०, अंक ४)

Дмитриев, Н. К., *Федор Евгеньевич Корш, 1843–1915*. М.: Изд-во МГУ, 1962. (द्मीत्रियेव, न० क०, फ्योदोर येव्गेन्येविच कोर्श, १८४३-१९१५। मास्को, १९६२)

Кудрявский, Д. Н., *Исследования в области древнеиндийских домашних обрядов.* Юрьев, 1904. (कुद्र्याव्स्की, द० न०, प्राचीन भारतीय घरेलू अनुष्ठानों से संबंधित अनुसंधान। यूर्येव, १९०४)

Мерварт, А. и Л., *Отчет об этнографической экспедиции в Индию в 1914–18 гг.* Л., 1927. (मेर्वार्त अ० और ल०, १९१४-१९१८ के भारत नृजातिवर्णन अभियान की रिपोर्ट। लेनिनग्राद, १९२७)

Миллер, В. Ф., *Очерки арийской мифологии в связи с древнейшей культурой.* т. I, *Ашвины-Диоскуры.* М., 1876. (मिल्लेर, व० फ़०, आर्य मिथक और प्राचीनतम संस्कृति के साथ उनका संबंध। एक रूपरेखा। खण्ड १, अश्विनीकुमार-डायास्कूरी। मास्को, १८७६)

Овсянико-Куликовский, Д. Н., *Опыт изучения вакхических культов индоевропейской древности в связи с ролью экстаза на ранних ступенях развития общественности.* Ч. I. *Культ божества Сома в древней Индии в эпоху Вед.* Одесса, 1884. (ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की, द० न०, भारोपीय युग के सुरादेवोपासना पंथों के अध्ययन का प्रयास, आरंभिक चरणों में उन्माद की भूमिका के प्रसंग में। भाग १। प्राचीन भारत में वैदिक युग में सोमदेव की उपासना। ओदेस्सा, १८८४)

Овсянико-Куликовский, Д. Н., *К истории культа огня у индусов в эпоху Вед.* Одесса, 1887. (ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की, द० न०, वैदिक युग में हिंदुओं द्वारा अग्निपूजा के इतिहास पर कुछ विचार। ओदेस्सा, १८८७)

Фортунатов, Ф. Ф., *Самаведа-араньяка-самхита.* М., 1875. (फ़ोर्तुनातोव, फ़० फ़०, सामवेद आरण्यकसंहिता। मास्को, १८७५)

Павло Григорович Ріттер. Харків, 1966. (पाव्लो ग्रिगोरोविच रित्तेर। खार्कोव, १९६६)

Shifman, A. I., *Leo Tolstoy and India.* Sahitya Academy, Delhi, 1978.

अध्याय ३

स० ओल्देनबुर्ग की प्रमुख रचनाएं

Буддийский сборник «Гирлянда джатак» и заметки о джатаках, *ЗВОРАО*, 1893, т. 7. 'जातकमाला' और जातकों के बारे में टिप्पणियां। रूसी पुरातत्व समाज के प्राच्य विभाग की रचनाए, १८९३, खण्ड ७)

Буддийские легенды. Ч. I. Санкт-Петербург, 1896. (बौद्ध अनुश्रुतियां। भाग १। सेंट-पीटर्सबर्ग, १८९६)

«Заметки о буддийском искусстве. О некоторых скульптурных и живописных изображениях буддийских джатак». В кн.: *Восточные заметки.* Санкт-Петербург, 1895. ('बौद्ध कला के बारे में टिप्पणियां। जातक कथाओं से संबंधित कतिपय मूर्तिशिल्पों तथा चित्रों के बारे में'। पूर्वी टिप्पणियां। सेंट-पीटर्सबर्ग, १८९५)

«Буддийские легенды и буддизм», *ЗВОРАО*, 1896, т. 9, вып. 1–4. 'बौद्ध अनुश्रुतियां और बौद्ध धर्म'। रूसी पुरातत्व समाज के प्राच्य विभाग की रचनाएं, १८९६, खण्ड ९, अंक १-४)

«Буддийское искусство в Индии». *Известия Императорской Академии Наук*, 1901, т. 14, № 2. ('भारत की बौद्ध कला'। शाही विज्ञान अकादमी के समाचार, १९०१, खण्ड १४, अंक २)

«Материалы по буддийской иконографии». В: *Сборник Музея антропологии и этнографии при Императорской АН*, Санкт-Петербург, 1901, т. I, вып. 3, 1903, вып. 4. ('बौद्ध प्रतिमाविज्ञान विषयक सामग्रियां'। शाही विज्ञान अकादमी के नृजातिविज्ञान और नृजातिवर्णन संग्रहालय का संग्रह, सेंट-पीटर्सबर्ग, १९०१, खण्ड १, अंक ३, १९०३, अंक ४)

Первая буддийская выставка в Петербурге. Петербург, 1919. (पीटर्सबर्ग में प्रथम बौद्ध प्रदर्शनी। पीटर्सबर्ग, १९१९)

«Гандхарские скульптурные памятники Государственного Эрмитажа», ЗКВ, Л., 1930, т. 5. (Совместно с Е. Г. Ольденбург). ('राजकीय हर्मिताज के संग्रह की गांधार मूर्तियां'। सोवियत विज्ञान अकादमी के एशियाई संग्रहालय के प्राच्यविद्मंडल की रचनाएं, लेनिनग्राद, १९३०, अंक ५, ये० ग० ओल्देनबुर्ग के साथ)

«Современная постановка изучения изобразительных искусств и их техники в Индии». В: *Известия Государственной Академии истории материальной культуры*, 1931, т. 8, вып. I. ('भारत की ललित कलाओं तथा उनकी तकनीक के अध्ययन की वर्तमान अवस्था'। भौतिक संस्कृति के इतिहास की राज्य अकादमी के समाचार, १९३१, खण्ड ८, अंक १)

«О документе в феодальной Индии». В: *Сообщения Государственной Академии истории материальной культуры*. М.-Л., 1932, № 9–10. ('सामंती भारत में दस्तावेज़'। भौतिक संस्कृति के इतिहास की राज्य अकादमी के समाचार, मास्को-लेनिनग्राद, १९३२, अंक ९-१०)

«О некоторых новых индийских работах по истории и экономике Индии». *Библиография Востока*. Л., 1934, № 2–4. ('भारत के इतिहास तथा अर्थव्यवस्था के बारे में कुछ नयी भारतीय रचनाएं'। पूर्व विषयक ग्रंथ-सूची, लेनिनग्राद, १९३४, अंक २-४)

स० फ़० ओल्देनबुर्ग के बारे में रचनाएं

Князев, Г. А., «Первые годы С. Ф. Ольденбурга в Академии Наук. По архивным материалам». *ВАН*, 1933, № 2. (क्न्याज़ेव, ग० अ०, 'विज्ञान अकादमी में स० फ़० ओल्देनबुर्ग के पहले वर्ष। दस्तावेज़ी सामग्री के आधार पर'। सोवियत विज्ञान अकादमी के समाचार, १९३३, अंक २)

Сергею Федоровичу Ольденбургу к пятидесятилетию научно-общественной деятельности (1882–1932). Л.: Изд-во АН СССР, 1934. (सेर्गेई फ्योदोरोविच ओल्देनबुर्ग अभिनंदन-ग्रंथ। उनके वैज्ञानिक कार्यकलाप की पचासवीं जयंती (१८८२-१९३२) पर प्रकाशित। लेनिनग्राद, १९३४)

«100 лет со дня рождения С. Ф. Ольденбурга». *ВАН*, 1964, № 3. ('स० फ़० ओल्देनबुर्ग जन्म-शताब्दी'। सोवियत विज्ञान अकादमी के समाचार, १९६४, अंक ३)

अध्याय ४

फ़० इ० श्चेर्बात्स्की की प्रमुख रचनाएं

"Über das Haihayendracarita des Harikani". *Записки Императорской Академии наук, по историко-филологическому отделению*, Санкт-Петербург, 1900, т. 4, № , 9.

«Теория поэзии в Индии», *ЖМНП*, 1902, № 6, ч. 2. ('भारत में काव्य-शास्त्र'। जन शिक्षा मंत्रालय की पत्रिका, १९०२, अंक ६, भाग २। अंग्रेज़ी अनुवाद के लिए देखें *Papers of Th. Stcherbatsky*)

Теория познания и логика по учению позднейших буддистов. Ч. 1–2, Санкт-Петербург, 1903–1909. (उत्तरकालीन बौद्ध विद्वानों की शिक्षा में विज्ञान (संज्ञान) और न्याय सिद्धांत। भाग १-२। सेंट-पीटर्सबर्ग, १९०३-१९०९)

Nyāyabindu. Буддийский учебник логики, сочинение Дармакирти и толкование на него. *Nyāyabindutikā* сочинение Дармоттары. Тиб. перевод санскритского текста издал с введ. и примечанием Ф. И. Щербатской. Т. I–II. Санкт-Петербург, 1904. (न्यायबिंदु। बौद्ध न्यायशास्त्र की पाठ्यपुस्तक, धर्मकीर्ति द्वारा रचित तथा धर्मोत्तरकृत न्यायबिंदुटीका। तिब्बती अनुवाद का भूमिका तथा टिप्पणियों सहित प्रकाशन फ़० इ० श्चेर्बात्स्की द्वारा। खण्ड १-२, सेंटपीटर्सबर्ग, १९०४)

Sphutārthā Abhidharma-košavyākhyā, the work of Yasomitra-First košasthāna. Ed. S. Levi and Th. Stcherbatsky. Petrograd, 1918, "*Bibliotheca Buddhica*", XXI.

Дармакирти. Обоснование чужой одушевленности. Перевод с тибет. Ф. И. Щербатского. Петроград, 1922 (*Памятники Индийской философии*, вып. I). (धर्मकीर्तिकृत संतानांतर-सिद्धि। तिब्बती से रूसी में अनुवाद फ़० इ० श्चेर्बात्स्की द्वारा। पेत्रोग्राद, १९२२। भारतीय दर्शन ग्रंथ, अंक १)

The Central Conception of Buddhism and the Meaning of the word "Dharma". Royal Asiatic Society. London, 1923 (2nd ed., Calcutta, 1956).

«К истории материализма в Индии». *ВЗ*, 1927, т. I. ('भारत में भौतिकवाद का इतिहास'। पूर्वी रचनाएं, १९२७, खण्ड १। अंग्रेज़ी अनुवाद के लिए देखें *Papers of Th. Stcherbatsky*)

The Conception of Buddhist Nirvāna. Leningrad, 1927.

Abhisamayālankāra-prajñāpāramitā upadeśa-śāstra. The work of Bidhisattva Maitreya, Ed., expl. and transl. by Th. Stcherbatsky and E. Obermiller. Leningrad, 1929, "*Bibliotheca Buddhica*", XXI.

Tibetan translation of the Abhidharmakośakārikān and Abhidharmakośābhasyam, works by Vasubandhu. Published by Th. Stcherbatsky. Petrograd-Leningrad, 1917–1930, Vols. 1–2, "*Bibliotheca Buddhica*", XXI.

The Buddhist Logic. Vol. I–II, Leningrad, 1930–1932, "*Bibliotheca Buddhica*", XXI, XXVI.

"The Doctrine of the Buddha". *BSOS*, Vol. 6, No. 4, London, 1932.

"The 'Dharmas' of the Buddhist and the 'Gunas' of the Samkyas". *IHQ*, Vol. X, No 4, 1934.

Madhyānta-Vibhanga. Discourse on Discrimination Between Middle and Extremes, Ascribed to Boddhisattva Maitreya and Commented by Vasubandhu and Sthaviramati. Ed. Th. Stcherbatsky. M.-L., 1936, "*Bibliotheca Buddhica*", XXX (also published in Calcutta in 1971).

Papers of Th. Stcherbatsky. "History of Materialism in India". "A Buddhist Philosopher on Monotheism", "Seientific Achievements of Ancient India", "Dharmakirti's Santanantarasiddhi". *Indian Studies (Past and Present). Soviet Indology Series*, No. 2, Calcutta, 1969.

फ़० इ० श्चेर्बात्स्की के बारे में रचनाएं

Зелинский, А. Н., «Академик Федор Ипполитович Щербатской и некоторые вопросы культурной истории кушан». *CHB*, вып. 5, М., 1967. (ज़ेलीन्स्की, अ० न०, 'अकादमीशियन फ़्योदोर इप्पोलीतोविच श्चेर्बात्स्की और कुषाणकालीन सांस्कृतिक इतिहास से संबंधित कुछ समस्याएं'। पूर्व के देश और जनगण, अंक ५, मास्को, १९६७)

Кутасова, И. М., «Буддийская философия и логика в трудах академика Ф. И. Щербатского», *CB*, М., 1958. (कुतासोवा, इ० म०, 'अकादमीशियन फ़० इ० श्चेर्बात्स्की की रचनाओं मे बौद्ध दर्शन तथा न्याय'। सोवियत प्राच्यविद्या, मास्को, १९५८)

Иванов, В. В., Федор Ипполитович Щербатской. К 100-летию со дня рождения, *НАА*, 1966, № 6. (इवानोव, व० व०, 'फ़्योदोर इप्पोलीतोविच श्चेर्बात्स्की, जन्मशताब्दी के अवसर पर'। एशिया तथा अफ़्रीका के जनगण, १९६६, अंक ६)

Индийская культура и буддизм. Сборник статей памяти академика Ф. И. Щербатского, М.: Наука, 1972. (भारतीय संस्कृति तथा बौद्ध धर्म। फ़० इ० श्चेर्बात्स्की की स्मृति में प्रकाशित लेख-संग्रह। मास्को, १९७२)

"Fedor Ippolitovich Stcherbatsky (Obituary Notices)". *JRAS*, 1943, pt. 1.

Shastri, D. N., "Contribution of Th. Stcherbatsky to Indian Philosophy". *The Modern Review*, Vol. 93, No. 2, 1953.

Fedor Ippolitovich Scherbatskoi. Birth Centenary 1866–1966 (A Brief Biographical Note). Calcutta, National Library, 1966.

Bongard-Levin, G. M., "F. I. Scherbatskoy and Indian Culture". *Soviet Land*, No. 5–6, 1967.

आचार्य नरेन्द्रदेव, **बुद्धधर्म-दर्शन**। पटना: बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, १९५६। (हिन्दी में)

सांकृत्यायन, राहुल, **पुरातत्व निबंधावली**। द्वितीय संस्करण। इलाहाबाद: किताब महल, १९५८। (हिन्दी में)

अध्याय ५

Азиатский музей – Ленинградское отделение Института востоковедения АН СССР. М.: Наука, 1972. (एशियाई संग्रहालय – सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान की लेनिनग्राद शाखा। मास्को, १९७२)

Азиатский музей Российской Академии Наук. 1818–1918. Петербург, 1920. (रूसी विज्ञान अकादमी का एशियाई संग्रहालय। १८१८-१९१८। पीटर्सबर्ग, १९२०)

Алаев, Л. Б., *Сельская община в Северной Индии: Основные этапы эволюции.* М.: Наука, 1981. (अलायेव, ल० ब०, उत्तरी भारत का ग्राम समुदाय विकास के मुख्य चरण। मास्को, १९८१)

Алексидзе, Э. Г., *Модальные частицы в санскрите.* Тбилиси: Мецниереба, 1973. (अलेक्सीद्ज़े, ए० ग०, संस्कृत के प्रकारताबोधक निपात। त्बिलीसी, १९७३)

Аникеев, Н. П., *О материалистических традициях в индийской философии (Древность и ранее средневековье).* М.: Наука, 1965. (अनिकेयेव, न० प०, भारतीय दर्शन में भौतिकवादी परम्पराए। प्राचीन और आदि मध्ययुग। मास्को, १९६५)

Базиянц, А. П. и др., *Азиатский музей – Институт востоковедения АН СССР. 1818–1968.* М.: Наука, 1969. (बाज़ियान्त्स, अ० प० तथा अन्य, एशियाई संग्रहालय – सोवियत विज्ञान अकादमी का प्राच्यविद्या संस्थान। १८१८-१९६८। मास्को, १९६९)

Библиография Индии. Бирман Д. А. и др. (сост.). М.: Наука, 1976. (भारत विषयक ग्रंथ-सूची। मास्को, १९७६)

Библиография Индии. 1968–1975. Сосина Н. Н., Тансыкбаева С. И. (сост.). М.: Наука, 1982. (भारत विषयक ग्रंथ-सूची। १९६८-१९७५। मास्को, १९८२)

Бонгард-Левин, Г. М., *Индия эпохи Маурьев*. М.: Наука, 1973. (बोंगार्द-लेविन, ग० म०, मौर्य काल का भारत। मास्को, १९७३)

Бонгард-Левин, Г. М., *Древнеиндийская цивилизация. Философия, наука, религия.* М.: Наука, 1980. (बोंगार्द-लेविन, ग० म०, प्राचीन भारतीय सभ्यता। दर्शन, विज्ञान, धर्म। मास्को, १९८०)

Бонгард-Левин, Г. М., Ильин, Г. Ф., *Древняя Индия. Исторический очерк.* М.: Наука, 1969. (बोंगार्द-लेविन, ग० म०, इल्यीन, ग० फ़०, प्राचीन भारत। ऐतिहासिक रूपरेखा। मास्को, १९६९)

Борисковский, П. И., *Древнекаменный век Южной и Юго-Восточной Азии.* Л., 1971. (बोरिस्कोव्स्की, प० इ०, दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया का पुराप्रस्तर युग। लेनिनग्राद, १९७१)

Вертоградова, В. В., *Пракриты.* М.: Наука, 1978. (वेर्तोग्रादोवा, व० व०, प्राकृत भाषाएं। मास्को, १९७८)

Вертоградова, В. В., *Структурная типология среднеиндийских фонологических систем.* М.: Наука, 1967. (वेर्तोग्रादोवा, व० व०, मध्य भारतीय स्वनप्रक्रिया प्रणालियों के संरचनात्मक प्ररूप। मास्को, १९६७)

Володарский, А. И., *Ариабхата.* М.: Наука, 1977. (वोलोदार्स्की, अ० इ०, आर्यभट। मास्को, १९७७)

Володарский, А. И., *Очерк истории средневековой индийской математики.* М., 1977. (वोलोदार्स्की, अ० इ०, मध्ययुगीन भारतीय गणित के इतिहास के बारे में कुछ लेख। मास्को, १९७७)

Воробьев-Десятовский, В. С., *Развитие личных местоимений в индоарийских языках.* М.-Л.: Изд-во АН СССР, 1956. (वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की, व० स०, भारतीय आर्य भाषाओं में पुरुषवाचक सर्वनामों का विकास। मास्को-लेनिनग्राद, १९५६)

Восточный театр. Л., 1929. (पूरब का रंगमंच। लेनिनग्राद, १९२९)

Гафуров, Б. Г., Мирошников, Л. И., *Изучение цивилизаций Центральной Азии: (опыт международного сотрудничества по проекту ЮНЕСКО).* М.: Наука, 1976. (ग़फ़ूरोव, ब० ग०, मिरोश्निकोव, ल० इ०, मध्य एशिया की सभ्यता का अध्ययन। यूनेस्को की परियोजना के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का प्रयास। मास्को, १९७६)

Гринцер, П. А., *Древнеиндийская проза (Обрамленная повесть).* М.: ИВЛ, 1963. (ग्रींत्सेर, प० अ०, प्राचीन भारतीय गद्य। कथा के अंदर कथा। मास्को, १९६३)

Гринцер, П. А., *Древнеиндийский эпос.* М.: Наука, 1976. (ग्रींत्सेर, प० अ०, प्राचीन भारतीय महाकाव्य। मास्को, १९७६)

Гринцер, П. А., *Бхаса.* М.: Наука, 1979. (ग्रींत्सेर, प० अ०, भास। मास्को, १९७९)

Гусева, Н. Р., *Джайнизм.* М., Наука, 1968. (गूसेवा, न० र०, जैन धर्म। मास्को, १९६८)

Гусева, Н. Р., *Индуизм: История формирования. Культовая практика.* М.: Наука, 1977. (गूसेवा, न० र०, हिंदू धर्म : इतिहास और अनुष्ठान। मास्को, १९७७)

Драматургия и театр Индии. Под ред. И. С. Рабиновича и Е. П. Челышева. М., ИВЛ, 1961. (भारत की नाट्यकला और रंगमंच। मास्को, १९६१)

Елизаренкова, Т. Я., *Аорист в «Ригведе»,* М.: ИВЛ, 1960. (येलिज़ारेन्कोवा, त० य०, ऋग्वेद में अनिर्दिष्ट काल। मास्को, १९६०)

Елизаренкова, Т. Я., *Исследования по диахронической фонологии индоарийских языков.* М.: Наука, 1974. (येलिज़ारेन्कोवा, त० य०, भारतीय आर्य भाषाओं की कालक्रमिक स्वनप्रक्रिया का अध्ययन। मास्को, १९७४)

Елизаренкова, Т. Я., *Грамматика ведийского языка.* М.: Наука, 1982. (येलिज़ारेन्कोवा, त० य०, वैदिक भाषा का व्याकरण। मास्को, १९७२)

Ильин, Г. Ф., «Вопрос об общественной формации в древней Индии в советской литературе». *ВДИ,* 1950, № 2. (इल्यीन, ग० फ़०, 'सोवियत साहित्य में प्राचीन भारत की सामाजिक विरचना का प्रश्न'। प्राचीन इतिहास के समाचार, १९५०, अंक २)

Ильин, Г. Ф., «Шудры и рабы в древнеиндийских сборниках законов», *ВДИ,* 1950, № 2. (इल्यीन, ग० फ़०, 'प्राचीन भारतीय स्मृतियों में शूद्र और दास'। प्राचीन इतिहास के समाचार, १९५०, अंक २)

Ильин, Г. Ф., «Особенности рабства в древней Индии». *ВДИ,* 1951, № 1. (इल्यीन, ग० फ़०, 'प्राचीन भारत में दासप्रथा की विशिष्टताएं'। प्राचीन इतिहास के समाचार, १९५१, अंक १)

Ильин, Г. Ф., *Древний индийский город Таксила.* М.: ИВЛ, 1958. (इल्यीन, ग० फ़०, प्राचीन भारतीय नगर तक्षशिला। मास्को, १९५८)

Индийская культура и буддизм. Под ред. Н. И. Конрада и Г. М. Бонгард-Левина. М.: Наука, 1972. (भारतीय संस्कृति और बौद्ध धर्म। मास्को, १९७२)

Индия в древности. Под ред. В. В. Струве и Г. М. Бонгард-Левина. М.: Наука, 1964. (प्राचीन युग में भारत। मास्को, १९६४)

Искусство Индии. Под ред. С. И. Тюляева. М.: Наука, 1969. (भारत की कला। मास्को, १९६९)

История и культура древней Индии. Под ред. В. Рубена и др. М.: ИВЛ, 1963. (प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति। मास्को, १९६३)

Касты в Индии. Под ред. Г. Г. Котовского. М.: Наука, 1965. (भारत में जाति-व्यवस्था। मास्को, १९६५)

Кочергина, В. А., *Начальный курс санскрита.* М.: Изд-во АН СССР, 1956. (कोचेर्गिना, व० अ०, संस्कृत की आरंभिक पाठ्यपुस्तक। मास्को, १९५६)

Кочергина, В. А., *Санскритско-русский словарь.* М.: Изд-во Русский язык, 1978. (कोचेर्गिना, व० अ०, संस्कृत-रूषी शब्दकोशम्। मास्को, १९७८)

Кузнецова, Н. А., Кулагина, Л. М., *Из истории советского востоковедения. 1917–1967.* М.: Наука, 1970. (कुज़्नेत्सोवा, न० अ०, कुलागिना, ल० म०, सोवियत प्राच्य-विद्या के इतिहास से। १९१७-१९६७। मास्को, १९७०)

Культура древней Индии. Под ред. А. В. Герасимова. М.: Наука, 1975. (प्राचीन भारत की संस्कृति। मास्को, १९७५)

Литература и культура древней и средневековой Индии. Под ред. Г. А. Зографа, В. Г. Эрмана. М.: Наука, 1979. (प्राचीन और मध्ययुगीन भारत का साहित्य तथा संस्कृति। मास्को, १९७९)

Литературы Индии. А. А. Дехтярь (сост.). М.: Наука, 1973. (भारत के साहित्य। मास्को, १९७३)

Массон, В. М., *Средняя Азия и Древний Восток.* М., 1964. (मस्सोन, व० म०, मध्य एशिया और प्राचीन पूरब। मास्को, १९६४)

Милибанд, С. Д., *Библиографический словарь советских востоковедов.* М.: Наука, 1975. (मिलिबंद, स० द०, सोवियत प्राच्यविदों का जीवनवृत्त कोश। मास्को, १९७५)

Миронов, Н. Д., *Каталог индийских рукописей Российской публичной библиотеки.* Вып. I, Петроград, 1918. (मिरोनोव, न० द०, रूसी पब्लिक लाइब्रेरी की भारतीय पांडुलिपियों की सूची। भाग १, पेत्रोग्राद, १९१८)

Миронов, Н. Д., *Каталог индийских рукописей Азиатского музея Академии наук.* Вып. I, Петроград, 1914. (मिरोनोव, न० द०, विज्ञान अकादमी के एशियाई संग्रहालय की भारतीय पांडुलिपियों की सूची। भाग १, पेत्रोग्राद, १९१४)

Мифы народов мира. Под ред. С. А. Токарева. Т. I, М.: Сов. энциклопедия, 1980. (विश्व के जनगण के मिथक। मास्को, १९८०)

Невелева, С. Л., *Мифология древнеиндийского эпоса (Пантеон).* М.: Наука, 1975. (नेवेलेवा, स० ल०, प्राचीन भारतीय महाकाव्य के मिथक (देवगण)। मास्को, १९७५)

Невелева, С. Л., *Вопросы поэтики древнеиндийского эпоса: эпитет и сравнение.* М.: Наука, 1979. (नेवेलेवा, स० ल०, प्राचीन भारतीय महाकाव्य के काव्यशास्त्रीय पहलू: रूपक और उपमा। मास्को, १९७९)

Осипов, А. М., *Краткий очерк истории Индии до X в.* М.: Изд-во МГУ, 1948. (ओसिपोव, अ० म०, दसवीं सदी के भारत के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा। मास्को, १९४८)

Очерки по социально-экономической истории Индии. М.: Наука, 1973. (भारत के सामाजिक और आर्थिक इतिहास पर निबंध। मास्को, १९७३)

Памятники искусства Индии в собраниях музеев СССР. С. И. Тюляев (сост.) М.: Изогиз, 1956. (सोवियत संघ के संग्रहालयों में भारतीय कलाकृतियां। मास्को, १९५६)

игулевская, Н. В., *Византия на путях в Индию. Из истории торговли Византии с Востоком в IV–VI вв.* М.: Изд-во АН СССР, 1951. (पिगुलेव्स्कया, न० व०, भारत के मार्गों पर बैज़ंतिया। मास्को, १९५१)

Проблемы истории Индии и стран Среднего Востока. Под ред. Г. Г. Котовского. М.: Наука, 1972. (भारत तथा मध्यपूर्व के देशों के इतिहास की समस्याएं। मास्को, १९७२)

Проблемы истории, языков и культуры народов Индии. Под ред. Г. А. Зографа, В. Н. Топорова. М.: Наука, 1974. (भारत के जनगण के इतिहास, भाषा तथा संस्कृति की समस्याएं। मास्को, १९७४)

Розенберг, О. О., *Проблемы буддийской философии. Введение в изучение буддизма.* Ч.П., Петроград, 1918. (रोज़ेनबर्ग, ओ० ओ०, बौद्ध दर्शन की समस्याएं। बौद्ध धर्म प्रवेशिका। खण्ड २, पेत्रोग्राद, १९१८)

Самозванцев, А. М., *Теория собственности в древней Индии.* М.: Наука, 1978. (सामोज्वान्त्सेव, अ० म०, प्राचीन भारत में स्वामित्व का सिद्धांत। मास्को, १९७८)

Санскрит и древнеиндийская культура. Ч. I–II. М.: Наука. 1979. (संस्कृत और प्राचीन भारतीय संस्कृति। भाग १-२। मास्को, १९७९)

Семенцов, В. С., *Проблемы интерпретации брахманической прозы: ритуальный символизм.* М.: Наука, 1981. (सेमेन्त्सोव, व० स०, ब्राह्मण ग्रंथों की व्याख्या की समस्याएं: कर्मकाण्डीय प्रतीकार्थ। मास्को, १९८१)

Серебряков, И. Д., *Древнеиндийская литература.* М.: ИВЛ, 1963. (सेरेब्र्याकोव, इ० द०, प्राचीन भारतीय साहित्य। मास्को, १९६३)

Серебряков, И. Д., *Очерки древнеиндийской литературы.* М.: Наука, 1971. (सेरेब्र्याकोव, इ० द०, प्राचीन भारतीय साहित्य के बारे में कुछ लेख। मास्को, १९७१)

Смирнов, К. Ф., Кузьмина, Е. Е., *Происхождение индоиранцев в свете новейших*

археологических открытий. М.: Наука, 1977. (स्मिर्नोव, क० फ़०, कुज़्मिना, ये० ये०, नवीनतम पुरातत्वीय खोजों के प्रकाश में भारतीय-ईरानियों की उत्पत्ति। मास्को, १९७७)

Сулейкин, Д. А., «Основные вопросы периодизации истории древней Индии». *Ученые записки Тихоокеанского института*, 1949, вып. II. (सुलैकिन, द० अ०, 'प्राचीन भारत के इतिहास के कालानुक्रम के मूलभूत प्रश्न'। प्रशांत महासागर संस्थान के वैज्ञानिक नोट, १९४९, अंक २)

Темкин, Э. Н., *Мировоззрение Бхамахи и датировка его трактата «Кавьяланкара».* М.: Наука, 1975. (त्योम्किन, ए० न०, भामह का विश्वदृष्टिकोण और उनके ग्रंथ 'काव्यालंकार' का काल निर्धारण। मास्को, १९७५)

Тюляев, С. И., *Искусство Индии.* М.: Наука, 1968. (त्युल्यायेव, स० इ०, भारत की कला। मास्को, १९६८)

Штейн, В. М., *Экономические и культурные связи между Китаем и Индией в древности (до III в. н. э.).* М.: ИВЛ, 1960. (श्तैन, व० म०, प्राचीन काल में चीन और भारत के आर्थिक तथा सांस्कृतिक संबंध। मास्को, १९६०)

Щетенко, А. Я., *Древнейшие земледельческие культуры Декана.* Л.: Наука, 1968. (श्चेतेन्को, अ० य०, दक्खिन की प्राचीन खेतिहर संस्कृतियां। लेनिनग्राद, १९६८)

Щетенко, А. Я., *Первобытный Индостан.* М.: Наука, 1979. (श्चेतेन्को, अ० य०, प्रागैतिहासिक हिन्दुस्तान। मास्को, १९७९)

Эрман, В. Г., *Калидаса.* М., Наука, 1976. (एर्मन, व० ग०, कालिदास। मास्को, १९७६)

Эрман, В. Г., *Очерк истории ведийской литературы.* М.: Наука, 1980. (एर्मन, व० ग०, वैदिक साहित्य के इतिहास की रूपरेखा। मास्को, १९८०)

Anikeev, N. P., *Modern Ideological Struggle for the Ancient Philosophical Heritage of India.* Calcutta, 1968.

Barannikov, A. P., "Soviet Indology". *Oriental and Islamic Studies in World Universities.* Hyderabad, 1955.

Belenicky, A. M., *Zentralasien.* München-Geneva-Paris: Nagel Verlag, 1968.

Bongard-Levin, G. M., *Studies in Ancient India and Central Asia.* Calcutta, 1971.

Bongard-Levin, D. M., "Buddhist Studies in the USSR and New Archaeological Excavations in Soviet Central Asia". *East Asian Cultural Studies.* Vol. XII, No. 1–4, 1973.

Bongard-Levin, G. M., "Sanskrit Studies in the USSR". *Sanskrit Studies Outside India.* Weimar, 1979, pt. 1–2.

Bongard-Levin, G. M., "Sanskrit Studies in the USSR". *Sanskrit Studies Outside India (1979–1980)*. Delhi: Rashtriya sanskrit samstha. 1981.

Bongard-Levin, G. M., "New Buddhist Sanskrit Texts from Central Asia: an Unknown Fragment of the Mahayana Mahaparinirvanasutra". *The Journal of the International Association of Buddhist Studies*, Vol. 4, No. 2, 1981.

Bongard-Levin, G. M., Grantovsky, E. A., *Origin of Aryans (From Scythia to India)*. Delhi: Arnold Heinemann, 1980.

Bongard-Levin, G. M., Tyomkin, E. N., "Fragment of an Unknown Manuscript of the Saddharmapundarika from N. F. Petrovsky's Collection". *IIJ*, Vol. VIII, No. 4, 1965.

Bongard-Levin, G. M., Tyomkin, E. N., *New Buddhist Texts from Central Asia*. Moscow: Nauka, 1967.

Bongard-Levin, G. M., Tyomkin, E. N., "Fragment of the Saka Version of the Dharmasharira-sutra From the N. F. Petrovsky's Collection". *IIJ*, Vol. X, No. 4, 1969.

Bongard-Levin, G. M., Vigasin, A. A., "Society and State in Ancient India". *IHR*, Vol. 5, No. 1–2, 1979.

Bongard-Levin, G. M., Vorobyeva-Desyatovskaya, M. I., Tyomkin, E. N., "A Fragment of the Sanskrit Sumukha-dharani". *IIJ*, Vol. X, No. 2–3, 1967.

Central Asia in the Kusban Period. Vol. I–II, Moscow: Nauka, 1974–1975.

Elizarenkova, T. Y. "An Approach to the Description of the Contents of the Rigveda", *Melanges d'indianisme a la mémoire de Louis Renou*. Paris: E. de Boccard, 1968.

Elizarenkova, T. Y., "Concerning a Peculiarity of the Rigvedic Vocabulary". *ABORI Diamond Jubilee Volume*, Poona, 1978.

Elizarenkova, T. Y., "To the interpretation of the spell Atharvaveda VI. 117". *Dr. Dharmendranath Shastri Felicitation Volume*, 1981.

Elizarenkova, T. Y., Toporov, V. N., *The Pali Language*. Moscow: Nauka, 1976.

Elizarenkova, T. Y., Toporov, V. N., "Vedic Vanku". *Ludwik Sternbach Felicitation Volume*, Lucknow, 1979.

Guber, A. A., *Study of India in the Soviet Union*. Moscow: Nauka, 1954.

Ivanov V. V., Toporov, V. N., *Sanskrit*. Moscow: Nauka, 1968.

Kochergina, V. A., "Sanskrit Studies in the Soviet Union". *Journal of the Bihar Research Society*, Vol. 44, Patna, 1958.

Knorozov, Y. V., Albedil, M. F., Volchok, B. Y., *Proto-Indica: 1979*. Report on the Investigation of the Proto-Indian Texts. Moscow: Nauka, 1981.

Litvinsky, B. A., *Outline History of Buddhism in Central Asia.* Moscow: Nauka, 1968.

Masson, V. M., Sarianidy, V. I., *Central Asia. Turkmenia before the Achaemenids.* Vol. 1, London: Thames and Hudson, 1972.

Proto-Indica, 1968. Brief Report on the Investigation of the Proto-Indian Texts. Moscow: Nauka, 1968.

Proto-Indica, 1970 (Report on the Investigation of the Proto-Indian Texts). Moscow: Nauka, 1970.

Proto-Indica, 1972 (Report on the Investigation of Proto-Indian Texts). Vol. I–II, ed. by Y. V. Knorozov. Moscow: Nauka, 1972.

Proto-Indica, 1973 (Report on the Investigation of Proto-Indian Texts). Ed. Y. V. Knorozov. Moscow: Nauka, 1975.

Serebryakov, I. D., "Sketches of Ancient Indian Literature". *Indian Studies: Past and Present*, Vol. 13, No. 4, Calcutta, 1972.

Suleykin, D. A., "Fundamental Problems of the Periodisation of Ancient India". *Medieval India Quarterly.* Issue I, Aligarh, 1958.

अतोनोवा, को० अ०, बोगर्द-लेविन, ग्रि० म०, कोतोव्स्की, ग्रि० ग्रि०, **भारत का इतिहास। संक्षिप्त रूपरेखा।** मास्को: प्रगति प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९८१, द्वितीय संस्करण १९८४।

कोरोत्स्काया, आ०, **भारत के नगर। एक ऐतिहासिक सिंहावलोकन।** मास्को: रादुगा प्रकाशन, १९८५।

अध्याय ६

Альбаум, Л. И., *Балалык-тепе. К истории материальной культуры и искусства Тохаристана.* Ташкент: АН Узбекской ССР, 1960. (आल्बाउम, ल० इ०, बालालीक तेपे। तुख़ारिस्तान की भौतिक संस्कृति और कला के इतिहास के बारे में कुछ विचार। ताशक़ंद, १९६०)

Альбаум, Л. И., «Раскопки буддийского комплекса Фаяз-тепе». В кн.: *Древняя Бактрия.* Л.: Наука, 1974. (आल्बाउम, ल० इ०, 'फ़याज़ तेपे के बौद्ध स्मारक-समूह का उत्खनन'। प्राचीन बाख़्त्री। लेनिनग्राद, १९७४)

Альбаум, Л. И., *Живопись Афрасиаба.* Ташкент: Фан, 1975. (आल्बाउम, ल० इ०, अफ़ासिआब की चित्रकला। ताशक़ंद, १९७५)

Бактрийские древности. Под ред. В. М. Массона, Л.: Наука, 1976. (बाख़्त्रीय पुरावशेष। लेनिनग्राद, १९७६)

Беленицкий, А. М., *Монументальное искусство Пенджикента. Живопись. Скульптура*, М.: Искусство, 1973. (बेलेनीत्स्की , अ० म० , पंजीकंद की स्मारक कला। चित्रकला। मूर्तिशिल्प। मास्को , १९७३)

Буддийские пещеры Кара-тепе в Старом Термезе. Осн. итоги работ 1963–1964 гг. М.: Наука. 1969. (पुराने तेर्मेज़ मे कारा तेपे की बौद्ध गुफाएं। १९६३-६४ के उत्खननों के मुख्य परिणाम। मास्को , १९६९)

Буддийский культовый центр Кара-тепе в Старом Термезе. Осн. итоги работ 1965–1971 гг. М.: Наука, 1972. (पुराने तेर्मेज़ में कारा तेपे का बौद्ध धार्मिक स्थल। १९६५-७१ के उत्खननो के मुख्य परिणाम। मास्को , १९७२)

Гафуров, Б. Г., *Кушанская эпоха и мировая цивилизация.* М.: Наука, 1968. (गफ़ूरोव , ब० ग० , कुषाण युग और विश्व सभ्यता। मास्को , १९६८)

Гафуров, Б. Г., *Таджики. Древнейшая, древняя и средневековая история.* М.: Наука, 1972. (गफ़ूरोव , ब० ग० , ताजिक। आदि , प्राचीन और मध्ययुगीन इतिहास। मास्को , १९७२)

Древняя Бактрия. Предварительные сообщения об археологических работах на юге Узбекистана. Под ред. В. М. Массона. Л.: Наука, 1974. (प्राचीन बाख़्त्री। दक्षिणी उज़्बेकिस्तान में किये गये पुरातत्वीय अनुसंधान की आरंभिक रिपोर्ट। लेनिनग्राद , १९७४)

Древняя Индия. Историко-культурные связи. Отв. ред. Г. М. Бонгард-Левин. М.: Наука, 1981. (प्राचीन भारत। ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संबंध। मास्को , १९८१)

Живопись древнего Пянджикента. Под ред. А. Ю. Якубовского и М. М. Дьяконова, М.: Изд-во АН СССР, 1954. (प्राचीन पंजीकंद की चित्रकला। मास्को , १९५४)

Заднепровский, Ю. А., *Древнеземледельческая культура Ферганы.* М.-Л.: Изд-во АН СССР, 1962. (ज़ाद्नेप्रोव्स्की , यू० अ० , फ़रग़ना की प्राचीन खेतिहर संस्कृति। मास्को-लेनिनग्राद , १९६२)

Индия в древности. Под ред. В. В. Струве и Г. М. Бонгард-Левина, М.: Наука, 1964. (प्राचीन काल में भारत। मास्को , १९६४)

Кошеленко, Г. А., *Культура Парфии.* М.: Наука, 1966. (कोशेलेंको , ग० अ० , पार्थिया की संस्कृति। मास्को , १९६६)

Лившиц, В. А., *Юридические документы и письма (Согдийские письма с горы Муг,* вып. II). М.: ИВЛ, 1962. (लीव्शित्स , व० अ० , विधिक दस्तावेज़ तथा पत्र• (मूग पर्वत के सोग्दी दस्तावेज़ , अंक २) । मास्को , १९६२)

Литвинский, Б. А., *Древние кочевники «Крыши мира».* М.: Наука, 1972. (लित्वीन्स्की , ब० अ० , "दुनिया की छत" के प्राचीन खानाबदोश। मास्को , १९७२)

Литвинский, Б. А., Зеймаль, Т. И., *Аджина-Тепа. Архитектура, живопись, скульптура.* М.: Искусство, 1971. (लित्वीन्स्की, ब० अ०, ज़ेइमाल, त० इ०, अजीना तेपे। वास्तुकला, चित्रकला तथा मूर्तिकला। मास्को, १६७१)

Мандельштам, А. М., *Памятники эпохи бронзы в Южном Таджикистане.* Л.: Наука, 1968. (मंदेलश्ताम, अ० म०, दक्षिणी ताजिकिस्तान के कांस्ययुगीन अवशेष। लेनिनग्राद, १६६८)

Массон, В. М., *Страна тысячи городов.* М.: Наука, 1966. (मस्सोन, व० म०, हज़ार नगरों का देश। मास्को, १६६६)

Новые находки на Кара-тепе в Старом Термезе. Осн. итоги работ в 1972–1973 гг. Под ред. Б. Я. Ставинского. М., 1975. (पुराने तेर्मेज़ में कारा तेपे पर नयी खोजें। मास्को, १६७५)

Пугаченкова, Г. А., *Халчаян. К проблеме художественной культуры Северной Бактрии.* Ташкент: Фан, 1966. (पुगाचेन्कोवा, ग० अ०, हलचयन। उत्तरी बाख़्त्री की कला से संबंधित समस्याओं पर कुछ विचार। ताशक़ंद, १६६६)

Пугаченкова, Г. А., *Скульптура Халчаяна.* М.: Искусство, 1970. (पुगाचेन्कोवा, ग० अ०, हलचयन का मूर्तिशिल्प। मास्को, १६७०)

Пугаченкова, Г. А., Искусство Бактрии эпохи Кушан, Москва, 1979. (पुगाचेन्कोवा, ग० अ०, कुषाणयुगीन बाख़्त्री की कला। मास्को, १६७६)

Пугаченкова, Г. А. и др., *Дальверзин-тепе – кушанский город на юге Узбекистана.* Ташкент: Фан, 1978. (पुगाचेन्कोवा, ग० अ० तथा अन्य, दक्षिणी उज़्बेकिस्तान का कुषाणयुगीन नगर दल्वेर्ज़िन तेपे। ताशक़ंद, १६७८)

Ранов, В. А., *Каменный век Таджикистана.* Душанбе: АН Таджикской ССР, 1965. (रानोव, व० अ०, पाषाणकालीन ताजिकिस्तान। दुशांबे, १६६५)

Скульптура и живопись древнего Пянджикента. Под ред. А. М. Беленицкого и Б. Б. Пиотровского. М.: Изд-во АН СССР, 1959. (प्राचीन पजीक़ंद की चित्रकला और मूर्तिशिल्प। मास्को, १६५६)

Средняя Азия в древности и средневековье. История и культура. Под ред. Б. Г. Гафурова и Б. А. Литвинского. М.: Наука, 1977. (प्राचीन और मध्ययुगीन मध्य एशिया। इतिहास और संस्कृति। मास्को, १६७७)

Ставиский, Б. Я., Кушанская Бактрия: Проблемы истории и культуры. Москва, 1977. (स्तवीस्की, ब० य०, कुषाण बाख़्त्री इतिहास और संस्कृति की समस्याएं। मास्को, १६७७)

Ставиский, Б. Я. и др., *Советская археология Средней Азии и кушанская пробле-*

ма. Аннотированная библиография. Т. I–II. М.: Наука, 1958. (स्तवीस्की, ब० य० तथा अन्य, सोवियत पुरातत्व और कुषाण समस्या। सटिप्पण ग्रंथ-सूची। खण्ड १-२। मास्को, १९६८)

Толстов, С. П., *Древний Хорезм*. М., 1948. (तोल्स्तोव, स० प०, प्राचीन ख्वारज़्म। मास्को, १९४८)

Толстов, С. П., *По древним дельтам Окса и Яксарта*. М.: ИВЛ, 1962. (तोल्स्तोव, स० प०, आमू और सीर दरियाओ के प्राचीन मुहानों में। मास्को, १९६२)

Тревер, К. В., *Памятники греко-бахтрийского искусства*. М.-Л.: Изд-во АН СССР, 1940. (त्रेवेर, क० व०, यूनानी-बाख़्त्रीय कलाकृतियां। मास्को-लेनिनग्राद, १९४०)

Шишкин, В. А., *Варахша*. М.: Изд-во АН СССР, 1963. (शीश्किन, व० अ०, वरख़्श। मास्को, १९६३)

यह किताब रोहतक निवासी श्री लाभ सिंह हुड्डा जी ने उपलब्ध करवाई ताकि सत्यनारायण हुड्डा जिन्दराण निवासी इसकी पी डी एफ बना कर मुफ्त में इच्छुक सज्जनो को इपलब्ध हो सके।

नाम-निर्देशिका

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन को इस पुस्तक की विषय-वस्तु, अनुवाद और डिज़ाइन के संबंध में आपकी राय जानकर और आपके अन्य सुझाव प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता होगी। अपने सुझाव हमें इस पते पर भेजें:

प्रगति प्रकाशन,
१७, ज़ूबोव्स्की बुलवार,
मास्को, सोवियत संघ